श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१२०

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

(प्रथमो भागः)

(१-३ आह्निकम्)

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया 'विवेक'व्याख्यानेन

'ज्ञानवती'-हिन्दीभाष्येण च विभूषितः

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो० राधेश्याम चतुर्वेदी

साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य

एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०, लब्धस्वर्णपदक

संस्कृत विभाग, कला संकाय,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001

फोन : 320404

प्रथम संस्करण 2002

मूल्य 500=00

सम्पूर्ण सेट (पाँच भाग) 2500=00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० 2113

दिल्ली 110007

फोन : 3956391

*

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001

फोन : 335263, 333371

कम्प्यूटर टाइप सेटर :

मालवीय कम्प्यूटर्स

वाराणसी

मुद्रक :

रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स

वाराणसी

The
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHMALA
120

ŚRĪTANTRĀLOKAḤ

(PART ONE)

[1-3 Āhnika]

With the commentary **VIVEKA**

by

Ācārya Śrī Jayaratha

and **Jñānavatī**-Hindi Commentary

Commented and Edited By

Prof. RADHESHYAM CHATURVEDI

Sāhityavyākaraṇācārya, M.A., Ph.D., (Gold medalist)
Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
Banaras Hindu University

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers:

© **CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN**

(Oriental Publishers & Distributors)

Chowk (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 1069

VARANASI 221001

Telephone : 320404

First Edition

2002

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar

Post Box No. 2113

DELHI 110007

Telephone : 3956391

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane

Post Box No.1129

VARANASI 221001

Telephone : 335263
: 333371

Computer Type-setters :
Malaviya Computers
Varanasi
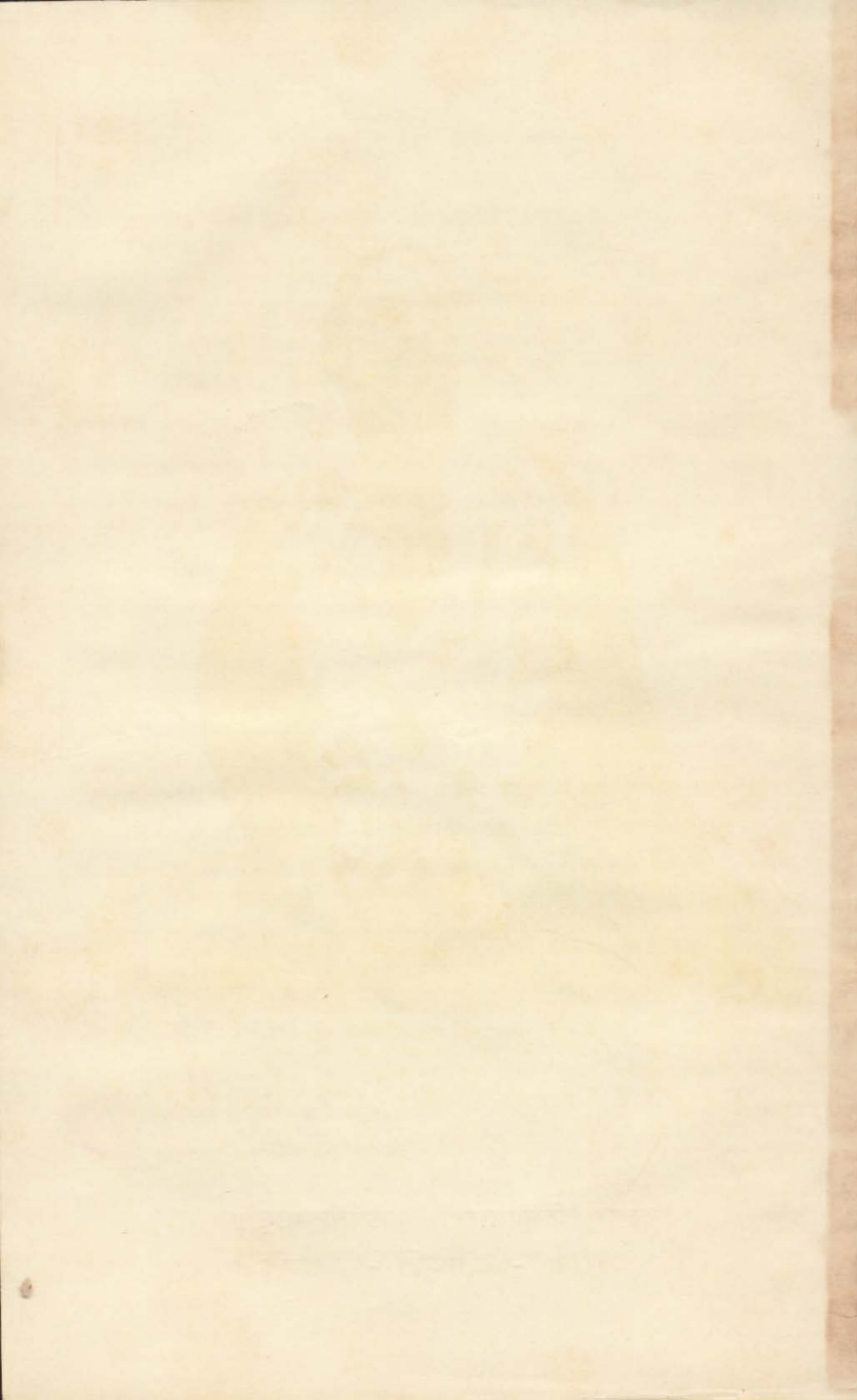
Printers :
Ratna Printing Works
Varanasi

ॐ

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु

श्री ६ शिवचैतन्य वर्णी महाराज

अनुवादक के दीक्षागुरु
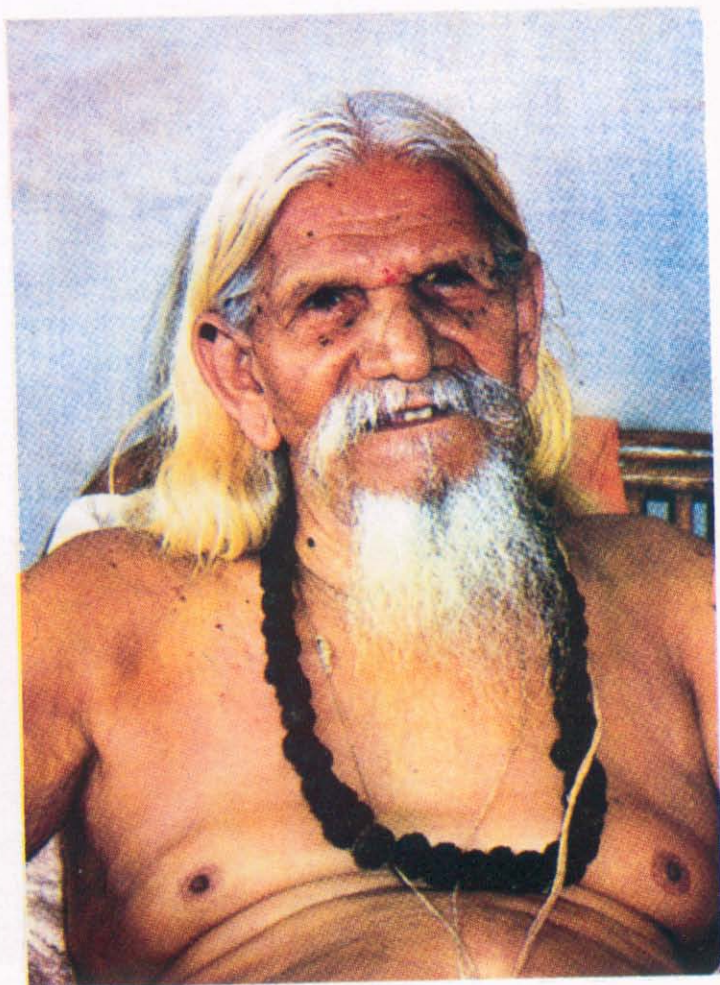
स्वामी श्री श्री १०८ शिवचैतन्यजी ब्रह्मचारीजी

मातङ्गेश्वर घाट, महेश्वर (जिला खरगोन) म. प्र.

गायत्रीसाधनासिद्धसिद्धिसाम्राज्यचुञ्चवे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमश्चैतन्यवर्णिने ॥

शुभाशंसन

श्रीतन्त्रालोक न केवल कौलसम्प्रदाय अपितु सम्पूर्ण शिवालयवाद का अपूर्वकोष है । भारतीय दर्शन की अन्य विधाओं का प्रतिपादन करने वाले न्यायवैशेषिक आदि विविधशास्त्र प्रधानतया मोक्षोपयोगी सिद्धान्त पक्ष का ही खण्डनमण्डन करने वाले हैं किन्तु श्रीतन्त्रालोक शिवाद्वयवाद के सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत करते हुए उसे अनुभव और अभ्यास की सरणि पर ले आने का मार्ग प्रशस्त करता है । अभिनवगुप्तपादाचार्य स्वयं योगिनीभू थे । उन्होंने इस ग्रन्थ के पाठक एवं ग्रन्थोक्तविधि के अनुष्ठाता को भी योगिनीभू की योग्यता प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की ।

मूल एवं टीका के साथ कश्मीर संस्कृतग्रन्थमाला से प्रकाशित इस ग्रन्थ की उपादेयता केवल संस्कृतभाषाविदों के लिए ही सीमित थी । हिन्दीभाषाभाषी जिज्ञासुवर्ग के लिए इस महनीय ग्रन्थ का आलोडन एवं हृदयङ्गमन अत्यधिक दुष्कर था । अत्यन्त हर्ष का विषय है कि पण्डितप्रवर आचार्य डा० राधेश्याम चतुर्वेदी ने इस ग्रन्थ के सटीकमूल का हिन्दी अनुवाद कर इस तन्त्रकोष में निहित ज्ञान विज्ञान को सर्वजनसुलभ करा दिया है । ग्रन्थ के आरम्भ में तन्त्रशास्त्र से सम्बद्ध विस्तृत भूमिका का संयोजन इस यशस्वी ग्रन्थ को सुवर्ण सौरभ की उत्कृष्टता प्रदान करता है ।

वर्षों के सततप्रयत्न से सम्पन्न यह स्तुत्य ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र के जिज्ञासुओं एवं संसारसागर में निमग्न आर्त्तजनों के उद्धारार्थ विशालपोत की भूमिका का निर्वाह करेगा ऐसा मेरा विश्वास है । इस महनीय दुरूह एवं दुःसाध्य कार्य के लिए मैं डा० राधेश्याम चतुर्वेदी को हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ । इस ग्रन्थ का अध्ययन एवं तदनुसार जीवनयापन कर पाठकसुधीजन साक्षात् भैरवत्व को प्राप्त करेंगे इस आशा और विश्वास के साथ श्रीतन्त्रालोक का प्रस्तुत अभिनवसंस्करण पाठकगण के करकमलों में प्रस्तुत है ।

व्रजवल्लभ द्विवेदी
आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष
आगम एवं तन्त्र विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

पुरोवाक्

भारतीय मनीषा आधिभौतिक पृष्ठभूमि पर पोषण प्राप्त कर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होती हुयी परम लक्ष्य—आत्मसाक्षात्कार—की प्राप्ति हेतु अनवरत प्रयत्नशील रही है । उपनिषद् वेदाङ्ग पुराण स्मृतियाँ सूत्रग्रन्थ इत्यादि नानाविध शाखा प्रशाखाओं के द्वारा उपबृंहित वेद एवं कोटि-कोटि पद्यों में आरक्षित तान्त्रिक ग्रन्थ इसी लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय हैं । तान्त्रिक साधकों की किञ्चित् अनवधानता के कारण भारतीय तान्त्रिक वाङ्मय का अध्ययनाध्यापन शताब्दियों से उपेक्षित रहा है । आज की अन्ध भौतिकता की पीड़ा से सन्त्रस्त मानव एक बार पुनः तन्त्र अथवा आगम की शरणस्थली में आश्रय विश्राम एवं शान्ति के लाभ के लिये आतुर है । प्राच्य एवं पाश्चात्त्य दोनों जगत् में तान्त्रिक अध्ययन एवं अनुष्ठान के प्रति अतितीव्र उत्कण्ठा जागृत हो रही है । ऐसी परिस्थिति में तान्त्रिक ग्रन्थों का मुद्रण एवं प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है । तन्त्रालोक का प्रकाशन इसी दिशा में एक लघु प्रयास है ।

आज से १५ वर्ष पूर्व स्व० प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय (पूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग का०हि०वि०वि०) जो कि नाथ सम्प्रदाय एवं बौद्ध तन्त्र के प्रविष्ट विद्वान् थे, ने तन्त्रालोक का अनुवाद एवं व्याख्यान करने की प्रेरणा दी। फलतः विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक परियोजना-तन्त्रालोक का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन और सटीक सानुवाद सम्पादन के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के अनुवाद एवं व्याख्यान कार्य का प्रारम्भ हुआ । 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि भवन्ति महतामपि' की उक्ति इस अनुवाद कार्य के काल में चरितार्थ हुयी किन्तु परमस्वतन्त्र परमेश्वर की कृपा से तीन वर्षों के अथक प्रयास के बाद यह कार्य सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ । अनुवाद कार्य की पूर्णता का यह समाचार जब मैंने अपने मित्र एवं शुभेच्छु प्रो० कमलाकर मिश्र (दर्शन विभाग, का०हि०वि०वि०) को सुनाया तो उनके मुख से अकस्मात् यह वाक्य फूट पड़ा—'बाँध्यो जलनिधि नीरनिधि उदधि सिन्धु गम्भीर ।' अनुवाद एवं व्याख्यान का लेखन कार्य सम्पन्न होने के बाद यह कार्य यथास्थिति की कारा में बन्द पड़ा था । इस बीच तन्त्रालोक पर डा० परमहंस मिश्र का नीर-क्षीर-

विवेक नामक भाष्य प्रकाशित हो गया । यह भाष्य तन्त्रालोक के अध्येताओं के लिये उपयोगी है । मेरे द्वारा सम्पाद्य तन्त्रालोक के प्रकाशन का सुअवसर सन् २००१ में उपस्थित हुआ और मित्रवर डा० सुधाकर मालवीय ने इसका भारवहन करने की स्वीकृति प्रदान की । जिसके परिणामस्वरूप तन्त्रालोक का प्रथम खण्ड विद्वन्मण्डल के समक्ष प्रस्तुत है ।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन के सन्दर्भ में कुछ बिन्दुओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है । किसी भी ग्रन्थ का अनुवाद करते समय यह ध्यान रखना अनिवार्य होता है कि कम से कम शब्दों का प्रयोग करते हुए अनूद्य ग्रन्थ की मूल भावना को अक्षुण्ण रूप में अनूदित एवं न्यूनतम व्याख्यात किया जाय । प्रस्तुत सम्पादन में इसका पूर्ण ध्यान रखा गया है । यथा सम्भव ग्रन्थ का आक्षरिक अनुवाद करने का प्रयास किया गया है । अत्यन्त आवश्यक होने पर व्याख्यानार्थ कुछ शब्दों को अपनी ओर से जोड़ना पड़ा है । ऐसे शब्दों को कोष्ठकों में रखा गया है । आवश्यक होने पर भी विस्तार के भय से विस्तृत व्याख्या की उपेक्षा की गयी है । आचार्य जयरथ ने टीका लिखते समय प्राचीन परिपाटी के अनुसार स्थान-स्थान से प्रतीकों को उठाकर उनकी व्याख्या की । कहीं-कहीं व्याख्या के विस्तार का मोहत्याग वे भी नहीं कर सके । टीका के अनुवाद में उसी शैली को अपनाया गया है । तान्त्रिक वाङ्मय एवं तन्त्र के स्वरूप के विषय में जनसामान्य यहाँ तक कि अत्यन्त अल्प एवं संकुचित दृष्टि रखने वाले विद्वानों के भी मन में भ्रान्त धारणा विकसित एवं प्ररूढ है । उसको दूर करने के लिए भूमिका में प्रचुर सामग्री देने का प्रयास किया गया है ।

अन्नपूर्णा एवं विश्वनाथ की कृपा से सम्पन्न इस पुनीत कार्य में प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतः जिन्न लोगों ने योगदान किया उनमें सर्वप्रथम स्व० प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्यायजी के हम आभारी हैं । प्रो० कमलाकर मिश्र का भी मैं अत्यन्त ऋणी हूँ । जिन्होंने समय-समय से इस कार्य के लिए मुझे प्रेरणा दी। स्व० म० म० पं० गोपीनाथ कविराज के तान्त्रिक वाङ्मय के अध्ययन ने मुझे तान्त्रिक क्षेत्र में स्फीत दृष्टि दी । एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ । सरल हृदय एवं लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी का मैं हृदय से अभिवादन करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे सहयोग दिया । तन्त्रालोक के सम्पादन के अवसर पर डॉ० परमहंस मिश्रजी का सभाष्य संस्करण देखने का अवसर मिला इसलिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का भी इस अनुवाद कार्य में योगदान रहा है अतः मैं उसका भी कृतज्ञ हूँ । अनेक ग्रन्थों के अनुवादक एवं सम्पादक मित्रवर डॉ० सुधाकर मालवीय का मैं हृदय से आभार प्रकट

करता हूँ । उनके सहयोग के बिना यह प्रकाशन असम्भव था । अक्षरसंयोजन कार्य में कुशल प्रिय श्रीचित्तरञ्जन मालवीय (मालवीय कम्प्यूटर्स) ने इसमें पूर्ण योगदान किया । इसलिए मैं उन्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ । चाखम्बा विद्याभवन के श्रीवल्लभदास गुप्तजी को अत्यन्त धन्यवाद है जिन्होंने पूरी तन्मयता से इस प्रकाशन कार्य का भार वहन किया ।

परमेश्वर के लीलामय अनन्त सृष्टिसागर में मेरा अस्तित्व एक बूँद के समान है । अज्ञान प्रमाद आलस्यवश त्रुटियाँ अवश्य सम्भावित हैं । इस ग्रन्थ के अनुवाद, सम्पादन एवं मुद्रण में जो समीचीन है वह परमेश्वर का है, जो असमीचीन है वह भी मेरे माध्यम से उसी का लीला-विलास है । इस संस्करण के अध्येता विद्वान् यदि उन अशुद्धियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करा सकें तो मेरे ऊपर उनकी महती कृपा होगी ।

दीपावली
१४ . ११ . २००१
संस्कृतविभाग, का. हि. वि. वि.

विद्वद्वशंवद
राधेश्याम चतुर्वेदी

संकेत सूची

अजड् प्र०सि०	अजडप्रमात्रिकासिद्धि
ई०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ऐ०उ०	ऐतरेय उपनिषद्
गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
छा०उ० (Ch.u.)	छान्दोग्योपनिषद
तं०आ० (T.A.)	तन्त्रालोक
तं०आ०वि० (T.A.V.)	तन्त्रालोक विवेक
प०सा०	परमार्थसार
परि०प्र०	परिभाषा प्रकरण
प्र०हृ० (Pr.H.)	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
मा०वि०त० (M.V.T.)	मालिनीविजय तन्त्र
रघु० (Raghu.)	रघुवंशमहाकाव्य
वा०प०	वाक्यपदीय
वि०भै०	विज्ञान भैरव
श०ब्रा० (Sh.B.)	शतपथ ब्राह्मण
शि०उ०सू०	शिवसूत्र
शि०दृ०	शिवदृष्टि
शि०सू०वा० (S.S.V.)	शिवसूत्र वार्तिक
शि०म०स्तो० (Siv.M.St.)	शिवमहिम्न स्तोत्र
सौ०ल० (Sau.L.)	सौन्दर्यलहरी
सौ०ल०टी० (Sau.L.com.)	सौन्दर्यलहरी टीका
स्पन्द०	स्पन्दकारिका
स्व०त०	स्वछन्द तन्त्र

भूमिका

(१)

वेद और तन्त्र

भारतवर्ष अनेकता में एकता का देश है । अति प्राचीन काल से ही विभिन्न ज्ञानविज्ञान की धारायें भारतभूमि को आप्यायित करती आ रही हैं । वेद, उपनिषद्, पुराण, वेदाङ्ग एवं आधिभौतिक आध्यात्मिक शास्त्र यहाँ अपनी पूर्णता के साथ अध्ययन-अध्यापन की परम्परा में प्रवाहित होते रहे हैं । दर्शनशास्त्र इसी प्रवाह की एक महनीय कुल्या है। समस्त ज्ञान-विज्ञान का एकमात्र लक्ष्य है—सांसारिक दुःखों से मुक्ति । अन्यान्य शास्त्र जिस प्रकार के मार्ग का वर्णन करते हैं वह अस्थायी एवं अपूर्ण मुक्ति प्रदान करता है । दर्शन शास्त्र ही एक ऐसा राजमार्ग है जो दुःखों से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति दिलाने में समर्थ है । उसमें भी पाश्चात्त्य दर्शन केवल सिद्धान्त की बात करता है । उसका व्यावहारिक पक्ष शून्य है ।

भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धारायें हैं—नैगमिक और आगमिक । ये दोनों धारायें सिद्धान्त एवं साधना की गङ्गा यमुना को एक साथ प्रवाहित करती हैं । नैगमिक अथवा वैदिक साधना के मूल में वेद और आगमिक या तान्त्रिक साधना के मूल में तन्त्र हैं । अपने प्रारम्भिक काल में ये दोनों साधनायें अपने-अपने मार्गों पर शुद्ध रूप से प्रवाहित हो रही थीं किन्तु परवर्त्ती काल में इन दोनों परम्पराओं में परस्पर मिश्रण अथवा साङ्कर्य हो गया । इतना ही नहीं वैदिक साधनामूलक स्मार्त्त एवं पौराणिक धाराओं में भी मिश्रण हुआ । जिस प्रकार वैदिक साधना के विकासक्रम में अवान्तर धाराओं का उद्‌भव और विकास हुआ उसी प्रकार तान्त्रिक साधना के क्रम में भी विभिन्न धाराओं का आविर्भाव और साङ्कर्य हुआ । इस साङ्कर्य का परिणाम यह हुआ कि वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों धारायें एक दूसरे की पूरक हो गयीं और तन्त्रशास्त्र के विद्वानों को यह उद्‌घोष करना पड़ा—

> **'गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्‌वाहमेव च ।**
> **तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ॥'**

तथा,

> **'तत्रास्य गर्भाधानं च युक्तं पुंसवनादिभिः ।**
> **गर्भनिष्कामपर्यन्तैरेकां कुर्वीत संस्क्रियाम् ॥' (तं. आ. १७.३६)**

वेद एवं तन्त्र शब्दात्मक होने पर भी वस्तुतः एक ही ज्ञान के दो प्रकार हैं । ये ज्ञान दिव्य एवं अपौरुषेय है । बहिर्मुखी दृष्टि से वेद शब्द का चाहे जो अर्थ निकाला जाय वस्तुतः एवं तत्त्वतः वेद का स्वरूप अथवा अर्थ अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म

ज्ञानविशेष है । मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण इसे प्राप्त कर सर्वज्ञ होते थे और अन्त में आत्म-साक्षात्कार कर अपना जीवन सफल बनाते थे । इसीलिये पुराकल्प में लिखा है—

'यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचं ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तां असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्वं समामनन्ति स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते ।'

जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है वे ऋषिगण नित्य इन्द्रियातीत सूक्ष्मावाक् का दर्शन करते हैं । जिन्हें धर्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है वे उसका दर्शन नहीं कर सकते । ऐसे लोगों को सूक्ष्मावाक् का संवेदन कराने के लिये ऋषिगण उस अतीन्द्रिय वाणी को इन्द्रियगम्य वेद वेदाङ्ग के रूप में प्रकट करते हैं। यह वेद वेदाङ्ग ही 'बिल्व' पद का वाच्य है । स्वप्नानुभूति को प्रकट करने के लिये जैसे स्थूल इन्द्रिय वाणी का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार अतीन्द्रिय सूक्ष्मावाक् का भी निरूपण करने के लिये स्थूलवाणी का आश्रयण आवश्यक हो जाता है । परावाक् ही सूक्ष्मावाक् है । वेद इसी परावाक् के अवतीर्ण रूप हैं स्वरूप नहीं क्योंकि मन्त्रदृष्टा ऋषियों को छोड़कर साधारण मनुष्य के समक्ष परावाक् प्रकट हो, यह सम्भव नहीं । वेद वस्तुतः एक और मूलतः अभिन्न है । यह वागात्मक नहीं बोधात्मक है । अभिव्यक्ति काल में यह वागात्मक होकर शब्द-क्रम से प्रकाशित होता है । वेद ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है । ब्रह्मप्राप्ति 'अहम्' ग्रन्थि के कर्त्तन से होती है । 'अहम्' ग्रन्थि 'अहम्' और 'मम्' के रूप में प्रकाशित होती है । प्रचलित वेद अनेक रूपों में आम्नात हैं । ये उस अनाम्नात अखण्ड वेद के अनुकार मात्र है । योगी भर्तृहरि ने भी वेदों को अनुकार ही कहा है—

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः ।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक्-पृथक् ॥ (वा. प. १.५)

वेद की भाँति तन्त्र भी बोधात्मक एवं वागात्मक हैं । शिव में समवेता शक्ति के दो रूप हैं—ज्ञान और क्रिया । ज्ञानरूपिणी शक्ति पर और अपर भेद से दो प्रकार की हैं । परज्ञान बोधात्मक और अपरज्ञान वागात्मक है । यह वागात्मक ज्ञान शास्त्ररूप में प्रतिष्ठित है । बोधात्मक परज्ञान वागात्मक अपरज्ञान अर्थात् शब्द पर आरूढ़ होकर अर्थप्रकाशन में प्रवृत्त होता है । विश्वसृष्टि के उन्मेषकाल में भगवान् परम शिव परापर मुक्ति के सम्पादन के लिये ज्ञान को प्रकाशित करते हैं । यही ज्ञान वागात्मक होने पर 'तन्त्र' नाम से अभिहित होता है ।

तन्त्र : स्वरूप और विस्तार—

तन्त्र का दूसरा नाम आगम भी है । आगम शब्द में वर्त्तमान तीन अक्षरों आ, ग और म की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

आगत शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवेन (कार्त्तिकेयेन) तस्मादागमच्यते ॥

अर्थात् आगम शिवमुखोक्त शास्त्र है जो पार्वती को सम्बोधित कर कहा गया है। साथ ही इसके अवतरण में वासुदेव कार्त्तिक गरुड़ आदि का भी योगदान है। इसी को तन्त्र नाम से भी जाना जाता है।

तन्त्र शब्द विस्तार का बोधक है। यह 'तनु' धातु से 'त्रल्' या 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न होता है। इस प्रकार तन्त्र शब्द से विस्तार अर्थ सङ्केतित होता है। यह विस्तार आत्मा का है। परमशिव स्वेच्छया अपने स्वातन्त्र्यवश अपने को सङ्कुचित कर जड़-चेतन के रूप में स्फुरित होते हैं। बाद में स्वयं अनेक उपायों के द्वारा अपने इस सङ्कोच को हटा कर स्वयं को अपने विस्तृत या पूर्णरूप में स्वस्थ करते हैं। परमशिव के विश्वरूप में स्फुरित और फिर अपने रूप में स्वस्थ होने की प्रक्रिया ही तन्त्र शास्त्र का वर्ण्य विषय है। तन्त्र एक व्यवस्था है—आत्मदर्शन की। यह एक राजमार्ग है; एक कला है; एक वैज्ञानिक विधि है जो द्रुत गति से आत्मसाक्षात्कार कराती है; पूर्ण अहंभाव की ओर ले जाती है। यद्यपि तन्त्र का एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अपना अस्तित्व है तथापि यह मध्यवर्त्ती बिन्दु है। तन्त्र के पूर्व में मन्त्र है और बाद में यन्त्र। इनमें से एक के बिना शेष दो अधूरे रहते हैं। पदार्थों के मूलरूप को जानना मन्त्र है। उनके संयोग और मिश्रण के द्वारा सम्भावित स्थितियों को जानना तथा मूर्त्त करना तन्त्र है। इस संयोग और मिश्रण को अङ्कों अक्षरों और रेखाओं के द्वारा चिह्नित करना यन्त्र है। एक ज्ञानातीत, निष्कल, निर्भिन्न अवाच्य अस्तित्व जिसे हम 'परम' शब्द से सङ्केतित करते हैं जब अपने ऐश्वर्य से ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त होता है तब मन्त्र बन जाता है और उसमें वर्णसमूह = रूप पद की प्रधानता हो जाती है। यह ज्ञान जब क्रिया की अवस्था को प्राप्त होता है तब तन्त्र बन जाता है। मन्त्रों के जप से शरीरस्थ कोशों का विकास होता है और इस विकास से प्राप्त शक्ति के सहारे साधक चक्रों का भेदन करता है। इस क्रमिक चक्रभेदन की प्रक्रिया को प्रतीकपदार्थ चित्र अर्थात् यन्त्र के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

तन्त्र के दो पक्ष हैं—लोकपक्ष या व्यवहार पक्ष तथा लोकोत्तर या अध्यात्मपक्ष। प्रकृति और प्रकृति से परे उस अवाच्य 'सत्' को विश्व विस्तार के माध्यम से समझना और फिर प्रकृति के रहस्यों पर पड़े आवरण को हटाते हुए उस प्रकृति को व्यक्ति के लिये उपयोगी बनाना तन्त्र का लोकपक्ष है और विस्तार का ज्ञान कर उसके मूल रूप को जानना इसका अध्यात्म पक्ष है। यही स्वरूपावस्थान या तन्त्रसाधना का चरम उद्देश्य है। वेद निवृत्तिपरक है अतएव केवल मुक्ति प्रदान करता है भले ही धर्म, अर्थ, काम उसके आनुषङ्गिक फल हैं किन्तु मुक्ति उसका चरम लक्ष्य है। चूँकि मुक्ति सामूहिक नहीं होती इसलिये वेद को व्यक्तिपरक माना जाता है। तन्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का मार्ग है। प्रवृत्ति के द्वारा वह व्यक्ति और समाज दोनों का हित करता है। प्रवृत्ति मार्ग से चलकर निवृत्ति को अपनाते हुए सम्पूर्ण विश्व में एकत्व का दर्शन और उस रूप में अपना तादात्म्य स्थापित करना तन्त्र का चरम प्रतिपाद्य है।

तन्त्र एक अन्वेषण की प्रक्रिया है । विज्ञान भी अन्वेषण करता है किन्तु वह बाह्य उपकरणों से बाह्य के अन्वेषण की बात सोचता है । बाह्य जगत् जितना विस्तृत है उतना ही आन्तर जगत् का भी विस्तार है । तन्त्र अन्तर्जगत् का अन्वेषण करता है । विज्ञान जड़ का अन्वेषण करता है । तन्त्र के अन्वेषण का विषय चेतन है; वह चेतन जो सर्वत्र व्याप्त है और 'तत्', 'ब्रह्म', 'परमशिव', 'परमाशक्ति' आदि नामों से जाना जाता है । संसार में दो ही तत्त्व उपलक्षित होते हैं 'तत्' और 'अहम्' । आपाततः एवं भाषा की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं । एक प्रथम पुरुष है दूसरा उत्तम पुरुष । प्रथम पुरुष पूर्ण है, उत्तम पुरुष अपूर्ण। किन्तु परमार्थतः दोनों एक हैं । वस्तुतः 'तत्' ही 'अहम्' के रूप में स्फुरित है । 'तत्' के 'अहम्' के रूप में स्फुरित होने का इतिहास और 'अहम्' के 'तत्' के रूप में समाविष्ट होने की प्रक्रिया ही तन्त्र शास्त्र का प्रतिपाद्य है । संस्कृत भाषा का अनुस्वार या बिन्दु (·) तन्त्र के चरमतत्त्व या महाशून्य का प्रतीक है । दो बिन्दु मिल कर विसर्ग होता है अर्थात् महाशून्य रूप शिव जब अपने को अपने में ही अपने से अलग कर लेता है तब विसर्ग अर्थात् सृष्टि का प्रारम्भ होता है । यह विसर्ग (:) शिव और शक्ति की यामल या युगनद्ध अवस्था का प्रतीक है ।

दो से जब तीन बिन्दु की स्थिति बनती है तब त्रिकोण बनता है । इसमें एक त्रिकोण ऊर्ध्वसिरा △ और दूसरा अधःसिरा ▽ है । पहला शिव का और दूसरा शक्ति का प्रतीक है । इन दोनों को मिला देने पर षट्कोण ✡ बनता है जो शिव और शक्ति के सनातन सम्बन्ध का प्रतीक है ।

संसार के समस्त पुरुष और स्त्री शिव और शक्ति के प्रतीक हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक शरीर में शिवांश और शक्त्यंश विद्यमान है । शरीर में मज्जा, शुक्र, प्राण और जीव शिवमूलक तथा अस्थि, चर्म, रक्त, मांस और मेदा शक्तिमूलक है। ये चार और पाँच = नव प्रतीक श्रीचक्र के नव कोणों के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं। यह तो रही पिण्ड या शरीर की स्थिति । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड में भी यही स्थिति है । प्रकृति, महत्, अहङ्कार, तन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत—ये पाँच तत्त्व शक्तिमूलक तथा माया, शुद्ध विद्या, ईश्वर और सदाशिव ये चार शिवमूलक तत्व हैं। श्रीचक्र की आकृति पिण्ड और ब्रह्माण्ड के साम्य का रूप उपस्थापित करती है । तन्त्र इस स्वरूप का सर्वाङ्गीण परिचय कराता है । तत्त्वों के आवरण का भेदन करता हुआ साधक शुद्धविद्या आदि के सोपानों को पार करता हुआ बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना स्तरों को पार कर उन्मना स्थिति में पहुँच 'तत्' और 'अहम्' के भेद को हटाकर शिवसमावेश प्राप्त कर लेता है । यही तन्त्र का प्रतिपाद्य है ।

शिवमुखोक्त शास्त्र के तीन प्रकार है—आगम, यामल और तन्त्र । आगम में सृष्टि, प्रलय, देवपूजा, मन्त्रसाधना, पुरश्चरण, ध्यान, योग, षटकर्म (मारण, सम्मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, आकर्षण और वशीकरण) का वर्णन मिलता है । यामल में सृष्टितत्त्व ज्योतिषवर्णन, नित्यकृत्य, सूत्र, वर्णभेद, जातिभेद, युगधर्म का

विवेचन है । तन्त्र का विषय एवं क्षेत्र अत्यन्त विशाल है । इसमें सृष्टि प्रलय, मन्त्र निर्णय, देवसंस्थान, तीर्थवर्णन, आश्रमधर्म, वर्णव्यवस्था, भूतादिसंस्थान, यन्त्र-निर्णय, कल्पवर्णन, ज्योतिष, पुराणाख्यान, कोषकथन, व्रतकथा, शौचाशौचनिर्णय, स्त्रीपुरुष-लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, लोकव्यवहार और आध्यात्मिक विषयों का विशद वर्णन है । निष्कर्ष यह है कि आगम और यामल के विषयों के सहित समस्त भौतिक विस्तार और आध्यात्मिक अनन्त, तन्त्र के क्षेत्र में आता है ।

उद्‌भव और विकास

तन्त्र के काल का निर्धारण दो दृष्टियों से किया जा सकता है ।

(१) पारम्परिक दृष्टि (२) ऐतिहासिक दृष्टि ।

(१) पारम्परिक दृष्टि—आस्था एवं परम्परा के अनुसार तन्त्र अनादि है । जिस प्रकार वेद श्रुतिपरम्परा का अनुसरण करते हुए लोक में अनादि काल से प्रचलित माने जाते हैं उसी प्रकार तन्त्र भी गुरु परम्परा के द्वारा लोक में व्यवहृत होते रहे है।[१] आचार्य सोमानन्द नाथ ने कहा है—

'शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥'
'कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे ।
कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने ॥'
'कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठया सह ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥
मुनिं दुर्वाशसं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥'[२]

शैव आदि आगम शास्त्र प्राचीनकाल में ऋषियों के मुखों में ही थे अर्थात् इनकी भी श्रुतिपरम्परा थी । इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए वे शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करते थे । कलियुग के आगमन पर जब यह परम्परा उच्छिन्नप्राय होती हुयी केवल कलापी ग्राम तक सीमित रह गयी तक भगवान् शङ्कर कैलास पर्वत पर घूमते हुए शिवसूत्रों का महादेव पर्वत पर उत्कीर्णन किया । तथा स्वयं श्रीकण्ठ नाथ के रूप में अवतीर्ण हो कर दूर्वासा ऋषि को आदेश दिया कि यह शास्त्र उच्छिन्न न हो जाय ऐसा प्रयत्न करो ।

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः ॥[२]

भगवान् सदाशिव स्वयं गुरु और शिष्य के रूप में स्थित होकर प्रश्नोत्तर के रूप में तन्त्र को इस पृथ्वी पर आधार भेद से अवतरित किये ।

---

१. शि०दृ० (७।१०७-११०) २. स्व०तं० (८।३१)

' प्रष्ट्री च प्रतिवक्त्री च स्वयं देवी व्यवस्थिता '

'देवी स्वयं प्रश्नकर्त्री और उच्चरदायिनी के रूप में व्यवस्थित हुयी'—यह वचन भी है । इस प्रकार पारम्परिक या आध्यात्मिक दृष्टि से तन्त्र अनादि है ।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि—ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार आज से हजारों वर्ष पूर्व एक ऐसा समय था जब तन्त्र का वर्चस्व भारत में ही नहीं अपितु समस्त एशिया में व्याप्त था। चीन तिब्बत थाइलैण्ड, मङ्गोलिया, कम्बोडिया इत्यादि देश तन्त्र के क्षेत्र थे । तन्त्र को तिब्बती भाषा में ऋग्युद्' कहा जाता है । यह ७८ भागों में विभक्त है । जिनमें २६४० स्वतंत्र ग्रंथ है । आज तक की प्राप्त सूचनाओं के आधार पर तन्त्र के १९९ प्राचीन ग्रन्थों का नाम मिलता है । जिनमें से कुछ अनुपलब्ध हैं । वराहीतन्त्र के अनुसार ९५७९५० श्लोक इन तन्त्र ग्रन्थों में मिलते है । वराहीतन्त्र भी कहता है कि भारत में १ लाख तन्त्रश्लोक हैं ।

सम्भवतः इन्हीं एक लाख तन्त्र श्लोकों की व्याख्या ९५७९५० श्लोकों में हुई होगी । मालिनीविजयतन्त्र में श्लोकों की संख्या[१] करोड़ बतलायी गयी है। इसी मालिनीविजय तन्त्र में सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र का नाम लेकर कहा गया है कि उसमें ९ करोड़ श्लोक थे ।[२] भूटान में अतीश नामक एक विद्वान् की चर्चा होती है । ये बङ्गाली थे । ११वीं शती ई. में इन्होंने तिब्बत भूटान जैसे देशों में तन्त्र का प्रचार किया । इसी प्रकार भारतवर्ष में अहमदाबाद, डिंगबोई, पावागढ़ आदि स्थानों में देवीमन्दिरों का निर्माण तथा देवप्राणप्रतिष्ठा बङ्गालियों द्वारा की गयी थी । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में गौड़ और बङ्ग प्रान्त ही तन्त्रसाधना के मुख्य केन्द्र थे, यद्यपि तन्त्रालोक में आचार्य अभिनवगुप्त ने मध्यदेश को तन्त्र का केन्द्र कहा है । विदेशों में अथवा अन्यान्य भारतीय प्रदेशों में भी तन्त्र का प्रचार इन्हीं केन्द्रों से हुआ था यह मानना समीचीन नही होगा ।

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन सहगामी तथा परस्पर पूरक रहे हैं । धर्म के बिना दर्शन लँगड़ा और दर्शन के बिना धर्म अन्धा है । तन्त्र भी दर्शन का एक प्रमुख प्रकार है । इस भारत वसुन्धरा पर धर्म और तन्त्र परस्पर अनुस्यूत रहे हैं । सिन्धुघाटी के प्राचीन ऐतिहासिक युग के अवशेषों का साक्षात्कार करने पर यह सिद्ध होता है कि मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा के निवासी शैव धर्म के अनुयायी थे । वहाँ उपलब्ध मूर्तियों के अवशेष शैवधर्म या शैवतन्त्र सम्मत लिङ्गपूजा, योनिपूजा, मातृदेवी और पशुपति की पूजा, शाम्भवी मुद्रा आदि की साधना के ज्वलन्त प्रमाण हैं । अजन्ता एलोरा आदि अत्यन्त प्राचीन मंदिरों में चित्रित विभित्र शृङ्गारिक मुद्रा की प्रतिमाएँ तथा चित्र भी प्राचीन काल में तन्त्रसम्मत चर्याक्रम के प्रचलन के प्रमाण हैं । वाराणसी में नेपाली मन्दिर इसी प्रकार का साक्ष्य प्रस्तुत करता है । परवर्ती काल में बौद्धों का योगाचार वज्रयान आदि

---

१. मा०वि०तं. (१।९)   २. मा०वि०तं० (१।८)

मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि का नाथपन्थी योग आदि भारत में तन्त्र की प्राचीनता एवं धार्मिक प्रधानता के सुस्पष्ट द्योतक हैं ।

विद्वानों का एक वर्ग तन्त्रशास्त्र के आविर्भाव का काल छठीं से तेरहवीं शती ई. तक माना है । यह मान्यता असङ्गत है । संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, पाणिनी की अष्टाध्यायी, शिलालेख, रामायण, महाभारत, बौद्ध, जैन धर्मों के पालि प्राकृत वाङ्मय के उद्धरणों में भी पाञ्चरात्र और पाशुपत नाम से प्रसिद्ध वैष्णव एवं शैव धर्मों की प्राचीनता सिद्ध हो चुकी है । पाञ्चरात्र और पाशुपत मत के प्राचीन साहित्य आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हीं में तन्त्रशास्त्र का प्राचीन रूप देखा जा सकता है । पाशुपत के ऐतिहासिक पुरुष लकुलीश का काल प्रथम द्वितीय शताब्दी ई० है । सिद्ध साहित्य और बौद्ध तन्त्रों पर आगमशास्त्र विशेषत: इस शास्त्र की कौल शाखा का प्रभाव उसी प्रकार परिलक्षित होता है जैसे महाभारत और पुराणों पर पाञ्चरात्र और पाशुपत सम्प्रदाय का प्रभाव । तन्त्रालोक में वर्णित आगम और तन्त्रशास्त्र के प्राचीन सम्प्रदायों की पृष्ठिभूमि में बौद्धतन्त्रों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वज्रयान, कालचक्रयान, और सहजयान इत्यादि मच्छेन्द्रनाथप्रवर्तित कौलशास्त्र के ही विभिन्न रूप हैं ।

शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय में तथा कृष्ण यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में पाशुपत मत की स्पष्ट झलक मिलती है । महाभारतकार ने वेद के साथ-साथ सांख्य योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र को समान रूप से प्रमाण माना है । कालिदास[1] पुष्पदन्त[2] वीरमित्रोदयकार[3] सबके सब पाञ्चरात्र एवं पाशुपत को प्रमाण मानते हैं ।

वैदिक तथा पौराणिक दृष्टिकोणों एवं मान्यताओं की विपरीत प्रतिक्रिया के रूप में सांख्ययोग पाञ्चरात्र और पाशुपत मत का उदय हआ । बुद्ध और महावीर ने जब वैदिक यज्ञीय धर्म पर प्रबल आघात किया तब प्रबुद्ध भारतीय चिन्तकों ने एक नवीन दृष्टिकोण की उद्‌भावना की और भक्तिप्रधान धारा का आविर्भाव हुआ जिसमें स्त्री और शूद्र को भी समान अधिकार प्राप्त हो गया । छान्दोग्य वृहदारण्यक आदि उपनिषदें इसकी प्रमाण हैं । छान्दोग्योपनिषद में 'एकायन' शब्द का प्रयोग है ।[4] यह भागवत श्रुति का निदेशक माना जाता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत मत का वाङ्मय उपनिषदों से पहले भी था भले ही आज उपलब्ध नहीं है । इस कृतान्तपञ्चक (सांख्य योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत आरण्यक

---

१. बहुधाप्यागमैर्भिन्ना: पन्थान: सिद्धिहेतव: ।
त्वय्येव निपतन्त्योका जाह्नवीया इवार्णवे ॥ (रघु० १०।२६)

२. त्रयी सांख्य योग: पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने वरामिदमद: पथ्यामिति च । (शि०म०, स्तो. ७)

३. ननु सांख्ययोग्यपाञ्चरात्रपाशुपताद्यागम: किं धर्मे प्रमाणमुत न । (परि०प्र०)

४. छान्दो०उ० (७।११)

उपनिषद) ने वैदिक एवं बौद्ध मान्यताओं पर प्रभाव डाला । सच तो यह है कि इतिहास और पुराण साहित्य का विकास इसी कृतान्तपञ्चक की पृष्ठभूमि में हुआ है। पुराणसाहित्य वेदों की प्रामाणिकता को सर्वोपरि मानता रहा है और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करता रहा है । इसके विपरीत सन्तसाहित्य आगमिक एवं तान्त्रिक धारा से प्रभावित रहा है किन्तु पौराणिक समन्वयवादी दृष्टिकोण को भी वह अस्वीकार नहीं करता ।

पाञ्चरात्र और पाशुपत मत के समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रभाव महायान बौद्ध धर्म, जैन धर्म, पौराणिक धर्म और न्यायवैशेषिक पर पड़ा है । परवर्ती कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य ने भी पाञ्चरात्र और पाशुपत मत की चर्चा की है । आगमग्रन्थों का प्रभाव पुराण, स्मृति, साहित्य, धर्मशास्त्र, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला और सङ्गीतशास्त्र पर भी पड़ा है । यह तथ्य तत्तदन्वेषण से स्पष्ट हो चुका है । डॉ. भण्डारकर के ग्रन्थ[१] से तथा अन्य पुराणों से स्पष्ट है कि किसी समय भारत में सूर्य स्कन्द गणेश और शक्ति के उपासक सम्प्रदाय विद्यमान थे । मथुरा संग्रहालय में एक यक्षी प्रतिमा रखी है जो २३०० वर्ष प्राचीन है । महाभारत में दुर्गा को सम्बोधित कर दो स्त्रोत मिलते है तथा श्रीपर्वत शाकम्भरी देवी और धूमावती का वर्णन मिलता है । इन सबसे यह सिद्ध होता है कि शाक्ततन्त्र भी उतने प्राचीन हैं जितने कि वेद और महाभारत आदि ।

तन्त्र साहित्य

तन्त्र साहित्य अत्यन्त विशाल और वैचित्र्यमय है । 'चरणव्यूह' नामक ग्रन्थ से जिस प्रकार वैदिकवाङ्मय का किञ्चित् परिचय मिलता है इस प्रकार का तन्त्रपरिचायक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है । तान्त्रिक वाङ्मय का अति प्राचीन रूप लुप्त हो गया किन्तु उसके विस्तार का जो परिचय तत्तद् ग्रन्थों से उपलब्ध होता है उससे यह सिद्ध होता है कि यह साहित्य वैदिक वाङ्मय की अपेक्षा अधिक व्यापक और विशाल था । तन्त्र साहित्य को सामान्यतया तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—आगम, उपागम और ऋषि-उपदिष्ट ग्रन्थ । काल की दृष्टि से इसका वर्गीकरण हम प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन रूप में कर सकते हैं ।

प्राचीन तन्त्र साहित्य (शैवागम)

सुदूर अतीत से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक के समय को हम तन्त्र का प्राचीनकाल मान सकते हैं । इस काल में यद्यपि तन्त्र के अनेक सम्प्रदायों का अविर्भाव था तथापि यहाँ हम शैवागम से सम्बद्ध तन्त्रों की ही चर्चा करेंगे । मूल शिवागम यद्यपि एक ही है तथापि कालान्तर में विभक्त होकर यह भेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान और अभेदप्रधान विचार धाराओं में विभक्त हो गया । उनमें भेदप्रधान शैवागमों को शैवसिद्धान्त के नाम से जाना जाता है । इनका प्रचलन मुख्यतया

---

१. 'वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत।'

तमिलनाडु में हैं । इन आगमों की संख्या दश है । उनके नाम इस प्रकार है—कामिक (कामज), योग, चित्य, कारण, अर्जित, सुदीप्तक, सूक्ष्म, सहस्र, सुप्रभेद और अंशुमान् । भेदाभेदप्रधान शैवागम को वीरशैव भी कहते हैं । इनका प्रचलन प्रचुरतया कर्णाटक प्रदेश में है । इनकी संख्या १८ है । उनके नाम ये हैं—विजय, निःश्वास, पारमेश्वर, प्रोद्‌गीत, मुखविर्व, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रांशु (चन्द्रहास) वीरभद्र, स्वायम्भुव, विरक्त, कौरव्य, माकुट (मुकुट), किरण, गलित, आग्नेय और वातुल । चौंसठ भैरवागम अभेदप्रधान है । इनका अध्ययनाध्यापन क्षेत्र काश्मीर है । श्रीकण्ठीसंहिता में ६४ भैरवागमों का निर्देश मिलता है । इनका वर्गीकरण अष्टकों में हुआ है । आठ अष्टकों वाले इस आगम का विवरण निम्निलिखित है—

१. **भैरवाष्टक**—स्वच्छन्द भैरव, चण्ड (चन्द्र) भैरव, क्रोध भैरव, उन्मत्त भैरव, असिताङ्ग भैरव, महोच्छ्वास भैरव, कालीश भैरव, (अष्टम भैरव का नाम नहीं मिलता । सम्भवतः रुरु भैरव आठवाँ आगम रहा होगा) ।

२. **यामलाष्टक**—ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, स्वच्छन्दयामल, अथर्वन्-यामल, आदियामल, वेतालयामल । (अष्टम यामल अज्ञात है । सम्भवतः यम यामल) ।

३. **मत्ताष्टक**—रक्त, लम्पट, लक्ष्मी, चालिका, पिङ्गला, उत्फुल्लक, विम्बाध—ये सात मत हैं । आठवाँ अज्ञात है।

४. **मङ्गलाष्टक**—पिचु, भैरवी, ब्राह्मी, कला, विजया, चन्द्रा, मङ्गला और सर्वमङ्गला । ये आठ मङ्गल नामक ग्रन्थ हैं ।

५. **चक्राष्टक**—मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, बिन्दुचक्र, नादचक्र, गुह्यचक्र और पूर्णचक्र—ये आठ ग्रन्थ हैं ।

६. **बहुरूपाष्टक**—इसमें अन्धक, रुद्रभेद, अर्ज, वर्णभेद, यम, विडङ्ग, मातृरोदन और जालिम ये आठ ग्रन्थ हैं ।

७. **वागीशाष्टक**—भैरवी, चित्रिका, हिंसा, कदम्बिका, हल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा, विद्वन्मत ।

८. **शिखाष्टक**—इसमें भैरवी शिखा, विना शिखा, विनामनि, सम्मोह, डामर, आथर्वक, कबन्ध और शिरच्छेद ।

प्राचीन शैवागमों की भाँति प्राचीन शाक्त आगमों की भी एक लम्बी शृङ्खला है। भगवान् शङ्कराचार्य ने आनन्द-लहरी (सौन्दर्यलहरी) में ६४ शाक्ततन्त्रों का सङ्केत किया है ।[१] इनके नाम और विषय निम्नलिखित हैं—

---

१. चतुःषष्ठया तन्त्रैः (तत्त्वैः) सकलमनुसन्धाय भुवनं स्थितास्तत्तत् सिद्धिं प्रसवपरतन्त्रं पशुपतेः । (सौ०ल० ३१)

ग्रन्थनाम	विषय
१-२. महामाया तन्त्र और तन्त्र	अन्यथा प्रदर्शन (घट को पट रूप में)
३. योगिनी काल	योगिनीसमूह का दर्शन
४. तत्त्व सम्बर	एकतत्त्व को दूसरे रूप में जैसे पृथ्वी को जल के रूप में ।
५-१२. सिद्धभैरव, वटुकभैरव, कङ्काल-भैरव, कालभैरव, कालाग्निभैरव, योगिनीभैरव, महाभैरव, शक्तिभैरव	निधिविद्या, कापालिक मत
१३-२०. ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, शिवदूती, (आठवें का नाम अज्ञात है)	भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ
२१-२८. यामलाष्टक	कायासिद्धि, यामलसिद्धि
२९. चन्द्रज्ञान	१६ विद्यायें, कापालिक मत
३०. मालिनीविद्या	समुद्रयान ।
३१. महासम्मोहन	जाग्रत को सुप्त या निःसंज्ञ करना
३२-३६. वामयुष्टतन्त्र	वैदिक तथा अवैदिक विषय
३७. हृद्भेद	षट्चक्रसाधना
३८-३९. तन्त्रभेद, गुह्यतन्त्र	नानाप्रकार से हिंसा
४०. कलावाद	चन्द्रमा की कला
४१. कलासार	कर्णेन्द्रिय की उत्कृष्टता
४२. कुण्डिका	गुटिका सिद्धि
४३. विनयाख्यतन्त्र	विनयायोगिनी, सम्भोगयक्षिणी की सिद्धि
४४. त्रोतलतन्त्र	पान, पात्र, अञ्जन, पादुका की सिद्धि ।
४५. त्रातलोत्तरतन्त्र	६४००० यक्षिणियों के दर्शन के उपाय

४६. पञ्चामृत	पञ्च भूतों का भरणभाव
४७-५१. रूपभेद, भूतडामर, कुलसार, कुलोड्डीश कुलचूडामणि	मन्त्र द्वारा शत्रुमारण
५२-५६. सर्वज्ञानोत्तर, महाकालीमत अरुणेश, मदनेश, विकुण्टेश्वर	कापालिक सिद्धि
५७-६३. पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, निरुत्तर, विमल, देवीमत	क्षपणक सिद्धि

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त अन्य ६४ तन्त्रग्रन्थों की भी सूची मिलती है। वे निम्नलिखित हैं—

काली, मुण्डमाला, तारा, निर्वाण, शिवसार, वीर, निदर्शन, लतार्चन, तोडल, नील, राधा, विद्यासार, भैरव, भैरवी, सिद्धेश्वर, मातृभेद, समया, गुप्तसाधक, माया, महामाया, अक्षया, कुमारी, कुलार्णव, कालिकाकुलसर्वस्व, कालिकाकला, वाराही, योगिनी, योगिनीहृदय, सनत्कुमार, त्रिपुरासार, योगिनीविजय, मालिनी, कुक्कुट, श्रीगणेश, मत, उड्डीश, कामधेनु, उत्तर, वीरभद्र, वामकेश्वर, कुलचूड़ामणि, भावचूड़ामणि, ज्ञानार्णव, वरदा, तन्त्रचिन्तामणि, वारुणीविलास, हंसतन्त्र, चिदम्बरतन्त्र, श्वेतवारिधि, नित्या, उत्तरा, नारायणी, ज्ञानदीप, गौतमीय, निरुत्तर, गर्जन, कुब्जिका, तन्त्रमुक्तावली, वृहद्श्रीकम्, स्वतन्त्रयोनि, मायारूपा। (यह सूची अपूर्ण है)।

उपर्युक्ततन्त्र जागतिक सिद्धि अथवा लाभ के लिये हैं। इनसे पारमार्थिक कल्याण की आशा बहुत कम है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार श्री लक्ष्मीधर का कथन है कि इनमें केवल शूद्रों को ही अधिकार दिया गया है।[1]

दाशरथी तन्त्र के द्वितीय अध्याय में अन्य ६४ तन्त्रों का नामोल्लेख मिलता है। 'जयद्रथ यामल तन्त्र' तन्त्रसाहित्य के विषय में पर्याप्त सूचना देता है। इसके ३६वें अध्याय में विद्यापीठ के तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। वे निम्नलिखित हैं—

सर्ववीर, सिद्धयोगीश्वरीमत, पञ्चामृतविषाद, योगिनी, जालशम्बर, विद्याभेद, शिरश्च्छेद, महासम्मोहन, महारौद्र, रुद्रयामल, विष्णुयामल, रुद्रभेद, हरियामल, स्कन्द, गौतमीय इत्यादि।

शुभागम पञ्चक—ये पाँच आगम समयमार्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इनके नाम हैं—वशिष्ठसंहिता, सनकसंहिता, सनन्दनसंहिता, शुकसंहिता, सनत्कुमारसंहिता।

---

१. परमेश्वरः ब्रह्मक्षत्रवैश्यशूद्रजातीयान् मूर्धावसिक्तानुलोमप्रतिलोमजातीयानधिकृत्य तन्त्राणि निर्मितवान्। तत्र त्रैवर्णिकानां चन्द्रकलाविद्यासु अधिकारः। शूद्रादीनां चतुःषष्ठितन्त्रेष्वधिकारः। (सौ०ल०टी० ३१)

इनके प्रवर्तक वशिष्ठ आदि पाँच ऋषि हैं । ये तन्त्र पूर्ण वैदिक हैं । इनके अतिरिक्त वामकेशतन्त्र ज्ञानार्णव आदि अनेक प्राचीनतन्त्र ग्रन्थों की चर्चा तत्तत् स्थानों में मिलती है ।

मध्यकालीन तन्त्रसाहित्य—तन्त्र साहित्य के मध्यकाल को हम प्रथम शताब्दी ई० से दशम शताब्दी ई० तक मान सकते हैं । इस काल में प्राचीन तन्त्रसाहित्य के आधार पर पृथक्-पृथक् देवताओं की उपासना से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचनायें हुई। कहना अनावश्यक नहीं है कि इस काल में शाक्त उपासना का ही प्रचलन अधिक था इसलिये शाक्तोपासना सम्बन्धी ग्रन्थ ही अधिक लिखे गये । इनमें दश महाविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रमुख स्थान है । दश महाविद्याओं के नाम ये हैं—काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, बगला, मातङ्गी, कमला, भैरवी, छिन्नमस्ता और धूमावती । इनमें से प्रथम सात प्रवृत्तिमार्ग की तथा शेष तीन निवृत्तिमार्ग की देवियाँ है । इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

१. **काली**—इसके अनेक भेद हैं । जैसे—दक्षिणा काली, वामा काली, भद्रकाली, धनकाली, सिद्धकाली, चण्डीकाली आदि । यत्र तत्र द्वादश काली की भी चर्चा मिलती है । काली के विषय में प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थों के नाम निम्नलिखित है—महाकाल संहिता (५० सहस्र से अधिक श्लोकात्मक ग्रन्थ), परातन्त्र, काली-यामल, कुमारीतन्त्र, कालीसुधानिधि, कालिकामत, कालीकल्पलता, कालीकुलार्णव, कालीसार, कालिकार्णव, कालिकाकुलसद्भाव, कालिकार्चादीपिका, कालीतन्त्र, काल-ज्ञान (कालोत्तर—कालज्ञान का परिशिष्ट), कालीसूक्त, कालिकोपनिषद्, कालीतत्त्व, भद्रकालीचिन्तामणि, कालीतत्त्वरहस्य, कालीकल्प (श्यामाकल्प), कालीऊर्ध्वान्वय, कालीकुल, कालीक्रम, कालिकोद्भव, कालीविलासतन्त्र, कालीकुलावलि, वामकेश-संहिता, कालीतत्त्वामृत, कालिकार्चामुकुरः, काली (श्यामा) रहस्य, कालीसपर्याकला-बल्ली, कालिकाक्रम, कालिकाहृदय, कालीखण्ड, कालीकुलामृत, कालिकोपनिषत्सार, कालिकाक्रम, कालीकुलक्रमार्चन, कालीसपर्याविधि, कालीतन्त्रसुधासिन्धु, कुलमुक्ति-कल्लोलिनी, कालीशाबर, कौलापली, कालीसार, कालिकार्चनदीपिका, श्यामार्चन-तरङ्गिणी, कुलप्रकाश, कालीतत्त्वामृत, कालीभक्तिरसायन, कालीकुलसर्वस्व, काली-सुधानिधि, कालिकोद्भव, कालीकुलार्णव, कालिकाकुलसर्वस्व, कालीकल्पलता, कालीपरा, कालिकार्चनचन्द्रिका इत्यादि ।

'नारदपाञ्चरात्र' आदि ग्रन्थों के अनुसार विश्वामित्र ने काली के अनुग्रह से ही ब्रह्मण्य प्राप्त किया था । 'शक्तिसङ्गमतन्त्र' के अनुसार काली और त्रिपुराविद्या समान हैं ।

२. **तारा**—तारा के विषय में निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं—तारिणीतन्त्र, तोडलतन्त्र, तारार्णव, नीलतन्त्र, महानीलतन्त्र, नीलसरस्वतीतन्त्र, चीना-चार, तन्त्ररत्न, ताराशाबरतन्त्र, तारासुधा, ताराभक्तिसुधार्णव, ताराकल्पलता, तारा-प्रदीप, तारासूक्त, एकजटीतन्त्र, एकजटीकल्प, महाचीनाचारक्रम, तारारहस्यवृत्ति,

वासनातत्त्वबोधिनी, तारामुक्तितरङ्गिणी, तारामुक्तितरङ्गिणी, तारामुक्तितरङ्गिणी, (क्रमशः काशीनाथ, प्रकाशानन्द, विमलानन्दकृत), महोग्रतारातन्त्र, एकवीरतन्त्र, तारिणीनिर्णय, ताराकल्पलतापद्धति, तारिणीपारिजात, तारासहस्रनाम, ताराकुलपुरुष, तारोपरिषद्, ताराविलासोदय ।

'शक्तिसङ्गमतन्त्र' के अनुसार तारा ही परावाग् और पूर्णाहन्तामयी है ।

३. षोडशी—षोडशी श्रीविद्या का नामान्तर है । त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरा, ललिता आदि भी उन्हीं के नाम हैं । इस महाविद्या से सम्बद्ध रचनायें निम्नलिखित हैं—

त्रिपुरोपिनिषद्, भावनोपनिषद्, कौलोपनिषद्, त्रिपुरातापिनी उपनिषद्, ललितास्तवरत्न, त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र, सौभाग्यहृदयस्तोत्र, योगिनीहृदय (उत्तरचतुःशती), पूर्व चतुःशती, ललितात्रिंशति, नवशक्तिहृदयशास्त्र, शक्तिसूत्र, श्रीविष्णुरत्नसूत्र, त्रैपुरसूक्त, बिन्दुसूत्र, ललितास्तव, सौभाग्योदयस्तुति, ललितासहस्रनाम, तन्त्रराज, मातृकार्णव, त्रिपुरार्णव, चन्द्रज्ञान, सुन्दरीहृदय, नित्याषोडशिकार्णव, मातृकासम्मोहन, वामकेश्वर, प्रस्तारचिन्तामणि, मेरुप्रस्तार, तन्त्रराज, तन्त्रराजोत्तर, परानन्दतन्त्र, सौभाग्यकल्पद्रुम, सौभाग्यकल्पलतिका, ज्ञानार्णव, श्रीक्रमसंहिता, दक्षिणामूर्तिसंहिता, स्वच्छन्दतन्त्र, कालोत्तरवासना, श्रीपराक्रम, ललितार्चनचन्द्रिका, सौभाग्यतन्त्रोत्तर, सौभाग्यरत्नाकर, सौभाग्यसुभगोदय, शक्तिसङ्गमतन्त्र, त्रिपुरारहस्य, श्रीक्रमोत्तम, अज्ञातअवतार, सुभगार्चापारिजात, सुभगार्चारत्न, चन्द्रपीठ, सङ्केतपादुका, सुन्दरीमहोदय, हृदयामृत, लक्ष्मीतन्त्र, ललितोपाख्यान, त्रिपुरासारसमुच्चय, श्रीतत्त्वचिन्तामणि, विरूपाक्षपञ्चाशिका, कामकलाविलास, श्रीविद्यार्णव, शक्तिक्रम, ललितास्वच्छन्द, ललिताविलास, प्रपञ्चसार, सौभाग्यचन्द्रोदय, वरिवस्यारहस्य, वरिवस्याप्रकाश, त्रिपुरासार, सौभाग्यसुभगोदय, सङ्केतपद्धति, परापूजाक्रम, चिदम्बरनट ।

षोडशी या श्रीविद्या गायत्री का ही एक प्रच्छन्न रूप है । इसका परमरूप वासनात्मक है; सूक्ष्मरूप मन्त्रात्मक और स्थूलरूप कर चरण आदि वाला है । इसके बारह मुख हैं । इनसे १२ साधकों (मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त्य, अग्नि, सूर्य, इन्द्र-स्कन्द, शिव, क्रोधभट्टारक दुर्वासा) ने सिद्धि प्राप्त की थी और उनके द्वारा प्रवर्तित १२ सम्प्रदायों में से केवल 'मन्मथ' और 'लोपामुद्रा' सम्प्रदाय ही कुछ जीवित हैं । त्रिपुरा की मुख्य शक्ति भगवती मालिनी है । लोपामुद्रा के पिता 'भगमालिनी' के उपासक थे । त्रिपुरा की उपासना से लोपामुद्र ने ऋषित्व प्राप्त किया था और उसके पति अगस्त्य ने उससे दीक्षा ली थी ।

४. भुवनेश्वरी—भुवनेश्वरी की उपासना का प्रमुख ग्रन्थ 'भुवनेश्वरीरहस्य' है । भुवनेश्वरीतन्त्र, भुवनेश्वरीपारिजात, भुवनेश्वरी उपनिषद् भी उपासना ग्रन्थ है । पुरश्चर्यार्णव, शाक्तप्रमोद, तन्त्राह्निक, देवीभागवत मे इस देवी की अर्चनविधि का वर्णन है ।

सत्ययुग के प्रारम्भ में ब्रह्मा की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर आदि शक्ति महेश्वरी 'क्रोधरात्रि' नाम से उत्पन्न हुई । इनकी योनि में सम्पूर्ण विश्व विराजमान

है। प्रलयकाल में यह विश्व उसी योनि में तिरोहित हो जाता है । इनकी साधना के अनेक मन्त्र हैं तदनुसार ध्यान भी अलग-अलग है ।

५. **भैरवी**—कालभैरव की भार्या भैरवी का वर्णन परशुरामकल्पसूत्र में मिलता है। भैरव के भरण, पोषण, रमण आदि समस्त गुण इनमें विद्यमान हैं । ज्ञानार्णव, शारदातिलक, मेरुतन्त्र आदि ग्रन्थों में इनके अनेक रूपों का उल्लेख है । भैरवीतन्त्र, भैरवीरहस्य, भैरवीरहस्यविधि, भैरवीसपर्याविधि आदि ग्रन्थ भी साधकों के सहायक हैं। 'भैरवीशिखा' मूल तन्त्र ग्रन्थ है जो चौंसठ शाक्त तन्त्रों में मुख्य है । 'भैरवीयामल' में इनकी महिमा और उपासना का विस्तृत उल्लेख है ।

६. **छिन्नमस्ता**—एक बार महामाया शिव के साथ शृङ्गारलीला करते-करते वितृष्ण हो गयीं । शुक्रक्षरण के बाद इनके शरीर से 'डाकिनी' और 'वर्णिनी' नाम की दो सखियाँ प्रकट हुईं । इन दोनों के साथ महामाया प्रातःकाल पुष्पभद्रा नदी में स्नान करने लगीं । दोनों सखियों के बुभुक्षित होने पर उन्होंने अपने नखों से अपना शिर काट डाला और कबन्ध से निःसृत दो रक्तधाराओं से उनकी भूख शान्त की । तीसरी धारा से अपने शिर को आप्यायित किया । तब से उनका नाम छिन्नमस्ता हुआ ।

दरभङ्गा से १० कोश पूर्व 'सरिसव' गाँव में छः सौ वर्षों से भी प्राचीन छिन्नमस्ता का मन्दिर है । इससे दो कोश पूर्व 'उजान' विख्यात गाँव में श्मशानालय में 'मुड़कट्टी देवी' के नाम से प्रसिद्ध छिन्नमस्ता की चार सौ वर्ष प्राचीन प्रस्तरप्रतिमा विद्यमान है । यह अपनी उग्रता के लिये विख्यात है । बिहार में रायगढ़ तहसील के रजरप्पा गाँव में इनकी प्राचीन प्रतिमा अपनी फलसिद्धि एवं उग्रता के लिए प्रसिद्ध है । रामनगर वाराणसी के दुर्गामन्दिर के परिसर के एक कोने में भगवती छिन्नमस्ता की सङ्गमरमर की प्रतिमा शिवशिवा की विपरीत मैथुनमुद्रा के ऊपर विराजमान है । छिन्नमस्ता से सम्बद्ध कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता । शाक्त प्रमोद, पुरश्चर्यार्णव, आगमकल्पलता, शक्तिसङ्गमतन्त्र, मन्त्रमहोदधि आदि ग्रन्थों में इनकी उपासनाविधि आदि का वर्णन है । भैरवीतन्त्र शाक्तप्रमोद विश्वसारतन्त्र में इनका क्रमशः कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम शतनाम मिलते हैं ।

७. **धूमावती**—इनकी उत्पत्ति दो रूपों में वर्णित है । १. प्रजापति दक्ष के यज्ञ में सती के देहत्याग से उत्पन्न धूम से । २. कैलासगिरि पर पार्वती द्वारा शिव से भोजन माँगने पर शिव ने विलम्ब किया । फलस्वरूप पार्वती ने शिव को ही निगीर्ण कर लिया । एक क्षण बाद उनके (पार्वती के) शरीर से धूम निकलने लगा। इसलिये वे धूमावती कहलायीं । धूमावती अपने पति शिव के निगरण के कारण विधवा है । शाक्तप्रमोद, मेरूतन्त्र, ऊर्ध्वम्नाय में इनकी उपासना आदि मिलती है । फेत्कारिणतन्त्र इनसे सम्बद्ध विशेष ग्रन्थ है । इसके अतिरिक्त धूमावतीपञ्चाङ्ग, धूमावतीपूजाप्रयोग, धूमावतीपद्धति, धूमावतीपटल आदि ग्रन्थ भी द्रष्टव्य हैं । ऐसी जनश्रुति है कि धूमावती को सिद्ध करने वाला साधक धूमावती के

सिद्ध होने पर धूमावती का मन्त्र जपता हुआ दातौन करता रहता है । एक निश्चित संख्या में जप पूर्ण होने पर जब वह दातौन को दो टुकड़ों में चीर कर फेंकता है उसी समय जिसके नाम से वह मन्त्र जपा जाता है, वह व्यक्ति मर जाता है ।

८. **बगलामुखी**--प्राणियों के शरीर से अथर्वा नामक अतीन्द्रिय प्राणसूत्र निकला करता है । यह श्वास की प्राण शक्ति में विद्यमान रहता है । इस अथर्वशक्ति को वेद में 'बल्गा'[१] कहते हैं । वर्णव्यत्यय के कारण यह बगला हो गया । एक आख्यान के अनुसार सत्ययुग में एक बार झञ्झावात के कारण प्रलय उपस्थित होने पर विष्णु ने सृष्टि के रक्षार्थ हरिद्रावर्ण के सिद्ध कुण्ड में तपस्या की। पीतवस्त्रधारी विष्णु के तप से प्रसन्न भगवती श्रीविद्या उस जलकुण्ड में क्रीड़ा करने लगी और सृष्टि की रक्षा हुई । यह महापीत ह्रद सौराष्ट्र में विद्यमान है । मध्यप्रदेश के दतिया क्षेत्र में भगवती पीताम्बरा की प्रस्तरप्रतिमा आराधित होती आ रही है । यह सिद्धभूमि पीताम्बरापीठ के नाम से विख्यात है । तीस पटलों वाले शाङ्खायन तन्त्र में ईश्वरक्रौञ्चभेदनसंवाद के रूप में इस महाविद्या का विशेष वर्णन मिलता है । इनके सम्बन्ध में बगलाक्रमकल्पवल्ली, बगलापञ्चाङ्ग, बगलापटल बगलामुखीक्रम आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं ।

९. **मातङ्गी**—ब्रह्मयामल के अनुसार अतिक्रूर विभूतियों के वशीकरणार्थ मतङ्ग ऋषि ने कदम्बवन में चिर तपस्या की । वहाँ भगवती त्रिपुरसुन्दरी के नेत्र से तेज:पुञ्ज उद्भूत हुआ । वही तेज:पुञ्ज भगवती मातङ्गीदेवी के नाम से विख्यात हुआ । कुब्जिका तन्त्र के अनुसार मतङ्गासुर का वध करने तथा मदशीलत्व के कारण इस महाविद्या का नाम मातङ्गी पड़ा । पुरश्चर्यार्णव में इनके अनेक रूपों का वर्णन है । मातङ्गी, उच्छिष्टमातङ्गी, राजमातङ्गी, सुमुखीमातङ्गी, वश्यमातङ्गी, कर्ण-मातङ्गी, आदि इनके नामान्तर हैं । इनको महापिशाचिनी तथा उच्छिष्टचाण्डालिनी भी कहा जाता है । मातङ्गीक्रम, मातङ्गीपद्धति एवं दशमहाविद्या से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों में इनका वर्णन मिलता है ।

१०. **कमला**—भगवती लक्ष्मी का दूसरा नाम कमला है । ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर विष्णु के वक्ष स्थल पर विराजमान कोलासुर का वध करने के लिए इनका आर्विर्भाव हुआ । 'कमलापद्धति' इनकी उपासना के लिए परम उपादेय ग्रन्थ है । शारदातिलक, पुरश्चर्यार्णव, शाक्तप्रमोद, आगमकल्पलता, लक्ष्मीपञ्चाङ्ग, लक्ष्मीपति, लक्ष्मीपूजाप्रयोग, लक्ष्मीयामल, लक्ष्मीपूजाविवेक आदि ग्रन्थ भी इनके सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं ।

ये दश महाविद्यायें अकेली पूजित नहीं होतीं । उनके साथ भैरव की भी पूजा होती है । इन भैरवों का परिचय निम्नलिखित है—

---

१. अथ कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वल्गां निखनति । तामेवैतदुत्किरति ।
—(श०ब्रा० ३।५।४।३)

महाविद्या	भैरव
काली	महाकाल
तारा	ललितेश्वर
षोडशी	अक्षोभ्य
भुवनेश्वरी	क्रोध भैरव
भैरवी	महादेव
छिन्नमस्ता	कालभैरव
धूमावती	नारायण
बगला	बटुक
मातङ्गी	मतङ्ग
कमला	मृत्युञ्जय

विशेष-विशेष कार्य के लिये विशिष्ट शक्तियों की उपासना का विधान शाक्ततन्त्र में मिलता है । दशमहाविद्यायें भी विशिष्टकार्य के लिये हैं । यथा—

विशिष्ट कार्य	महाविद्या
सर्वसिद्धि, दान	काली
ज्ञान	तारा
राज्यलाभ	षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी)
स्वस्त्ययन	भुवनेश्वरी
क्रीड़ा/लीला	भैरवी
अनुग्रह	छिन्नमस्ता
झगड़ा/अभियोग	बगला
मनःकामनासिद्धि	मातङ्गी
दान	कमला

अर्वाचीन साहित्य

अर्वाचीन तान्त्रिक साहित्य का काल ११वीं शती ई० से लेकर अद्यावधि माना जा सकता है । इस काल में शैव परम्परा के आचार्य अभिनवगुप्त सर्वोत्कृष्ट तन्त्र-विद्वान् थे । ११वीं शती के प्रारम्भ में ये देदीप्यमान थे । इन्होंने तन्त्रालोक के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों का प्रणयन किया । इनके अतिरिक्त इस परम्परा में क्षेम राज (प्रत्यभिज्ञाहृदय आदि) जयरथ (तन्त्रालोकविवेक) योगराज, शिवपोपाध्याय,

महेश्वरानन्द (महार्थमञ्जरी), श्रीवत्स (चिद्गगनचन्द्रिका), शितिकण्ठ (महानयप्रकाश), पुष्यानन्दनाथ (कामकलाविलास), स्वतन्त्रानन्दनाथ (मातृकाचक्रविवेक), वातूलनाथ (सूत्र), चक्रपाणिनाथ (भावोपहार), विरूपाक्षनाथ (विरूपाक्षपञ्चाशिका) आदि उद्भट विद्वान् हुए जिन्होंने मूलग्रन्थों और टीकाग्रन्थों का प्रणयन कर शैवशास्त्र को समृद्ध किया । पाश्चात्त्य तन्त्रवेत्ताओं में सरजान वुॅडरफ (सर्पेण्टपावर) आर्थर एवलेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है । महमहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, प्रबोधचन्द्र बागची, कृष्णानन्द, आगमवागीश (तन्त्रसार) त्रिपुरानन्द, ब्रह्मानन्दगिरि, पूर्णानन्दनाथ (श्यामा-रहस्य) पूर्णानन्दपरमहंस परिव्राजक (शाक्तक्रम, श्रीतत्त्वचिन्तमणि इत्यादि) शङ्कर आगमाचार्य (तारारहस्यवृत्तिका), नरसिंहठाकुर (ताराभक्तिसुधार्णव), कृष्णमोहन (आगमचन्द्रिका), चन्द्रशेखर (पुरूचर्यादीपिका, कुलपूजाचन्द्रिका), रधुनाथ तर्कवागीश (आगमतत्त्वविलास), रामगोपालशर्मा (तन्त्रदीपनी), काशीनाथ तर्कालङ्कार (श्यामा-सपर्याविधि), ज्ञानानन्दब्रह्मचारी (तत्त्वप्रकाश), राधामोहन (तीक्ष्णाकल्प) इत्यादि शाक्तग्रन्थों के रचयिता ११वीं शती से लेकर १६वीं शती के मध्यवर्ती थे । ये सब बंगाल के तान्त्रिक थे ।

परवर्त्ती काल मे महाराष्ट्र में नीलकण्ठ हुए । ये शैव तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे । माधवानन्दनाथ (सौभाग्यकल्पद्रुम), क्षेमानन्दनाथ (सौभाग्यकल्पलतिका), लक्ष्मीधर (सौन्दर्यलहरी टीका) केशवविश्वरूप (आत्मतत्त्वसंग्रह) इत्यादि शाक्त उपासक एवं तान्त्रिकों के नाम मिलते हैं । दक्षिण भारत में भी शाक्त तन्त्र का प्रचार-प्रसार इस काल में प्रचुर मात्रा में हुआ । श्रीनिवासभट्ट गोस्वामी (शिर्वाचनचन्द्रिका आदि), सुन्दराचार्य (ललितार्चनचन्द्रिका), भास्कराचार्य (पूर्णाभिषेक, नित्याषोडशिकार्णव, वरिवस्यारहस्य आदि), नित्यानन्दनाथ (नित्योत्सव) का नाम विशेष उल्लेखनीय है । वाराणसी में १८वीं शती में काशीनाथ भट्ट भांड़ हुए । इन्होंने प्राय: छ: ग्रन्थों की रचना की । वामाचारमतखण्डन, मन्त्रचन्द्रिका आदि इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं । महीधर ने १६वीं शती में मन्त्रमहोदधि लिखा । रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह ने मन्त्रार्थनिर्णय लिखा । कुमायूं के प्रेमनिधि पन्त ने मल्लादर्श, दीपप्रकाश लिखे। नेपाल में नवमी सिंह (१७वीं शतीं) ने पुष्परत्नाकर तन्त्र लिखा । काश्मीर में अभिनव गुप्त के अतिरिक्त साहेब कौल (देवीनामविलास, कल्पवृक्ष) लल्लेश्वरी, पण्डित मधुसूदन कौल, ज्योतिष्प्रकाश, लक्ष्मण जू, नीलकण्ठगुर्टू, बलजिनाथपण्डित के नाम उल्लेखनीय हैं । वाराणसी में म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने तन्त्रक्षेत्र में प्रचुर कार्य कर इस शास्त्र की महनीयता को प्रतिष्ठापित किया । इनकी रचनायें भारतीय संस्कृति और साधना, तान्त्रिकवाङ्मय में शाक्त दृष्टि आदि है । पण्डित रामेश्वर झा, पण्डित व्रजबल्लभ द्विवेदी आदि भी इस क्षेत्र में योगदान के लिये प्रसिद्ध हैं ।

इस वर्त्तमान युग में विश्व के अनेक देशों के विद्वान् तन्त्र की ओर उन्मुख हुए हैं । इस कारण तन्त्र के ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रचुरमात्रा में प्रकाशित हो रहे हैं । यह बात दूसरी है कि ये ग्रन्थ केवल संग्रह मात्र हैं । भौतिक अतिवाद से सन्त्रस्त

मानव आज आध्यात्मिक पराशान्ति की प्राप्ति के लिये व्यग्र है । वह देवी देवता की आराधना कर शान्ति लाभ करना चाहता है । तन्त्र इस दिशा में उत्कृष्ट मार्गदर्शक का काम करेगा । इसी भावना के साथ आज तान्त्रिक ग्रन्थों की शृंङ्खला भी प्रसारित हो रही है ।

(२)

काश्मीर शैव (तन्त्र) दर्शन

एक परिचय—

भारतीय ज्ञान एवं साधना की धारा निगम और आगम दो रूपों में प्रवाहित होती आ रही है । नैगमिक या वैदिक प्रवाह का मूल यदि भगवान् विष्णु का उच्छ्वास है तो आगमिक या तान्त्रिक प्रवाह का मूल शिव के मुख । ये दोनों धारायें अनादि और स्वतन्त्र थी । परवर्त्ती काल में दोनों धाराओं के अनुयायी परस्पर प्रभावित हुए और एक के सिद्धान्त आचार और व्यवहार दूसरे के सिद्धान्त आचार व्यवहार से अंशतः मिश्रित हो गये । फलतः एक मिश्रित आचारपरम्परा चल पड़ी। वैदिक वाङ्मय में रुद्रसूक्त, श्वेताश्वतर, पाशुपत, ब्रह्म, त्रिपुरातापिनी, त्रिपुरा, कठरुद्र, भावना आदि उपनिषदें तथा तान्त्रिक उपासना एवं साधना में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग इसी व्यवस्था की देन है । ऐसा होने पर भी तान्त्रिक वाङ्मय के अपने कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं जो वैदिक वाङ्मय से इसे सर्वथा विशिष्ट सिद्ध करते हैं ।

१. **परमसत्ता**—विश्व के मूल में परम सत्ता को सभी मत किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं । तन्त्र उसका अपवाद नहीं । यहाँ जिस परम सत्ता का स्वीकार किया गया है वह अखण्ड है । पूर्णतत्त्व की जो गंभीरतम स्थिति है उसमें सत् चित् आनन्द की कल्पना असम्भव है । वह निरंश निर्विशेष स्थिति है । इस गंभीरतम सन्मात्र की स्थिति में आत्मप्रकाश के रूप में इसी परमसत्ता की एक कला प्रस्फुटित होती है जिसे तन्त्र की भाषा में चित् या चिति कहा जाता है । उसका यह चिद्भाव उसकी बहिरुन्मुखता का आदि प्रकाश है । इसे तान्त्रिक भाषा में 'अनुत्तर' कहते हैं। संस्कृत भाषा का अथवा माहेश्वर सूत्र का 'अ' इसी का प्रतीक है । उस परमसत्ता से यह चिद्भाव शाश्वत निकलता रहता है । सत् में स्पन्दन के कारण जिस प्रकार चित् का बहिर्भाव होता है उसी प्रकार चित् में भी स्पन्दन होता है । इस स्पन्दन के फलस्वरूप एक ओर चित् सत् को पकड़े रहता है तो दूसरी ओर उससे द्वितीय चित् उत्पन्न होता है । यह द्वितीय चित् जब प्रथम चित् में प्रतिबिम्बित होता है तब अपने स्वरूप को देखता है । उसकी अपनी सत्ता की यही पहचान या अनुकूल संवेदन 'आनन्द' कही जाती है । व्यवहार जगत् में यह दर्पणगत **प्रतिबिम्ब की स्थिति** जैसी है । इस निर्वचन से यह सिद्ध होता है कि **अखण्ड सत्ता चित्स्वरूप** है। अर्थात् जो सत् है वही चित् है । जो चित् है

वही सत् है । यह सत्ता स्वतन्त्र अर्थात् अन्यनिरपेक्ष है । सत्यं शिवं सुन्दरम् या सत् चित् आनन्द से इसी सत्ता का अभिव्यञ्जन होता है । यह विशुद्ध सत् अभिव्यक्ति की दृष्टि से चित् तथा रसास्वाद की दृष्टि से आनन्दस्वरूप है । यही शैवों के अनुसार परमशिव और शाक्तों के अनुसार परमाशक्ति हैं । यद्यपि पूर्वकौल इन दोनों में शेषशेषी भाव मानते हैं किन्तु उत्तरकौल ऐसा नही मानते । वस्तुस्थिति भी यही है । गजवृषभ न्याय[1] से वे शक्ति भी हैं और शिव भी । शक्ति के बिना शिव इच्छा ज्ञान क्रिया से हीन स्पन्दन में असमर्थ शवमात्र है । सौन्दर्यलहरी के प्रथम पद्य में इसका सङ्केत है ।[2] प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति भी आत्म प्रकाश में असमर्थ है । दोनों चिद्रूप हैं और उसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे अग्नि और उसकी दाहकता शक्ति । यही परम साम्य अद्वैत स्थिति है । इसमें लिङ्गभेद नहीं है । यद्यपि यह अभेद की स्थिति है तथापि भेददृष्टि रखने पर इसमें भेद दिखलाई पड़ता है । जागतिक दृष्टिकोण से शिवांश निष्क्रिय और साक्षी है तथा शक्त्यंश सर्वदा पञ्चकृत्यकारी है । यह पूर्णरूप परमसत्ता एक ही समय में एक ओर पूर्णतः रिक्त या शून्य विश्वोत्तीर्ण शिव रूप है तो दूसरी ओर पूर्णतः पूर्ण विश्वमय शक्तिरूप है ।

तात्पर्य यह है कि परमशिव परमाशक्ति के साथ नित्य युक्त हैं । अर्धनारीश्वर की कल्पना इसी भाव का द्योतन है जहाँ शिव और शक्ति दोनों भाव शाश्वत विद्यमान हैं । इसीलिये विश्व का अभिन्न रूप से भान होता है । क्योंकि लीलामयी महाशक्ति से परे कुछ भी नहीं है ।

२. **स्वातन्त्र्य**—स्वातन्त्र्यसिद्धान्त आगमशास्त्र का प्राण है । सर्वोच्च सत्ता परमशिव परम स्वतन्त्र है । अपने इस स्वभाव के कारण वह अपने को चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया नाम, पाँच शक्तियों से सम्पन्न रखता है । सत् तो वह है ही । चित् उसकी अन्तरङ्गा शक्ति है और आनन्द बहिरङ्गा शक्ति । कौलाचार्य उसको विश्वमय मानते है जबकि तन्त्राचार्य विश्वोत्तीर्ण । किन्तु त्रिकदर्शन या काश्मीर शैव मत में वह एक ही साथ विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों है । यही उसका स्वातन्त्र्य है । समस्त विश्व उसके स्वातन्त्र्य का खेल है । अपने स्वातन्त्र्य-वश इस विश्वनाटक की रचना उन्होंने ही की है । विभिन्न रूप धारण कर अभिनय भी वही कर रहे हैं और अपने द्वारा किये जा रहे अभिनय को विभिन्न रूपों में देखकर मुग्ध भी वही हो रहे हैं । साथ ही इन सब से परे वे अपने आप में विश्राम भी कर रहे हैं । सब कुछ करके भी वह कुछ नहीं करते और कुछ भी न करके सभी कार्यों के वह एकमात्र कर्त्ता हैं । वे ही परम भोग और परम त्याग हैं। और भोग त्याग से परे भी वही है । वह सर्वत्र स्वप्रकाश है फिर भी बाहर भीतर

---

१. एक चित्र जिसे एक कोण से देखने पर वह गज दिखायी पड़ता है और दूसरे कोण से देखने पर वृषभ ।
२. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवः न खलु शक्तः स्पन्दितुमपि । (सौ०ल० १)

ढूँढ़ने पर उनका पता नहीं चलता । अनन्त महिमामयी शक्तिरूप वह ज्ञानियों के ब्रह्म, योगियों के परमात्मा और भक्तों के भगवान् हैं । मन-वाणी के विषय न होते हुए भी वह सर्वेन्द्रियवेद्य सर्वभावगम्य हैं । सत्-स्वरूप स्वप्रकाश अर्थात् चित् भी है और उनकी इस स्वप्रकाशता का उनको अवभास भी है । यह अवभास विमर्श कहलाता है । जब वे अपने स्वरूप का विमर्श करते हैं तब आनन्दोच्छलित होते हैं । उनका यह प्रकाश और विमर्श शाश्वत है । यह विमर्श ही उनका स्वातन्त्र्य है। इस स्वातन्त्र्य के कारण ही वे अपनी सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता का बोध स्वयं करते रहते हैं । यह विश्व भी इसी विमर्श का परिणाम है । यह विश्व परम सत्ता में नित्य विराजमान है और इस विश्ववर्त्तमानता का उनको बोध भी होता रहता है । इस बोध के कारण वे सर्वदा पञ्चकृत्य[१] करते रहते हैं । अपनी ही इच्छा से अपने ही द्वारा अपने ही स्वरूप को सङ्कुचित करना उनका निग्रह है । फिर विश्व की सृष्टि स्थिति और अपने ही अन्दर संहार कर अपने स्वरूप में पुन: प्रतिष्ठित होना उनका अनुग्रह है । ये पाँच कार्य उस परम सत्ता में उनके स्वातन्त्र्यवश अनवरत चलते रहते हैं । इस कृत्य का न तो कोई कारण है और न कोई उद्देश्य । यह मात्र उनका स्वातन्त्र्य या लीलाविलास है। इसी लीला के वश वे आणव भाव ग्रहण करते हैं जो कि जीव नाम से जाना जाता है । पञ्चकृत्य उनका स्वभाव या स्वातन्त्र्य है क्योंकि वे सर्वशक्तिसम्पन्न हैं । लीला करना जिस प्रकार उनका स्वभाव है लीला से परे रहना भी उसी प्रकार उनका स्वभाव है । यह सब उनके स्वातन्त्र्य का ही माहात्म्य है ।

३. प्रतिबिम्ब और आभास—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् नामक ग्रन्थ के प्रथम दो सूत्रों (चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः), तथा (सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति) में इस दर्शन का प्रतिबिम्बवाद सङ्केतित है । सामान्य व्यवहार में एक बिम्ब होता है—जैसे मुख और दूसरा प्रतिबिम्ब होता है जैसे—दर्पण आदि में मुख की छाया । बिना बिम्ब और बिना आधार के प्रतिबिम्ब की कल्पना नहीं की जा सकती । परम सत्ता एक और अद्वितीय है । इसलिये वह अपने ही ऊपर अपने को अपने स्वातन्त्र्यवश प्रतिबिम्बित करती है । पहले यह कहा जा चुका है कि असीम सत् के अन्दर प्रथम स्पन्दन ही चित् है । इस चित् से दूसरा चित् उत्पन्न होकर प्रथम चित् में अपने स्वरूप को देखता है और आनन्दरूप हो जाता है । यही प्रतिबिम्बन है । लोकव्यवहार में भी हमें आनन्दानुभूति तभी होती है जब हम किसी सजीव (= पत्नी, पुत्र आदि) अथवा निर्जीव (= चित्र, कला आदि) में अपने प्रतिबिम्ब को देखते हैं । नानारूपों में दृश्यमान यह समस्त विश्व उत्पत्ति की दृष्टि से उस परम सत्ता का प्रतिबिम्ब है । जिस प्रकार प्रतिबिम्ब आधार (= दर्पण आदि) से भिन्न कुछ नहीं है उसी प्रकार यह विश्व उस परमसत्ता से भिन्न कुछ नहीं है ।

---

१. निग्रह, सृष्टि, स्थिति, संहार और अनुग्रह ।

दर्पण में जिस प्रकार हमारे प्रतिबिम्ब का हमको बोध होता है उसी प्रकार इस स्वसृष्ट विश्व का उस परमसत्ता या शिव को बोध होता रहता है । यह बोध होना ही आभास है । जिस प्रकार समुद्र में उत्पन्न अनन्त तरङ्गों आवर्त्त बुदबुद आदि का अनन्त रूपों में बोध होता है उसी प्रकार यह अनन्त विचित्र विश्व उस परम सत्ता में उसी को आभासित होता रहता है । इस अनन्त वैचित्र्य का उसको आभास या बोध होना भी उसकी लीला ही है । जैसे चित्त के अन्यत्र संलग्न होने पर दर्पणगत अपना प्रतिबिम्ब अपने को ही नहीं दिखायी देता उस प्रकार की स्थिति परमसत्ता की नहीं है । उसमें निहित अनन्त प्रतिबिम्बों का उसे अनवरत आभास होता रहता है। इसलिये जिस प्रकार परमसत्ता नित्य है उसी प्रकार उसके प्रतिबिम्ब और आभास भी नित्य हैं ।

काश्मीर शैव तन्त्र साहित्य—शैवी साधना अनादि है और शिव के मुख से आविर्भूत होकर श्रुतिपरम्परा से महर्षि दुर्वासा को प्राप्त हुई । उन्होंने त्र्यम्बकादित्य, आमर्दक और श्रीनाथ नामक शिष्यों को इस शास्त्र का उपदेश दिया । त्र्यम्बकादित्य को दिया गया उपदेश ही काश्मीर शिवाद्वय वाद का मूल उत्स है । आगमग्रन्थ इस शिवाद्वयवाद के लिखित रूप आगमग्रन्थ हैं । काश्मीर शैवदर्शन के मुख्य आगम ग्रन्थ मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, स्वायम्भुवतन्त्र, रुद्रयामलतन्त्र, नि:श्वासतन्त्र, विज्ञानभैरव, आनन्दभैरव, उच्छुष्मभैरव और मृगेन्द्रागम है । ये आगम-ग्रन्थ सम्भवत: सिद्ध एवं शिवस्वरूप योगियों के उपदेश हैं जिन्हें कालान्तर में लिपिबद्ध किया गया । अत: भाषा को दृष्टि में रखकर इनका काल निर्णय करना समीचीन नहीं है ।

दार्शनिक दृष्टिप्रधान शैवशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ शिवसूत्र है । श्रीकण्ठनामधारी भगवान् शिव की कृपा से नवीं शती ईस्वी के प्रारम्भ में वर्त्तमान आचार्य वसुगुप्त को स्वप्न में इन सूत्रों को कश्मीरस्थ महादेव पर्वत पर जाकर प्राप्त करने का आदेश हुआ ।[१] इसलिये शैवशास्त्र के प्रथम आचार्य वसुगुप्त हैं । ये त्र्यम्बकमठिका के एक प्रधान गुरु थे । इनके अन्य ग्रन्थ स्पन्दामृत, सिद्धान्तचन्द्रिका हैं जिनका उल्लेख तो मिलता है पर ग्रन्थ अनुपलब्ध है ।

वसुगुप्त के बाद यह शास्त्र दो धाराओं में विभक्त हो गया । पहली शाखा धर्मप्रधान थी जिसके प्रथम आचार्य वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे । ये नवीं शती ईस्वी के मध्य में वर्त्तमान थे । ५० श्लोकों में उपनिबद्ध इनकी रचना स्पन्द-कारिका के नाम से प्रसिद्ध है । शिवसूत्रवृत्ति स्पन्दसर्वस्व, तत्त्वार्थचिन्तामणि आदि इनकी अन्य रचनायें हैं । कल्लट के बाद भट्टप्रद्युम्न और प्रज्ञार्जुन हुए जो क्रमश: इनके मातुलेय और पुत्र होने के साथ-साथ शिष्य भी थे । प्रज्ञार्जुन के शिष्य महादेव भट्ट उनके पुत्र तथा शिष्य श्रीकण्ठभट्ट हुए । श्रीकण्ठ के शिष्य भास्कर

---

१. श्रीमन्महादेवगिरौ वस्तुगुप्तगुरो: पुरा । सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि । (शि०सू०वा० १.३)

हुए जो दिवाकर के पुत्र थे । इनके द्वारा रचित शिवसूत्रवार्त्तिक ने इनके आदि गुरु वसुगुप्त को और अधिक देदीप्यमान कर दिया । इनका काल ११वीं शताब्दी है । भट्टकल्लट की धर्मप्रधान या आगमोन्मुखी धारा यहाँ आकर समाप्त हो गयी और भास्कर के पुत्र लक्ष्मणगुप्त आचार्य सोमानन्दप्रवर्त्तित दार्शनिक परम्परा से जुड़ कर एक हो गये ।

आचार्य अभिनवगुप्त काश्मीर शैव शास्त्र के अप्रतिम एवं मूर्धन्य विद्वान् थे । ये योगीनीभू थे । योगीनीभू उसे कहते हैं जो सिद्ध योगिनीरूपा माता एवं शिव स्वरूप पिता से उत्पन्न हो[1] । इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था । अभिनवगुप्त ने इनसे व्याकरण का अध्ययन किया था। कौलमत का अध्ययन श्री शम्भुनाथ से, वेदान्त का श्रीभूतिराज, से ध्वनिसिद्धान्त का श्री भट्टेन्दुराज से अध्ययन कर अभिनवगुप्त अनेक शास्त्रों के पारदृश्वा विद्वान् हो गये । इनका स्थिति काल ११वीं शताब्दी है । सिद्धान्त, वाम, भैरव, यामल, कौल, त्रिक और एकवीर साधकों के महासम्मेलन में इनको सर्वोच्च आध्यात्मिक गुरु स्वीकार किया गया था । वे नादवीणा के सिद्धहस्त वादक तथा सांसारिक भोगों में लिप्त रहते हुए भी जीवन्मुक्त थे । डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार एक वृद्ध मुसलमान ने अभिनवगुप्त को कुछ शिष्यों के साथ एक गुफा में प्रवेश करते देखा था फिर वे उस गुफा में से वापस नहीं आये । उनकी रचनायें निम्नलिखित हैं—

१. **शैवदर्शन**—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, परात्रीशिकाविवरण, मालिनीविजयवार्त्तिक ।

२. **स्तोत्र**—क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अनुत्तराष्टिकास्तोत्र, देहास्थदेवताचक्रस्तोत्र, महोपदेशविंशक, परमार्थचर्चा, परमार्थद्वादशिका, रहस्यपञ्चदशिका ।

३. **साहित्य**—अभिनवभारती, लोचन (ध्वन्यालोकटीका) ।

अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य आचार्य क्षेमराज ११वीं शताब्दी में वर्त्तमान थे। प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, विज्ञानभैरवोद्योत, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्तवचिन्तामणिटीका, पराप्रावेशिका, तत्त्वसन्दोह इनकी रचनायें हैं । इनके पश्चात् जयरथ, शिवोपाध्याय, श्रीवत्स, महेश्वरानन्द, शितिकण्ठ, पुण्यानन्दनाथ, स्वतन्त्रानन्दनाथ, वातूलनाथ, चक्रपाणिनाथ, विरूपाक्षनाथ आदि अन्य विद्वानों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं के द्वारा शैवशास्त्र को समृद्ध किया ।

---

१. 'शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम् ।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धि रागमोहादिसंयुताम् ।
ज्ञानभावनया सर्वं कर्त्तव्यं साधकोत्तमैः ॥' (तं०आ०वि० ७।१)
'तादृङ्मेलककलिकातनुर्यो भवेद् गर्भे ।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भवतः ॥' (तं०आ०वि० ७।१)

तन्त्रालोक

तन्त्रालोक शिवाद्वयशास्त्र, त्रिकशास्त्र अथवा तन्त्रशास्त्र का विश्वकोश है । 'तन्त्र' शब्द का अर्थविवेचन भूमिका के प्रथम खण्ड में किया जा चुका है । तन्त्रालोक उसी तन्त्र का सर्वाङ्गीण एवं परिपूर्ण प्रकाशक है । इस ग्रन्थ की इसी महनीयता के कारण परवर्त्ती आचार्यों ने इसके नाम के पूर्व 'श्री' शब्द जोड़ दिया । तन्त्रालोक का अध्ययन तथा इसके अनुसार जीवनयापन करने वाला 'श्री' अर्थात् समस्त सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त कर अन्त में जीवन्मुक्त होते हुए परमशिवसामरस्य को प्राप्त करता है इसमें कोई सन्देह नहीं है । तन्त्र के इस आलोकमय महासमुद्र में जो साधक जिस इच्छा से अवगाहन करता है उसकी वह इच्छा पूर्ण होती ही है । इस ग्रन्थ की रचना के उद्देश्य निम्नलिखित है—

१. भैरवत्व की प्राप्ति ।[१]
२. अनुत्तर त्रिकशास्त्र का स्पष्ट विवरण ।[२]
३. शैवसिद्धान्त, वीरशैव और काश्मीर शैवदर्शन के अव्याख्यात अंशों की व्याख्या ।[३]
४. तान्त्रिक परम्परा का पुनरुद्धार और अनुरक्षण ।
५. मालिनी मन्त्रों की उत्कृष्टता का ज्ञापन ।
६. आणव आदि चार प्रकार के ज्ञानों का विश्लेषण ।

१. भैरवत्व की प्राप्ति

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ की रचना पूर्ण भैरवत्व की प्राप्ति के लिये की है । वे स्वयं कहते हैं—जो विद्वान् इन ३७ आह्निकों का भलीभाँति अभ्यास करता है वह साक्षात् भैरव हो जाता है । इन ३७ आह्निकों में सम्पूर्ण बोध रूप भैरव की स्थिति है उसके अनुसार आचरण कर जीव भी भैरव भाव को प्राप्त कर ले तो इसमें आश्चर्य क्या ?

२. अनुत्तर त्रिकशास्त्र का स्पष्ट विवरण

मालिनीविजयोत्तर या स्वच्छन्द आदि जितने आगम ग्रन्थ हैं उनमें भोगमोक्षप्रद तन्त्र सिद्धान्तों का सूत्र रूप में विवेचन किया गया है । तन्त्रालोक उनकी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है । अभिनव गुप्त के शब्दों में—'मैं ब्रह्मचारी एवं अन्य सदाचारी शिष्यों की प्रार्थना पर इस स्पष्ट एवं पूर्ण अर्थवाली प्रक्रिया की रचना कर रहा हूँ ।'[४] इससे यह भी ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ केवल सिद्धान्त ही नहीं

---

१. तं०आ० (८।५ तथा १।२८४-२८६) २. तं०आ० (१।१४)
३. वही (१८।१९) ४. तं०आ० (१।१५)

अपितु प्रक्रिया अर्थात् इन सिद्धान्तों को जीवन में चरितार्थ करने की विधि भी बतलाता है ।

३. शैवशास्त्र के अव्याख्यात अंशो की व्याख्या

आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि भेदवादी शैवसिद्धान्त, भेदाभेदवादी वीरशैव तथा अभेदवादी भैरवागम का सार त्रिकशास्त्र है और उसका भी तत्त्वभूत मालिनीमत है । मालिनीमत की व्याख्या सम्भव ही नहीं थी यदि तन्त्रोलाक की रचना न की गयी होती । अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि से अदृष्ट और अस्पृष्ट तत्त्वों को इस ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है ।[१]

४. तान्त्रिक परम्परा का पुनरुद्धार एवं अनुरक्षण

अभिनवगुप्त कहते हैं कि श्री गुरुनाथ की आज्ञा से हम उन सिद्धान्तों को प्रकाशित कर रहे हैं जिनको विद्वानों ने छोड़ दिया और परिणाम यह हुआ कि तान्त्रिक विधियाँ भ्रष्ट हो गयी तथा मन्त्रों की शक्ति क्षीण हो गयी । यह ग्रन्थ उनको शुद्ध एवं पूर्ण करेगा ।[२]

५. मालिनी तन्त्रों की उत्कृष्टता का ज्ञापन

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के १५वें आह्निक के श्लोक सं० १३४-१३५ के द्वारा मालिनी मन्त्रों की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मालिनी मन्त्र अरणि के समान है । किसी भी प्रक्रिया में, किसी भी प्रकार की विधिभ्रष्टता होने पर अथवा मन्त्रों के स्वरूप, उनकी शक्ति या प्रयोग में व्यतिरेक होने पर अथवा मन्त्रों का अन्यत्र न्यास होने पर मालिनी मन्त्रों के न्यास से ही सारी क्षतिपूर्ति हो जाती है । मालिनी सब मन्त्रों की क्षतिपूर्ति करती है । इससे उन मालिनी मन्त्रों की स्पष्ट व्याख्या करने वाले तन्त्रालोक का उत्कर्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है ।[३]

६. आणव आदि चतुर्विध ज्ञानों का विश्लेषण

मुक्ति, भैरवत्व या शिवसमावेश की प्राप्ति के लिये चार प्रकार के ज्ञानों की चर्चा, शिवाद्वय शास्त्र में मिलती है । वे ज्ञान है—आणव, शाक्त, शाम्भव और पर या अनुपाय । ये क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं । तन्त्रालोक इनकी विशद व्याख्या प्रस्तुत करता है ।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तन्त्रालोक न केवल एक साधारण ग्रन्थ है अपितु उस परम्परा का प्रतिपादक ग्रन्थ है जो सर्वोत्कृष्ट हैं ।

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

---

१. तं०आ० (१।१८-१९) २. तं०आ० (१।२४५-४६)
३. तं०आ० (१।१७) ४. तं०आ० (१।३३४)

तन्त्रालोक का महत्त्व—

समस्त त्रिकशास्त्र के तत्त्वों का संग्रहभूत इस ग्रन्थ के अध्ययन से त्रिकशास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञानलाभ हो जाता है । कौल त्रिक आदि विभिन्न आगमपद्धतियों के प्रचलित होने पर भी त्रिक शास्त्र की प्रक्रिया या पद्धति का विश्लेषक यह एकमात्र ग्रन्थ है ।[१] इसके अध्ययन से त्रिकप्रक्रिया में प्रवेश का लाभ मिलता है । जयरथ ने तन्त्रालोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त को शास्त्रकार कहा है ।[२] किसी भी शास्त्र के लिये अनुबन्धचतुष्टय (अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन) का होना आवश्यक होता है । प्रस्तुत ग्रन्थ इस अनुबन्धचतुष्टय का स्पष्ट विवेचन करता है । सैतीसवें आह्निक के परिशिष्ट में श्री जयरथ ने अधिकारी का विवेचन करते हुए कहा है कि जिसने व्याकरण, न्याय, योगशास्त्र के साथ समस्त आगमों का अध्ययन किया है वही तन्त्रालोक के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है ।[३] विषय के सन्दर्भ में कहा गया है कि त्रिकशास्त्र की प्रक्रिया को निरूपित करने के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है ।[४] इस प्रक्रिया में ज्ञान, अज्ञान, दीक्षा, शिवसमावेश, उसके उपाय आदि नानाविध विषयों का निरूपण प्रस्तुत है । इसीलिये अभिनवगुप्त ने इसे संग्रहग्रन्थ कहा है ।[५] सम्बन्ध तो सभी ग्रन्थों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक होता है। यहाँ प्रतिपाद्य है—उपर्युक्त विषय और प्रतिपादक है—यह ग्रन्थ । प्रयोजन की चर्चा स्वयं अभिनवगुप्त ने की है कि जो इन सैंतिस आह्निकों का अध्ययन कर उनके अनुसार आचरण करता है वह साक्षात् भैरव हो जाता है ।[६]

आगमातिरिक्त शास्त्र जागतिक भोग को हेय एवं मोक्ष को उपादेय मानते हैं । किन्तु आगम शास्त्र भोग और मोक्ष दोनों को समान महत्त्व देता है ।[७] तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने स्वयं इस बात को स्पष्ट रूप से कहा है कि त्रिकशास्त्र का सारभूत यह तन्त्रालोक महाभोग एवं मुक्तिरूपी महामोक्ष दोनों को प्रदान करता है इसलिये यह परम उपदेय है ।

—राधेश्याम चतुर्वेदी
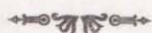
१. तं०आ० (१।१४-१५)
२. तं०आ०वि० (१।१।१।२१)
३. तं०आ०वि० (परि) (३७-८५)
४. तं०आ० (१।१५)
५. तं०आ० (१।३३०)
६. तं०आ० (१।२८४-२८५, ८।५)
७. यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो ।
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोग: ।
श्रीसुन्दरी सेवनतत्पराणां भोगश्चमोक्षश्च करस्थ एव ॥

Indroduction

[1]

(1) Veda and Tantra

India is a country of unity full of diversity. From distant past the current of physical and spiritual knowledge has been flowing on this earth. Vedas, Upaniṣads, Purāṇas and other physical and spiritual scriptures have been running in the stream of study and teaching. Philosophy is a venerable canal of this stream. The summumbonum of all knowledge is freedom from all sufferings. The treatises other than those of philosophy, guide to a way of freedom which is impermanent and incomplete. Philosophy is The only highway which leads to permanent and complete salvation. Between the two Philosophies viz Indian and Western, the latter talks of theory only, its practical side is zero.

There are two main streams of Indian philosophy— Vaidika and Āgamika. The Gaṅgā Yamunā of theory and practice flow simultaneously in these streams. In the root of Vaidika Sādhanā there are Vedas where as in the root of Tāntrika sādhanā there are Tantras. In their beginning these two streams were flowing in their pure perspective but later on they become intermixed. Not only this, there happened submixing in other disciplines also and as a result of this the Vaidika and Tāntrika schools became complementary to each other and the Tāntrika scholars had to declare —

'Right from Garbhādhāna (impregnation) to marriage one should adopt Vaidika way, later on he sould follow Tāntrika or Śaiva tradition.'

Although Vedas and Tantra are visible in the form of words, they are two phases of one knowledge. This knowledge is devine and nonhuman. Apparently what so ever meaning be understood of Veda, really this means a particular knowledge which is devine subtle beyond the congizance of senses. Having gotten this particular knowledge the seers of mantras, the ṛṣis used to be omniscient and in the last having selfrealization they reached the culmination of life i.e. liberation. In Purākalpa it is said—

'The ṛṣis were the seers of mantras the visualisers of Dharma. They had vision of subtle eternal nonsensuous Vāk (sound, Speech). This speech was delivered to those who had not vision of this, just like events realized in dream.' The preachings of them are in the form of Veda and Vedāñga. Having taken the help of gross scheech they expressed the unspeakable and that is Veda. Really and originally the Veda is one. This is not speech but realization. At the time of mnifestation it takes the fom of speech and manifests itself in word-sequence. Veda is the means of Brahma-realization. This realization comes after the demolish of I-knot . This I-knot shines in the form of 'I' and 'My'. The present form of vedas is seen in many forms. These are imitation of that realization which is partless and unspeakable. Yogi bhartṛhari says—

'Although the Veda is one yet this is told by great ṛṣis in many ways which is imitation and means of achievement of that (unspeakable Vāk).'

Just like Veda the Tantra is also the object of realization and speech. The Śakti (potency or power) inherent in Śiva has two forms viz. jñāna (knowledge) and Kriyā (action). The jñāna is of two kinds— Para (Superior) and Apara (non-superior). the para jñāna is bodhātmaka (apprehensible) while Apara Jñāna is Vāgāṭmaka (speakable). This speakable knowledge is set up in the form of Śāstra (scripture). The apprehensible knowledge becomes capable to express its meaning only when it takes the help of speakable knowledge. In the very beginning of creation

lord Parama Śīva manifests the knowledge for salvation of individual selves. This menifested Knowledge, when takes the form of speech, gets the name of 'Tantra'.

Tantra : Form and Scope

The other name (Synonim) of Tantra is Āgama. The coustituent alphalets of the word Āgama i.e. Ā, ga and ma denote three facts which are incorporated in the verse—

Āgatam Śīiva Vakrtebhyo gatam ca Girijā Śrutau.
Matam ca Vāsudeven tasmadāgama ucyate.

This meaning of the verse is that—The Āgamas are scriptures come out of the mouths of Śiva. These were told to Pārvatī. Vāsudeva, Kārtīkeya, Garuṇa etc. have given their consent to them. This Āgama is known by the name of Tantra.

The word Tantra denotes expansion. The root is, 'Tanu' and the suffix is 'Tral' or 'ṣṭran' Thus the word 'Tantra' indicates expansion. This expansion is of soul. Parama Śīva due to His freedom diminishes Himself and manifests in the form of concious and enert things at his own accordance. Later on by several means he sets aside his diminution and having expanded or made himself perfect, He rests in His own self. The procedure of Parama Śiva's menifestation in the form of universe and then return in His own self is the subject-matter of Tantra. Tantra is a pattern of self- realization. It is a highway, an art, a scientific method which leads to self-realization, to perfect I-ness very quickly. Although Tantra is an independent subject yet it is ṃiddle point. Before Tantra there is Mantra and after there is Yantra. Amongst these three points one remains incomplete without the rest two. To know the fundamentals of the things is Mantra. To know the possible conditions by the conjugation and mixture of things and then to give it a form, is called Tantra. To mark or to point out this conjugation and mixture by figures, letters and lines is called Yantra. There is an entity which is uncognigible, partless, undivided unspeakable.

It is called Parama. When this entity assumes the state of knowledge by his sovereignty it becomes Mantra. and then the word, which is an assembly of letters, plays important role. When the aforesaid knowledge takes the form of action it becomes Tantra. By the Japa of Mantra the corpuscles of body develop and then by the strength achieved through this development, the practiser (= sādhaka) pierces the Cakras. This process of piercing of Cakras is suggested by Yantra.

There are two objectives of Tantra - worldly and transcendental. To know the natural phenomenon as well as that unspeakable entity which is beyond this nature, by the help of expansion, and then by unveiling the mysterious nature to make it useful for human being, is the worldly motto of Tantra. Having known the expansion to know the root of this (expansion) is the transcendental object of Tantra. The latter which means to rest in its own self is the summumbonum of Tantra. The Vedas teach aversion, therefore they can lead to salvation only, although Dharma, Artha and Kāma (Virtue, money and sex) also are their objects but they are of secondary importance. Since the salvation does not happen in group therefore the Vedas, treat with individual. Tantra has both objectives worldly enjoyment and salvation. By worldly attachment it does good to individual and society both. Through this it leads to realization of oneness and makes identification with the whole of the universe.This is its ultimate aim or goal.

Tantra is a method of investigation. Science also investigates but it investigates the outer things by outer instruments. The field of scientific research is external world. There is an internal world also and it is as vast as the external one. Tantra explores this internal world. Scientific research pertains to inert things where as Tāntrika research aims at concious one which is alpervasive and is known by the words 'Tat', 'Brahma', 'Parama Śiva', 'Paramā Śakti' etc. There are two concious entities cognized in the world—Tat (That i.e. ultimate Self) and 'Aham' ('I' i.e. individual self). Apparently and

philologically both are different. One is third person the other is first person. The third person is alperfect while the first person is imperfect, but really and ultimately both are one and same . The 'Tat' manifests in the form of 'Aham'. The history of manifestations of 'Tat' in the form of 'Aham' and the procedure of identification or assimilation of 'Aham' with 'Tat' is the subject-matter of Tantra. The nasal or zero of Sanskrit alphabets (· o) is the symbol of ultimate reality or big vacuum (= mahāśūnya) of Tantra. When two zeros unite 'it becomes visarga (: 8) i.e. creation. It means that when big vacuum i.e. Śiva seperates Him from Himself within Himself there happens visarga or creation. This visarga is the symbol of the coupling state of Śiva and Śakti.

Three zeros make a triangle—There are two types of triangles with upward edge △ and with downword edge ▽. The first triangle symbolizes Śiva and second one symbolizes Śakti. When these two types of triangles are conjugated a hexangle ✡ is made. This hexangle symbolizes eternal relation or conjugation of Śiva and Śakti.

All the men and women of the world symbolize Śiva and Śakti. Further each and every body is partially a synthesis of Śiva and Śakti. In the body marrow, semen, Vital air and soul represent Śīva while bone, skin , blood, flesh and fat represent Śakti. These nine elements in the body are suggested by nine angles fo Śrīcakra. According to law of Piṇḍa-Brahmāṇḍa (i.e. just as in individual body same in universe), the same condition is in the universe also. Māyā, Śuddhavidyā, Īśwara and Sadāśīva represent Śīva. Where as mahābhūta represent Śakti. The figure of Śrīcakra presents equality of Piṇḍa and Brahmāṇḍa. Tantra introduces this equality in all dimensions well. Sādhka (i.e. Practiser of Tantra) pierces the cover of elements, unviels them and then crosses the stages of Bindu, Ardhacandra, Rodhinī, Nāda, Nādānta, Śakti, Vyāpinī and samanā, step by step ultimately he reaches Unmanā where the difference of 'Tat' and 'Aham' Vanishes and Sādhaka achieves

identity with Śiva. This is the subject matter which is dealt with Tantra.

There are three kinds of the scripure told by Śiva-Āgama, Yāmala and Tantra. Āgama deals with creation annihilation, god-worship. practice of Mantra, Puraścaraṇa, meditaion, six acts (i.e. killing, fascination, expulsion, enmity, attraction and subjugation). The topic of Yāmala is—creation. astrology, Spiritual routine work, Sūtra, creed, caste, ethics. The subject matter and scope of Tantra is very vast. Along with physical world and spiritual infinity it includes the whole of the topics related to Āgama and Yāmala.

Origin and Development of Tantra

The time of Tantra can be dicided from two points of view—Traditional and historical

1. Traditional—According to tradition and faith Tantra is beginningless or eternal. Just as Vedas are accepted prevalant from time unknown through listening tradition, similarly Tantra continued in practice in the world through teaching tradition.

Ācārya Somānandanātha says—

'Śavite mysterious teachings were inherent within the mouths of Ṛṣis. They had the way of salvation. When Kaliyuga commenced on and those traditional systems became rare and confined specially to Kalapi Villege, Lord Śiva in the form of Śrīkaṇṭha wandering on the mountain Kailāsa ordered sage Durvāśā to proclaim it lest it should come to an end.'[1]

---

1. Saivādīni rahasyāni pūrvamasan mahātmnāma
   Ṛṣīṇām vaktrakuhare teṣwewanugrahakriya.
   Kala pravṛtte yāteṣu teṣu durgamagocare
   kalāpigrāmapramukhe samucchinne ca Śāsane.
   Kalāśadrau brahman devo mūrtyā Śrīkaṇthayā saha.
   Anugrahāyāvatirṇas-codayāmāsa bhūtale.
   Munim durvāsāsam nāma bhagavanūrdhvaretasam.
   Nocchidyeta yathāśastram rahasyam kuru tādṛsam.
   Śivodṛṣtī 7.107-110

In Swacchanda Tantra it is said—

'Lord SadāŚiva having taken the form of guru and śiṣya propagated Tantra through question and answer.'[1] 'Goddess herself played the role of questioner and answerer ' is another statement.[2] Thus according to traditional faith the Tantra is beginningless.

2. Historical—Thousands years ago Tantra was vehemently prevelant not in India only but in the whole of Asia also. China, Tibbat, Thailand, Mangolia, Kambodia etc. were fertile lands of Tāntrika practices. The name of Tantra in Tibbatan language is 'Ṛgyud'. It is divided in 78 parts consistings of 2640 independent books. According to uptodate information there were 199 treatises on Tantra. As per Vārāhitantra Tāntrika texts consisted of 957950 verses. Mālinīvijaya tantra says that there were 30000000 (Three crore) verses in it.[3] In the same text there occures the name of Siddhayogiśwarī tantra which was consisted of nine crore verses.[4]

In the 11th century A.D. and onward several temples of goddesses were consturcted and idoles of goddesses were established in them. Assam and Bengal were main centres of Tāntrika practices in those days. From there Tantra was taken to other Indian states or foreign countries.

In Indian tradition religion and philosophy have been concomitant and complementary. Philosophy without religion is crippled and religion without philosophy is blind. Tantra is

---

1. Guruśiṣyapade sthitwā swayam dewah śadāśivah.
Praśnottarapadarvākyāstantramādhārabhedatah.
Swacchandtantra 8.31
2. Praṣtrī caprativaktrī ca Swayam Devī vyavasthitā
3. Mālinīvijaye tantre kotitritayalaksite, M.V.T. 1.9
4. Siddhayogiśwarītantram navakoti pravistaram, Ibid 1.8

main phase of philosophy. In India religion and philosophy have been reciprocal and interwoven.

By excavasions of Mohenzodero and Harappā it has been proved that the inhabitants of these historical cities were followers of Śaiva religion or ŚaivaTantra. Phallic worship. Vaginal worship. Worship of Paśupati, Śambhavī Mudrā etc. are burning evidences of Tāntrika sādhanā in those days. The idoles and pictures with different esoteric postures in Allorā and Azantā caves are clear evidences of Tāntrika caryākrama in ancient India. The Nepāli temple in Varanasi too produces similar type of proof. Later on Yogācāra as well as Vajrayāna of Bouddhas and Nātha discipline of Macchendranātha as well as of Gorakhnātha speak about the religious emience in Indian olden days.

Some scholar are of the opinion that the Tantra originated between 6th century A.D. to 13th century A.D. This is improper. The ancientness of Vaiṣṇava and Śaiva religions has been proved by Vaidika Samhitas, Brahmaṇas, Upaniṣats and the texts of Bauddha's as well as of Jainas written in Pāli and Prākṛta respectively. The Vaiṣṇava and Śaiva religions are known as Pāñcarātra and Pāśupata also. The old literature of the above two disciplines is knoẉn as Āgama. The initiative form of Tantra can be seen in these literatures.

The historic person Lakulīśa of Pāśupata discipline flowrished in the 1st century A.D. Just as Pāñcarātra and Pāśupata disciplines laid their impression on the Mahābhārata and Purāṇas similarly Āgama śastra and specially its Kaula system laid its impression on Siddha literature and Bauddha Tantra. If we study Bauddha Tantras in the light of old disciplines of Āgama and Tantra described in the Tantrāloka, we find that Vajrayāna, Kālacakrayāṇa, Sahajayāna etc. are different forms of Kaula Śastra founded by Macchendranātha.

A clear idea of Pāśupata thought can be had from Śatarudriya chapter of the White Yajurveda and other Saṁhitas

of Yajurveda. The author of the Mahābhārata as accepted the Saṇkhya-yoga, Pāśupata and Pāñcaratra equal to Vedas. The great poet Kālidāsa,[1] Puṣpadantā[2] and the author of Vīramitrodaya[3] all accept Pāśupata and Pāñcaratra an authority.

Sāṁkhya yoga, Pāñcaratra and Pāśupata thoughts originated as a reaction against Vaidika and Paurāṇika views and doctrines. When Buddha and Mahāvīra gave a severe attack on Vaidika sacrificial system then wisemen of this country invented a new view-point and a new current of devotion flew where women and śudras were equally authorized for worship and Tāntrika practice. Proofs can he had in Cāndojya and Vṛhadāraṇya Upaniṣads . In the Chāndogya Upaniṣad the word 'ekāyana' is used[4]. It is indicator of Vaiṣṇava system. Thus we see that a vast literature pertaning to Sāṁkhyayoga, Pāśupata and Pāñcarāta was present at that time although at present it is not available. Kṛtānta Pañcaka (i.e. Sāṁkhya, Yoga, Pāñcarātra, Pāśupata and Veda i.e. Aāraṇyaka and upaniṣad) had great impression on the Vedic and Bauddha principles. To speak the truth the development of Itihasas as and Purāṇas happened on the background of this KṛtāntaPañcaka. Puranas accept the validity of Vedas but they establish adjustment with opposite systems also. Contrary to this the literature created by saints was influenced by Āgamika and Tāntrika views. Further it does not reject the adjustive views of Purāṇas.

---

1. Vahudhāpyāgamairbhinnāh Panthānah siddhihetavah
   Twayyeva nipatantyaugha jahnavīyā irārṇave
   (Raghu 10.26)
2. Trayī sāṇkham yogah paśupatimatam vaiṣṇavamiti
   Prabhinne prasthāne Varamidamadah pathyamiti ca
   Rucīnam Vaicitryādṛjukutilanānāpathajuṣam
   nṛṇameko gamyastamasi payasamarṇava iva. (śiva m.st.7)
3. Nanu Sāṇkhya yoga Pāñcarātra Pāśupatādyāgamāh kim dharme pramāṇam uta na. (Pari. pra.)
4. Cha. up. 7.1.1

The impact of adjustive views of Pāñcarātra and Pāśupata had been on Mahāyāna Bauddha dharma, Jain Dharma, Paurāṇika dharma and Nyāya Vaiśeṣika. Kumārila Bhaṭṭa and Śaṁkarācārya also have discussed the thoughts of Pāñcarātra and Pāśupata.[1] The impact of Āgamika texts fell on Purāṇas, Smṛtis, Dharma śāstra (jurisprudence), architecture, sculpture, painting and music also. Vaiṣṇava Śaiva aur anya dhārmika mata' written by Dr. Bhāṇdārakara, tells that in ancient India there were people who worshipped Sūrya, Skanda, Gaṇeśa and Śakti. In the Museum of Mathura there is an idole of yakśī which is 2300 yrs old. In the Mahābhārata there are two hymas related to Durgā and, Śrīparvata, Goddess Śakambharī and Dhūmāvatī are also narrated there. By the statement given above it is proved that the Tantras are as old as the Vedas and Mahābhārta etc.

Tāntrika literature

Tāntrika literature is very vast and very strange. No catalogue till today is available which may tell about the Tāntrika texts. On the basis of indications and descriptions in other books it can be well imagined that Tāntrika literature was much more rich than the Vaidika one. We can classify the Tāntrika literature into three groups old, middle and modern.

Old Tantra-Literature (Śaivāgama)

The period of old Tāntrika literature can be decided from remote past to the Ist century A.D. Although so many schools flourished in that period, we are concerned here to Śavite school only. Although original Śaivāgama is one yet later on it was divided into three disciplines-dual, dual-cum-nondual and nondual. The dual Śaivāgamas are known as Śaivasiddhānta. They are prevalent mainly in Tamilnadu. The number of this Āgama is ten— Kāmika (Kāmaja) Yoga, Citya, Kāraṇa, Arjita, Sudīptaka, Sūkśma, Sahasra, Suprabheda and Amśumāna. Dual

1. Brahma Sūtra 2.2. 42-44

cum nondual Śaivagama is called VīraŚaiva also. They prevail mainly in Karṇātaka. The Āgamas are 18 in number. These are— Vijaya, Nihśwāsa, Pārameśwara, Prodgīta, Mukhavirha, siddha, santāna, Narsimha, Candrāṁśu (candrahāsa) Vīrabhadra, Swāyambhuwa, Virakta, Kauravya, Mākuta (mukuta), Kiraṇa, Galita, Āgneya and Vātula. 64 Bhairava-āgamas are nondualistic. Kāśmīra is the centre of their studies . Śrīkaṇthī Samhitā speaks of 64 Bhairava-āgamas. Their classification is in aṣṭakas. The statement of these aṣṭakas is as follows—

1. **Yāmalaṣṭaka**—Brahmayāmala, Viṣṇuyāmala, Rudrayāmala, Swachhanda yāmala, Ātharvanayāmala, Ādiyāmala, Vetāla yāmala (the VIII one is unknown. Possibly it may be Yama yāmala).

2. **Bhairawāṣṭaka**—Swacchanda Bhairava, Caṇḍa (candra) bhairava, Krodhabhairava, Unmatta bhairava, Asitaṅga bhairava, Mahocchwāsa bhairava, Kapālīśa bhairava. (The VIII bhairava is not known. Possibly it would have been Rurubhairava).

3. **Mattāṣṭaka**—Rakta, Lampaṭa, Lakśmī, Cālikā, Piṅgalā, Utphullaka, Vimbādha (The VIII is not known).

4. **Mangalaṣṭaka**—Picu, Bhairavī, Brahmī, Kalā, Vijayā, Candrā, Mangalā and Sarva maṅgalā.

5. **Cakrāṣṭaka**—Mantracakra, Varṇacakra, Śakti cakra, Kalā cakra, Vindu cakra, Nadacakra, Guhya cakra and Pūrṇa cakra.

6. **Bahurūpaṣṭaka**—Andhaka, Rudrabheda, Arja, Varṇabheda, Yama, Viḍaṅga, Mātṛrodana and Jālima.

7. **Vagīśaṣṭaka**—Bhairavī, Citrikā, Himsā, Kadambikā, Hṛllekhā, Candralekhā, Vidyullekhā, Vidvanmātā.

8. **Śikhāṣṭaka**—Bhairavīśikhā, Vināśikha, Vināmaṇi, Sammoha, Ḍāmara, Ātharvaka, Kabandha and Śirścheda.

Just like old Śaivāgamas there is a long chain of Śaktaāgamas. In his book 'Saundarya Laharī' Lord Śaṁkarācārya has

indicated 64 Śakta Tantras.[1] Their names and topics there in, are as follows -

Name of books	Topics
1-2. Mahāmāyā Tantra and Tantra.	Reverse visualization (e.g. jar seen as cloth)
3. Yoginī kāla	Vision of group of yoginī
4. Tattvasamber	To see one element in other form e.g. earth as water.
5-12. Siddhabhairava, Vaṭuka bhairava, Kaṁkāla-bhairava, Kālabhairava, Kālāgni bhairava, Yoginī bhairava, Mahā bhairava, Śakti bhairava	Treasure-learning, Kāpālika View
13-20. Brahmī, Māheśwarı, Kaumarī, Vaiṣnavī, Vārāhī Cāmuṇḍā, Śivadūtī. (the VIII is unknown)	Acqisition of various supernatural powers
21-28. Yāmalāṣṭaka	Kāyasiddhi, Yāmala siddhi
29. Candra jñana	16 learnings, Kāpālika mata.
30. Mālinī Vidyā	Ship learning
31. Mahāsammohana	To make awaking person slept or unconcious

1. Chatuhṣaṣṭhyā tantriaih sakalamanusandhāya bhavanam Sthitās tattat siddhim prasava paratantram paśupateh. Punastwannirbādhādakhilapurusārthaikaghatanā-swatantram te tantram kśititalamavātitaradidam.
San. L. 31

32-36. Vāmayuṣṭa Tantra	Vaidika and non-Vaidika topics.
37. Hṛdbheda	Practice and piercing of six cakras.
38-39. Tantra bheda Guhya Tantra	Killing in many ways
40. Kalāvāda	Kalā (parts) of moon
41. Kalāsāra	Refinement of ear
42. Kundikā	Guṭikā (globb or ball) siddhi
43. Vinayākhya Tantra	Subjugation of Vinayā yogini or sambhoga yakśiṇī
44. Trotala Tantra	Siddhi of drinking pot, collyrium and wooden foot-wear.
45. Trotalottara Tantra	Ways of vision of 64000 Yakśiṇīs
46. Pañcāmṛta	Nutrition by five big elements
47-51. Rūpabheda, Bhūtaḍāmara, Kulasāra, Kuloḍḍīśa. Kula-cūḍamaṇī.	To kill the ememy by mantras
52-56. Sarvajñānottara, Mahā-kālīmata, Aruṇeśa, Madaneśa, Vikuṇṭheśwara,	Kāpālika siddhi
57-63. Pūrva, Paścima, Uttara, Dakśiṇa, Niruttara, Vimala Devimata.	Kṣapaṇaka siddhi,

Besides above there is a list of other 64 tāntrika texts. They are as follows—

Kālī, Muṇḍamālā, Tārā, Nirvāṇa, Śivasāra, Vīra, Nidarśana, Latārcana, Toḍala, Nīla, Rādhā, Vidyāsāra, Bhairava, Bhairavī, Siddheśwara, Mātṛbheda, Samayā, Guptasādhaka, Māyā, Mahāmāyā, Akṣayā, Kumārī, Kularṇava, Kālikākulasarvaswa, Kālikākalā, Vārāhī, Yoginī, Yoginīhṛdaya, sanatkumāra, Tripurāsāra, Yoginīvijaya, Mālinī, Kukkuṭa, Śrīgaṇeśa, Mata, Uddīśa, Kāmadhenu, Uttara, Vīrabhadra, Vāmakeśwara, Kulacūḍāmaṇī, Bhāvacūdāmaṇī, Jñānārṇava, Varadā, Tantra cintāmani, Vāruṇīvilās, Haṁsa Tantra, CidambaraTantra, Śwetavāridhi, Nityā, Uttarā, Narāyaṇī, Jñānadīpa, Gautamīya, Niruttara, Garjana, Kubjikā, Tantramuktāvali, Vṛhadśrīkam, Swatantrayoni, Māyārūpā, (this index is incomplete).

The above cited Tantras are for worldly achievements or benefit. There is a little hope of devine good from them. The commentator of Saundaryalaharī Śrī Lakṣmīdhara says that only śūdras are righteous persons for the practice of these Tantras.[1] In the second chapter of Dāśarathī-Tantra there are names of other 64 Tantras. Jayadrathayāmala gives enough information about Tāntrika literature. In the 36th chapter of this book there are names of the Tantras of Vidyāpīṭha. They are as follows—

Sarvavīra, Siddhayogīśwarī mata, Pañcāmṛtaviṣāda, yoginī, Jālaśambara, Vidyābheda, Śiraścheda, Mahāsammohana, Mahā-raudra, Rudrayāmala, Viṣṇuyāmala, Rudrabheda, Hariyāmala, Skanda, Gautamīya etc.

Śubhāgama Pañcaka

Five Āgamas are related to Samaya discipline. Their names are—Vaśiṣṭhasamhitā, Sanakasamhitā, Sanandanasamhitā,

---

1. Parameśwarah brahmakṣatraVaiśyaśūdrajātīyān mūrdhāvasiktādyanuloma pratilomajātīyānadhikṛtya Tantrāṇī nīrmitawān. Tatra Traivarṇikānām Candrakāla Vidyāswadhikārah. Śūdrādīnam Catuhṣaṣṭhitantre swadhikārah.
—*San. L. Comm. 31*

Śukasamhitā and, Sanatkumāra samhitā. The founders of these disciplines are Vaśiṣṭha etc. the five sages. These Tantras are fully Vaidika. Besides these Vāmakeśa jñānārṇava etc. several old Tantrika texts are refered to in several places.

Tantra Litertature—Middle Age

The medieval period of Tāntrika literature can be fixed from the 1st century A.D. to the 10th centrury A.D. In this age texts were written pertainning to the worships of different dieties. These texts were based on old Tāntrika literature. It is not irrelevant to say that in this period Śākta worship was prevalent in big proportion. As a result most of the texts were written related to Śākta-worship. Among these the texts written about Ten Mahāvidyās carry important role. The names of ten Mahāvidyās are as below—

Kālī. Tārā, Ṣoḍaśī, Bhuwaneśwarī, Bhairavī, Chinnamastā, Dhūmavatī, Bagalā, Mataṇgī, Kamalā, Among these Bhairavī, Chinnamastā and Dhūmāwati are the goddesses of ṇivṛtti (aversion) where as the rest seven are the goddesses of inclination (Pravrtti). A brief account of these goddesses is thus—

1. Kālī—She has many forms with many names, such as Dakṣiṇā Kālī, Vāmā Kāli, Bhadra Kālī, Dhana Kālī, Siddha Kālī, Caṇḍī Kālī etc. Some where Dwadaśa Kālī, is described. Important Tāntrika texts about Kālī are here below—Mahā-Kāla Samhitā (containing more than 50 thousand verses), ParāTantra, Kālī yāmala, Kumārī tantra, Kālī Sudhānidhi, Kālikāmata, Kālikalpalatā, Kāli kulārṇava, Kālīsāra, Kālikārṇva, Kālī kulasadbhāva, Kālikārcādīpika, Kālī tantra, Kālajñāna (kālottara - an appendix of Kālajñāna), Kālīsūkta, Kālikopaniṣad, Kālītantra, BhadraKālī Cintāmaṇi, Kālī-Tattvarahasya, Kālīkalpa (Śyāmākalpa), Kālī-ūrdhwāmnāya, Kālīkula, Kālīkrama, Kālīkodbhava, Kālīvilāśa Tantra, Kālīkulāwalī, Vāmakeśasamhitā, Kālī tatwāmṛta, Kālikārcāmukura, Kālī(śyāmā) rahasya, Kālīsaparyākalpavallī, Kālī-

krama, Kālikāhṛdaya, Kālīkhaṇḍa, Kālī Kulāmṛta, Kālikopaniṣatsāra, Kālīkulakramārcana, Kālīsaparyāvidhi, Kālītantra sudhāsindhu, Kulamukti kallolinī, Kālīśābara, Kaulavali, Kālīsāra, Kālīkārcanadīpikā, Śyāmārcanataranginī, Kulaprakāśa, Kālītatvāmṛta, Kālībhaktirasāyana, Kālīkulasarvaswa, Kālī kalpalatā, Kāloparā, Kālīkārcana candrikā Kālīsahasranāma etc.

According to the texts, say Nāradapāñcarātra etc. Sage Viśwāmitra got Brahaman-hood due to grace of Kālī. As per 'Śaktisangama Tantra' Kālī and Tripurā Vidyā are one and same.

2. Tārā—Regarding Tāra following texts are specially to be taken into account—

Taraṇītantra, Todala Tantra, Tararṇava, Nīlatantra, Mahānīla Tantra, Nīlasaraswatī Tantra, Cīnācāra, Tantraratna, Tārā śābara-tantra, Tārāsudhā, Tārābhaktisudhārṇava, Tārākalpalatā, Tārā-pradīpa, Tārāsūkta, Ekajaṭītantra, Ekajaṭī Kalpa, Mahā cīnācāra-krama, Tārārahasyavṛttivāsanātattwabodhinī, Tārāmuktitaraṅginī (3 texts written by three scholars viz. Kāśīnātha, Prakāśānanda and Vimalānanda), Mahogratārātantra, Ekavīra Tantra, Tāriṇī-nirṇaya, Tārākalpalatāpaddhati, Tāriṇīpārijāta, Tārāsahasranāma, Tārā kula puruṣa, Taropaniṣad, Tārāvilāsodya. According to Śaktisaṅgamatantra, only Tārā is Parāvāk and at the same time with perfectness.

3. Ṣoḍaśī—Ṣoḍaśī is another name of śrīvidyā, Tripurasundarī, Tripurā, Lalitā etc. are other names related to her. The texts pertaining to this Mahāvidyā are as follows—Tripuropaniṣad, Bhāvanopaniṣad, Kaulopaniṣad, Tripurātāpinyupaniṣad, Lalitā-stavaratna, Tripurāmahimnastotra, Soubhājñahṛdyastotra, Yogini-hṛdaya (Uttaracatūhśatī), Pūrvacatuhśatī, Lalitātriṁśati, Navaśakti hṛdayaśāstra, Śaktisūtra, Śriviṣṇuratnasūtra, Traipurasūkta, Vindu-sūtra, Lalitāstava, Saubhajñodayastuti, Lalitāsahasranāma, Tantrarāja, Tantrarajottara, Parānanda Tantra, Saubhājñyakalpa druma, Sau-

bhājñakalpalatikā, Mātṛkārṇava, Tripurārṇava, Candra-jñāna, Sundarīhṛdya, Nityāṣoḍaśikarṇava, Matrikā-sammohana, Vāmakeśwara, Prastāracintāmaṇi, Meruprastāra, Tantrarāja, Jñanarṇava, Śrīkramasamhitā, Dakṣināmūrtisamhitā, Swacchanda Tantra, Kālottaravāsanā, Śriparākrama, Lalitārcanacandrikā, SaubhājñaTantraottara, Saubhājñaratnākara, Saubhajñasubhagodaya, ŚktisangamaTantra, Tripurārahasya, Śrīkramottama, Ajñāta-awatāra, Subhagārcāpārijāta, Subhagārcāratna, Candrapītha, Saṅketapādukā, Sundarīmahodaya, Hṛdayāmṛta, LakṣmīTantra, Lalitopākhyāna, Tripurāsārasamucchaya, Śritatwa-cintāmaṇi, Virūpakṣapañcāśika, Kāmakalāvilāsa, Śrividyārṇava, Śaktakrama, Lalitāswacchanda, Lalitāvilāsa, Prapañcasāra, Saubhajña candrodya, Varivasyārahasya, Varivasyāprakāśa, Tripurāsāra, saubhajñya subhagodaya, Saṅketapaddhati, Parāpūjā-krama, cidambaranaṭa,

Ṣoḍaśī or Śrīvidyā is a hidden form of Gāyatrī. Its original or ultimate form is Bhāvanātmaka (ideal), Subtle form is Mantrātmaka, and Physical or gross form is human. She has twelve mouths. Manu, Candra, Kubera, Lopāmudrā, Manmatha, Agastya, Agni, Sūrya, Indra, Skanda, Śiva, Krodhabhaṭṭāraka or Durvāśa, these 12 sādhakas (= persons trying for supernatural power) achieved their goal through the worship of Ṣoḍaśī or Gāyatrī. They founded 12 disciplines amongst which Manmatha and Lopamudrā systems are alive to some extent. The main power of Tripurā is goddess Mālinī , The father of Lopāmudrā was a worshipper of 'Bhagamālinī'. Lopāmudrā herself had got Ṛṣitva by the worship of Tripurā and her husband Agastya had got Dīkṣā from her.

4. Bhuwaneśwarī—The main book of goddess Bhuwaneśwari's worship is 'Bhuwaneśwarīrahasya'. Bhuwaneśwarī Tantra, Bhuwaneśwarīpārījāta, Bhuwaneśwarī upaniṣad are other books related to her worship. In Puraścaryārṇava, Śāktapramoda, Tantrāhnika and Devī bhāgawata also the method of her worship is described.

In the beginning of Satya yuga Ādiśaktī (The primitive power) Maheśwarī became pleased by the severe ousterity of brahmā and incarnated hereself by the name of Krodharātrī. The whole of the universe resides in her yoni (genetic organ). In annihilation the universe becomes concealed in that yoni. There are several different mantras regarding her sādhanā and accordingly her meditations are also seperate ones.

5. Bhairavī—Paraśurāma kalpasūtra describes bhairavī as the wife of Kāla bhairava. She is adorned with all the merits like feeding, nutrifying, gratifying etc. In the books namely Jñānārṇava, Śāradātilaka, Merutantra etc. her many fold forṁs are described. There are other texts namely Bhairavī Tantra, Bhairavī rahasya, Bhairavīrahasyavidhi, Bhairavī saparyāvidhi, etc. which help the sādhakas to get their ends. Bhairavīśīkhā is an important original text amongst all 64 Śakta tantras. There is a detailed description of her grandeur and worship in the 'Bhairavīyamāla'.

6. Cinnamastā—Once upon a time Mahāmāyā engrossed in conjugation with Śīva, became full of eversion. After the semen was discharged her two girl friends named 'Dākinī' and 'Varṇinī' appeared before her. Mahāmāyā began to take bath along with them in the morning in Puṣpabhadrā river. When the two girl friends became hungry Mahāmāyā cut her head by her nails and satisfied their hunger by the blood shed from her headless trunk. Since then she was designated as 'Cinnamastā. In a village named 'Sarisava' about 30 kms away in the east from Darbhaṅgā head quarter, there is a temple of 'Cinnamastā' older than 600 years. Another 400 yrs old stone statue of Cinnamastā is in crematery of village named Ujāna which is about 6 kms away in the east from 'Sarisava'. It is famous from its pungency. There is a Durgā temple in Rāmanagara (Varanasi). In its campus there is a statue of Cinnamastā sitting on the back of Śīva who is in reverse Conjugation with Śīvā. The statue of Cinnamastā and Śīva-Śīvā are made of marble. Any independent book pertaining to Cinnamastā is not

available. Śāktapramoda, Puraścrayārṇava, Āgamakalpalatā, ŚaktisaṅgamaTantra, Mantramahodadhi etc. are the books where the method of her worship is described . Her Kavaca, Stotra, Sahasranāma, Śatanāma can be seen in Bhairavī Tantra, Śāktapramoda and Viśvasāra tantra respectively.

7. Dhūmāvatī—The birth of Dhūmāvātī is described in two ways—

1. She was born from the smoke risen from the burnt body of 'Satī' in the sacrifice of Dakṣa the Lord of Subjects (Prajāpati).

2. Pārvatī and Śīva were living on the mountain Kailāsa. Pārvatī demanded food from Śīva. He got late. Then Pārvatī swallowed Śīva. After one moment smoke began to rise from her body. That is why she is called Dhūmāvatī. Because of swallowing Śīva the husband, Dhūmāvatī is widow.

The method of her worship etc. can be known from the Śākta pramoda Merutantra, Ūrdhwāmnāya. 'Phetkārinī Tantra is specially related to her. Besides Dhūmāvatī Pañcāṅga, Dhūmāvatīpūjā prayoga, Dhūmāvatī paddhati, Dhūmāvatī paṭala etc. can be consulted regarding this goddess.

8. Bagalāmukhī—An insensible vital air (Prāṇasūtra) named 'Atharvā', always flows from the sentient bodies. It is present in the smell-power of breath. This Atharvā power is called Balgā[1] in Veda. Due to perversion of letters 'Balgā' became 'Bagalā'. According to a legend, once upon a time in Satayuga annihilation came due to stormy wind. To protect the world from annihilation. god Viṣṇu practised austerity in a sancitified pond (Siddha Kuṇḍa) having the colour of termeric. Goddess Śrīvidyā became pleased with Viṣṇu who had worn yellow garment and began to play in that watery

---

1. Atha kaścid Dvīṣan bhrātṛvyah Kṛtyām Balgām nikhanati. Tamevaitadutkīrati. (Sh. b. 3.5.4.3)

pond and the world was proteded. This great yellow pond is still present in Saurāṣtra. A continuous worship of goddess Pitāmbarā is prevailant in Datiya district in M.P.. The statue is made of stone. This Mahāvidyā is specially described in Śaṅkhāyana Tantra consisting of 30 chapters. The description is in the form of discourse entitled 'Iśwarakrauncabhedan' Bagalā krama kalpavallī, Bagalāpañcaṅga. Bagalāpaṭa, Bagalāmukhī krama etc. are important texts regarding this goddess.

9. Mātaṅgī—According to Brahmayāmala sage Matanga practised severe austerity to subjugate the most cruel powers. A devine light was born there from the eyes of goddess Tripurasundarī. That light became famous by the name of goddess Mātaṅgī. According to Kubjikā tantra this Mahāvidyā was named as Mātaṅgī due to her ebriety nature and due to killing of the giant Mataṇga.

In the 'Puraścaryārṇava' her several forms are described. She is known by other names also such as Ucciṣṭāmātaṅgī, Rāja mātaṅgī, Sumukhīmātaṅgī, Vaśyamātaṅgī, Karṇa mātaṅgī etc. She is said Mahāpiśacinī and Ucchiṣṭacāṇḍālinī also. Mātaṅgī Krama, Mātaṅgī paddhati and the texts related to ten Muhāvidyas speak about her.

10. Kamalā—Kamalā is another name of goddess Lakṣmī. Being pleased by the penance of Brahmā she incarnated to kill the giant Kolāsura who was sitting on the breast of Viṣṇu. Kamalā paddhati is the most useful text to know the method of her worship. Śāradātilaka, Puraścaryārṇava, Śaktapramoda, Āgamakalpalatā, Lakṣmī pañcāṅga, Lakṣmī paddhati, Lakṣmī pūjā prayoga, Lakṣmī yāmala, Lakṣmī pūjāviveka etc. may be consulted to know details about this goddess.

These ten Mahāvidyās are not worshipped lonely. Along with them the worship of Bhairava is inevitable. Here is a list of ten Bhairawas differently associated with ten Mahāvidyās.

Sl. No.	Mahāvidya	Bhairava
1.	Kālī	Mahākāla
2.	Tārā	Laliteśwara
3.	Ṣoḍaśī	Akṣobhya
4.	Bhuwaneśwarī	Krodha Bhairava
5.	Bhairavī	Mahādeva
6.	Chinnmastā	Kāla Bhairava
7.	Dhūmāvatī	Nārāyaṇa
8.	Bagalā	Vaṭuka
9.	Mātaṅgī	Mataṅga
10.	Kamalā	Mṛtyuñjaya

For specific purpose specific Śaktis are worshipped. Śakta Tantra gives details of this. Ten Mahāvidyas too are meant for ten specific purposes. The list is here below—

Specific purpose	Mahāvidyā
Sarvasiddhi, Dāna	Kālī
Knowledge	Tārā
Acheivement of empire	Ṣoḍaśī (Tripurasundarī)
Welfare	Bhuwaneśwarī
Playfulness/amusement	Bhairavī
Pity (anugraha)	Chinnamastā
Quarrel/dispute	Bagalā
Fulilment of desire	Mātaṅgī
Dāna (charity)	Kamalā

Modern Tāntrika Literature

The period of modern Tāntrika literature can be fixed from the 11th century onward. Ācārya Abhinavagupta was the topmost scholar of śaiva tradition in this period. Besides the Tantrāloka he wrote a number of books of different disciplines. Kṣemarāja, (pratyabhijñāhṛdya etc.), Jaiyaratha (Tantrālokaviveka 'Kāmakalāvilāśa), Yogarāja, Śivopādhyāya, Maheśwarānanda (Mahārthamañjarī), Śrīvatsa (Cidgagana-candrikā) Śiti kaṇṭha (Mahānayaprakāśa), Puṣyānandanātha, Swatantrānandanātha (Mātṛkācakra viveka), Vātūlanātha (sūtra), cakrapāṇinātha, (Bhāvopahāra), Virūpākṣanātha (Virū-pakṣapañcāśikā) etc. were other scholars who by writing original texts and commentaries made the Śaiva Śastra prosperous. Among the western scholars of Tantra the names of Sir John Woodruff (the serpent power etc.) and Arthur Avalon can be taken with respect. Mahāmaho-pādhyāya Haraprasāda Śastrī, Prabodha candra Bāgacī, Kṛṣṇānanda ĀgamaVāgīśa (Tantrasāra), Tripurānanda, Brahmānanda giri, Pūrṇānandanātha (Śyāmārahasya) Pūrnānanda paramahaṁsa parivrājaka (Śāktakrama, Śrītatwacintāmaṇi etc.), Śamkara āgamācārya (Tārārahasyavṛttikā), Narsiṁhaṭhākura (Tārā-bhaktisudhārṇava), Kṛṣṇamohana (Āgamacandrīkā), Candra-śekhara (Puraścaryā dīpikā, Kulapūjācandrikā), Rāma-gopālaśarmā (Tantradīpanī), Kāśīnātha tarkālaṁkāra (Śyāmā-saparyāvidhi), Jñānānanda brahmcārī (Tatwa prakāśa), Rādhāmohana (Tīkṣṇā Kalpa) etc. were the authors of Tantrika texts. These were inhabitants of Bengāla and flowrished between 11th to 16th centuries. In Mahārāśṭra Nīlakaṇṭha was a Śaiva scholar who wrote a number of books. There were Śākta worshippers namely Mādhavānandanātha, Kṣemā-nanda nātha, Laxmīdhara etc. who wrote Saubhāgya-kalpadruma, Saubhāgya-kalpa latikā and Saundaryalaharī tīkā respectively. In the south of India the Śākta Tantra was propagated and expanded in lavish profusion. Śrīnivāsa-bhaṭṭa goswāmī (Śīvārcana Candrikā), Sunderācārya (Lalitā-

racana Candrikā), Bhaskarācārya (Pūrṇā-bhiṣeka, Nityāṣoḍaśikārṇava, Varivasyārahasya etc.), Nityānandanātha (Nityotsava) etc. were some eminent scholars of Śākta system in modern age. Kāsīnāthabhaṭṭa bhāṇda wrote more than sixty books and highlighted the name and fame of Varanasi. Vāmācāra-matakhaṇḍana, Mantracandrikā are his eminent works.

In the 16th century the Mantra mahodadhi was composed by Pt. Mahidhara. Mantrārthanirṇaya was written by Mahārāja Viśvanātha Singh of Reewan. In Nepal Pt. Navamī Singh (17th century) wrote Puṣparatnākara. Premanidhi Panta, born in Kumāyun composed Mallādarśa, Dīpaprakāśa. In Kāśmīra besides Abhinavagupta, Sāheba kaula (Devīnāma-vilāśa, Kalpa-vṛkṣa), Lalleśwarī, Pt. Madhusūdanakaula, Jyotiṣprakāśa, Lakṣmaṇa Jū, Nilakṇṭha Gurtū, Dīnānātha Yaṣka, Balajinnātha Pandita are honourable names in the field of Śaiva philosophy.

In varanasi M.M. Pt. Gopīnātha Kavirāja worked a lot regarding agamaśastra and reestablished the grandeur of the āgamika studies. His creations are Bhāratīya Saṁskṛti aur Sādhanā, Tāntrika Vaṅmaya men Śāktadṛṣṭi etc. Pt. Rameśwara Jhā, (Pūrṇatā-pratyabhijñā) Pt. Vrajavallabha Dwīvedi etc. are some other scholars who by their contribution added a great link in the chain of expansion of Tāntrika literature.

At present different scholars from different corners of the world are showing interest and being attracted towards tantra. As a result of this many books are being published in Hindi and English languages. it does not matter that these books are collections and deal with information only. Modern man is at pains due to extreme materialistic modern civilization. He wants peace by the worship of gods and goddesses. Tantra will play the role of expert guide in this darkness of modernism and save the man kind from stumbling in the path. The siries of Tāntrika publication will serve the best for this purpose.

[2]

Kāśmīra Śaiva (Tantra) Darśana

Introduction—The current of indian knowledge and practice (sādhanā) has been flowing in two ways viz. Nigama and Āgama. If the source of Vaidika knowedge is the exhalation of Viṣṇu the source of Tantra is the mouth of Śīva. To speak the truth both these two systems are beginningless and independent. As per the nature of human being the followers of these two systems became influenced by each other and a partial mixing of principle and practice happened on both sides. The result was that a mixed discipline came into practice. In the Vaidika literature Rudrasūkta, as well as some Upaniṣats like. Śwetāśwataṛa, Pāśupata, Brahma, Tripurātāpinī, Tripurā, Katharudra, Bhāvanā etc., are proofs of tantric mixing in Vaidika literature.

Similarly in tantrika worships and rituals the use of Vaidika mantras prove that Tantra was influenced by Vaidika system. Even then there are some fundamental doctrines of Tantra which discriminate and particularize it from Veda.

1. Ultimate Reality— All the philosophies of the east and the west are of the opinion that there is a concious being where from this universe comes off. Tantra is not an exception to it. the entity which has been accepted here is partless. The most profound state of the perfect entity is beyond imagination of Sat, Cit and Ānanda. It is a complete whole and without distinction. In this perfound and pure being an offshoot (Kalā) come out . This is self-luminous. In Tāntrika word it is called Cit or Citi. This Citi (concious-ness is the first ray of self manifestion of that ultimate entiry.

According to Tāntrīka term nology it is called Anuttara (the last). The first vowel of Samskṛta language or the first alphabet of Māheśwara sūtra 'a' symbolizes this 'Anuttara'. This concious

Kala always flows from the ultimate reality. Just as due to Spandana (throbbing) the 'Cit' manifests in 'Sat' similary in 'Cit' also throbbing happens continuously. As a result of this throbbing the 'Cit' countinues its association with 'Sat' on one hand and on the other, another 'Cit' appears in previous 'Cit'. When the second Cit reflects in the first 'Cit' the former realizes its appearance. This recognition of its own entity is called 'Ānanda'. Just as we look our face in the mirror and feel pleassure, the same condition is there.

By the above statement it is proved that the partless (akhaṇḍa) entity is concious. 'Sat' and 'Cit' are one and same. This entity is independent i.e. selfsustained having no assistance from anywhere. By 'Satyam', 'Śivam' , 'Śunderam' or by Sat, Cit, Ānanda this very entity is suggested. From viewpoint of manifestation this entity is Cit and from viewpoint of sentiment (Rasāsvāḍa) it is Ānanda.

According to saivites it is ParamaŚiva, and according to Śaktās it is ParamāŚakti. Pūrva kaulas say that there is śeṣa, Śeṣī bhāva (relation of part and whole) between them. Uttara Kaulas do not accept it. The reality is that there is not any type of relation between the two. They are not dicotomous but identical. Following Gajavṛṣabha nyāya.[1] it is Paramaśīva as well as Paramā Śakti. Without Śakti Śīva devoid of Icchā jñana and Kriyā, is just like Śava (corps), incapable to throb. This fact is indicated in the first worse of Saundaryalaharī.[2] In absence of concious Śīva, Śakti can not be capable to mamifest her. Just as fire and its burning power are identical in the same way Śīva and Śakti are one and same. This state is of ultimate

---

1. A picture if looked from one side seems to be of elephant where as looked from other side it seem to be of bull. This is called Gajavṛṣabha nyāya (maxim of elephant and bull)
2. Śivah śaktyā yukto yadi bhavati śaktah prabhavitum. na cedevam devah na khalu śaktah spanditumapi.

equilibrium and non-duality. There is no discrimination of gender. Although this state is of non-duality yet if we think from dualistic point of view both Śiva and Śakti are difference. From worldly point of view Śiva is motionless as well as witness while Śakti does five acts (Paṇcakṛtya) continuously. This perfect ultimate reality is both immanent and transendent simultaneously.

On one hand this is Śiva which is completely Śūnya (Zero, vaccuum) at the same time on the other hand it is śākti i.e. the whole the perfect the complete the immanent universe, meaning there by that the union of Parama Śiva and Paramā śāktī is eternal. The thought of ardhanārīśwara (god Śiva having his body half of male and half of female) expresses the same idea. Here Śiva and Śakti are eternally present and this is why to a Siddhayogi this world seems to be identical because there is nothing other that the playful Mahā Śakti.

2. Swātantrya—Doctrine of swātantrya is the life breath of āgama. The supreme entity parama Śiva is supreme free. Due to this nature. He always keeps Himself embelished with five Śaktis viz Cit, Ānanda, Icchā, Jñana and Kriyā (= conciousness, bliss, desire, knowledge and activity); Sat He is Himself. Cit is inner-potency. Āananda is His outer strength. The Kaulācāryas think Him immanent The Tantrācāryas take him to be transcendent. But the Trika school or Kāśmīra Śaiva philosohpy says that the supreme entity is both immanent and transcendent simulteanously. This is due to His swātantrya.

The whole of the universe is a drama of his swātantrya. Due to this swātantrya He has composed the drama of the world. He Himself is dramatizing it in different forms and at the same time He is seeing this drama played by Him as spectator and relishing. Simultaneously He is resting in His ownself. Doing all He is doing nothing and doing nothing He is the only doẹr of all. He is the supreme enjoyment (param bhoga) and

ultimate renunciation (paramatyāga) and at the same time He is beyond enjoyment and renunciation. Everywhere He is self-luminous, omnipresent still He is not availed even after inner and outer search. Adorned with unlimited glory, He is Brahma of jñānins (enlightened ones), Paramātmā of yogins and God (Bhagawāna) of devotees. Being insentient unspeakable and uncognizible. He is allsentient allspeakble and allcongnizible. He is Sat as well as self luminous i.e. Cit or concious. He is aware of His conciousness. This awareness of conciousness is called 'Vimarśa'. When He becomes aware of His selfl-uminosity He bocomes over joyed. His conciousness and awareness is eternal. This awareness is His swātantrya.

Due to this swātantrya He is always aware of His entity and omnipotency. This universe also is the result of His awareness. This uviverse eternally rests in the ultimate entity and the awareness of this universe continues in Him. Due to this awareness He is always engazed in five acts viz. creation, preservation, destruction concealment and liberation. His own desire to conceal Him within Ḥimself is called 'nigraha'. After creation, preservation and destruction of the universe when He comes back to His own fundamental Self then this state is called 'anugraha'. These five acts continue in Him perpetually due to His swatantrya . There is not any reason or motto behind these acts. This is simply his swātantrya and playfulness. Due to this playfulness He takes the shape of individual self (aṇu). Five acts is His nature because He is omnipotent. Just as playfulness is His nature in the same way to be beyond this playfulness also is His nature. All this is grandeur of His swātantrya.

4. Pratibimba aur Ābhāsa (Reflection and appearance)

The doctrine of reflection is indicated in the first two sūtras of the Pratyabhijñāhṛdayam[1]. In common worldly behaviour

---

1. Citih swatantrā Viśwasiddhihetuh (Pr. h. 5.1.)
   Sā swecchayā swabhittau viśwamunmīlayati (Pr. 4.5.2)

there is a bimba (figure or thing) e.g. face and the other is pratibimba (reflection) e.g. shadow in the mirror. There can be no reflection without figure like face and without base like mirror. The ulitimate reality is one and nondual. Therefore it reflects itself in its own entity due to its swātantrya. It has been told above that the first throbbing in unlimited 'Sat' is called 'Cit' the second 'Cit' born off the first 'Cit' when looks its own self in the first 'Cit' and becomes exhilarated, this is reflection. In practical life too we become overjoyed when we observe our reflection in some concious agent say for, wife or children or some inert things like, painting, picture, natural scence etc. This whole universe full of inumerable strangeness if seen from the point of view of creation is the refection of that ultimate reality. Just as reflection is nothing other than the base e.g. mirror etc. similarly this universe is nothing other than the ultimate reality.

Just as we become aware of our reflection in the mirror similarly that ultimate reality is always aware of the universe created by and reflected in It. This awareness is appearance (ābhāsa). Just as people are aware of the waves, whirls, bubbles born in ocean etc. likewise this limitless universe which is reflected in its ownself, is always known to it. This function of awareness of unlimited strangeness also is the playfulness of it. If our mind is inclined somewhere other than the mirror, we can not rather do not be aware of our reflecton. This is not the case with the ultimate reality. It is always aware of its reflections in it. Therefore just as ultimate entity is eternal in the same way its reflections and appearances also are eternal.

Literature of Kāśmīra Śaiva-Tantra

Śaivī sādhana is beginningless. To make the people of the world liberated Śaivatantra came out of the mouth of Śīva and reached the great sage Durvāśa by hear say (= Śrutiparam-parā). Durvāśa told this to his three disciples namely

Tryambakāditya, Āmardaka and Śrīnātha. The speech delivered to Tryambakāditya is the root of Kāśmira Śaiva school. The Āgamika texts represent the beginningless Kāśmīra Śaiva philosophy on record. Main texts of Kāśmīra śaiva philosophy are Mālinīvijayottara Tantra, Swacchanda Tantra, Netra tantra, Swāyambhuwa Tantra, Rudrayāmala Tantra, Nihśwāsa Tantra, Vijñāna bhairava, Āananda bhairava, Ucchuṣmabhairava and Mṛgendraāgama. These Āgamika texts are possibly the teachings of siddha yogins who had got Śiva-samāveśa (identity with Śīva). Later on these teachings were made in writings. Therefore it is improper to decide their period on the basis of language.

The first text of Kāśmīra Śaiva Śāstra, having philosophic view, is Śīva-sūtras. Lord Śrīkaṇṭha who was an embodiment of Śiva, ordered Śrī Vasugupta in dream to visit the mountain named Mahādeva and find out Śīva sūtras inscribed on a piece of stone , in the beginning of ninth century[1]. There fore the first teacher of Śaiva school is Ācārya Vasugupta. He was principal teacher of Tryambaka maṭhikā (school). His other works are Spandāmṛta and Siddhānta candrikā which are not available at present.

After Vasugupta this school was divided into two streams. The first stream gave more importance to religion. The first Ācārya of this stream was Kallaṭa who was a desciple of Vasugupta. The time of Kallaṭa is the middle of the ninth century. His main work is Spandakārika which consists of 50 verses. Śivasūtravṛtti, Spandasrvaswa, Tatwārthacintāmaṇi etc. are his other literary creactions. After Kallaṭa there were two scholars Bhaṭṭa Pradyumna and Prajñārjuna who along with being his disciples were his cousin (mātuleya) and son respectively. The desciple of Prajñārjuna was Mahādeva bhaṭṭa and Śrīkaṇṭha bhaṭṭa was his son and disciple. Bhāskara was the

---

1. Śrīman mahādevagirau Vasugupta guroh purā
   siddhādeśat prādurāsan śivasūtraṇi Tasya hi (s.s.v. 1.3)

disciple of Śrīkaṇṭha bhaṭṭa and son of Diwākara. The Śivasūtra Vārtika written by Bhāskara made his first guru Vasugupta more eminent. The time of Bhāskra is 11th century. Along with Bhāskara the religious or Āgamika stream came to close and Lakṣmaṇagupta the son of Bhāskara was connected with the philosophical stream founded by Ācārya Somānanda nātha.

The founder of philosophic Śaiva stream of Tryambaka school is Ācārya Somānanda. His father was Ānandācārya who was his guru also. He lived a little later than Bhaṭṭa Kallta, therefore his period is the end of ninth century. His work Śivadṛṣṭi is the foundation-stone of Kāśmīra Śaiva Darśana. The prime disciple of Ācārya Somānanda was Utpaladewa. His father's name was Udayākara. Īśwarapratyabhijñā, siddhitrayī, Ajadapramātrikā siddhi, Stotrāwalī and the commentanies written on these texts are his main works. Utpaladewa is different from Utpalbhaṭṭa or Rājānaka Utpala Vaiṣṇava.

Ācārya Abhinavagupta was unparelleled and most excellent scholar of Kāśmīra Śaiva śāstra. He flourished in the eleventh century. He was Yoginibhū. Yoginībhū is that who is born of the father and mother who are just like Śīva and Siddhayoginī respectively[1]. His father's name was Narasimha gupta. Abhinavagupta had studied grammar from him. He studied Kaula mata from Śambhunātha, Vedānta from Bhūtirāja, Dhwani Siddhanta from Bhaṭṭendurāja, Thus Abhinavagupta beccme a profound scholar of different branches of learning. He was accepted the highest spiritual guru in a big conference of the sādhakas who were followers of Siddhānta, Vāma, Bhairava, Yāmala, Kaula,

1. "Śiva śaktyatmakaṁ rūpam bhāvayecca parasparaṁ,
nakuryānmānavīm buddhim rāgamohādisamyutām,
Jñāna bhāwanayā sarvaṁ kartavyaṁ sādhkottamaih."
"Tadṛṁmelakakalikātanuryo bhaved garbhe,
uktah sa yoginībhuh swayameva jñānabhājanaṁ bhavatah."

Trika and Ekavīra disciplines. He was an expert player of Nāda Vīṇa. He was jīvanmukta even though engrossed in worldly enjoyment.

According to Dr. K.C. Pāndeya a mohammadan had seen Abhinavagupta entering into a cave along with some of his disciples from which he never came back.

His works can be classified in three categories —

1. **Śaiva Philosophy**—Īśwarapratyabhijñā Vimarśinī, Iśwarapratabhijñān Vivṛti Vimarśinī, Tantrāloka, Tantrasāra, Parmarthasāra, Parātrīśikā Vīvaraṇa, Mālinī Vijaya Vārtika.
2. **Stotras**—Kramastotra, Bhaīravastotra, Anubhavanivedana stotra. Anuttarāṣṭikāstotra, Dehasthadevatācakrastotra, Mahopadeśaviṅśaka, Paramārthācarcā, Paramarthadvādaśikā, Rahasya pañcadaśikā.
3. **Literature**—Abhinavabhāratī, Locana (a commentary of Dhwanyāloka).

Kṣemaraja a prime disciple of Abhinavagupta was present in the eleventh century. He wrote Pratyabhijñāhṛdayam, spandasandoha, Spandanirṇaya, Swacchandodyota, Netrodyota, Vijñānabhairavodyota, Śivasūtravimarśinī, Stāvacintāmaṇi tīkā,Parāprāveśīkā and tatwasandoha. Jayaratha, Śivopādhyaya, Śrivatsa, Maheśwarānanda, Śitikaṅṭha, Puṇyānandanātha, Swatantrānandanātha, Vātūlanātha, Cakrapaṇinātha, Virūpakṣa-nātha etc. were other scholars who by their works made the Śaiva śastra rich and prosperous.

[3]

The Tantrāloka

Tantrāloka is the encylopedia of tantrika literature. The meaning of the word, Tantra has been told in the first part of the introduction. The Tantrāloka throws light on this very Tantra in its entire and proper perspective. Due to this very grandeur of Tantrāloka, the later scholars of Śaiva philosophy added 'Śrī' before its title. Those who study this and lead their life accordingly, attain all worldly prosperity and being jīvanmukta they get Śiva samāveśa in the end of life. There is no doubt about it. The Sādhakas who plung into this great ocean of light get their mottos fulfilled. The objectives behind the writing of the Tantrāloka are as follows -

1. Attainment of Bhairavahood.[1]
2. A clear detail of anuttara Trikaśāstra.[2]
3. To explain the unexplained portions of Śaiva siddhanta[3] Vīraśaiva and Kāśmīra śaiva philosophies.
4. Revival and preservation of Tantrīka Tradition.
5. Analysis of four types of knowledge viz. āṇava etc.

1. Attainment of Bhairavahood

Ācārya Abhinavagupta has written this book to attain complete bhairavahood. He himself says— The scholarly man, who practices well these 37 āhnikas (chapters), directly becomes Bhairava. In these 37 chapters there is presence of Bhairava who is perfect conciousness (bodha). One should not be surprized if a man gets bhairavahood by leading his life according to it.

---

1. T. A. 8.2
2. T.A. 1-14
3. T.A. 1.18-19

2. A clear detail of Anuttara Trikaśāstra

In all the āgamika texts like Mālinī vijaya, swacchanda etc. the tantrika principles are stated in brief. Tantrāloka presents a clear concept and explaination of it.

In the words of Abhinavagupta—'I am doing this work which gives a clear picture of perfect meaning on the request of my disciples who are brahmacārins (students pracitising continency or celebacy) and have good conduct. 'By this statement it is suggested that this text tells not only the doctrines but the method to incorporate those doctrines in life also.

3. Explaination of the unexplained portions of Śaiva śastra

Abhinavagupta says that Trikaśāstra is the essence of Śaiva siddhānta, VīraŚaiva and Bhairavāgama which deal with dualism, dualism-cum-nondualism and nondualism respectively.The essence of Trika śastra is Mālinīmata. Had the Tantrāloka not been written, the clear cut picture of Mālinīmatā would have been impossible. The elements which were untouched by other systems or disciplines, have been made clear in this text.

4. Revival and Preservation of Tantrīka Tradition

Abhinavagupta says that he by the order of Gurunātha is trying to bring to light those principles which are left by the scholars of the discipline.[1] Further he says that the methods of attainment of Śivasamāveśa has been corrupted . As a result of this corruption the power of mantras has become less. This work will rectify that.

5. Propagation of Supremacy of Mālinīmantras

By the verse No. 134-135 in the 15th chapter of the Tantrāloka Abhinava gupta has established the supremacy of Mālinī-

---

1. T.A. 1.19

mantras. There he says that Mālinīmantras are just like araṇi (two pieces of wood which produces fire by churning). If there is any fault in performance of any ritual, or the form, power or use of any mantra has been reversed, or the nyāsa of the mantra has been practised some where else; all these weaknesses are recovered by the nyāsa of Mālinī mantras. Thus by giving a clear concept and explaination of Malinī mantras the importance of the Tantrāloka is automatically proved.

6. Analysis of four types of knowledge

Regarding the attainment of salvation, Bhairavahood or identity with Śiva, four types of knowledge is described in Śīvādvaya śāstra. These are Āṇava, Śākta, Śambhava and Para or anupāya. Among these the latters are superior to the formers successively. Tantrāloka discusses these knowledges in full details.[1]

Thus we see that the Tantrāloka is not an ordinary book instead it is a text which deals with supreme tradition.[2]

Importance of the Tantrāloka

The Tantrāloka is a treatise consiting of all the fundamental of Trika śāstra. By its study one can have full and complete knowledge of trika system. Although there are so many ways like kaula etc. prevalent yet the Tantrāloka is the only text which gives a complete analysis of the trika system. By the study of this text one can easily get entrance in trika practice. Jayaratha, the commentator of the Tantrāloka, has honoured Abhinavagupta by saying Śastrakāra. For any Śastra there must be four introductory reason (anubandha catuṣṭaya). These are topic, authority, relation and motto, The present text presents a clear picture of it. In the appendices of the 37th chapter Jayaratha says that he who has studied Vyākaraṇa,

---

1. T.A. 1.245
2. Vedācchaivaṁ tato Vāmaṁ tato dakṣaṁ tatah kulam.
   Tato matain tataścāpi Trikni sarvottamain param.

Nyāya, Yogaśastra and the āgamic texts is an authority of the study of the Tantrāloka.[1] The topic is the consideration of Trikasystem.[2] Science, rescience, Dīkṣā, Śivasamāveśa its means etc. are discussed there in. That is why Abhinavagupta has called it Saṅgraha grantha.[3] Relation is pratipādya pratipādaka. The object of the text is clearly stated by Abhinavagupta. He says "One who studies these 37 chapters and leads life in accordacne with it, becomes Bhairava indeed."[4]

The Śastras other than āgama, lay stress on the abandonment of the worldly pleasure. They emphasise on mokṣa only. Āgama provides equal improtance to bhoga (worldly enjoyment) and mokṣa (Salvation).

Yatrāsti bhogo na ca tantra mokṣo
Yatrāsti mokṣo na ca Tantra bhogah.
Śrī sundarīsevana tatparāṇaṁ
bhogaśca mokṣa śca karastha eva.

In the Tantrāloka Abhinavagupta himself has stated clearly that the essence of trika śāstra—the Tantrāloka gives mahābhoga (greatrelish) and mahāmokṣa (identity with ultimate entity). Therefore it is most excellent and most admissible.
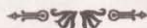
1. T.A.V. (app.) 37-85
2. T.A. 1.15
3. T.A. 1.330
4. T.A. 1.284-186

विषयानुक्रमणिका

प्रथममाह्निकम्

द्वितीयमाह्निकम्

तृतीयमाह्निकम्

कारिका-संख्या

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

श्रीमद्राजानकजयरथविरचित'विवेकाख्य'व्याख्ययोपेतः

तथा च

डॉ० राधेश्यामचतुर्वेदिकृत'ज्ञानवती'भाषाटीकासहितः
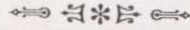
प्रथममाह्निकम्

* विवेकः *

यस्मादेषणवित्क्रिया यदुदिता ह्यानन्दचिद्भूमयो
यस्यैवोद्धुरशक्तिवैभवमिदं सर्वं यदेवंविधम् ।
तद्धाम त्रिकतत्त्वमद्वयमयं स्वातन्त्र्यपूर्णप्रथं
चित्ते स्ताच्छिवशासनागमरहस्याच्छादनध्वंसि मे ॥ १ ॥
देहे विमुक्त एवास्मि श्रीमत्कल्याणवारिधेः ।
यस्य कारुण्यविप्रुड्भिः सद्गुरुं तं हृदि श्रये ॥ २ ॥
मूर्ध्न्युत्तंस इव क्ष्मापैः सर्वैर्यस्यानुशासनम् ।
हृदये भवसम्भारकर्कशेऽप्याशु शिश्रिये ॥ ३ ॥

---

* ज्ञानवती *

गायत्रीं वेदधात्रीं शतमखफलदां वेदशास्त्रैकवेद्यां
चिच्छक्तिं ब्रह्मविद्यां परमशिवपदप्राप्तये सेतुभूताम् ।
ब्रह्माविष्ण्वादिसेव्यां त्रिभुवनमखिलं तेजसोत्पादयन्तीं
बिभ्राणां चैतदखिलं मलशमनकृते सन्ततां नताः स्मः ॥ १ ॥
गायत्रीसाधनासिद्धसिद्धिसाम्राज्यचुञ्चवे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमश्चैतन्यवर्णिने ॥ २ ॥
सकलकलानां विदुषी विन्ध्याचलशक्तिभक्तिभूयिष्ठा ।
सकला 'सकला' देवी माताऽनन्या समर्च्यते स्वान्ते ॥ ३ ॥

न ग्रन्थकारपदमाप्तुमथास्म्यपूर्वं
वाक्कौशलं च न निदर्शयितुं प्रवृत्तः ।
किं त्वेतदर्थपरिशीलनतो विकल्पः
संस्कारवांश्च समियादिति वाञ्छितं नः ॥ ४ ॥

यातायाताः स्थिताः केचिदज्ञा मत्सरिणः परे ।
संदिग्धाः केऽपि किं ब्रूयां श्रोतारो यदनागताः ॥ ५ ॥

भागवतो महनीयो मानसवैदुष्यभासितस्वान्तः ।
सरसमनाः सुमनस्वी मुरलीधरपितृपाद आराध्यः ॥ ४ ॥

आयुर्वेदिकधर्मशास्त्रविषयप्रज्ञानधीः कर्मवित्
शाब्दप्रातिभबोधविश्रुतमती रुद्रप्रसादः सुधीः ।
यस्य स्नेहमवाप्य संस्कृतगिरोऽध्येतृत्वमासादयं
मूर्ध्ना पूतपितृव्यपादमनिशं वन्दे तमेकान्ततः ॥ ५ ॥

आचार्यवर्यरघुवंशविशिष्टविद्वद्-
रामानुजाह्वयगुरुद्वयमानतोऽस्मि ।
साहित्यशास्त्रपदशास्त्रलसत्प्रमाण-
शास्त्रत्रयं यदनुकम्पनया मयाऽऽपि ॥ ६ ॥

जिससे इच्छा ज्ञान और क्रिया (उत्पन्न) होती हैं, चित् और आनन्द जहाँ से उदित होते हैं और जो कुछ इस प्रकार का है वह सब जिसका उल्लसित शक्तिवैभव है, स्वातन्त्र्य के पूर्ण विस्तार वाला त्रिकतत्त्व वाला, वह अद्वय तेज मेरे चित्त में वर्त्तमान शिवशास्त्र आगम के रहस्य के आवरण का नाशक बने ॥ १ ॥

जिस कल्याणरूपी समुद्र के कारुण्यरूपी बिन्दुसीकरों के द्वारा मैं इस शरीर में ही मुक्त (= जीवन्मुक्त) हूँ उस सद्गुरु का हृदय में ध्यान करता हूँ ॥ २ ॥

जिसके आदेश को समस्त राजा लोग शिरोमुकुट की भाँति (धारण करते हैं, उस आदेश को मैं) सांसारिक विषयवासनाओं से कर्कश हृदय में धारण करता हूँ ॥ ३ ॥

मैं (= जयरथ) न तो ग्रन्थकार के अपूर्वपद को प्राप्त करना चाहता हूँ और न (अपनी) वाक्पटुता का प्रदर्शन करने के लिये यहाँ (= व्याख्या रचना में) प्रवृत्त हुआ हूँ किन्तु हमारा उद्देश्य यह है कि इस अर्थ (= त्रिकशास्त्र) के परिशीलन से मेरा विकल्प संस्कारवान् हो जाय ॥ ४ ॥

कुछ लोग (अध्ययनार्थ) आते हैं किन्तु चले जाते हैं । कुछ लोग आते हैं और ठहर जाते हैं । कुछ लोग अज्ञानी और ईर्ष्यालु हैं । कुछ लोग (यह शास्त्र अध्येय है अथवा नहीं ऐसा) सन्देह करते हैं और कभी श्रोता ही नहीं आते तो (इस विषय में) मैं क्या कहूँ ॥ ५ ॥

तदनाकर्ण्य गूढार्थं स्वादु स्वाशयकौशलम् ।
साकूतमुक्तमन्यैर्यत्तेन दोलायते मनः ॥ ६ ॥
अत्र मद्वागशक्तापि यन्निर्यन्त्रणमुल्लसेत् ।
तत्पारमेश्वरं श्रीमन्महानन्दविजृम्भितम् ॥ ७ ॥

इह खलु शास्त्रादावलौकिकाशीर्वादमुखेन वक्ष्यमाणषडर्धशास्त्रार्थगर्भीकारेण समुचितेष्टदेवतां शास्त्रकारः परामृशति—

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी,
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं,
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ १ ॥

'मम' आत्मनो 'हृदयम्' जगदानन्दादिशब्दवाच्यं तथ्यं वस्तु, सम्यक्

गूढ अर्थों वाले, स्वादपूर्ण अपने आशय की चमत्कारिता को बिना समझे जो कुछ लोगों ने (इस विषय में) आश्चर्य के साथ कथन किया है इस कारण मेरा मन (ग्रन्थभाष्य की रचना में) अनिश्चय की स्थिति में है ॥ ६ ॥

अशक्त भी मेरी वाणी जो इस विषय में निर्बाध उल्लसित हो रही है वह परमेश्वर के महाआनन्द का संवर्द्धन मात्रा है ॥ ७ ॥

शास्त्र के आरम्भ में अलौकिक आशीर्वाद के माध्यम से आगे कहे जाने वाले त्रिकशास्त्र को अपने हृदय में रखकर शास्त्रकार समुचित (= शास्त्रोचित) इष्ट देवता का परामर्श कर रहे हैं—

स्वच्छ कलातत्त्व का आश्रयण करने वाली, नूतन सृष्टिरूप उत्सव वाली, विश्वब्रह्माण्ड की जननी शक्ति तथा परिपूर्ण स्वभाव वाले, सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह एवं अनुग्रह रूप पाँच मुखों अर्थात् शक्तियों के द्वारा अपनी इच्छा को बढ़ाने वाले विश्वजनक शिव, इन दोनों की युगनद्ध अवस्था से प्रकट होने वाले अन्तः उल्लास एवं बाह्य सृष्टि की इच्छा से युक्त तथा सर्वोत्कृष्ट अमर शरीर वाला मेरा हृदय सतत एवं सम्यक् विकसित हो ॥ १ ॥

(प्रस्तुत श्लोक में श्लेष के माध्यम से निम्नलिखित अर्थ भी ज्ञातव्य हैं—

विमलकला = विमला—अभिनवगुप्त की माता । अभिनव = अभिनवगुप्त। इस प्रकार यह अर्थ भी जानना चाहिए—अभिनवगुप्त की उत्पत्तिरूप उत्सव वाली मेरी माता विमला एवं स्वस्थ तथा पुष्ट शरीर वाले सिंह के समान तेजस्वी मेरे पिता नरसिंहगुप्त की यामल अवस्था से उत्पन्न अत एव अमाकला स्वरूप सर्वोत्कृष्ट मेरा हृदय भली भाँति स्फुरित हों । पञ्चमुखगुप्त = नरसिंहगुप्त—अभिनवगुप्त के पिता ।

देहप्राणादिप्रमातृतासंस्कारन्यक्कारपुरःसरसमावेशदशोल्लासेन दिक्कालाद्यकलिततया 'स्फुरतात्' कालत्रयावच्छेदशून्यत्वेन विकसतात्—इत्यर्थः । तच्च कीदृक्—इत्युक्तम्—'तदुभय' इति । 'तत्' आद्यार्धव्याख्यास्यमानं च तत् 'उभयम्' तस्य 'यामलम्'—

'तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या शक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मा सङ्घट्टः, ततः 'स्फुरितभावः' परानपेक्षत्वेन स्वत एवोल्लसितसत्ताको योऽसौ—

'अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः ।'

इत्युक्त्या कुलाकुलोभयच्छटात्मकहकारार्धार्धरूपो 'विसर्गो' बहिरुल्लिलसिषास्वभावः स प्रकृतिर्यस्य तत्; अत एवाह—'अनुत्तरामृतकुलम्' इति । 'अनुत्तरम्' कतिपयकालदार्ढ्यकार्यमृतान्तरवैलक्षण्यात् उत्कृष्टं च तत्—

'यत्रास्ति न भयं किञ्चिन्न जरा व्याधयोऽपि वा ।
न विघ्ना न च वै मृत्युर्न कालः कलयेच्च तम् ॥'

इत्यकालकलितत्त्वात् अविद्यमानं मृतं यत्र तत् 'कुलम्' शरीरं यस्य तत्

मम = अपना हृदय = जगदानन्द आदि शब्दों का अर्थ अर्थात् यथार्थ वस्तु, भलीभांति देहप्राण आदि की प्रमातृता के संस्कार का अपसारण कर समावेश दशा के उल्लास के द्वारा, दिशा काल आदि से अनवच्छिन्न, स्फुरण करे = कालत्रय के अवच्छेद से शून्य होकर विकसित हो—यह अर्थ है । वह (= हृदय) कैसा है? इस विषय में कहा गया—उन दोनों का... । वह = प्रथम अर्थ के रूप में व्याख्यान किये जाने वाला वह दोनों (जननी और जनक) उसका जो यामल—

'उन दोनों का जो यामल रूप है वह सङ्घट्ट कहा गया है ।'

इस वक्ष्यमाण नीति के द्वारा सङ्घट्ट शक्ति और शक्तिमान् का सामरस्य है, उससे स्फुटितभाव वाला = पर निरपेक्ष होकर स्वयं ही उल्लसित सत्ता वाला, जो यह—

''इसीलिये यह विसर्ग अव्यक्त 'ह' कला वाला है ।''

इस उक्ति के अनुसार कुल-अकुल दोनों की छटा वाला हकार का आधा रूप विसर्ग = बाहर की ओर उल्लसित होने की इच्छा रूप स्वभाव, वह है प्रकृति जिसकी—वह, इसीलिये कहा—अनुत्तरामृतकुलम्' । अनुत्तर कुछ समय तक स्थिरताकारी दूसरे अमृतत्व से विलक्षण होने के कारण उत्कृष्ट वह—

'जहाँ कोई भय, जरा व्याधि विघ्न मृत्यु नहीं है और जिसे काल विरचित नहीं करता ।'

इस प्रकार अकालकलित होने से 'अविद्यमान है मृत (= मृत्यु) जहाँ वह कुल

अमाख्यकलास्वरूपम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'कला सप्तदशी यासावमृताकाररूपिणी ।'

इति । किं च तदुभयम्—इत्याह—'जननी जनकश्च' इति । कीदृशी जननी 'विमलकलाश्रया' इति । विगता 'मलाः' अवच्छेदका यस्यास्तादृशी या 'कला' परविमर्शैकस्वभावकर्तृतालक्षणा, सा 'आश्रयः' आलम्बनं स्वरूपं यस्याः सा शुद्धस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा—इत्यर्थः । अत एव 'अभिनवायाम्' आद्यायाम् 'सृष्टौ' शुद्धाध्वमार्गे—

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता.................... ।

इति नीत्या शिवस्यैव तत्र साक्षात्कारित्वात् 'महः' पारिपूर्ण्यलक्षणं तेजः स्फारो यस्याः सा—इत्युक्तम् । इहाद्वयनये हि भगवानेव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् अभासमात्रसारतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तत्वेनेव जगत् आभासयति—इत्यनन्यापेक्षिणः स्वातन्त्र्यस्यैव जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वमुक्तम् अविद्यावासनादीनां भेदाभेदविकल्पोपहतत्त्वात् जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वाभिधानानुपपत्तेः । अत एव भगवतश्चिदाद्यनन्तशक्तिसम्भवेऽपि तत्स्फुरणमात्रत्वात् तासां तस्या एव प्राधान्यात् इहाभिधानम् । यद्वक्ष्यति—

= शरीर है जिसका वह अर्थात् अमाकलारूपी शरीर । वही कहा गया—

'जो सत्रहवीं कला है वह अमृताकाररूपा है ।'

वह उभय क्या है? इस विषय में कहते हैं—जननी और जनक । कैसी जननी? विमलकलाश्रया । विगत हैं मल = अवच्छेदक जिसके वैसी जो कला = परविमर्शमात्र स्वभावरूप कर्तृता वाली, वह है आश्रय = आलम्बन = स्वरूप जिसकी वह अर्थात् शुद्धस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा । इसीलिये अभिनवा = नवीन प्रथम सृष्टि में = शुद्ध अध्वा मार्ग में

'शुद्ध अध्वा के विषय में कर्त्ता शिव होते हैं ।'

इत्यादि नीति के अनुसार शिव के ही उस (= शुद्धाध्वा) में साक्षात् कर्त्ता होने से यह = परिपूर्णतारूप तेज = स्फार है जिसका—यह कहा जा चुका है । इस शिवाद्वय शास्त्र में भगवान् शिव ही अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से आभास रूप में अपने से अभिन्न जगत् को भी भिन्नरूप में अवभासित करते हैं । इसलिये अनन्यापेक्ष स्वातन्त्र्य ही जगत् की विचित्रता का कारण कहा गया है । क्योंकि अविद्या, वासना आदि के भेदाभेदविकल्प से उपहत होने के कारण उन्हें जगत् के वैचित्र्य का कारण नहीं कहा जा सकता इसलिये चिद् आनन्द आदि शक्तियां के भगवान् (शिव) से उत्पन्न होने पर भी उन (चित् आनन्द आदि) के उस (स्फुरणा = सार = हृदय) की ही प्रधानता यहाँ कही गयी है । जैसा कि कहेंगे—

तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।

इति । जनकश्च कीदृक्?—इत्युक्तम् 'भरिततनुः' इति । 'भरिता' सर्वाकाङ्क्षासंक्षयात् पारिपूर्ण्येन पूरिता 'तनुः' स्वभावो यस्य सः, अनन्योन्मुखतया स्वतन्त्रः—इति यावत् । अत एव 'पञ्चभिः' चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मभिः 'मुखैः'—

'.....................शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्युक्त्या शक्तिभिः 'गुप्ता' परिपूरिता प्रबन्धेनानुवर्तमाना 'रुचिः' अभिलाषो विशेषानुपादानात् कृत्यपञ्चकविषयो यस्यासौ, सदैव पञ्चविधकृत्यकारी—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'सृष्टिसंहाकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।।' इति ।

तदेवम् अत्र विसर्गप्रसरस्वभावत्वेन जगद्वैचित्र्यबीजभूतं शिवशक्तिसङ्घट्टात्मकपरत्रिकशब्दवाच्यम् अनाख्यात्मकं विघ्नौधप्रध्वंसाय परामृष्टम् । तदुक्तम्—

'तत्रापि शक्त्या सहितः स्वात्ममय्या महेश्वरः ।

'इस कारण (वह) स्वातन्त्र्यशक्ति से ही युक्त है—यह सरल (सत्य) विधि है ।'

जनक कैसे हैं—इस विषय में कहा गया—भरिततनु । भरित = समस्त इच्छाओं का संक्षय होने के कारण पूर्ण होने से पूरित, तनु = स्वभाव, है जिसका वह अर्थात् अन्य के प्रति उन्मुख न होने के कारण स्वतन्त्र । अतएव पाँच = चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप, मुखों—

'इस शास्त्र में शैवीमुख कहा जाता है'—

इस उक्ति के अनुसार—शक्तियों से गुप्त = परिपूरित = प्रबन्ध के साथ अनुवर्त्तमान, रुचि = विशेष का कथन न होने से पञ्चकृत्यरूप अभिलाषा है जिसकी वह अर्थात् सदैव (सृष्टि स्थिति संहार निग्रह और अनुग्रहरूपी) पाँच कार्यों को करने वाला । वही कहा गया—

''सृष्टि संहार के कर्त्ता विलय और स्थिति को करने वाले अनुग्रह करने वाले तथा दुःख का नाश करने वाले देव को प्रणाम करो ।'' अथवा प्रणत के दुःख का नाश करने वाले (शिव को प्रणाम है)।

इस प्रकार यहाँ विघ्नसमूह के ध्वंस के लिये (= उक्त श्लोक में) विसर्ग के प्रसार के स्वभाव वाला होने के कारण जगद्विचित्रता के उपादान—कारणस्वरूप शिवशक्तिसङ्घट्ट वाले पर त्रिक शब्द के व्राच्य (= अर्थ) स्वरूप 'अनाख्या' नाम वाले का परामर्श किया गया । वही कहा गया—

उस दशा में भी स्वात्ममयी शक्ति के सहित परमेश्वर जब सङ्घट्ट को प्राप्त कर

यदा सङ्घट्टमासाद्य समापत्तिं परां व्रजेत् ॥
तदास्य परमं वक्त्रं विसर्गप्रसरास्पदम् ।
अनुत्तरविकासोद्यज्जगदानन्दसुन्दरम् ॥
भाविवक्त्राविभागेन बीजं सर्वस्य संस्थितम् ।
हृत्स्पन्दोद्यत्परासारनिर्नामोर्म्यादि तन्मतम् ॥
एतत्परं त्रिकं सूक्ष्मं सर्वशक्त्यविभागवत् ।' इति ।

अथ च 'हृदयम्'—

'हृदयं शक्तिसूत्रं तु........................ ।'

इत्याद्युक्त्या श्रीसृष्टिकाल्याद्यखिलशक्तिचक्रासूत्रणेन प्रस्फुरद्रूपं श्रीकाल-सङ्कर्षणीधाम 'संस्फुरतात्' तदात्म्येनैकः स्याम्—इत्यर्थः । तच्च कीदृशम् ?—इत्युक्तम्—'अनुत्तरामृतकुलम्' इति । सृष्ट्यादीनामत्रैव लयाद् अविद्यमानम् उत्तरम् अन्यत् यस्मात् अत एव 'अमृतम्' स्वात्मचमत्कारमात्रपरमार्थम्, अत एव च 'कुलम्'—

'कुलं पदनामाख्यं.......................... ।'

इत्यनाख्यरूपम्—इत्यर्थः । अन्यच्च कीदृक् ?—इत्याह—'तदुभय' इति । तच्च तत् व्याख्यास्यमानं सृष्टिसंहारात्मकम् 'उभयम्' तस्य 'यामलम्' लोलीभावः, ततः—

परसमापत्ति को प्राप्त होते हैं तब इसके परम वक्त्र में विसर्ग का प्रसरण होता है । अनुत्तर के विकास से प्रकट होने वाले जगदानन्द से सुन्दर, भावीवक्त्र के अविभाग के कारण सबके बीजरूप में स्थित, हृदय, स्पन्द, उद्यत्, परासार, निर्नाम, उर्मि आदि नामवाला यह पर त्रिक है जो कि सूक्ष्म और सर्वशक्ति के अविभाग वाला माना गया है । और 'हृदय'

'हृदय शक्तिसूत्र है................. ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार श्रीसृष्टि काली आदि अखिल शक्तिचक्र के आसूत्रण के द्वारा प्रस्फुरद् रूप वाला श्रीकालसङ्कर्षणी का तेज, संस्फुरित हो = (उसके साथ) तादात्म्य के द्वारा एक हो जाय । वह कैसा है ?—इसके उत्तर में कहते हैं—अनुत्तरामृत कुलवाला । सृष्टि आदि का इसी में लय होने के कारण, नहीं विद्यमान है उत्तर = दूसरा जिससे, इस कारण अमृत = स्वात्मचमत्कारमात्र परमार्थ वाला और इसीलिये कुल—

'.............अनाख्यापद ही कुल है ।'

इस प्रकार अनाख्यारूप । और फिर कैसा—इस विषय में कहते है—तदुभय । तत् = वह = व्याख्यास्यमान सृष्टिसंहारवाला उभय उसका यामल = लोलीभाव उससे

'चक्रद्वयेऽन्तः कचति लोलीभूता परा स्थितिः ।' इति ।

तथा—

प्रभवाप्यययोरन्तर्लोलीभावात्क्रमोऽवताराख्यः ।

इत्यादिनीत्या स्फुरितसत्ताकः स्थित्यात्मा विविधः सर्गस्तन्मयम् । परैव हि अनाख्या भगवती संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनि सृष्ट्यादि अवभासयति विलाययति च—इत्यभिप्रायः । यदुक्तम्—

'यस्य नित्योदिता ह्येकाभासा कालक्षयङ्करी ।
राजते हृदयाम्भोजविकासिगगनोदरे ।।
सृष्टिस्थित्युपसंहाररूपा तद्भरणे रता ।' इति ।।

तच्छब्दपरामृष्टमुभयं व्याचष्टे 'जननी जनकश्च' इति । जनयति विश्वम्—इति 'जननी' परा पारमेश्वरी सृष्ट्यादिचक्राद्या सा च शुद्धबोधमात्रस्वभावत्वात् 'विमला' येयम् आदिभूता चान्द्रमसी 'कला' सा 'आश्रयः'—आलम्बनं गतिर्यस्याः सा, सकलजगदाप्यायकारिपरामृतमयी—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

ऊर्ध्वे तु संस्थिता सृष्टिः परमानन्दरूपिणी ।
पीयूषवृष्टिं वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला ।।' इति ।

'दो चक्रों के बीच में लोलीभूत पराशक्ति चमकती है (अथवा अणुओं को बाँधती है)' तथा—

'प्रभव (= सृष्टि) और अप्यय (= संहार) के भीतर लोलीभाव (= चंचलता) के कारण अवतार नामक क्रम (का प्रादुर्भाव होता) है' ।

इत्यादि नियम क़े अनुसार स्फुरित सत्ता वाला स्थिति रूप अनेक प्रकार की सृष्टि, उससे भरा हुआ । परा अनाख्या भगवती संवित् अपने स्वातन्त्र्यवश अपने अन्दर ही सृष्टि आदि का अवभासन कराती है और प्रलय भी कराती है—यह अभिप्राय है । जैसा कि कहा गया—

जिस (= शिव) की नित्योदित एकमात्र आभास वाली, काल को भी ग्रसित करने वाली (शक्ति, उनके) हृदयकमल में विकसित आकाश के अन्दर विराजमान है, सृष्टिस्थितिसंहाररूपा वह उस (अवकाश) के भरण में रत है ।

तत् शब्द से परामृष्ट उभय (शब्द) की व्याख्या करते हैं—जननी और जनक। जो विश्व को उत्पन्न करती है वह जननी—परा, परमेश्वर की आद्या शक्ति । वह शुद्धबोधमात्र स्वभाव वाली होने के कारण 'विमला' है । ऐसी वह प्रथम चन्द्रकला, वह आश्रय = आलम्बन = गति है जिसकी—वह । अर्थात् समस्त संसार को तृप्त करने वाली परअमृतमयी । वही कहा गया है—

'ऊपर में परमानन्दरूपिणी सृष्टि (= अम्बाकला) स्थित है । वह बैन्दवी परमा

तथा—

'ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रकला च शान्ता, पूर्णामृतानन्दरसेन देवी ।' इति ।

अत एव 'अभिनवायाम्'

'सदा सृष्टिविनोदाय...................... ।'

इत्यादिनीत्या सदा द्योतमानायाम् 'सृष्टौ' बहीरूपतायां स्वातन्त्र्यलक्षणम् 'महः' तेजो यस्याः सा—इत्युक्तम् । जनयति भावसंहारम्—इति 'जनकः' अभिरूपः परः प्रमाता, स च 'पञ्चानाम्' वामेश्यादिवाहशक्तीनाम् 'मुखैः' चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिरूपैर्द्वारैः—

'येन येनाक्षमार्गेण यो योऽर्थः प्रतिभासते ।
स्वावष्टम्भबलाद्योगी तद्गतस्तन्मयो भवेत् ॥

इत्यादिनीत्या तत्तद्विषयाहरणेन 'गुप्ता'—स्वावष्टम्भबलेन परिरक्षिता 'रुचिः' —दीप्तिर्यस्यासौ निखिलभावग्रसिष्णुतया समुद्दीपितपरप्रमातृभावः—इत्यर्थः । अत एव 'भरिततनुः तत्तद्भावसञ्चर्वणेन निराकाङ्क्षतोत्पादात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्णः —इत्यर्थः । तदेवम् अत्र ग्रन्थकृता सृष्ट्यादिक्रमत्रयरूपतामवभासयन्त्यपि तदतिवर्तनेन परिस्फुरन्ती क्रमाक्रमवपुः परैव अनाख्या पारमेश्वरी संवित् परामृष्टा,— इत्युक्तं स्यात् । यदुक्तमस्मत् परमेष्ठिगुरुभिः—

कला अमृत की वर्षा करती रहती है ।' तथा

'ऊपर में चन्द्रकला स्थित है । वह देवी शान्त एवं अमृतानन्दरस से परिपूर्ण हैं ।' इसीलिये अभिनवा अर्थात्

'सदा सृष्टिरूपी विनोद को करने वाले'

के अनुसार सदा प्रकाशमान बाह्य सृष्टि में स्वातन्त्र्यलक्षण वाला । महः = तेज है जिसका वह—ऐसा कहा गया ।

जो भावसंहार को उत्पन्न करे वह जनक = अभिरूप परप्रमाता वह, पाँच = वामेशी आदि बाह्य शक्तियों के मुख = चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तिरूपी द्वारों से— 'जिस-जिस इन्द्रिय-मार्ग से जो-जो अर्थ प्रतिभासित होता है, अपने पराक्रम के बल से योगी उसमें प्रवेश करता है और तन्मय हो जाता है ।' इत्यादि नीति से तत्तद् विषयों के आहरण के द्वारा गुप्त = अपने आधार के बल से परिरक्षित है—रुचि = दीप्ति जिसकी वह अर्थात् समस्त भावों को ग्रसने की इच्छा से परप्रभाव का समुद्दीपन करने वाली । इसीलिये भरिततनु = तत्तद् भावों की सञ्चर्वणा के द्वारा निराकाङ्क्षता के उत्पन्न होने से स्वात्ममात्र में विश्रान्ति के कारण पूर्ण । इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ परा अनाख्या पारमेश्वरी संवित् जो कि सृष्टि आदि तीनो क्रमों का अवभासन कराती हुई भी उससे परे होकर स्फुरण करती हुई क्रम और अक्रम

'क्रमत्रयसमाश्रयव्यतिकरेण या संततं
क्रमत्रितयलङ्घनं विदधती विभात्युच्चकैः ।
क्रमैकवपुरक्रमप्रकृतिरेव या द्योतते
करोमि हृदि तामहं भगवती परां संविदम् ॥' इति ।

अथ च 'हृदयम्' निजबलसमुद्भूतिलक्षणं तत्त्वं विशेषानुपादानात् सर्वस्य सम्यक् प्रख्योपाख्यारोहेण 'स्फुरतात्' विकसतात्—इत्यर्थः । तच्च कीदृक्? 'तदुभय' इति । तत् आद्यार्थव्याख्यास्यमानं मातापितृलक्षणम् 'उभयम्' तस्य यत् 'यामलम्' आद्ययागाधिरूढं मिथुनं, तस्य परस्परौन्मुख्येन चमत्कारतारतम्ययोगात् 'स्फुरितः' सोल्लासो योऽसौ 'भावः' आशयविशेषः, तेन यो 'विसर्गः' क्षेपः कुण्डगोलाख्यद्रव्यविशेषनिःष्यन्दः, स प्रकृतिर्यस्य तत्; अत एव च 'अनुत्तरे' श्वेतारुणात्मदेवतामयताद्यनुसंधानेन पशुशुक्रशोणितवैलक्षण्यादुत्कृष्टे 'अमृते' सारे—

'....................कुलमुत्पत्तिगोचरः ।'

इत्युक्त्या 'कुलम्' आकारो यस्य तत् । किं तदुभयम् ?—इत्याह—'जननी जनकश्च' इति । कीदृशी जननी ? 'विमलकलाश्रया' इति । 'विमला' इति वर्णकला 'आश्रयः' आलम्बनं यस्याः सा, विमलकलाभिधाना—इत्यर्थः । तथा—

शरीर वाली है, का परामर्श किया है—ऐसा कहना है । जैसा कि हमारे परमेष्ठी गुरु ने कहा है—

'जो निरन्तर क्रमत्रय के आश्रयण के और उसके व्यतिकर के कारण तीनों क्रमों का उल्लङ्घन करती हुई उच्चरूप में दीपित होती है, जो क्रम तथा अक्रम स्वभाव के रूप में विराजमान है, मैं उस भगवती परा संवित् को हृदय में धारण करता हूँ ।'

हृदय = अपनी संविद् के विमर्श से प्राप्त अनुभूति से सम्पन्न तत्त्व, विशेष का कथन न करने सबका सम्यक् = प्रख्या (= प्रत्यक्ष) एवं उपाख्या (= प्रवचन) के क्रम से स्फुरित हो = विकसित हो । वह (हृदय) कैसा है?—कहते हैं—तदुभय = तत् = आद्ययाग के अर्थ के रूप में व्याख्यायित होने वाले माता-पितास्वरूप उभय, उसका जो यामल प्रथम याग पर आधिरूढ़ मिथुन उसकी परस्पर उन्मुखता के कारण चमत्कार के तारतम्य के योग से, स्फुरित = उल्लसित जो यह भाव = आशयविशेष, उसके द्वारा जो विसर्ग = क्षेप = कुण्ड गोल नामक द्रव्य विशेष का निष्यन्द, वह है प्रकृति जिसकी वह । इसीलिये अनुत्तर = श्वेतरक्तरूप देवतामयता आदि के अनुसन्धान के द्वारा पशु के शुक्रशोणित के वैलक्षण्य से उत्कृष्ट, अमृत = सार, में उत्पत्ति के विषय को कुल (कहते हैं)—इस उक्ति के अनुसार कुल है आकार जिसका वह । वह 'उभय' क्या है? इसके उत्तर में कहते हैं—जननी और जनक । कैसी जननी? विमलकलाश्रया । विमला = वर्णकला है आश्रय = आलम्बन जिसकी वह अर्थात् विमलकला नाम वाली । तथा

'अभिनवसृष्टिमहा' इति । 'अभिनवस्य' श्रीमदभिनवगुप्तस्य 'सृष्टि:' जन्म सैव—

'नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहा: ।
अद्य माहेश्वरो जात: सोऽस्मान्संतारयिष्यति ॥'

इत्याद्युक्ते: सत्पुत्रप्रसवेन कृतकृत्यतया चमत्कारातिशयकारित्वेन 'मह:' उत्सवो यस्या: सा तथा । तथा जनकश्च कीदृश:? 'पञ्चमुखगुप्तरुचि:' । 'पञ्चमुख:' सिंह:, सिंहगुप्तेति संज्ञया 'रुचि:' दीप्ति: सर्वत्र प्रथा यस्यासौ—

'तस्यात्मजश्चुखुलकेति जनेप्रसिद्ध-
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्त: ।'

इति वक्ष्यमाणदृशा नरसिंहगुप्तसंज्ञया ख्यात:—इत्यर्थ: । अस्य हि ग्रन्थकृत: श्रीनरसिंहगुप्तविमलाख्यौ पितरौ—इति गुरव: ।

'सन्ति(न्तो) हि पदेषु पदैकदेशान्प्रयुञ्जाना: ।'

इति नीत्या 'भीमो भीमसेन:' इतिवत् अत्रापि नरसिंहगुप्तसिंहगुप्तपदयो: प्रयोग: । 'भरिततनु:' इति—

'शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम् ।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुताम् ॥

अभिनवसृष्टिमहा = अभिनव = अभिनवगुप्त की, सृष्टि = जन्म, वही

'उसके पिता और पितामह आदि प्रसन्न होते हैं कि आज (हमारे कुल में) माहेश्वर उत्पन्न हुआ है वह हम लोगों को (संसार से) पार करेगा ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार सत्पुत्र के उत्पन्न होने से कृतकृत्य होने से चमत्कारातिशयकारी होने के कारण, मह = उत्सव है जिसका वह । पिता कैसे हैं? पञ्चमुखगुप्तरुचि । पञ्चमुख = सिंह । 'सिंहगुप्त' इस संज्ञा से रुचि = दीप्ति = सर्वत्र प्रचार है जिसका वह ।

'उसका पुत्र लोगों में चुखुलक नाम से प्रसिद्ध है । वे (चुखुलक) चन्द्रमा के समान स्वच्छ बुद्धिवाले नरसिंहगुप्त हैं ।'

इस वक्ष्यमाण उक्ति के अनुसार 'नरसिंहगुप्त' नाम से प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थकार के पिता माता नरसिंहगुप्त और विमला थे, ऐसा गुरु लोग (कहते हैं) ।

'पदों के स्थान पर पद का एक अंश प्रयोग करने वाले हैं ।'

इस नीति के अनुसार 'भीमसेन' के स्थान पर 'भीम' की भाँति यहाँ भी नरसिंहगुप्त सिंहगुप्त पदों का प्रयोग हुआ है । भरिततनु:—

'परस्पर शिवशक्त्यात्मक रूप की भावना करनी चाहिये । (इस शरीर के विषय में) राग, मोह आदि से युक्त मानवी बुद्धि नहीं करनी चाहिये । उत्तम साधकों के

ज्ञानभावनया सर्व कर्तव्यं साधकोत्तमैः ।'

इत्याद्युक्तनीत्या द्वयोरपि शिवशक्तिसमावेशमयत्वाभिधानस्येष्टेः काकाक्षिन्यायेन योज्यम् । तदेवम् एवंविधसिद्धयोगिनीप्रायपितृमेलकसमुत्थतया—

'तादृङ्मेलककलिका कलिततनुर्यो भवेद् गर्भे ।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः ॥'

इत्युक्तनीत्या स्वात्मनि निरुत्तरपादाद्वयज्ञानपात्रतामभिदधता ग्रन्थकृता निखिलषडर्धशास्त्रसारसंग्रहभूतग्रन्थकरणेऽप्यधिकारः कटाक्षीकृतः । अत्र च सम्भवन्त्यपि व्याख्यान्तराणि न कृतानि, ग्रन्थगौरवभयात् प्रकतानुपयोगाच्च । केषांचिदपि व्याख्यान्तराणमासमञ्जस्यमतीव सम्भवदपि न प्रकाशितम् । एवं हि—

'.....................तस्यै हेतुं न चाचरेत् ।'

इति वक्ष्यमाणदृशा स्वात्मनि समयलोपावहं महात्मनाम् महागुरूणां निन्दाबीजमासूत्रितम्—इति भवेत्; को नाम शान्तिकर्मारभमाणो वेतालोत्थापनं कुर्यात्, इह चास्माभिस्तद्व्याख्यासारोच्चयनस्यैव प्रतिज्ञातत्त्वात् तदेव क्रियते,—

द्वारा सब कुछ ज्ञानभावना से करना चाहिये ।'

इत्यादि उक्त नीति के अनुसार (पिता माता) दोनों के शिवशक्तिसमावेशमयत्व का कथन करने की इच्छा से यहाँ काकाक्षिगोलक न्याय से (वह समावेश पुत्र में भी संक्रान्त होता है ऐसा) समझना चाहिये ।

इस प्रकार सिद्ध एवं योगिनी जैंसे पिता माता के सङ्घट्ट से उत्पन्न होने के कारण—

"जो गर्भ में उस सङ्घट्टरूपी कलिका से रचित शरीरवाला होता है वह योगिनीभू कहा गया है । वह स्वयं (शिव) ज्ञान का पात्र एवं भक्त होता है ।"

इस नीति से अपने अन्दर अनुत्तरपद (को प्राप्त कराने वाले) अद्वयज्ञान की पात्रता को कहने वाले ग्रन्थकार के द्वारा समस्त त्रिकशास्त्र के सार का संग्रह रूप (इस) ग्रन्थ की रचना में अधिकार को भी संकेतित किया गया है । यहाँ अन्य व्याख्यायें भी सम्भव हैं किन्तु ग्रन्थविस्तार के भय तथा प्रस्तुत प्रकरण में अनुपयोगी होने के कारण वे नहीं की गयीं । कुछ दूसरी व्याख्याओं की अत्यन्त सम्भावना है तो भी वे प्रकाशित नहीं की गयीं । इस प्रकार—

'उस (= स्वातन्त्र्यशक्ति) के लिये कारण नहीं खोजना चाहिये ।'

इस वक्ष्यमाण रीति से अपने अन्दर समय का लोप करने वाली महात्माओं महागुरुओं की निन्दा हो जाती । शान्तिकर्म का आरम्भ करने वाला कौन व्यक्ति वेताल को जगायेगा ।' यहाँ हम लोगों ने उसकी सारभूत व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है इसलिये वही किया जा रहा है । इसलिए उससे अतिरिक्त सब

इति तदितरत् स्वयमेव सर्वत्रासारतया चिन्वन्तु सचेतसः,—इत्य लमनेनापि वचनेन, प्रस्तुतमिहाभिदध्मः ॥ १ ॥

तदेवं परं त्रिकं परामृश्य परापरमपि पराम्रष्टुमुपक्रममाणः प्रथमं तावत् परां देवी परामृशति—

नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरवयोगिनीम् ।
मातृमानप्रमेयांशशूलाम्बुजकृतास्पदाम् ॥ २ ॥

'पराम्' पूर्णाम्, अत एव भिन्नमपि जगत् स्वात्मनि अभेदरूपतया पालयन्तीम् अनन्योन्मुखतया च प्रकृष्टाम्—

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।'

इत्याद्युक्त्या 'भैरवयोगिनीम्' नित्यमेव परप्रमात्रवियुक्तत्वात् तदात्मभूताम्, अत एव—

'इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।'

इत्याद्युक्त्या चिद्रूपा चासौ 'प्रतिभा' प्रज्ञा, ताम् आद्योच्छलत्तात्मकत्वेन बहिरुल्लिलसिषास्वभावाम्, अत एव 'देवीम्' प्रमातुरपि विश्रान्तिधामत्वात् प्रमिति-

---

अतात्त्विक है ऐसा सहृदय लोग जानें । यह कथन भी व्यर्थ है। अब प्रस्तुत का कथन करते हैं ॥ १ ॥

इस प्रकार परत्रिक का परामर्श करने के बाद परापर का भी परामर्श करने के लिये उपक्रम करते हुए पहले परादेवी का परामर्श कर रहे हैं ।

मैं उस परा अर्थात् पूर्ण तथा परप्रमाता के साथ नित्यसम्बद्ध चित् रूप प्रतिभा देवी को प्रणाम करता हूँ जो प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय रूप तीन अंशो वाले शूल के ऊपर वर्तमान उन्मना कमल पर आसीन हैं ॥ २ ॥

परा = पूर्णा । इसलिये भिन्न भी जगत् को अपने अन्दर अभेदरूप से पालती हुई, अनन्यापेक्ष होने से प्रकृष्ट—

'जगत् के पालक की जो वह शक्ति समवायिनी कही गयी है'

इत्यादि उक्ति के अनुसार—'भैरवयोगिनी = नित्य ही परप्रमाता से अवियुक्त होने के कारण तदात्मरूपा, इसलिये—

'हे देवि! तुम उस सिसृक्षा वाले की इच्छा बनती हो ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार चिद्रूपा यह प्रतिभा = प्रज्ञा, उसकी प्रथम उच्छलत्तारूप होने के कारण बाहर उल्लसित होने की इच्छारूप स्वभाव वाली, इसलिये देवी = प्रमाता का भी विश्रान्तिधाम होने से प्रमिति के रूप में दीप्यमान,

रूपतया द्योतमानाम्, अत एव बहिरपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयाण्येव 'अंशा' अरारूपा भागा यस्य 'शूलस्य' तत्र यानि औन्मनसानि अम्बुजानि, तत्र 'कृतास्पदाम्' तदुत्तीर्णतया भासमानाम् 'नौमि' देहप्राणादिप्रमातृरूपन्यग्भावेन तत्स्वरूपमाविशामि —इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवमुक्तेऽपि परास्वरूपेऽपरास्वरूपमनभिधाय, तदुभयमयस्य परास्वरूपस्य वक्तुमशक्यत्वात् क्रमप्राप्तां परापरां देवीं परिहृत्य, प्रथमं तावदपरां देवीमभिमुखयति—

नौमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृते ।
प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम् ॥ ३ ॥

'नृत्यतो'—

'नर्तक आत्मा' (शि० ३ उ० ९ सू०)

इति शिवसूत्रदृष्ट्या निगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्तद्विष्ववैचित्र्यभूमिकाप्रपञ्चं प्रकाशयतो 'भैरवाकृतेः' पूर्णस्वरूपस्य परमात्मनः 'शरीरस्थाम्'—

'एवभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तद्वस्तु कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ॥'

इसलिये बाहर भी, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ही हैं अंश = अरारूप भाग जिस शूल के, उस पर जो उन्मना वाले कमल उस पर कृतास्पदा = उससे परे रूप में भासमान, को प्रणाम करता हूँ = देह प्राण आदि प्रमाता रूप निम्नभाव से उसके स्वरूप में आविष्ट हो रहा हूँ ॥ २ ॥

परादेवी के स्वरूप के इस प्रकार कहे जाने पर भी अपरास्वरूप को बिना कहे उभयमय परापरादेवी के स्वरूप का कथन असम्भव होने से क्रमप्राप्त परापरा देवी को छोड़कर पहले अपरा देवी की ओर उन्मुख होते हैं—

वर्षाकालीन मेघ से व्याप्त आकाश मे वर्त्तमान विद्युल्लेखा के समान विलास (= चमक) वाली, नर्त्तनशील भैरव के शरीर में रहने वाली (अपरा) देवी को नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

नृत्यतः—

'नर्तक आत्मा'

इस शिवसूत्र के अनुसार छिपाये गये अपने स्वरूपरूपी स्तम्भ को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न विश्ववैचित्र्य की भूमिका के विस्तार को प्रकाशित करने वाले, भैरव आकृति = पूर्णस्वरूप परमशिव के शरीर में रहने वाली ।

'यह वस्तु इस प्रकार की हो जब ऐसी (इच्छा) उत्पन्न होती है तभी उस वस्तु को बनाने वाली को क्रिया कहते हैं ।'

इत्याद्युक्त्या तत्तत्प्रमातृप्रमेयाद्यनन्ताभासवैचित्र्यकारितया स्वरूपाविष्टाम्, अत एव 'देवीम्' जगदुल्लासनक्रीडाकारिणीम् अपरां भगवतीं 'नौमि' इति संबन्धः । अत एव बहिरपि विश्वात्मना द्योतमानत्वेऽपि—

'भेदभावकमायीयतेजोंशग्रसनाच्च तत् ।
सर्वसंहारकत्वेन कृष्णं तिमिररूपधृत् ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपे परप्रमातर्येव विश्रान्तत्त्वात् कृष्णपिङ्गलरूपाम्—इत्युक्तम् 'प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम्' इति ॥ ३ ॥

अथ परापरोभयस्वरूपमयीं परापरां देवीं परमृशति—

दीप्तज्योतिश्छटाप्लुष्टभेदबन्धत्रयं स्फुरत् ।
स्ताज्ज्ञानशूलं सत्पक्षविपक्षोत्कर्तनक्षमम् ॥ ४ ॥

'ज्ञानम्'—

'एवमेतदिदं वस्तु नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥'

इत्यादि उक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रमाता प्रमेय आदि अनन्त आभास की विचित्रता को करने के कारण स्वरूप में समाविष्ट, इसलिये देवी = संसाररूपी उल्लासन क्रीड़ा को करने वाली अपरा भगवती को प्रणाम करता हूँ—ऐसा अन्वय है ।

इसीलिये विश्व के रूप में बाहर प्रस्फुरित होने पर भी—

'भेदभाव को उत्पन्न करने वाले मायीय तैजस अंश का ग्रसन करने के कारण तथा सर्वसंहारक होने से अन्धकार जैसा रूप धारण कर (वह शक्ति) कृष्ण हो जाती है ।' इत्यादि के द्वारा कहे गये स्वरूप वाले पर प्रमाता में ही विश्रान्त होने के कारण कृष्णपिङ्गला रूप वाली हो जाती है । इसलिये कहा गया—प्रावृण्मेघ... इत्यादि ॥ ३ ॥

अब परा और अपरा दोनों स्वरूप वाली परापरा देवी का परामर्श करते हैं—

चमकती हुई ज्योति के पुञ्ज से भेदप्रधान तीनों बन्धनों अर्थात् मलों को नष्ट करने वाला एवं शुद्धबोध के रूप में स्फुरित होने वाला ज्ञानशूल सत्पक्ष (= जगदानन्द) एवं विपक्ष (= निजानन्द) को नष्ट करने में समर्थ हो ॥ ४ ॥

'ज्ञान' —

'यह वस्तु ऐसी ही है अन्यथा नहीं, इस प्रकार निश्चित रूप से ज्ञापन करने वाली (देवी) इस संसार में ज्ञानशक्ति कहलाती है ।'

इत्याद्युक्तज्ञानशक्तिस्वभावमपि अन्तरासूत्रितेच्छाक्रियात्मकम्, अत एव परापराशब्दव्यपदेश्यम्, अत एव तत्—

'लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या 'त्रिशूलम्' अत एव 'दीप्ताभिः'—अप्रतिहताभिः तत्तदिन्द्रियवृत्तिरूपाभिः 'ज्योतिश्छटाभिः—

'यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते ।'

इत्यादिनीत्या वक्ष्यमाणस्वरूपस्य भेदप्रधानस्य बन्धहेतुत्वात् बन्धरूपस्य आणवादिमलत्रयस्य प्लोषकम्, अत एव 'स्फुरत्' शुद्धबोधैकरूपतयास्फुरत्तासारम्, अत एव 'सन्' च असौ 'पक्षः' जगदानन्दस्तस्य 'विपक्षाः'—तदप्रथारूपा निजानन्दाद्या आनन्दा अनानन्दाश्च तेषाम् 'उत्कर्तनम्'—पूर्णप्रथात्मकत्वेन क्षपणम्, तत्र 'क्षमम्'—समर्थः 'स्तात्'—इति वाक्यार्थः—तदुक्तम्—

'जयन्ति जगदानन्दविपक्षक्षपणक्षमाः ।
परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचयः ॥ इति ॥ ४ ॥

इदानीमपरमपि त्रिकं परामष्टुमाह—

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा
क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।

इत्यादि में उक्त ज्ञानशक्ति स्वभाव वाला होते हुए भी भीतर भीतर इच्छा क्रिया वाला, इसलिये परापरा शब्द से व्यवहार्य होती है । इसीलिये वह

"इसलिये तीनों शक्तियाँ जब लोलीभूत (= चञ्चल, सक्रिय) हो जाती हैं तब वह त्रिशूल कहलाता है ।"

इस वक्ष्यमाण सिद्धान्त के अनुसार त्रिशूल, इसलिये दीप्त—अप्रतिहत तत्तत् इन्द्रियवृत्तिरूप ज्योति की शोभा से—

'जहाँ-जहाँ किरणें मिलती हैं वहाँ-वहाँ परमात्मा ही उल्लसित होते हैं ।

इत्यादि रीति से वक्ष्यमाणस्वरूप भेदप्रधान तथा बंधन का कारण होने से बन्धरूप आणव आदि तीन मलों का दाहक, अत एव स्फुरत् = शुद्धबोधमात्र के रूप में स्फुरण करने वाला, अत एव सत्पक्ष—जगदानन्द, उसका विपक्ष—उसके सङ्कोचरूप निजानन्द आदि या आनन्द का अभाव, उनका उत्कर्त्तन—पूर्णविकास के रूप में परिवर्तन, इसमें क्षम = समर्थ, हो—ऐसा वाक्यार्थ है । वही कहा गया—

जगदानन्दरूपी 'परमेश्वर के मुख से उत्पन्न ज्ञान चन्द्र की किरणें जो कि विपक्ष के उन्मूलन में समर्थ है, सर्वोत्कृष्ट हैं ।' (मा० वि० वा० १) ॥ ४ ॥

अब दूसरे त्रिक का परामर्श करने के लिये कहते है—

तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता-
मनुत्तरं मे प्रथतस्वरूपम् ॥ ५ ॥

स्वतन्त्र्यरूपा शक्तिः यस्यासौ अनन्तशक्तिर्भगवान् शिवः, 'क्रमस्य'—

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ॥' (ई० २।१।५)

इत्याद्युक्तनीत्या देशकालात्मनो विश्ववैचित्र्यस्य सर्गस्य, सम्यक्—भेदेन 'सिसृक्षा'—जगत्सृष्टिनिमित्तं पारमेश्वरी इच्छारूपा शक्तिः 'क्रमात्मता'—

'क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससदसत्त्वतः ।' (ई० २।१।४)

इत्यादिनीत्या भेदप्रधानं तत्तदनन्ताभाससंभिन्नं संकुचितात्मरूपं नरत्वम्, इत्येवं येयं नर-शक्ति-शिवात्मिका 'विभोः'—भगवतः परस्य—अनुत्तरस्य प्रकाशस्य 'विभूतिः'—तत्तत्स्फुरणात्मत्वेन ऐश्वर्यं 'तदेव' क्रमेण तत्स्फारसारत्वात् समनन्तरोक्तस्वरूपं 'देवीत्रयम्' परप्रकाशत्मकत्वात् 'अनुत्तरम्' 'स्वम्' सर्वकर्तृत्वा-देरसाधारणम् 'रूपम्' 'प्रथयत्'—तत्तद्भेददशोदयेऽप्यतिरोदधत् मम आत्मनः 'अन्तरास्ताम्' ऐकात्म्येन स्फुरतात्—इत्यर्थः ॥ ५ ॥

स्वातन्त्र्यशक्ति (= शिव), क्रम का सृजन करने की इच्छा (= शक्ति) एवं क्रमात्मता (= नर) ये विभु परमेश्वर की विभूति हैं । उक्त तीनों देवियों का समाहार अपने अनुत्तर स्वरूप को प्रकट करते हुए अन्तःकरण में स्फुरित हों ॥ ५ ॥

स्वातन्त्र्यरूपा है शक्ति जिसकी वह अनन्तशक्ति वाले भगवान् शिव ।

'मूर्तिवैचित्र्य के कारण यह ईश्वर (= शिव) देश क्रम का तथा क्रिया-वैचित्र्य के निर्भास से कालक्रम का आभास करते हैं ।' (ई. ० ।१)

इत्यादि में कथित रीति से क्रम = देशकाल रूप विश्ववैचित्र्य वाली सृष्टि का, सम्यग् = भेदवाली, सिसृक्षा = जगत् सृष्टि का कारणभूत पारमेश्वरी इच्छारूपा शक्ति,

'क्रम भेद का आश्रय होता है और भेद भी आभास की सत्ता और असत्ता के कारण होता है ।'

इत्यादि नीति से जो = भेदप्रधान, तत्तत् अनन्त आभास से भिन्न एवं संकुचित आत्मरूप है वह नर ही क्रम (कहलाता) है । इस प्रकार जो नर शक्ति एवं शिवरूपा, विभु = भगवान् अनुत्तर परप्रकाश रूप की, विभूति = तत्तत् स्फुरण रूप ऐश्वर्य, वही क्रमशः तत्तत् स्फार वाला होने से पूर्वोक्तरूप वाला देवीत्रय, परप्रकाशात्मक होने से अनुत्तर स्व = अपने सर्वकर्तृत्व आदि का असाधारण रूप, प्रथयत् = तत्तद् भेददशा का उदय होने पर भी अतिरोभूत, मम = मेरे भीतर

एवं स्वदर्शनोचितदेवतापरामर्शानन्तरं तत्स्वरूपानुप्रवेशेनैव युगपद् गणेश-वटुकावपि अभिमुखयति—

तद्देवताविभवभाविमहामरीचि-
चक्रेश्वरायितनिजस्थितिरेक एव ।
देवीसुतो गणपतिः स्फुरदिन्दुकान्तिः,
सम्यक्समुच्छलयतान्मम संविदब्धिम् ॥ ६ ॥

'एक एव'—अनन्यापेक्षतया निःसहायो 'गणस्य'—करणचक्रस्य—

'दिनकरसममहदादिकगणपतितां वहति यो नमस्तस्मै ।'

इत्यादिदृशा 'पतिः'—अहङ्काररूपः प्रभुः, अत एव 'तासाम्' समनन्तरोक्तानां 'देवतानाम्' 'विभवेन'—परप्रकाशात्मना स्फारेण—

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या भवनशीलाः तन्मयतया परिस्फुरन्त्यो या 'महामरीचयः' —तत्तदिन्द्रियदेवताः तासां यत् 'चक्रम्' तत्रेश्वरवदाचरन् निजस्थितिर्यो 'मम' आत्मनः 'संविद्' एव अनवगाह्यत्वात् 'अब्धिः' 'सम्यक्' विषयकालुष्यविलायनेन

आसीन हो = मुझमें अभिन्नरूप से स्फुरित हो ॥ ५ ॥

अपने दर्शन के अनुरूप देवता का परामर्श करने के बाद उसके स्वरूप में अनुप्रवेश के लिये गणेश और बटुक का एक साथ आमन्त्रण कर रहे हैं—

पूर्वोक्त देवताओं के विभव (= परप्रकाशरूप स्फुरण) के द्वारा उत्पन्न होने वाली महामरीचियों (= तत्तत् इन्द्रियदेवताओं) के समूह के अधिपति के रूप में अपनी स्थिति रखने वाले, अनन्य देदीप्यमान चन्द्रमा के समान कान्ति वाले, देवी (= शक्ति) के पुत्र गणेश अथवा बटुक मेरे ज्ञानसिन्धु को उच्छलित करें ॥ ६ ॥

एक एव = अनन्यापेक्ष होने के कारण निःसहाय, गण = करणसमूह का

'जो सूर्य के समान महत् आदि द्रव्यसमूह का स्वामी है उसे नमस्कार है ।'

इत्यादि के अनुसार पति = अहङ्काररूप प्रभु । इसलिये उनके = पूर्वोक्त देवताओं के, विभव परप्रकाशरूप स्फार के द्वारा

'जो उसमें विश्रान्त नहीं होता वह आकाशकुसुम के समान (तुच्छ) है ।'

इस वक्ष्यमाण नीति से भवनशील = तन्मय होकर परिस्फुरण करने वाली जो महामरीचियाँ = तत्तद् इन्द्रियों की देवतायें, उनका जो चक्र, उसमें ईश्वर की भाँति आचरण करता हुआ स्वात्म में स्थित जो मेरा = अपना आत्मा का, संविद् ही अनवगाह्य होने के कारण समुद्र (वह) सम्यक् = विषयरूपीकालुष्य को विलीन कर,

समन्तात्—सर्वत एव तत्तदिन्द्रियप्रसृतसंविद्द्वारेण 'उच्छलयतात्'—विकासयतात्, तदेकमयतामुत्पादयतात्—इत्यर्थः । अब्धिसमुच्छलनसमुचितत्त्वाच्च 'स्फुरदिन्दु-कान्तिः'—इत्युक्तम् । वस्तुतो हि अपानव्याप्तिरस्यास्ति—इत्येवं निर्देशः ।

अथ च 'देवीसुतः' वटुकोऽप्येवंविधः, किन्तु शरीरस्य धवलिम्ना 'स्फुरदिन्दुकान्तिः' । अस्य हि प्राणव्याप्तिरस्ति इत्येवं निर्दिशन्ति गुरवः । 'देवीसुतः' इत्युभयोरपि कुलशास्त्रोचितोऽयं व्यपदेशः । तदुक्तम्—

'देवीपुत्रोऽत्र वटुकः स्वशक्तिपरिवारितः ।' इति ।
'गणेशो विघ्नहर्तासौ देवीपुत्रः........... ।' इति च ॥ ६ ॥

इह खलु शास्त्रादौ—

'.....................स्त्रोतोभेदं संख्यानमेव च ।
प्रवर्तयेद् गुरुं स्वं च स्तेयी स्यात् तदकीर्तनात् ॥'

इत्याद्युक्तदृशा अवश्यमेव शास्त्रकारैः स्वगुर्वादेः कीर्तनं कार्यम्, अतश्च वक्ष्यमाणशास्त्रस्य कुलतन्त्रप्रकियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि—

'नभःस्थिता यथा तारा न भ्राजन्ते रवौ स्थिते।

समन्तात् = सर्वतः, तत्तत् इन्द्रियों के रूप में विस्तृत संविद् के द्वारा उच्छलित करे = विकसित करे = तदेकमयता को उत्पन्न करे—यह अर्थ है ।

समुद्र के समुच्छलन से युक्त होने के कारण 'स्फुरत् इन्दुकान्ति' यह कहा गया है ।

वस्तुतः यहाँ अपानव्याप्ति है—ऐसा निर्देश है । देवी के पुत्र बटुक भी ऐसे ही हैं । किन्तु शरीर की धवलता के कारण स्फुरत् चन्द्रकान्ति है । इसकी प्राणव्याप्ति है—ऐसा गुरु ने निर्देश किया है । 'देवीसुत' कहने से दोनों (= गणेश और बटुक) के लिये यह कुलशास्त्र के उपयुक्त यह कथन है । वही कहा गया—

'यहाँ देवीपुत्र (का अर्थ है) अपनी शक्ति से परिवारित बटुकभैरव ।'

'विघ्नहर्त्ता गणेश ही देवीपुत्र हैं ॥ ६ ॥'

शास्त्र के प्रारम्भ में—

"शास्त्र के स्त्रोत (उसका) भेद, संख्या और अपने गुरु का उल्लेख (शास्त्रकार को) करना चाहिये, ऐसा न करने वाला चोर होता है ।"

इस नियम के अनुसार शास्त्रकारों के द्वारा अपने गुरु आदि का उल्लेख अवश्य करना चाहिये । इसलिये वक्ष्यमाणशास्त्र के कुलप्रक्रिया एवं तन्त्रप्रक्रिया रूप दो प्रकार होने पर भी,

'जिस प्रकार सूर्य के रहने पर आकाश में स्थित तारे प्रकाशित नहीं होते उसी

एवं सिद्धान्ततन्त्राणि न विभान्ति कुलागमे ॥
तस्मात्कुलादृते नान्यत्संसारोद्धरणं प्रति ।'

इत्याद्युक्त्या कुलप्रक्रियायाः प्रक्रियान्तरेभ्यः प्राधान्यात्—

'भैरव्या भैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये ।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने ॥
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना ।'

इत्यादिनिरूपितस्थित्या तदवतारकं तुर्यनाथमेव तावत् प्रथमं कीर्तयति—

रागारुणं ग्रन्थिबिलावकीर्णं
यो जालमातानवितानवृत्ति ।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार
स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः ॥ ७ ॥

'सः'—सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः—

'मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः ।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः ॥'

प्रकार कौलशास्त्र के (उपस्थित) रहने पर सिद्धान्ततन्त्र आभारहित हो जाते हैं । इस कारण कौल शास्त्र के अतिरिक्त दूसरे शास्त्र संसार से उद्धार करने में (सक्षम) नहीं है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार कुलप्रक्रिया के दूसरी प्रक्रियाओं की अपेक्षा प्रधान होने से

'हे प्रिये ! उसके बाद भैरव से भैरवी के द्वारा प्राप्त योग को व्याप्त कर (= साधना कर)' उस (भैरवी) से सिद्ध महात्मा मच्छेन्द्रनाथ ने प्राप्त कर कामरूप नामक महापीठ में (इसकी स्थापना की) ।'

इत्यादि में निरूपित स्थिति के अनुसार उसको अवतरित करने वाले तुर्यनाथ का वर्णन करते हैं—

जिन्होंने राग (= गैरिक आदि द्रव्य अथवा राग तत्त्व) के द्वारा लाल, ग्रन्थि (= बन्धन) तथा बिल (= भगसंज्ञक भोगभूमि) से व्याप्त लम्बे चौड़े रूप से युक्त विश्वरूप में सर्वत्र विस्तीर्ण, कला तत्त्व के द्वारा प्रारब्ध जाल (= माया) को बाह्य रूप में स्फुटित किया वे मच्छन्द विभु (= योगी मत्स्येन्द्रनाथ) मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥ ७ ॥

वह = समस्त कुलशास्त्र के अवतारक के रूप में प्रसिद्ध ।

'मच्छ का अर्थ है—पाश अर्थात् चञ्चल चित्तवृत्तियाँ । जब उन्होंने (तुर्यनाथ

इत्याद्युक्त्या पाशखण्डनस्वभावो मच्छन्द एव परमेश्वरसमावेशशालित्वात् 'विभुः' मम प्रसन्नः 'स्तात्'—स्वात्मदर्शनसंविभागपात्रतामाविष्कुर्यात्—इत्यर्थः । यो 'जालम्' मत्स्यबन्धनम्, इन्द्रजालप्रायां च मायां 'बाह्यपथे चकार'—

'अष्टौ सिद्धा महात्मानो जालपृष्ठाः सुतेजसः ।'

इत्याद्युक्त्या तुरीयतास्वरूपावहितत्त्वेन सङ्कोचापहस्तनादनवधेयतां च निन्ये—इत्यर्थः । तच्च 'रागेण'—गैरिकादिद्रव्येण रागतत्त्वेन च 'अरुणम्'—लोहितीकृतम् इयर्ति—गच्छति इत्यर्थानुगमात् तत्तद्भेददशाप्रसररूपं च, तथा ग्रन्थिभिः'—बन्धनैः 'बिलैः' च सलिलनिर्गमनस्थानैः 'ग्रन्थौ' मायाया द्वितीयस्मिन् भेदे 'बिलैः' बिलाकाराभिः भगसंज्ञाभिर्भोगभूमिभिश्च 'अवकीर्णम्'—व्याप्तम्, तथा 'आतानवितानवृत्ति'—आयामपार्श्वमानयुक्तं विश्वाकारत्वात् सर्वतः प्रसरद्रूपं च, तथा 'कलया' विच्छित्तिविशेषेण कलातत्त्वेन च अर्थात्क्षितिपर्यन्तेन 'उम्भितम्' आरब्धम् । यदुक्तम्—

'मायारूपं भवेज्जालं दारयेत्कुलचिन्तकः ।
विश्वाकारं महाजालं नाडीसूत्रनियोजितम् ॥
भुवनाक्षसमोपेतं तत्त्वग्रन्थिदृढीकृतम् ।

ने) उनका भेदन कर दिया तब से वे मच्छन्द कहलाने लगे ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार पाशखण्डनस्वभाव वाले मच्छन्द ही परमेश्वर समावेश वाला होने से 'विभु' मेरे ऊपर प्रसन्न हों अर्थात् स्वात्मदर्शन के संविभाग की पात्रता को आविष्कृत करें । जिन्होंने कि जाल = मत्स्यबन्ध और इन्द्रजाल जैसी माया को बाह्यपथ (= प्रकाशपरिवेश) मे बाहर कर दिया ।

'आठ सिद्धमहात्मा ऐसे हैं जो जालपृष्ठ और तेजस्वी हैं ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार तुरीयतास्वरूप में ध्यानस्थ होने से सङ्कोच को हटाने के साथ अनवधानता को दूर कर दिया । वह जाल राग = गेरू आदि द्रव्य और रागतत्व के कारण अरुण = लाल कर दिया गया । ('अरुण' शब्द की व्याख्या करते हैं—) इयर्त्ति = गच्छति इस अर्थ का अनुगमन करने से (अरुण =) तत्तद् भेददशा का प्रसरण । ग्रन्थियों = बन्धनों बिलों = बन्धनों, पानी निकलने के स्थानों, ग्रन्थि में = माया के द्वितीय भेद में, बिलों = बिल के आकार वाली योनियों तथा भोगभूमियों से, अवकीर्ण = व्याप्त, तथा आतानवितानवृत्ति = लम्बाई चौड़ाई से युक्त और विश्वाकाररूप होने के कारण प्रसार वाले तथा कला = कलाबाजी और कला तत्त्व के द्वारा अर्थात् पृथिवीपर्यन्त, उम्भित = आरब्ध । जैसा कि कहा गया—

माया ही जाल है । कुल परम्परा में दीक्षित व्यक्ति उसका छेदन करता है । (यह) महाजाल विश्व के आकार वाला है (पक्षान्तर में) नाड़ीरूपी धागे से बना है ।

कलारागयुतं चैव............................. ॥' इत्यादि ॥ ७ ॥

'श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात्सिद्धा अवातरन् ।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये ।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ।
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ॥
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः ।
अतश्चार्धचतस्त्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात् ॥'

इति वक्ष्यमाणस्थित्या श्रीसन्तत्यामर्दकत्रैयम्बकार्धत्रैयम्बकाख्यासु सार्धासु तिसृषु मठिकासु मध्यात् वक्ष्यमाणतन्त्रप्रक्रियायाः त्रैयम्बकमठिकाश्रयणेन आयाति-क्रमोऽस्ति इति सामान्येन तावत् गुरूनभिमुखयति—

त्रैयम्बकाभिहितसन्ततिताम्रपर्णी-
सन्मौक्तिकप्रकरकान्तिविशेषभाजः ।
पूर्वे जयन्ति गुरवो गुरुशास्त्रसिन्धु-
कल्लोलकेलिकलनामलकर्णधाराः ॥ ८ ॥

'त्रैयम्बक' इति 'अभिहिता' 'सन्ततिः' मठिका—इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवम्—

भुवन रूपी इन्द्रिय से युक्त है और तत्त्वरूपी ग्रन्थि से दृढ़ किया गया है। यह कला राग (आदि) से युक्त है.............इत्यादि ॥ ७ ॥

श्रीमान् श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से त्र्यम्बक आमर्दक और श्रीनाथ नामवाले सिद्ध अवतरित हुये । वे (क्रमशः) अद्वय, द्वय एवं द्वयाद्वय शैवशास्त्र में निपुण थे । प्रथम (त्र्यम्बक) की परम्परा चली । दूसरे (आमर्दक) की पुत्री का वंश चला । यह सन्तान अर्धत्र्यम्बक नाम से सुप्रतिष्ठित हुआ । इस प्रकार सन्तान परम्परा के अनुसार साढ़े तीन मठिकायें प्रवर्त्तित हुईं ।

इस वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार श्रीसन्तति, आमर्दक, त्र्यम्बक और अर्धत्र्यम्बक नामक साढ़े तीन मठिकाओं में से वक्ष्यमाण तन्त्रप्रक्रिया, त्र्यम्बकमठिका को आश्रित करके फैली है । इसलिये सामान्यतया उन गुरुओं का स्मरण करते हैं—

त्र्यम्बक नामक मठिकारूपी ताम्रपर्णी नदी के उज्ज्वल मुक्तासमूह के समान विशेष कान्ति वाले तथा गम्भीर शास्त्रसिन्धु की लहरों की क्रीड़ा के निर्मल कर्णधार प्राचीन गुरुगण सर्वोत्कर्षेण विराजमान हैं ॥ ८ ॥

त्रैयम्बक नामवाली सन्तति अर्थात् मठिका—यह अर्थ है ॥ ८ ॥

इस प्रकार—

'शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरम् ।
कलापिग्रामप्रमुखमुच्छिन्ने शिवशासने ॥
कैलासाद्रौ भ्रमन्देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥
मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्यते यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥
ततः स भगवान्देवादादेशं प्राप्य यत्नतः ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ॥' (शि०दृ० ७)

इत्याद्युक्त्या कलिकालुष्याद्विच्छिन्नस्य निखिलशास्त्रोपनिषद्भूतस्य षडर्धक्रम-विज्ञानस्य त्रैयम्बकसन्तानद्वारेण अवतारकत्वादाद्यं कैलासस्थं श्रीश्रीकण्ठनाथाख्यं गुरुं प्रसङ्गात् मठिकान्तरगुरुंश्चोत्कर्षयति—

जयति गुरुरेक एव श्रीश्रीकण्ठो भुवि पथितः ।
तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वरो भूतिराजश्च ॥ ९ ॥

'एक एव गुरुः'—इत्यनेन अस्य अवतारकत्वं सूचितम् । 'महेश्वरः'—इति यः श्रीसन्तत्यर्धत्रैयम्बकाख्यमठिकयोर्गुरुतया अनेन अन्यत्रोक्तः परमेश इति ईश

'शैवागम के रहस्य पहले महात्मा ऋषियों के मुख के अन्दर थे । वे ही अनुग्रह भी करते थे । कलियुग के आने पर उन (शैवागमों) के दुर्गम होने पर शिवशास्त्र कलापि ग्राम तक सीमित रह गया (अन्यत्र) उच्छिन्न हो गया । तब कैलाश पर्वत पर पार्वतीजी के साथ घूमते हुए महादेव प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से श्रीकण्ठरूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए और दुर्वासा नामक ऋषि को प्रेरित किया । (उन्होंने कहा कि) जिस प्रकार यह शास्त्र उच्छिन्न न हो ऐसा प्रयत्न करो । इसके बाद भगवान् (दुर्वासा) ने महादेव से आदेश प्राप्त कर प्रयत्नपूर्वक त्र्यम्बकादित्य नामक मानसपुत्र को उत्पन्न किया ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार कलियुग के मालिन्य के कारण उच्छिन्न समस्त शास्त्रो का सारभूत त्रिकक्रम विज्ञान त्रैयम्बक सन्तान के द्वारा अवतारित हुआ इस कारण सर्वप्रथम कैलाश में रहने वाले श्री श्रीकण्ठनाथ गुरु की तथा प्रसङ्गतः अन्य मठिका गुरुओं की भी महत्ता बतलाते हैं—

पृथ्वी पर प्रसिद्ध प्रधान गुरु श्रीकण्ठनाथ सर्वोत्कृष्ट हैं एवं उन्हीं की दूसरी मूर्ति भगवान् महेश्वर भूतिराज भी सर्वप्रसिद्ध हैं ॥ ९ ॥

'एक ही गुरु' इस कथन से इन (= श्रीकण्ठनाथ) का अवतारी होना सूचित करते हैं । 'महेश्वर' पद से जो श्रीसन्तति एवं अर्धत्र्यम्बक मठिकाओं के गुरु के

इति च । यदाह—

'भट्टारिकादिभूत्यन्तः श्रीमान्सिद्धोदयक्रमः
भट्टादिपरमेशान्तः श्रीसन्तानोदयक्रमः
श्रीमान्भट्टादिरीशान्तः परमोऽथ गुरुक्रमः ।
त्रिकरूपस्त्रिकार्थे मे धियं वर्धयतांतराम् ।।' इति ।
'तदपरमूर्तिः' इत्यनयोर्भगवदावेशमयत्वं दर्शितम् ।

यद्यपि—

'यो यत्र शास्त्रेऽधिकृतः स तत्र गुरुः...... ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या मठिकान्तरगुरूणां त्रिकार्थे गुरुत्वाभावात् इह नमस्काराप्रस्ताव एव । तथापि

'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता ।'

इत्यादिदृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं प्रकाशितम् । यद्वक्ष्यति—

'अध्युष्टसन्ततिस्रोतःसारभूतरसाहृतिम् ।

रूप में अन्यत्र 'परमेशः' एवं 'ईशः' पद से कहे गये, उनका सन्दर्भ सङ्केतित है। जैसा कि कहते हैं—

'भट्टारिका से लेकर भूतिराजपर्यन्त श्रीसिद्धोदय का क्रम है । भट्टारिका से लेकर परमेश्वरपर्यन्त श्रीसन्तति का उदयक्रम है । भट्टारिका से लेकर ईशपर्यन्त अन्तिम गुरुक्रम है । (यह) त्रिकरूप गुरुवर्ग त्रिकशास्त्र के ज्ञान के लिये मेरी बुद्धि को अधिक बढ़ायें ।'

'तदपरमूर्ति' पद से इन दोनों (महेश्वर और भूतिराज) की भगवान् के आवेश से पूर्णता दिखलायी गयी । यद्यपि—

'जो जिस शास्त्र का अधिकारी है उस (शास्त्र) में वही गुरु होता है ।'

इस वक्ष्यमाण नीति के अनुसार दूसरी मठिकाओं के गुरु त्रिकशास्त्र के गुरु नहीं हो सकते । इस कारण नमस्कार नहीं करना चाहिये । तथापि—

'सबको शिष्य बनाने वाले मेरे लिये उपदेश की दरिद्रता नहीं है ।'

इत्यादि के अनुसार सर्वत्र ही गुरु का उपदेश होने के कारण अपने विषय में अधिक विद्वत्ता को दिखलाने वाले ग्रन्थकार के द्वारा इस ग्रन्थ को भी समस्त शास्त्रों का सारसंग्रह बताना सङ्केतित हो रहा है । जैसा कि कहेंगे—

मठिकाओं में निवास कर उनके स्रोत का सारभूत रस निचोड़कर यह

विधाय तन्त्रालोकोऽयं स्यन्दते सकलान्रसान् ॥' इति ॥ ९ ॥

'पूर्वे जयन्ति गुरवः' इति सामान्येन कृतेऽपि नमस्कारे योगाङ्गत्वेन समानेऽपि—

'......................तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।'

इत्याद्युक्त्या परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञापनपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्याः इति विशेषप्रयोजकीकारेण गुरुपरमगुरुपरमेष्ठिनः पुनरपि परामृष्टुमाह—

श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःसृताः ।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः ॥ १० ॥
तदास्वादभरावेशबृंहितां मतिषट्पदीम् ।
गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसंमोहिनीं नुमः ॥ ११ ॥

इदानीम्—

'उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।'

इत्याद्युक्त्या तस्याचार्यादपि गौरवातिरेकस्मृतेर्निजमपि पितरमाशीर्वादमुखेन

तन्त्रालोक (बनाया गया जो कि) समस्त रसों का स्यन्दन करता है ॥ ९ ॥

'पूर्वे जयन्ति गुरवः'—इन शब्दों के द्वारा सामान्यतया (सबको) नमस्कार करने के बाद भी (सभी) योगाङ्गों के समान स्तर वाला होने पर भी

'तर्क उत्तम योगाङ्ग है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार परम उपादेय स्वप्रकाश आत्मदेव के प्रत्यभिज्ञापक तर्क की रचना और व्याख्या करने वाले सर्वाधिक नमस्कार योग्य हैं इस विशेष प्रयोजन को (दृष्टि में रखकर) गुरु, परम गुरु एवं परमेष्ठी गुरु का पुनः परामर्श कर रहे हैं—

श्रीसोमानन्द के बोधस्वरूप श्रीमान् उत्पलदेव से निकले हुए सभी दिशाओं में फैले हुए ज्ञान के सुगन्ध समूह महान् हैं ॥ १० ॥

उसके आस्वादभार के आवेश से वृद्धि को प्राप्त नाद के द्वारा (समस्त विद्वज्जन को) मुग्ध करने वाली गुरु लक्ष्मणगुप्त की बुद्धिभ्रमरी को (हम) प्रणाम करते हैं ॥ ११ ॥

अब,

'दश उपाध्यायों को एक आचार्य सौ आचार्यों के एक पिता (अतिशयित करता है) ।'

इस उक्ति के अनुसार उस (= पिता) के आचार्य से भी बढ़कर गौरव का

परामृशति—

यः पूर्णानन्दविश्रान्तसर्वशास्त्रार्थपारगः ।
स श्रीचुखुलको दिश्यादिष्टं मे गुरुरुत्तमः ॥ १२ ॥

'चुखुलकः' इति लोकप्रसिद्धमस्य नामान्तरम् । 'गुरुरुत्तमः' इति उत्तमत्वस्य आचार्यगौरवातिरेकस्मृतिरेव निमित्तम्, अत एव अन्यत्रापि—

'गुरुभ्योऽपि गरीयांसं जनकं चुखुलकाभिधम् ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ १२ ॥

एवं च तन्त्रप्रक्रियोपासन्नगुर्वभिमुखीकरणानन्तरं विश्रान्तिस्थानतया कुल-प्रक्रियागुरुमपि उत्कर्षयति—

जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ
भगवत्या सह शम्भुनाथ एकः ।
यदुदीरितशासनांशुभिर्मे
प्रकटोऽयं गहनोऽयं शास्त्रमार्गः ॥ १३ ॥

भगवत्याख्या अस्य दूती, कुलप्रक्रियायां हि दूतीमन्तरेण क्वचिदपि कर्मणि

स्मरण करने के कारण अपने ही पिता का आशीर्वाद के माध्यम से परामर्श कर रहे हैं—

जो पूर्ण आनन्द में विश्राम करने वाले तथा समस्त शास्त्रों के पारङ्गत हैं वे मेरे उत्तम गुरु (= पिता) श्रीचुखुलक मेरा मनोरथ पूर्ण करें ॥ १२ ॥

'चुखुलक' इनका दूसरा लोकप्रसिद्ध नाम है । 'गुरुरुत्तमः' में उत्तम पद का कथन, (इनका गौरव) आचार्य के गौरव से बढ़कर है—इस स्मरण के कारण है । इसीलिये अन्यत्र भी...

'गुरुओं से बढ़कर चुखुलक नामक पिता को....... ।'

इत्यादि कहा गया है ॥ १२ ॥

इस प्रकार तन्त्रप्रक्रिया की उपासना करने वाले गुरुओं के नमस्कार के बाद कुलप्रक्रिया वाले गुरु का परामर्श करते हैं—

जगत का उद्धार करने में समर्थ, भगवती (नामक दूती) के साथ शोभायमान आदरणीय शम्भुनाथ, जिनके द्वारा कहे गए उपदेश की किरणों से अत्यन्त गहन भी यह शास्त्रमार्ग आलोकित हुआ, सर्वातिशायी हों ॥ १३ ॥

भगवती नामक इनकी दूति थी । कौल प्रक्रिया में दूती के बिना किसी भी

नाधिकार: इत्यतस्तत्सहभावोपनिबन्ध: ।

'योक्ता संवत्सरात्सिद्धिरिह पुंसां भयात्मनाम्।
सा सिद्धिस्तत्त्वनिष्ठानां स्त्रीणां द्वादशभिर्दिनै: ।।
अत: सुरूपां सुभगां सरूपां भाविताशयाम् ।
आदाय योषितं कुर्यादर्चनं यजनं हुतम् ।। इति ।।

'शास्त्रमार्गो' विमलो जात: इत्यनेनास्य त्रिकाद्यागमव्याख्यातृत्वमपि प्रकाशितम् । यदुक्तमनेनैव—

'इत्यागमं सकलशास्त्रमहानिधाना-
च्छ्रीशम्भुनाथवदनादधिगम्य सम्यक्।
शास्त्रे रहस्यरससंततिसुन्दरेऽस्मिन्
गम्भीरवाचि रचिता विवृत्तिर्मयेयम् ।।' इति ।। १३ ।।

इदानीं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनादि आचक्षाणो ग्रन्थकारो ग्रन्थकरणं प्रति- जानीते—

सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्त्रोतोभेदेषु भूयसा ।
अनुत्तरषडर्धार्थक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ॥ १४ ॥

न चात्र अन्यथा सम्भाव्यम्—इत्यात्मन्याप्तत्वं प्रख्यापयन्नेवं प्रतिज्ञाकरणे सामर्थ्यं दर्शयति—

कर्म में अधिकार नहीं होता इसलिये उसका साहचर्य कहा गया ।

'भययुक्त पुरुषों की जो सिद्धि एक साल में होती है वह सिद्धि तत्त्वनिष्ठ स्त्रियों को बारह दिनों में प्राप्त होती है । इसलिये सुन्दर रूप वाली, सुन्दर अङ्ग वाली या सौभाग्यवती सुन्दर भावनाओं वाली स्त्री को साथ लेकर पूजन, यजन और हवन करना चाहिये ।'

शास्त्रमार्ग निर्मल हो गया—इस कथन से (यह शम्भुनाथ) त्रिक आदि आगम के व्याख्याता है—यह प्रकाशित होता है । जैसा कि इन्होंने ही कहा है—

'इस प्रकार सकलशास्त्र के कोशभूत श्रीशम्भुनाथ के मुख से भलीभाँति अध्ययन कर रहस्य रस परम्परा से सुन्दर तथा गम्भीर शब्दावली वाले इस शास्त्र की विवृति मैने बनायी' ।। १३ ।।

अब अपनी प्रवृत्ति, प्रयोजन आदि को कहने वाले ग्रन्थकार ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा करते हैं—

यद्यपि ज्ञान धाराओं के भिन्न होने के कारण अनेक चित्रविचित्र पद्धतियाँ हैं तथापि अनुत्तर त्रिकार्थ कर्म के विषय में उनमें से एक भी पद्धति दृष्ट नहीं होती, अर्थात् उत्कृष्ट प्रतीत नहीं होती ।। १४ ।।

इस विषय में अन्यथा नहीं समझना चाहिये इसलिये अपनी आप्तता को

इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः ।
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ॥ १५ ॥
श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा श्री-
भट्टारिकांघ्रियुगलाद् गुरुसन्ततिर्या ।
बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ॥ १६ ॥

तस्य गुरूपरम्परागतस्य ज्ञानस्य 'उपासनम्'—पुनः पुनः चेतसि विनिवेशनम् तत उत्थितो योऽसावुपदेष्टव्यविषयो 'बोधः'—साक्षात्कारः, तेन 'उज्ज्वलः' सम्यगवगतधर्मा सन्, 'इदम्' गुरूपदेशात्संशयविपर्यासादिरहितत्त्वेनाधिगतमनुत्तर-त्रिकार्थप्रक्रियालक्षणम् परान्प्रति चिख्यापयिषया 'करोति'—उपदिशति—इत्यर्थः । 'अभिनवगुप्तः' इति सकललोकप्रसिद्धनामोदीरणेनापि आप्तत्वमेव उपोद्बलितम् । उक्तं हि—

'साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया
प्रयुक्त उपदेष्टा चाप्तः ।' इति ॥

तच्छब्दपरामृष्टं व्याचष्टे 'या गुरुसन्ततिः' इति, 'गुरुसन्ततिः' गुरुपारम्पर्यम-

---

बतलाते हुए इस प्रकार प्रतिज्ञा के करने में सामर्थ्य दिखलाते है—

इसलिए मैं वर्तमान सभ्य शिष्यों एवं ब्रह्मचारियों के द्वारा अनेकों बार प्रार्थित होने के कारण स्पष्ट एवं परिपूर्ण अर्थवाली इस प्रक्रिया की रचना कर रहा हूँ ॥ १५ ॥.

श्रीभट्टनाथ के दोनों चरणकमलों तथा श्रीभटट्ारिका के दोनों चरणों से जो महती-गुरु-परम्परा चली, ज्ञान से भिन्न अर्थात् अज्ञानपाशरूपी विष को दूर करने वाली, उस (परम्परा) की उपासना से उत्थित बोध से उज्ज्वल अर्थात् धर्म का सम्यक् ज्ञान करने वाला (मैं) अभिनवगुप्त इस शास्त्र का व्याख्यान कर रहा हूँ ॥ १६ ॥

गुरुपरम्परा से आये हुए उस ज्ञान की उपासना = बार-बार चित्त में विनिवेश, उससे निकला जो यह उपदेष्टव्य विषयक बोध = साक्षात्कार, उससे उज्ज्वल = सम्यक् अवगत कर्म वाला, यह = गुरु के उपदेश से संशय-विपर्यय रहित होकर ज्ञात अनुत्तर त्रिक अर्थ की प्रक्रिया वाला, दूसरों को बतलाने की इच्छा से करते हैं = उपदेश देते हैं । 'अभिनवगुप्त = इस सकललोकप्रसिद्ध नाम कहने से भी आप्तत्व ही कहा गया । कहा भी गया है'—

साक्षात्कृतधर्मा = जैसा देखा गया वैसे ही अर्थ को बतलाने की इच्छा से प्रयुक्त उपदेष्टा, प्राप्त होता है ।

'तत्' शब्द से परामृष्ट की व्याख्या करते हैं—जो गुरु परम्परा... । गरुसन्तति

विच्छिन्नतया स्थितं तदुपदिष्टं ज्ञानम्—इत्यर्थः, सा च कीदृक्? इत्युक्तम्—
बोधान्यपाशविषनुत्' इति ।

'यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या 'बोधात्' पराच्छिवाद्यदख्यात्यात्म भेदप्रथात्मकम् 'अन्यत्' तदेव 'पाशः' स एव मोहकत्वात् 'विषम्' तत् नुदति या सा । तथा 'श्रीभट्टनाथः' इति श्रीशम्भुनाथः । 'श्रीभट्टारिका' इति भगवत्याख्या अस्य दूती । यदुक्तमनेनैव—

'भट्टं भट्टारिकानाथं श्रीकण्ठं दृष्टभैरवम् ।
भूतिकलाश्रिया युक्तं नृसिंहं वीरमुत्कटम् ॥
नानाभिधानमाद्यन्तं वन्दे शम्भुं महागुरुम् ।' इति ।
'स्त्रीमुखे निक्षिपेत्प्राज्ञः स्त्रीमुखाद् ग्राहयेत्पुनः ।'

इत्याद्युक्तेः कुलप्रक्रियायां दूतीमुखेनैव शिष्यस्य ज्ञानप्रतिपादनाम्नायात् इह गुरुतद्दूत्योः समस्कन्धतया उपादानम् ॥ १६ ॥

ननु सामान्येन त्रिकदर्शनप्रक्रियाकरणं प्रतिज्ञाय, सम्भवत्यपि तदर्थाभि-

---

= अविच्छिन्नरूप में स्थित गुरुपरम्परा के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान । वह (= सन्तति) कैसी है?

उत्तर देते हैं—(संविद्) बोध से भिन्न पाशरूपी विष को हटाने वाली ।

'परम अद्वैत संवित्स्वातन्त्र्य से सुन्दर उक्तरूप वाले परशिव से जो भिन्न है, वह पाश है ।'

इत्यादि वक्ष्यमाण रीति से बोध = परशिव से भिन्न जो अख्यातिरूप भेदप्रथा है, वही पाश है, वही मोह उत्पन्न करने के कारण विष है, उसको जो दूर करती है, श्रीभट्टनाथ = श्रीशम्भुनाथ । श्रीभट्टारिका = भगवती नामक इनकी दूती । जैसा कि इन्होंने ही कहा—

'भट्टारिकानाथ भट्ट श्रीकण्ठ जो कि साक्षाद् भैरवरूप एवं ऐश्वर्य की कला की शोभा से युक्त है । वे नृसिंह हैं, उत्कट वीर हैं, अनेक नामों वाले हैं, आदि और अन्त हैं । ऐसे महागुरु श्रीशम्भुनाथ की मैं वन्दना करता हूँ ।'

'बुद्धिमान् (गुरु) स्त्री मुख में (उपदेश) को रखे और स्त्रीमुख से ही (शिष्य को) ग्रहण कराये ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार कुलप्रक्रिया में दूती के मुख से ही शिष्य के ज्ञान का प्रतिपादन आगम (में कहा गया) है । इस कारण यहाँ गुरु और उनकी दूती का समान स्तर माना गया है ॥ १६ ॥

धायिनि शास्त्रजाते किमिति श्रीमालिनीविजयोत्तरमेवाधिकृत्य तन्निर्वाहयिष्यते ? इत्याशङ्क्याह—

न तदस्तीह यन्न श्रीमालिनीविजयोत्तरे ।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः ॥ १७ ॥

'श्रीमालिनीविजयोत्तरे' इति नादि-फान्ताया मालिन्या 'विजयेन' सर्वोत्कर्षेण, उत्तरतिसर्वस्रोतोभ्यः प्लवते, सारभूतत्त्वात्सर्वशास्त्राणम् ॥ १७ ॥

एतदेवाह—

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥ १८ ॥

इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां परस्यां वाचि सर्वभावनिर्भरत्वात्सर्वं शास्त्रं परबोधात्मकतयैव उज्जृम्भमाणं सत्, पश्यन्तीदशायां वाच्यवाचकाविभाग-स्वभावत्वेन असाधारणतया अहंप्रत्यवमशात्मा अन्तरुदेति, अत एव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति, तदनु

प्रश्न है कि सामान्य रूप से त्रिकदर्शन की प्रक्रिया के विधान की प्रतिज्ञा कर उस अर्थ को बतलाने वाले अन्य शास्त्रों के रहने पर भी मालिनीविजयोत्तर को ही आधार बनाकर इस (रचना) को क्यों किया जा रहा है?—उत्तर देते हैं—

इस (ग्रन्थ) में कोई ऐसा (विषय) नहीं है जो श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में न हो, ऐसा स्वयं भगवान् देवाधिदेव शङ्कर ने अपने वचनों से तथा प्रमाणों के द्वारा निर्दिष्ट किया है ॥ १७ ॥

'न' से लेकर 'फ' तक की वर्णमाला मालिनी है, उसके विजय से = सर्वोत्कर्ष से, उत्तरण करता है = सभी स्रोतों से बढ़कर है । क्योंकि यह ग्रन्थ सभी शास्त्रों का सार है ॥ १७ ॥

इसी को कहते हैं—

भगवान शङ्कर का जो उपदेश दश, अट्ठारह एवं चौंसठ भेदों वाला है, उस सब का तत्त्व त्रिकशास्त्र है और श्रीमालिनीविजयतन्त्र का सिद्धान्त उसका सार है ॥ १८ ॥

परतत्त्व के परामर्श का सारभूत जो बोध, तत्त्वरूपा परावाक् के भीतर सर्वभाव से पूर्ण होने के कारण समस्त शास्त्र परबोध के रूप में समुल्लसित होते हैं पश्यन्ती दशा में वाच्यवाचक के सम्मिलित रूप होने से असाधारणरूप से (वही शास्त्र) अन्तःकरण में 'अहम्' प्रत्यवमर्श के रूप में उदित होता है । इसीलिये उसमें प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमान वाच्य अर्थ 'अहम्' भाव से

तदेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्यवेदकप्रपञ्चोदयाद् भिन्नवाच्यवाचकस्वभावतया उल्लसति । तत्र हि परमेश्वर एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मकवक्त्रपञ्चकासूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानस्तद्वक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्चस्रोतोमयम् अभेदभेदाभेद-भेददशोट्टङ्कनेन तत्तद्भेदप्रभेदवैचित्र्यात्म निखिलं शास्त्रमवतारयति, यद्बहिर्वैखरी-दशायां स्फुटतामियात् । तथाहि—

प्रथममीशानतत्पुरुषसद्योजातैरेकैकस्य उद्बुभूषुभिः सद्भिर्भेदत्रयमुल्लासितम्, उद्भूतैश्च इत्येकैकभेदाः षट्, त्रिभिरप्येभिः सम्भूय उल्लासित एको भेदः, ईशतत्पुरुषौ ईशसद्योजातौ सद्योजाततत्पुरुषौ इति द्व्यात्मना सम्भूयापि एभिः त्रिभिर्भेदत्रयं समुल्लासितम्—इत्येते भेदप्रधाना दश शिवभेदाः । तदुक्तम्—

'ईशतत्पुरुषाजातैरुद्भूतैरुद्बुभूषुभिः ।
एककैः षड्भिरेकेन त्रिकेण द्व्यात्मकैस्त्रिभिः ॥
तदित्थं शिवभेदानां दशानामभवत्स्थितिः ।' इति ।

एषामेव च वामदेवाघोरमेलनया अष्टादश रुद्रभेदा भवन्ति । तथा च तत्रैककेन वामदेवाघोरात्मभेदेन भेदद्वयमेव, पञ्चविधत्वेऽपि ईशादेर्वक्त्रत्रयस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात् उक्तस्य च पुनर्वचनानुपत्तेः, तथा द्व्यात्मकत्वेन भेदत्रयस्य,

---

आच्छादित होकर स्फुरित होता है । उसके बाद वही (शास्त्र) मध्यमा राज्य में अन्दर ही अन्दर वेद्यवेदकप्रपञ्च के उदय के कारण वाच्यवाचक के रूप में उल्लसित होता है । उसमें परमेश्वर ही चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप—पाँच मुखों को धारण कर सदाशिव ईश्वर दशा को प्राप्त कर उन पाँचो मुखों के मेलन से पाँच स्रोतों वाला अभेद भेद दशा के प्रकटीकार के द्वारा तत्तद् भेद-प्रभेद के कारण विचित्र समस्त शास्त्रों को अवतरित करते हैं । जो कि बाहर वैखरी दशा में स्फुट होता है ।

वह इस प्रकार—सबसे पहले ईशान तत्पुरुष एवं सद्योजात में से प्रत्येक जब उद्भूत (प्रकट) होना चाहते हैं तब उनके द्वारा तीन भेद प्रकट किया जाता है । उद्भूत होने से उनका एक-एक भेद होता है । इस प्रकार ये छः हो जाते हैं । ये तीनों मिलकर एक भेद बनाते हैं फिर ईश + तत्पुरुष, ईश + सद्योजात और सद्योजात + तत्पुरुष इस प्रकार दो-दो साथ मिलकर ये तीन-तीन भेद बनाते हैं—इस प्रकार ये भेदप्रधान शिव की दश अवस्थायें होती हैं । वही कहा गया—

'ईशान तत्पुरुष सद्योजात के एक-एक के उद्भूत और उद्बुभूषु भेद से छः प्रकार होते हैं । फिर एक त्रिक और तीन द्वयात्मक से (चार भेद बनते हैं) इस प्रकार शिव के दश भेद होते हैं ।'

इन्हीं के साथ वामदेव और अघोर को मिला देने पर अट्ठारह रुद्र हो जाते हैं। इस प्रकार—वामदेव और अघोर के एक-एक भेद से दो भेद होते हैं । (शिव के)

तेन पञ्चानां त्र्यात्मकत्वेन भेदत्रयस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात् । तत्पुरुषसद्योजातयोस्तु एवं स्वभावाभावात्, ताभ्यां सह असङ्गतेर्भेदचतुष्टयाभावादीशवामौ, ईशाघोरौ, अघोर-वामौ—इति द्व्यात्मकं भेदत्रयमेव अवशिष्यते—इति त्रयो द्विकभेदाः ; तथा पञ्चनामपि ईशतत्पुरुषाजातवामाघोराणां त्र्यात्मकत्वेन संमीलनायामीशानस्य क्रमेण इतरवक्त्रसंभेदे षट्, तत्पुरुषस्य त्रयः, तथा सद्योजातस्य तदवशिष्टवक्त्रसंभेदेऽपि एक एव—इति दशविधत्वेऽपि ईश-तत्पुरुष-सद्योजातात्मनः प्रथमत्रिकस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात् ईशवामाघोरात्मनः—शिष्टस्य त्रिकस्य व्यापारान्तरेण नियोक्ष्य-माणत्वाच्च त्र्यात्मकभेदाष्टकमेवावशिष्यते—इत्यष्टावेव त्रिकभेदाः । अत एव एकककथनं चिन्त्यमिति न वाच्यम्, तत्पुरुषाजातवामाघोराणां हि द्व्यात्मकतया चतुरात्मकतया वा ज्ञानजनने संयोगनिषेधो विवक्षितः, त्र्यात्मकतायामपि तथाभावे हि बहूनां भेदानां निषेधः प्रसृज्यते, इति भेदसप्तककथनमपि न्याय्यं न स्यात्—इत्यलं बहुना । तथा पञ्चानाममप्येषां चतुरात्मकत्वेन संमीलनाया पञ्चविधत्वेऽपि नराजातवामाघोराणामुक्तयुक्त्या सङ्गत्यभावाच्चत्वारश्चतुर्भेदाः, सर्वेषामप्येषां संमीलनायां पञ्चकभेद एक एव—इत्येवम् 'अष्टादश' भेदाभेदप्रधाना रुद्रभेदाः ।

पाँच मुख होने पर भी ईशान आदि तीन (मुख) ही शिवभेद में कहे गये है । उक्त को फिर से कहना अनुचित होता है । तीन भेद भी द्व्यात्मक हैं । इसलिये पाँच भी तीनभेदात्मक ही हैं, तीन भेद शिवभेद में कहे गये हैं । तत्पुरुष और सद्योजात का ऐसा स्वभाव नहीं है । इस कारण उनके साथ सङ्गति न बैठने से चार भेद नहीं होने से ईश–वाम, ईश-अघोर, अघोर-वाम इस प्रकार दो-दो वाले तीन भेद ही बचते हैं । इस प्रकार दो समूह वाले तीन भेद हैं । उसी प्रकार ईशान तत्पुरुष सद्योजात वामदेव और अघोर इन पाँचों के त्र्यात्मक होने से सम्मेलन करने पर ईशान का क्रम से दूसरे मुखों के साथ भेद होने पर छः, तत्पुरुष सद्योजात रूप प्रथम त्रिक का शिव भेद के रूप में निर्वचन होने से ईशान वामदेव अघोर रूप शेष त्रिक का दूसरे व्यापार में लगाये जाने के कारण तीन-तीन वाला आठ भेद ही बचता है । इस प्रकार त्रिक के आठ ही भेद हैं । इसलिये 'एकल' कहना चिन्तनीय (व्यर्थ) है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यहाँ तत्पुरुष सद्योजात वामदेव और अघोर का ज्ञान के उत्पादन में दो-दो या चार-चार रूप में संयोग का निषेध विवक्षित है । त्र्यात्मकता होने पर भी वैसा होने (= ज्ञान के उत्पादन) में अनेक भेदों का निषेध प्राप्त होता है—इसलिये सात भेदों का वर्णन भी उचित नहीं होगा—इतना पर्याप्त है ।

इसी प्रकार इन पाँचों का चार के रूप में सम्मेलन करने पर पाँच प्रकार होने पर भी नर (= तत्पुरुष) सद्योजात वामदेव और अघोर की उक्त रीति से सङ्गति न होने से चार-चार के चार भेद होते हैं और इन सबको मिला देने पर पाँच का एक ही भेद होता है । इस प्रकार भेद-अभेदप्रधान अठारह रुद्रभेद होते हैं । वही कहा गया—

तदुक्तम्—

'यदा त्रयाणां वक्त्राणां वामदक्षिणसङ्गतिः ।
तदा सप्त द्विकभेदा अष्टौ चैव त्रिकात्मकाः ॥
चतुष्काश्चापि चत्वारः पञ्चकस्त्वेकरूपकः ।
इति विंशतिमध्यात्तु नराजातावसङ्गतिम् ॥
वामाघोरद्वये यातः स्वातन्त्र्यात्पूर्वपश्चिमौ ।
ज्ञानं भजेते नैवेति भेदषोडशकं स्थितम् ॥
तत्रापि वामदेवीयमेकं तदुपरि स्थितम् ।
स्वरूपं भैरवीयं च तेनाष्टादशधा स्थितिः ॥
रुद्रभेदस्य शास्त्रेषु शिवेनैवं निरूपिता ।' इति ।

एतच्च श्रीश्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्वं विस्तरत उक्तम्, तद्यथा—

'स्रोतस्यूर्ध्वे भवेज्ज्ञानं शिवरुद्राभिधं द्विधा ।
कामजं योगजं चिन्त्यं मौकुटं चांशुमत्पुनः ॥
दीप्त.................................न्तरं पुनः ।
शिवभेदाः समाख्याता रुद्रभेदांस्त्विमांछृणु ॥
विजयं चैव निःश्वासं मद्गीतं पारमेश्वरम् ।
मुख्यबिम्बं च सिद्धं च सन्तानं नारसिंहकम् ॥
चन्द्रांशुं वीरभद्रं च आग्नेयं च स्वयम्भुवम् ।
विसरं रौरवाः पञ्च विमलं किरणं तथा ॥
ललितं सौरभेयं च तन्त्राण्याहुर्महेश्वरि ।
अष्टाविंशतिरित्येवमूर्ध्वस्रोतोविनिर्गताः ॥'

'जब (परमेश्वर के) तीन मुखों की वाम और दक्षिण सङ्गति बनती है तब दो-दो के सात भेद और तीन-तीन के आठ भेद होते हैं । चार-चार का चार भेद और पाँच का एक भेद होता है । इस प्रकार बीस में से तत्पुरुष और सद्योजात की वामदेव और अघोर के साथ सङ्गति नहीं होती और अपने स्वातन्त्र्य के कारण पूर्व और पश्चिम दोनों ज्ञान को नहीं प्राप्त करता । इस प्रकार यह भेद १६ ही रहता है । उसमें भी वामदेव का एक भेद और उसके ऊपर भैरव का स्वरूप रहता है । इस प्रकार १८ रुद्रभेद हैं । इस (भेद) को शिव ने ही शास्त्रों में निरूपित किया है ।'

यह (भेदवर्णन) श्रीकण्ठीसंहिता में विस्तारपूर्वक कथित है । जैसे—'इस परम्परा में आगे चलकर शिव और रुद्र नामक दो प्रकार का ज्ञान होता है । कामज योगज चिन्त्य मौकुट अंशुमत् दीप्त... आदि शिवभेद कहे गये । अब रुद्रभेदों को सुनो । विजय, निःश्वास, मद्गीत, पारमेश्वर, मुखबिम्ब, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय, स्वायम्भुव, विसर, रौरव, विमल, किरण, ललित, सौरभेय—ये

अत्र चानेनैव—

'...................... शिवैरूक्तः शिवाभिधः ।
भेदो रुद्रैश्च रुद्राख्य इति भेदो निरूपितः ॥'

'वसुभिः' अष्टभिर्गुणिता 'अष्टो' चतुःषष्टिर्भैरव भेदाः । तथा च अद्वयस्वभावे स्वरूपे शिवशक्तितत्सङ्घट्टाख्ययोगिनीवक्त्रात्मनि दक्षिणवक्त्रे प्रत्येकमुद्बुभूषूद्भूत-तिरोधित्सु-तिरोहितात्मकतया चतूरूपत्वेन भेदषोडशात्मकमितरद्वक्त्रचतुष्टयं यदा युगपदन्तर्लीनतामेति तदैषां परस्परमेलनया चतुःषष्टिद्वयप्रधाना भैरवभेदाः । तदुक्तम्—

'यच्चान्ते दक्षिणं हार्दं लिङ्गं हृत्परमं मतम् ।
तदप्यन्तःकुताशेषस्प(सृ)ष्टभावसुनिर्भरम् ॥
सर्वसंहारकत्वाच्च कृष्णं तिमिररूपधृत् ।
भेदभावकमायीयतेजोंऽशग्रसनात्मकम् ॥
तत्रान्तर्लीनतां याति यावद्वक्त्रचतुष्टयम् ।
उद्बुभूषुतथोद्भूतं तिरोधित्सु तिरोहितम् ॥
इत्थं युगपदेवैतद्भेदषोडशकात्मकम् ।
दक्षे वैसर्गिके हार्दे स्वतन्त्रेऽथ शिवे विशत्॥
अष्टाष्टकात्म तच्छास्त्रं युगपद्भैरवाभिधम् ।' इति ।

एतच्च श्रीश्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्व विस्तरत उक्तम् । तद्यथा—

---

२८ तन्त्र हैं जो कि हे महेश्वरि! ऊर्ध्व स्रोत से निकले हैं ।'

यहाँ पर इन्होंने ही—

'शिव के द्वारा कहे गये भेद शैव और रुद्र के द्वारा कहे गये भेद रुद्र कहे गये हैं । आठ को आठ से गुणा करने पर ६४ भैरवागम हैं अद्वय अवस्था में शिव और शक्ति के सङ्घट्ट नामक योगिनी—मुख में दक्षिण मुख में प्रत्येक उद्बुभूषु—उद्भूत, तिसोधित्सु और तिरोहित इन चार रूपों से १६ भेद हैं । शेष चार मुख जब अन्तर्लीन हो जाते हैं तब इनके परस्पर मेल से ६४ अद्वय प्रधान भैरव भेद होते हैं वही कहा गया—

'जो अन्त में दक्षिण हृदय सम्बन्धी लिङ्ग है वही परम हृत् कहा गया है। वही (त्रिकोण या योनि के) अन्दर समस्त सृष्टि करने वाला होता है । सबका संहारक होने से वह काले रङ्ग का है और अंधकार रूप वाला (= आवरक) है । वह भेद को उत्पन्न करने वाले मायीय तेज के अंश को निगल जाता है । उसमें उद्बुभूषु, उद्भूत, तिरोधित्सु और तिरोहित ये चारों मुख अन्तर्लीन हो जाते हैं । इस प्रकार यह एक साथ सोलह भेदों वाला हो जाता है । दक्ष वैसर्गिक हार्द एवं स्वतन्त्र शिव में उनका प्रवेश हो जाता है । ६४ भेदों वाला यह भैरवागम (गुरुकृपागम्य है)'—

'अन्यत्संक्षेपतो वक्ष्ये गीतं यत्परमेष्ठिना ।
तच्चभेदैः प्रवक्ष्यामि चतुःषष्टिं विभागशः ॥
भैरवं यामलं चैव मताख्यं मङ्गलं तथा ।
चक्राष्टकं शिखाष्टकं बहुरूपं च सप्तमम् ॥
वागीशं चाष्टमं प्रोक्तमित्यष्टौ वीरवन्दिते ।
एतत्सादाशिवं चक्रं कथयामि समासतः ॥
स्वच्छन्दो भैरवश्चचण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः ।
असिताङ्गो महोच्छुष्मः कपालीशस्तथैव च ॥
एते स्वच्छन्दरूपास्तु बहुरूपेण भाषिताः ।
ब्रह्मयामलमित्युक्तं विष्णुयामलकं तथा ॥
स्वच्छन्दश्च रुरुश्चैव षष्ठं चाथर्वणं स्मृतम् ।
सप्तमं रुद्रमित्युक्तं वेतालं चाष्टमं स्मृतम् ॥
अतः परं महादेवि मतभेदांछृणुष्व मे ।
रक्ताख्यं लम्पटाख्यं च मतं लक्ष्म्यास्तथैव च ॥
पञ्चमं चालिका चैव पिङ्गलाद्यं च षष्ठकम् ।
उत्फुल्लकं मतं चान्यद्विश्वाद्यं चाष्टकं स्मृतम् ॥
चण्डभेदाः स्मृता ह्येते भैरवे वीरवन्दिते ।
भैरवी प्रथमा प्रोक्ता पिचुतन्त्रसमुद्भवा ॥
सा द्विधा भेदतः ख्याता तृतीया तत उच्यते ।
ब्राह्मी कला चतुर्थी तु विजयाख्या च पञ्चमी ॥
चन्द्राख्या चैव षष्ठी तु मङ्गला सर्वमङ्गला ।
एष मङ्गलभेदोऽयं क्रोधेशेन तु भाषितः ॥
प्रथमं मन्त्रचक्रं तु वर्णचक्रं द्वितीयकम् ।
तृतीयं शक्तिचक्रं तु कलाचक्रं चतुर्थकम् ॥

यह श्रीकण्ठीसंहिता में विस्तार से कहा गया है—

'जो परमेष्ठी ने कहा है मैं उसे संक्षेप में कह रहा हूँ । उसके चौंसठ भेद हैं । भैरव, यामल, मत, मङ्गल, चक्राष्टक, सदाशिव चक्र हैं । स्वच्छन्द, भैरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्तभैरव, असिताङ्ग, महोच्छुष्म, कपालीश ये स्वच्छन्द भैरव हैं । इनका अनेक रूपों में वर्णन है ।

ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, स्वच्छन्द, रुरु और छठाँ, आथर्वण सातवाँ रुद्र है और वेताल आठवाँ कहा गया है । हे देवि! इसके बाद मतभेदों को मुझसे सुनो । रक्त लम्पट, मत, श्रीमत्, चालिका, पिङ्गल, उत्फुल्लक, विश्वाद्य—ये आठ चण्ड (भैरव) के भेद हैं । पिचुतन्त्र से उत्पन्न (= ज्ञात) भैरवी प्रथम है, ख्याता, ब्राह्मी, कला, विजया, चन्द्रा, मङ्गला और सर्वमङ्गला ये भेद क्रोधेश द्वारा कहे गये हैं ।

पञ्चमं बिन्दुचक्रं तु षष्ठं वै नादसंज्ञकम् ।
सप्तमं गुह्यचक्रं च खचक्रं चाष्टमं स्मृतम् ॥
एष वै चक्रभेदोऽयमसिताङ्गेन भासितः ।
अन्धक रुरुभेदं च अजाख्य मूलसंज्ञकम् ॥
वर्णभण्ठं विडङ्गं च ज्वालिनं मातृरोदनम् ।
कीर्तिताः परमेशेन रुरुणा परमेश्वरि ॥
भैरवी चित्रिका चैव हंसाख्या च कदम्बिका।
हृल्लेखा चन्द्रलेखा च विद्युल्लेखा च विद्युमान् ॥
एते वागीशभेदास्तु कपालीशेन भाषिताः ।
भैरवी तु शिखा प्रोक्ता वीणा चैव द्वितीयिका ॥
वीणामणिस्तृतीया तु संमोहं तु चतुर्थकम् ।
पञ्चमं डामरं नाम षष्ठं चैवाप्यथर्वकम् ॥
कबन्धं सप्तमं ख्यातं शिरश्छेदोऽष्टमः स्मृतः ।
एते देवि शिखाभेदा उन्मत्तेन च भासिताः ॥
एतत्सादाशिवं चक्रमष्टाष्टकविभेदतः ॥' इति ।

तैर्भिन्नं भेदोपभेदवैचित्र्यात्मना नानाप्रकारम्—इत्यर्थः । यत्तु श्रीश्रीकण्ठ्यां तत्पुरुषवक्त्रमुद्दिश्य

'अष्टाविंशतिभेदैस्तु गारुडं हृदयं पुरा ।'

इत्यादि । तथा—

'पश्चिमे भूततन्त्राणि.................. ।'

तथा—

'दक्षिणे दक्षिणे मार्गश्चतुर्विंशतिभेदतः ।'

इत्यादि । तथा—

मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, बिन्दुचक्र, नादचक्र, गुह्यचक्र और खचक्र ये आठ चक्रभेद अंसिताङ्ग के द्वारा कहे गये हैं । हे परमेश्वरी! अन्धक, रुरु, अज, मूल, वर्णभण्ठ, विडङ्ग, ज्वालिन, मातृरोदन—ये रुरुभैरव के द्वारा कहे गये हैं ।

भैरवी, चित्रिका, हंसा, कदम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा और विद्युन्माला—ये वाणीशक्ति के भेद कपालीश ने बतलाये हैं । शिखा, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, अथर्वक कबन्ध तथा शिरश्छेद—ये शिखाभेद उन्मत्तभैरव द्वारा वर्णित है । यह ६४ भेद वाला सदाशिव चक्र है । भेदोपभेद की विचित्रता से इनके अनेक प्रकार हैं । श्रीकण्ठी में तत्पुरुषवक्त्र को उद्दिष्ट कर जो गरुडोक्तशास्त्र के अनुसार (उसके) अट्ठाईस भेद हैं । तथा—'पश्चिम वक्त्र में भूततन्त्र...' । तथा—'दक्षिण में दक्षिण मार्ग चौबीस भेदों वाला है ।' तथा—

'वामदेवात्तु यज्जातमन्यत्तत्सामृ(म्प्र)तं शृणु ।'

इत्यादि अन्यभेदोपभेदवैचित्र्यमुक्तम्, तदेकैकस्य वक्त्रस्य पञ्चवक्त्रात्मकत्वात् एतद्भेदजातोपभेदात्मेव इति तत एव संगृहीम्, इति न पृथगिह आयस्तम्। तदुक्तम्—

'एकैकं पञ्चवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात्प्रगीयते ।
दशाष्टादशभेदस्य ततो भेदेष्वसंख्यता ॥' इति ।

अतश्च भेदभेदाभेदाभेदप्रतिपादकं शिवरुद्रभैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्धृतम् इति सिद्धान्तः तदुक्तम्—

'तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा ।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ॥
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ।' इति ।

एवं च भेदाद्यात्मकमपीदं शास्त्रं परमेश्वरेशवामाघोरात्मकं षष्ठं त्रिकं परादिदेवीत्रयविश्रान्तिधामतया क्रोडीकृत्य'

'पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जले रसः ।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तःप्रतिष्ठिम् ॥'

इत्याद्युक्त्या परमाद्वयामृतपरिप्लावितं विदध्यात्, अन्यथा ह्यस्य परपद-

---

'वामदेव से जो उत्पन्न हुआ अब उसको सुनो' । इत्यादि अन्य भेदोपभेदवैचित्र्य कहा गया वह एक-एक वक्त्र के पञ्चवक्त्रात्मक होने से इस भेदोपभेद वाला ही है इसलिये वहीं से संगृहीत होने के कारण यहाँ पृथक् रूप से नहीं कहा गया । वही कहा गया है—

'एक-एक वक्त्र चूँकि पाँच वक्त्र वाला कहा जाता है इसलिये दश अष्टादश भेदों में भी असंख्य भेद हो सकते हैं ।' इसलिये भेदभेदाभेद और अभेद प्रतिपादक शिव रुद्र भैरव नाम से यह शास्त्र तीन ही प्रकार का उत्पन्न हुआ—यह सिद्धान्त है। वही कहा गया—

'रुद्र शिव और भैरव नामक तीन तन्त्र उत्पन्न हुए । वस्तुतः ज्ञान की सत्ता भेद भेदाभेद और अभेद इस तीन ही प्रकार से प्रवाहित होती है । इस प्रकार भेद आदि वाला भी यह शास्त्र परमेश्वर के ईश वाम अघोर और परा परापरा अपरा नामक तीन देवियों को मिलाकर छः का विश्रान्तिधाम के रूप में आश्रय बनकर (उनको आत्मसात् करता है)'—

'जैसे फूलों में गन्ध, तिल में तैल, देह में जीव, जल में रस है । उसी प्रकार शास्त्रों में कुलशास्त्र अन्तः प्रतिष्ठित हैं ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार (सभी शास्त्रों को) परम अद्वय अमृत मे भर देना

प्राप्तिनिमित्तत्वं न स्यात् । तदुक्तम्—

'ततोऽपि संहृताशेषभावोपाधिसुनिर्भरः ।
भैरवः परमार्थोद्यद्द्रवबृंहितशक्तिकः ।।
ईशान-वाम-दक्षासु तासु शक्तित्रयं क्रमात् ।
अपरादिपराप्रान्तं क्रोडीकृत्य त्रिकं स्थितः ।।
उर्ध्ववामतदन्यानि तन्त्राणि च कुलानि च ।
तद्वाराप्रान्तरूढानि प्रापय्याभेदभूमिकाम् ।।' इति ।

ननु एवंविधा श्रुतिर्न काचिदुपलभ्यत इति किं प्रमाणम् ? ननु अत्र उक्तमेवानेन गुरुपारम्पर्यलक्षणं प्रमाणम् । यदाह—

'इत्थं मध्ये विभिन्नं तत्त्रिकमेव तथा तथा ।
शास्त्रमस्मद्गुरुगृहे सम्प्रदायक्रमात्स्थितम् ।।' इति ।

ननु यदेवात्र पुंबुद्धिप्रभवत्वं चोद्यं तदेवोत्तरीकृतम्—इत्यपूर्वमिदंपाण्डित्यम्, तेनागमः कश्चन संवादनीयो येनैतत्समाहितं स्यात्, नैतत्, अविगीतैव हि प्रसिद्धिरागमः इत्युच्यते, यदुक्तम्—

'प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः ।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः ।।

है। अन्यथा यह (कुलशास्त्र) परमपद की प्राप्ति का कारण नहीं बनता । वही कहा गया—

'अशेष भावों को अपने में संहृत करने वाला यह भैरवागम परमतत्त्व से उत्पन्न अमृत से परिवर्द्धित शक्ति वाला है । उस ईशान वाम और दक्षिण में अपरा आदि तीनो शक्तियाँ एकरूप में स्थित हैं । ऊर्ध्व वाम और अन्य मत भी इसमें अभेद भूमि को प्राप्त कर स्थित हैं ।'

प्रश्न है कि इस प्रकार की कोई श्रुति तो मिलती नहीं फिर इस विषय में क्या प्रमाण है? यदि कहे कि यहाँ कही गई गुरुपरम्परा ही प्रमाण है । जैसा कि कहते हैं—

'इस प्रकार बीच-बीच में (मतभेद से) भिन्न होते हुए भी यह त्रिकशास्त्र सम्प्रदाय के क्रम से हमारे गुरुघराने में ही स्थित है ।'

प्रश्न है—जो यहाँ पुरुषबुद्धि का सामर्थ्य कहा गया वही (पूर्वप्रश्न का) उत्तर हो गया—यह तो अपूर्ण पाण्डित्य है फिर भी किसी आगम को भी पक्ष में उपस्थापित करना चाहिये जिससे यह समाधान हो जाय? ऐसा मत कहिये । जो सर्वसम्मत प्रसिद्धि होती है वही आगम कहा जाता है जैसा कि कहा गया—

'लोक में प्रसिद्धि ही आगम (के नाम से प्रसिद्ध होती) है, चाहे वह तर्कसङ्गत

प्रसिद्धिरवगीता हि सत्या वागैश्वरी मता ।
तथा यत्र यथा सिद्धं तद्ग्राह्यमविशङ्कितैः ।। इति ।

सा चात्र विद्यत एवाविगानेन महात्मनां महागुरूणाम् इति किमत्र प्रमाणान्तरान्वेषणेन । यदि चार्वाग्दृशां भवादृशामेवंविधा श्रुतिः कर्णगोचरं न गता तावतैव एतन्नोपपद्यते, इति न वक्तुं शक्यम्, नहि प्रमाणाभावात्प्रमेयस्याप्यभावः स्यात् । न चैते विप्रलम्भका येनैवमन्यथोपदिशेयुः एतदुपदेशमूलतैव निखिलस्य शैवशास्त्रागमार्थस्य प्रयोगदर्शनात् । तेन यथा मन्वादिस्मृतौ उत्सन्नशाखामूलत्वादष्टकादियागानां मूलभूता श्रुतिः कल्प्यते तथा इहापि ज्ञेयम् । नह्येवंविधां श्रुतिमदृष्ट्वा साक्षात्कृतनिखिलशैवागमसतत्त्वास्त एवमुपदिशेयुः इत्यलं महागुरूणामुपदेशपरीक्षणदुःशिक्षया । ननु शास्त्राणाम्—

'यतः शिवोद्भवाः सर्वे शिवधामफलप्रदाः ।'

इत्याद्युक्तेरेकत्वनियामककारणफलयोरैक्यमस्ति, इह किंनिबन्धनमेषामेवं नानात्वमुक्तम् ? सत्यम्—किन्तु अनुग्राह्याशय भेदादेषां नानात्वं कल्पितम् । यदुक्तम्—

हो या न हो । विद्या और अविद्या के विषय में भी प्रमाण सर्वसम्मति के कारण होता है । यदि प्रसिद्धि सर्वसम्मत है तो वह ईश्वर की वाणी मानी जाती है । इसलिये जो जहाँ जिस प्रकार सिद्ध है उसे निःशङ्क होकर मान लेना चाहिये ।'

और वह महात्मा महागुरुओं के अविगान से यहाँ है ही इसलिये दूसरा प्रमाण खोजने से क्या लाभ? यदि आधुनिक विचार वाले आप जैसे महानुभावों तक इस प्रकार की श्रुति नहीं पहुँचती तो इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता (कि यह) वर्णन अप्रामाणिक है)—ऐसा नहीं कहा जा सकता । प्रमाणों के अभाव से प्रमेय का अभाव होता है—ऐसा नही है । ये (महागुरु लोग) वञ्चक नहीं हैं जिससे कि वे उल्टा-पुल्टा उपदेश देंगे । क्योंकि समस्त शैवशास्त्र और शैवागम के अर्थ का प्रयोग इन्हीं के उपदेश के आधार पर चलता है । इस कारण जैसा मनु आदि की स्मृतियों में (वर्णित) अष्टका आदि यागों के शाखाग्रन्थ उच्छिन्न होने पर भी उनकी श्रुतिमूलकता की कल्पना की जाती है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये । समस्त शैवागम का साक्षात्कार करनें वाले बिना इस प्रकार की श्रुति को देखे ऐसा उपदेश नहीं करेंगे । इसलिये महागुरुओं के उपदेश परीक्षण की दुःशिक्षा मत दीजिये ।

प्रश्न है कि शास्त्रों के विषय में—

'ये सभी शिव से उत्पन्न हैं इसलिये सब शिवधाम रूप फल को देने वाले हैं ।'

ऐसी उक्तियाँ होने से कारण और फल दोनों एक ही है फिर इन शास्त्रों की अनेकता किस कारण से है? (आपका कथन) सत्य है । किन्तु अनुग्राह्य जनों की पात्रता के भेद से अनेक शास्त्रों की कल्पना की गयी है । जैसा कि कहा गया—

'सर्वमेतत्प्रवृत्त्यर्थं श्रोतॄणां तु विभेदतः ।
अर्थभेदात्तु भेदोऽयमुपचारत्प्रकल्प्यते ॥
फलभेदो न कल्प्योऽत्र कल्प्यश्चेदयथायथम् ।'

इति । ननु यद्येवं तत्—

'वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि ॥'

इत्यादिना उक्तमेषां यथायथमुत्कृष्टत्वं युक्तं न स्यात्,? नैतत्—द्वारद्वारिभावेन एषामुपायोपेयभावस्य उक्तत्वात्, तेन परमाद्वयोपदेशप्रतिपादकमेव शास्त्रं शिवसद्भावलाभैकफलम्—इत्यवसेयम् । तदेव परमपदप्राप्तो साक्षादुपायभूतत्वादुत्कृष्टम् । एतच्चानेनैव श्रीमालिनीश्लोकवार्तिकादौ वितत्य उक्तम्, तत्तत एव स्वयमवधार्यम्, ग्रन्थगौरवभयात्तु प्रतिपदं न संवादितम् । अत एवाह—'तत्सारं त्रिकशास्त्रम्' इति । तदुक्तम्—

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

इति । अनेनैवाशयेन च—

'यह सब शास्त्र श्रोताओं के भेद से प्रवृत्ति के लिये हैं । अर्थभेद के कारण यह (शास्त्र) भेद लक्षणा के द्वारा कल्पित है । इस (भिन्न शास्त्रसमूह) में फलभेद की कल्पना नहीं करनी चाहिये । यदि कल्पना की जाती है तो वह तथ्य के अनुरूप नहीं है ।'

प्रश्न है कि—यदि ऐसा है तो फिर

'वेद आदि से बढ़ कर शैवशास्त्र, शैव से वाम तथा (वाम से) दक्षिण और दक्षिण शास्त्र से बढ़कर कौलमार्ग है । कौल से बढ़ कर कोई दूसरा नहीं है ।'

इत्यादि (वचन) के द्वारा उक्त इनका क्रमिक उत्कृष्टत्व ठीक नही है? ऐसा नहीं है । इन शास्त्रों का द्वारद्वारी भाव से उपायउपेय भाव कहा गया है । इसलिये परम अद्वय के उपदेश का प्रतिपादक शास्त्र ही शिवसमावेश का लाभ कराता है—यह समझना चाहिये । और वही परमपद की प्राप्ति का साक्षात् उपाय होने के कारण उत्कृष्ट है । इस बात को इन्होंने (= अभिनवगुप्त ने) ही मालिनीविजयवार्त्तिक आदि में विस्तार से कही है इसलिये वहीं से समझ लेना चाहिये ग्रन्थविस्तार के भय से प्रतिपद नहीं कहा गया । इसलिये कहा—उसका सार त्रिकशास्त्र है ।' वही कहा गया है—

'वेद की अपेक्षा शैव, उसकी अपेक्षा वाम, उससे बढ़कर दक्षिण उससे कुल, उससे मत और उससे भी बढ़कर त्रिकशास्त्र सर्वोत्तम माना गया है ।'

और इसी आशय से—

'वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित् ।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः ॥'

इत्यादि श्रीनिशाचारादावुक्तम् ॥ तच्च सिद्धा-नामक-मालिन्याख्य-खण्ड-त्रयात्मकत्वात् त्रिविधिम् । तत्र क्रियाप्रधानं सिद्धातन्त्रम्, ज्ञानप्रधानं नामकं तन्त्रम्, तदुभयमयं मालिनीमतम् इति तदेव मुख्यम्, यदाह—'तत्सारं मालिनी-मतम्' इति । एवं च, 'न तदस्तीह यन्न' इत्यादि युक्तमेवोक्तम् ॥ १८ ॥

अतश्च सर्वसहत्वात्तदधिकारेणैव च प्रतिज्ञाया अपि निर्वाहो युक्तः—इत्याह—

अतोऽत्रान्तर्गतं सर्वं संप्रदायोज्झितैर्बुधैः ।
अदृष्टं प्रकटीकुर्मो गुरुनाथाज्ञया वयम् ॥ १९ ॥

'अतः' इति उक्त युक्त्यास्यैव शास्त्रस्य प्रधान्यात् । 'प्रकटीकुर्मः' इति प्रक्रियाकरणेन । अतश्च 'प्रधाने हि कृतो यत्न फलवान्भवति'—इति भावः । 'गुरुनाथाज्ञया' इति—नहि तदाज्ञां विनात्र अधिकार एव भवेत् इति भावः ॥ १९ ॥

अन्यादृष्टप्रकटीकरणे च स्वात्मनि भगवत्प्रसाद एव निमित्तम्—इति

'वाम मार्ग में दीक्षित होकर भी परतत्त्ववेत्ता आचार्य के लिये भैरवशास्त्र में प्रवेश के लिये दीक्षा आवश्यक है । वह (= भैरवशास्त्र में दीक्षित) भी कुलशास्त्र में और कौल आचार्य त्रिकशास्त्र में (प्रवेश के लिये अवश्य संस्कार्य है) ।

इत्यादि श्रीनिशाचर आदि में कहा गया है । यह (निशाचर शास्त्र) सिद्धा नामक और मालिनी नामक तीन खण्डों वाला होने से तीन प्रकार का है । उनसे सिद्धातन्त्र क्रियाप्रधान है, नामक तन्त्र ज्ञानप्रधान है और जो दोनों की प्रधानता वाला है वह मालिनीतन्त्र है । इसलिये यही मुख्य है । जैसा कि कहा—'उसका सार मालिनीतन्त्र है ।' इसलिये 'ऐसा जो' (मालिनीमत में न कहा गया हो) इत्यादि ठीक ही कहा गया ॥ १८ ॥

इसलिये सर्वसम्मत होने के कारण उस (= गुरु) के ही अधिकार से (अपने ग्रन्थ की) प्रतिज्ञा का निर्वाह ठीक है—यह कहते हैं—

इसलिए सम्प्रदायों के द्वारा परित्यक्त तथा विद्वानों के द्वारा अदृष्ट समस्त विषयों को हम गुरुनाथ की आज्ञा से इस (ग्रन्थ) के अन्तर्गत प्रकट करेंगे ॥ १९ ॥

अतः = उपर्युक्त युक्ति से इसी शास्त्र की प्रधानता होने के कारण, प्रकट करते हैं—प्रक्रिया के द्वारा । इसलिये प्रधान के विषय में किया गया प्रयत्न फलवान् होता है—यह तात्पर्य है । गुरुनाथ की आज्ञा से—उनकी आज्ञा के बिना इस (ग्रन्थप्रणयन) में अधिकार ही नहीं होता—यह तात्पर्य है ॥ १९ ॥

दर्शयितुमाह—

अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ।
त्रिनयनचरणसरोरुहचिन्तनलब्धप्रसिद्धिरिति ॥ २० ॥

त्रिनयनप्रसादासादितप्रकृष्टसिद्धेः किं नामासाध्यम्—इति भावः ॥ २० ॥

एवं चेयं कृतिः सर्वेषामेव ग्राह्या भवेत्, इति प्रतिपादयितुमाह—

श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसङ्कोचम् ।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजमेतद्विचिनुत महेशपूजनहेतोः ॥ २१ ॥

आदिवाक्यम्—

हृदयं शास्त्रात्मसतत्त्वम्, महेश्वरस्य पूजनम्

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥

इत्याद्युक्त्या तत्तद् वक्ष्यमाणज्ञप्तिक्रमेण स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञानम् । अतश्च

दूसरों के द्वारा अदृष्ट को प्रकट करने में अपने ऊपर भगवान् की प्रसन्नता ही कारण बनती है—यह दिखलाने के लिये कहते है—

यह अभिनवगुप्त की वह कृति है जिसकी आख्या (= नाम, प्रसिद्धि) गुरुओं ने की है (अथवा आज्ञा दी है) और ज़ो त्रिनेत्र भगवान शङ्कर के चरण कमल के चिन्तन से मुझे सिद्ध अर्थात् ज्ञात हुई है ॥ २० ॥

त्रिलोचन की प्रसन्नता से प्राप्त प्रकृष्ट सिद्धि के कारण क्या (—कुछ भी) असाध्य (नहीं) हो सकता है—यह तात्पर्य है ॥ २० ॥

इस प्रकार यह कृति सबके लिये स्वीकार्य हो, यह बतलाने के लिये कहते हैं—

श्रीशम्भुनाथरूपी सूर्य के चरणों में प्रणामरूपी किरणों के द्वारा जिसका सङ्कोच (अर्थात् अज्ञान) हट गया है ऐसे अभिनवगुप्त के इस हृदय-कमल का महेशपूजन के लिए चयन करो (अर्थात इस ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा शङ्कर को प्रसन्न करो) ॥ २१ ॥

यह प्रथम वाक्य है । हृदय = शास्त्र का आत्मतत्त्व, महेश का पूजन—

'पुष्प आदि (बाह्य पदार्थों) के द्वारा (द्वैतभाव से विधीयमान पूजा) पूजा नही है, जो निर्विकल्पक महाव्योम (= परमाकाश) में बुद्धि स्थिर की जाती है तथा उसमें श्रद्धापूर्वक जो (जीवसत्ता का परसत्ता में) लय किया जाता है वही पूजा है ।'

महावाक्यार्थेन एकमेवादिवाक्यात्मकं वाक्यम् इति दर्शयितुमाह—'आदिवाक्यम्' इति ।

इह यद्यपि परमेश्वरशक्तिपातमन्तरेण तच्छास्त्रश्रवणादावन्यत् प्रवृत्तिनिमित्तं नाभ्युपेयते, तथापि शास्त्रकाराणामियं शैली-इत्यभिधेयप्रयोजनादि प्रतिपादयितुं प्रवृत्तिहेतुतया अयमादिवाक्योपनिबन्धः । तत्र प्रथमश्लोकपञ्चकासूत्रितोऽनुत्तर-षडर्धार्थक्रम इत्यनेन साक्षादभिहितश्च परपरापरापरात्मतादिना बहुप्रकारस्त्रिकार्थ-स्तावदभिधेयः । तस्यैव च कर्तृप्रतिपादनकौशलेन कौलागमस्य च समस्तशास्त्र-प्राधान्याभिधानेन सातिशयत्वं प्रतिपादतितुं 'श्रीभट्टनाथ' इत्यादि श्लोकपञ्चक-मुपात्तम् । स च गुरुपरम्परागतः

'तस्माद् गुरुक्रमायातं दिशन्नेति परं शिवम् ।'

इत्याद्युक्तनीत्या निजप्रयोजनकारी भवति, इत्येतदङ्गतयैव पारम्पर्यसंदर्शनार्थं गुरुसङ्कीर्तनपरं श्लोकसप्तकमुट्टङ्कितम् । अतश्चास्यैव वक्ष्यमाणोपायक्रमेण स्वात्म-तया प्रत्यभिज्ञानाज्जीवन्मुक्तिप्रदत्वं प्रयोजनं श्लोकान्तरासूत्रितमपि 'श्रीशम्भुनाथ'

इत्यादि उक्ति के अनुसार तत्तद् वक्ष्यमाण ज्ञान के क्रम से (समस्त विश्व का) अपनी आत्मा के रूप में प्रत्यभिज्ञान ही पूजा है ।

इसलिये (इस ग्रन्थरूपी) महावाक्य के द्वारा 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा०उ० ३.६. २.१) इत्यादि वाक्य के अर्थ को बतलाने वाला यह वाक्य है—यह दिखाने के लिये कहते हैं—'आदिवाक्यम्' ।

यद्यपि इस सम्प्रदाय में परमेश्वर के शक्तिपात के बिना शास्त्रों के श्रवण आदि का दूसरा कारण नहीं माना जाता तथापि शास्त्रकारों की यह शैली है इसलिये अभिधेय, प्रयोजन आदि का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में यह आदिवाक्य का प्रयोग किया गया । इस प्रकार प्रथम पाँच श्लोकों में अनुत्तर त्रिक अर्थ का क्रम साक्षात् वर्णित है । पर-परापर-अपर रूप अनेक प्रकार से यह त्रिकार्थक्रम कहा जा सकता है । अपने कर्तृत्त्व प्रतिपादन की कुशलता से उसी कौलागम का समस्त शास्त्रों की अपेक्षा प्राधान्य कथन के द्वारा (उसका) सातिशयत्व प्रतिपादित करने के लिये श्रीभट्टनाथ... इत्यादि पाँच श्लोकों का वर्णन किया गया । वह (कौलागम) गुरुपरम्परा से प्राप्त होता है ।

'इस कारण गुरुपरम्परा से आये हुए (ज्ञान का) उपदेश करने वाला (गुरु) परमशिवत्व को प्राप्त होता है ।'

इत्यादि उक्त रीति के अनुसार (वह आगम) अपना प्रयोजन सिद्ध करता है इसलिये इसके अङ्ग के रूप में परम्परा को दिखलाने के लिये गुरु के वर्णन से सम्बद्ध सात श्लोकों का वर्णन किया गया और इसीलिये वक्ष्यमाण उपाय के क्रम से अपनी आत्मा के रूप में प्रत्यभिज्ञा होने से यह जीवन्मुक्ति देने वाला है—यह

इत्यादिश्लोकेन साक्षादुक्तम् । एतदुद्दिश्य च को नाम न सचेता: परमेश्वरशक्तिपातपवित्रित: प्रवर्त्तते इत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, प्रवृत्तस्याप्येदुपलब्धौ

'तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायका: ।'

इत्याद्युक्तेर्विघ्ना: सम्भवन्ति इत्येतन्निरासाय गणेशवटुकयो: स्तुति: । 'अर्थितो रचये' इति प्रतिज्ञाताया: प्रक्रिययायाश्च

'तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणोपजीवनेन 'तन्त्रालोक:'—इत्यभिधानम् । एवमभिधानाभिधेययोरभिधेयप्रयोजनयोश्च वाच्यवाचकसाध्यसाधनभावलक्षण: सम्बन्धश्चार्थाक्षिप्त: इत्यनेकवाक्यसंमेलनात्मकमेकमेवादिवाक्यं प्रवृत्तिहेतुतया उक्तम्—इति पिण्डार्थ: ॥ २१ ॥

इह यद्यपि सर्ववादिनां मोक्ष एव उपादेय:, तत्प्रतिपक्षभूत: संसारश्च हेय:, तस्य च मिथ्याज्ञानं निमित्तम्, तत्प्रतिकूलं च तत्त्वज्ञानम्—इति तत्साक्षत्कारेणैव अज्ञानापगमान्मोक्षावाप्ति: इत्यत्राविवाद:, तथापि तैस्तदेकनियतं ज्ञानाज्ञानयो: स्वरूपं न ज्ञातम् इति

प्रयोजन यद्यपि अन्य श्लोकों में सङ्केतित है, तथापि श्री शम्भुनाथ......' इत्यादि श्लोक में साक्षात् कहा गया है । इसको लक्ष्य कर कौन बुद्धिमान परमेश्वर के शक्तिपात से पवित्र हुआ (जीवन्मुक्ति के लिये) नहीं प्रवृत्त होगा—यह इसका प्रवृत्तिनिमित्त है । प्रवृत्त होने पर भी इसकी प्राप्ति के विषय में—

'विनायकगण उस (साधक) को अनित्य भोगों में लगा देते हैं ।'

इत्यादि कथन से विघ्न उत्पन्न होते हैं—इसलिये उन (विघ्नों) के निराकरण के लिये गणेश और वटुक भैरव की स्तुति (की गयी) है । 'प्रार्थना करने पर रचना कर रहा हूँ' इस वाक्य के द्वारा प्रतिज्ञात प्रक्रिया का—

'वह मेरे द्वारा इस तन्त्रालोक नामक शास्त्र में विस्तार से कहा जा रहा है ।'

इत्यादि वक्ष्यमाण के आधार पर 'तन्त्रालोक' नाम रखा गया । इस प्रकार अभिधान-अभिधेय, अभिधेय-प्रयोजन का वाच्यवाचक साध्यसाधन रूप सम्बन्ध अर्थात् आक्षिप्त हो जाता है । इस प्रकार अनेक वाक्य के सम्मेलन वाला एक ही आदि वाक्य प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में कहा गया—यह सम्पिण्डित अर्थ है ॥ २१ ॥

यद्यपि सभी मत वाले मोक्ष को उपादेय और उसके विरोधी संसार को हेय मानते हैं । उस (संसार) का कारण मिथ्याज्ञान है । तत्त्वज्ञान उस (मिथ्याज्ञान) का विरोधी ज्ञान है । इसलिये उस तत्त्व के साक्षात्कार से ही अज्ञान दूर होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है इसमें कोई विवाद नहीं है । तथापि वे भिन्नमतावलम्बी ज्ञान और अज्ञान का एक निश्चित स्वरूप नहीं जानते—

'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इत्याद्युक्त्या तदभ्युपगतो मोक्षो मोक्ष एव न भवति—इति दर्शयितुं शास्त्रान्तरवैलक्षण्येन तत्परीक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्राधान्यमपि कटाक्षयितुमुपक्रम एव बन्धमोक्षपरीक्षामुट्टङ्कयति ग्रन्थकारः—

इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥ २२ ॥

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥ २३ ॥

'अज्ञानं' तिमिरं परमेश्वरस्वातन्त्र्यमात्रसमुल्लासितस्वरूपगोपनासतत्त्वमात्मानात्मनोरन्यथाभिमानस्वभावम् अपूर्णं ज्ञानम्, तदेव चाणवम् 'मलम्', न तु नवमाह्निकादौ निषेत्स्यमानं द्रव्यरूपम् । उक्तं च—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥' इति ।

'माया उन्हें अमोक्ष में मोक्षप्राप्ति की इच्छा से भरमा रही है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार उसके द्वारा प्राप्त मोक्ष मोक्ष ही नहीं होता—यह बतलाने के लिये अन्य शास्त्रों से विलक्षण होने से उसकी परीक्षा करने के कारण (शैव शास्त्र की) प्रधानता को सङ्केतित करने के लिये ग्रन्थकार बन्धमोक्ष की परीक्षा करते हैं—

इस जगत् में समस्त शास्त्रों में यह कहा जाता है कि अज्ञान सृष्टि का कारण है ओर ज्ञान मोक्ष का एकमात्र कारण है ॥ २२ ॥

इसे हमने अपने मन से नहीं कहा—यह बतलाते हैं—

(शास्त्रज्ञ विद्वान्) अज्ञान को मल मानते हैं । वह संसार के अंकुरण का कारण है (अथवा संसार का अंकुर अर्थात प्रथम कारण है) ऐसा श्रीमालिनीविजयोत्तर में कहा गया है ॥ २३ ॥

अज्ञान का अर्थ है—अन्धकार, अपूर्ण ज्ञान । यह परमेश्वर के स्वातन्त्र्यमात्र से समुल्लासित स्वरूपगोपन वाला तथा आत्मा और अनात्मा को भिन्न समझना है । वही आणव मल है न कि नवम आह्निक में जिसका निषेध किया जायेगा वह द्रव्य । कहा भी गया है—

'बोध के स्वातन्त्र्य का नष्ट हो जाना तथा स्वातन्त्र्य का बोध न होना, इस प्रकार अपने स्वरूप के सङ्कोच से यह आणव मल दो प्रकार का होता है ।'

तच्च कीदृक् ? इत्याह—संसार इति । 'संसारस्य'

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्............ ।'

इत्याद्युक्तस्वरूपस्य मायीयस्य मलस्य

'संसारकारणं कर्म संसाराङकुर उच्यते ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्य 'अङ्कुरः' कारणं कार्ममलं तस्य 'कारणं । तदुक्तम्—

'मलं कर्मनिमित्तं तु नैमित्तकमतः परम् ।'

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे प्रोक्तम् इत्येतदधिकारेणैवायं ग्रन्थः प्रवृत्त इत्युपोद्बलितम् ॥ २३ ॥

अज्ञानस्य पौरुषबौद्धात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि इह पौरुषमेव विवक्षितं स्यान्नान्यत् इत्याह—

विशेषणेन बुद्धिस्थे संसारोत्तरकालिके ।
सम्भावनां निरस्यैतदभावे मोक्षमब्रवीत् ॥ २४ ॥

'विशेषणेन' 'संसाराङ्कुरकारणम् इत्यनेन' नहि दुरध्यवसायरूपं बौद्धमज्ञानं

वह कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं संसार... । संसार का—

'भिन्न-भिन्न वेद्य का विस्तार ही इस शास्त्र में मायीय मल है ।'

इत्यादि के द्वारा कहे गये स्वरूप वाले का = मायीयमल का,

'संसार का कारणभूत जो कर्म वही संसारांकुर कहा जाता है ।' इस वक्ष्यमाण नीति के अनुसार अंकुर = कारण = कार्ममल । उसका कारण । वही कहा गया—

'मल ही कर्म का निमित्त है नैमित्तिक इससे भिन्न है ।

ऐसा श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में कहा गया है । इस प्रकार उसी ग्रन्थ को आधार बनाकर यह ग्रन्थ प्रवृत्त हो रहा है—यह सङ्केत किया गया । और बौद्ध दो प्रकार होने पर भी यहाँ पौरुष अज्ञान अज्ञान का पौरुष ही विवक्षित है दूसरा नहीं—यह कहते है—

चूँकि 'संसाराङ्कुरकारणम्' यह विशेषण दिया गया है इसलिए (मायीयमल का नाश होने पर) सांसारिक शरीर के बाद रहने वाले बौद्ध ज्ञान के विषय में भी (मोक्ष उपलब्ध कराने की) सम्भावना को निरस्त करके इस (= बौद्ध ज्ञान) के अभाव की स्थिति में (अर्थात् पौरुष ज्ञान के होने पर) मोक्ष (होता है ऐसा आगम एवं आगमवेत्ता ने) कहा है ॥ २४ ॥

कर्मण: कारणम् अपि तु तत्तस्य—इति कथमेतद्विशेषणं सङ्गच्छताम् तद्धि सति कर्मकारणके शरीरे सम्भवति तस्य कार्यकारणात्मकत्वात् बुद्धेश्च कारणवर्गान्त:-पातित्त्वात्, अत एवोक्तम् 'संसारोत्तरकालिके' इति ।

'शरीरभुवनाकारो मायीय: परिकीर्तित: ।'

इत्याद्युक्ते: संसाराच्छरीरादनन्तरभाविनि—इत्यर्थ: ॥ किं तत्सम्भावना-निरासेन ?—इत्युक्तम्—'एतदभावे मोक्षमब्रवीत्' इति । नहिबौद्धाज्ञानमात्रनिवृत्तौ मोक्षो भवेत् यत्तस्मिन्निवृत्ते बौद्धमेव ज्ञानमुदेति' तस्य च शुद्धविकल्पात्मत्वेऽपि

'सर्वो विकल्प: संसार:............... ।'

इति नीत्या संसाराविर्भावकत्वमे इति कथमेतदभावेऽपि एवं स्यात् यदभि-प्रायादितो बाह्यैरपि—

'परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डित: ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाऽप्यथ वाऽशुभे ॥'

इत्याद्युक्तम्, पौरुषे पुनरज्ञाने दीक्षादिना निवृत्ते सति यदि बौद्धं ज्ञानमुदियात् तदा तस्य वक्ष्यमाणनीत्या जीवन्मुक्तिं प्रत्यपि कारणत्वं भवेत्, केवलेन पुनस्तेन

विशेषण = संसारांकुरकारणम् यह । दुरध्यवसायरूप बौद्ध अज्ञान कर्म का कारण नहीं है अपितु वह (= कर्म) उसका (अज्ञान का कारण) है फिर इस विशेषण का कैसे समन्वय होगा? क्योंकि कर्म के फलस्वरूप शरीर के रहने पर ही वह (= बौद्ध अज्ञान) सम्भव है क्योंकि वह (अज्ञान) कार्यकरण वाला है । बुद्धि करणवर्ग में मानी जाती है । इसीलिये कहा गया—संसार के बाद वाला ।

'मायीय (मल) शरीर और भुवन के आकार वाला है ।'

इत्यादि उक्ति से (संसारोत्तरकालिके का अर्थ है) संसार = शरीर, के बाद होने वाला । उसकी सम्भावना का त्याग करने से क्या होता है? इसके बारे में कहा गया – 'इसके अभाव में (गुरुदेव ने) मोक्ष की बात कही है । केवल बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर मोक्ष नहीं होता । बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर बौद्ध ज्ञान ही उत्पन्न होता है । यद्यपि यह (बौद्ध ज्ञान) शुद्ध विकल्प रूप होता है तथापि'—

'समस्त संसार विकल्प ही है ।'

इस नीति के अनुसार (वह बौद्ध ज्ञान) संसार को ही बनाने वाला है फिर इसके अभाव में ऐसा (= मोक्ष) कैसे होगा । इसी अभिप्राय से इस (शैवशास्त्र के अतिरिक्त) बाहरी (मत वाले) भी—

विद्वान् को चाहिये कि वह पारमार्थिक विकल्प में भी तल्लीन न हो । विकल्प तो विकल्प है, वह चाहे शुभ हो अथवा अशुभ । उसमें कोई अन्तर नहीं है ।

इत्यादि कहा गया है । दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष अज्ञान के हट जाने पर

न किञ्चित्सेत्स्यति—इत्युक्तप्रायम् । पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्य- निरपेक्षमेव मोक्षकारणम् । यदुक्तम्—

'पाशाश्च पौरुषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः ।
तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फला ॥' इति ।

तच्च ज्ञानमात्रस्वभावम्, अख्यात्यभाव एव हि पूर्णा ख्यातिः, सैव च प्रकाशानन्दघनस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपम्, तत्प्रथनमेव मोक्षः इति युक्तमुक्तम्—'एतदभावे मोक्षमब्रवीत्' इति ॥ २४ ॥

ननु अज्ञानशब्दस्य अपूर्णं ज्ञानमर्थः इत्यत्र किं निबन्धनम्, ज्ञानाभावमात्रमेवास्तु ? इत्याशङ्क्याह—

अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः ।
स हि लोष्ठादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः ॥ २५ ॥

कोऽसावतिप्रसङ्गः—इत्याह—'स हि' इत्यादि । तद्युक्तमुक्तम्—अज्ञानशब्दस्य अपूर्णं ज्ञानमर्थः—इति ॥ २५ ॥

यदि बौद्ध ज्ञान उदित हो तब वह वक्ष्यमाण नीति से जीवनमुक्ति के प्रति कारण बन जाता है । केवल उस (= बौद्धज्ञान) से कुछ सिद्ध नहीं होने वाला । पौरुष ज्ञान उत्पन्न होकर बिना किसी की अपेक्षा के मोक्ष का कारण बनता है । जैसा कि कहा गया—

'दीक्षा में पौरुष पाश (= अज्ञान) का शोधन करना चाहिये न कि बुद्धि में रहने वाला (अज्ञान) । इसलिये उस (= दीक्षा) के दोषवती होने पर भी दीक्षा निष्फल नहीं होती ।'

वह (= पौरुष ज्ञान अथवा मोक्ष) ज्ञानस्वरूप है । अख्याति (= अज्ञान) का अभाव ही पूर्णख्याति है और वही प्रकाश और आनन्द से परिपूर्ण आत्मा का तात्त्विकरूप है । उस (आत्मा) का प्रसार ही मोक्ष है—इसलिये ठीक ही कहा गया—(गुरु ने) इस (अज्ञान) के अभाव में मोक्ष कहा है ।'

प्रश्न है कि अज्ञान शब्द का अर्थ अपूर्णज्ञान है इसमें क्या प्रमाण है ? क्या ज्ञानाभाव मात्र ही (प्रमाण) है?—यह शङ्का कर कहते है—

अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं है (क्योंकि ऐसा मानने पर) अतिप्रसङ्ग हो जाएगा । वह (ज्ञानाभाव) मिट्टी के ढेले आदि में भी है किन्तु उसकी संसृति (= संसरण, विनाश) तो नहीं होती ॥ २५ ॥

यह अतिव्याप्ति क्या है? इस विषय में कहते है—वह... । तो ठीक ही कहा कि अज्ञान शब्द का अर्थ है—अपूर्ण ज्ञान ।

तदाह—

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् ।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भासितम् ॥ २६ ॥

'अतो' यथोक्ताद्धेतोः 'ज्ञेयस्य' नीलसुखादेः,

'ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणस्वरूपस्य 'तत्त्वस्य' 'सामस्त्येन' तस्य सर्वत्राविशेषात् तदेकघनाकारत्वेन 'अप्रथात्मकम्' यत् इदं नीलम् इदं सुखम् इति द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं 'ज्ञानम्' तदेव 'अज्ञानम्' न पुनर्ज्ञानाभावमात्रम्—इत्येतच्छिवसूत्रेषु 'भासितम्' —उक्तम्—इत्यर्थः ॥ २६ ॥

तत्र चैतत्कुत्र दर्शितम् ? इत्याशङ्क्याह—

चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः ।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः ॥ २७ ॥

'संश्लेषेतरयोगाभ्याम्' इति संहितया, अन्यथा च अकारप्रश्लेषविश्लेषाभ्य। तेन 'ज्ञानं बन्धः, अज्ञानं बन्धः'—इति चायमर्थः, इत्यज्ञानशब्दस्य अपूर्ण-

---

वही कह रहे हैं—

इसलिए ज्ञेय (= नील सुख आदि) तत्त्व का पूर्णरूप से प्रकाशित न होने वाला ज्ञान (= अपूर्णज्ञान) ही शिवसूत्रों में अज्ञान शब्द से कहा गया है ॥ २६ ॥

अतः = यथोक्त कारणवश । ज्ञेय का = नील सुख आदि का । 'जो प्रकाशात्मक शिव है वही ज्ञेय का परमतत्त्व है ।'

इत्यादि वक्ष्यमाण स्वरूप वाले तत्त्व का, सम्पूर्णरूप से उसके सर्वत्र समान रूप से विद्यमान होने के कारण तदेकघनाकार रूप में, अप्रथात्मक—यह नील (= घट बाह्यपदार्थ) और यह सुख (आन्तरपदार्थ) है—इस प्रकार द्वित्वभाव वाला होने से, अपूर्ण ज्ञान—वही अज्ञान है न कि ज्ञान का अभाव । यह तथ्य शिवसूत्रों में भाषित = कथित है ॥ २६ ॥

यह कहाँ दिखलाया गया? यह शङ्का कर कहते हैं—

'चैतन्यमात्मा' 'ज्ञानंबन्धः' इन दोनों सूत्रों में सन्धि एवं अन्य (= प्रकार का अर्थात् सन्धि रहित ज्ञान शब्द के साथ) योग के द्वारा यह अर्थ प्रदर्शित किया गया है ॥ २७ ॥

संश्लेष और अन्य के योग से = सन्धि एवं अन्यरूप से = अकार के प्रश्लेष एवं विश्लेष से, इस प्रकार 'ज्ञानं बन्धः अज्ञानं बन्धः'—'यह अर्थ

ज्ञानाभिधानलक्षणः ॥ २७ ॥

एतदेव व्याचष्टे—

चैतन्यमिति भावान्तःशब्दःस्वातन्त्र्यमात्रकम् ।
अनाक्षिप्तविशेषं सदाह सूत्रे पुरातने ॥ २८ ॥
द्वितीयेन तु सूत्रेण क्रियां वा करणं च वा ।
ब्रुवता तस्य चिन्मात्ररूपस्य द्वैतमुच्यते ॥ २९ ॥
द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद् बन्ध उच्यते ।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्त्यनिरूपतिम् ॥ ३० ॥

इह न किञ्चिदप्यचेतितं भवति, चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति । चेतयति इति चेतनः पूर्णज्ञानक्रियावान् तस्य भावः 'चैतन्यम्' पूर्णज्ञानक्रियावत्त्वम्, तदेव च परमैश्वर्यस्वभावं स्वातन्त्र्यमुच्यते । तदाह—'स्वतन्त्र्यमात्रकम्' इति । स्वातन्त्र्यमेव केवलं स्वातन्त्र्यमात्रकम्, अत एवाह—'अनाक्षिप्तविशेषम्; इति, 'अनाक्षिप्ताः' स्वसहचारिणोऽपि नित्यत्वव्यापकत्वादयो 'विशेषाः' भेदा येन तत् ।

बनता है ।[१] इसलिये अज्ञान शब्द का अर्थ होता है—अपूर्ण ज्ञान ॥ २७ ॥'

इसी की व्याख्या करते है—

प्रथम शिवसूत्र में 'चैतन्यम्' इस शब्द को यदि (चिती संज्ञा ने धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर चेतन फिर 'तस्य भावः चैतन्यम्' ऐसा) भावान्त माने तो यह विशेष आक्षेप से रहित केवल स्वातन्त्र्य सत् को बतलाता है ॥ २८ ॥

द्वितीय सूत्रवर्ती (ज्ञान शब्द) से क्रिया अथवा करण को बतलाते हुए उस (सत् तथा) चिन्मात्र रूप (पदार्थ) को द्वैत भाव कहा जाता है ॥ २९ ॥

जो दो रूपों में भासित होना है वही अज्ञान है और तुच्छ होने के कारण वही बन्धन कहलाता है । इसी कारण वह समुच्छेद्य है यह बात बार-बार कही गई है ॥ ३० ॥

इस (विश्व) में कुछ भी चेतनरहित नहीं है । इसलिये चेतन क्रिया सर्वत्र है । जो चेते वही चेतन अर्थात् पूर्ण ज्ञानक्रिया वाला और उसका भाव चैतन्य है, अर्थात पूर्ण ज्ञानक्रिया, वही ईश्वर का परम स्वभाव है । स्वातन्त्र्य मात्र का अर्थ है केवल स्वातन्त्र्य । इसीलिये कहा—अनाक्षिप्त विशेषता वाला । जिसने अपने सहचारी भी नित्यत्व व्यापकत्व आदि विशेषों का आक्षेप नहीं किया है—वह

---

१. येन विना यन्नभवति तत् तस्य नान्तरीयकम् ।

भावप्रत्ययान्तो हि शब्दः सहचारिधर्मान्तरनिवृत्तिमेव ब्रूते, अत एव द्रव्याभिधायिनः शब्दस्य विशेषः । यदाहुः—

'धर्मान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपौ तयोर्द्वयोः ।
साङ्केतभेदस्य पदं ज्ञातृवाञ्छानुरोधः ॥
भेदोऽयमेव सर्वत्र द्रव्यभावाभिधायिनोः ।' इति ।

'द्वितीयेन' इति अर्थाद् द्वितीयसूत्रवर्तिना ज्ञानशब्देन, ज्ञप्तिः—ज्ञानम्, जायते येन इति ज्ञानं च इति व्युत्पत्त्या 'क्रियाम् करणम्' च प्राधान्येनाभिदधता तस्य—चैतन्यमात्मा—'इत्युक्तस्वरूपस्य' अत एव चेतयते इति 'चित्' चिति-क्रियायां कर्ता, तन्मात्रमेव केवलं 'रूपम्' यस्य तस्य 'द्वैतमुच्यते' कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मक्रियाणां च भिन्नानामवच्छेदकानामागूरणाद् द्वैतप्रथासूत्रणं क्रियते, पूर्णमस्य रूपं नाख्यातिः—इत्यर्थः । 'तत्' तस्मात्संविदद्वैतात्मनः पूर्णस्य रूपस्य अख्यानात् 'द्वैतप्रथा' एव 'अज्ञानम्' अपूर्णं ज्ञानमपूर्णत्वाच्च तदेव अपूर्णमन्यता शुभाशुभवासनाशरीरभुवनाकारस्वभावविविधसङ्कुचितज्ञानरूपतया मलत्रयात्मा 'बन्धः' इति उच्यते, बन्धरूपत्वादेव च तदज्ञानम् 'समुच्छेद्यम्'

(चैतन्य) शब्द भावप्रत्ययान्त है । यहाँ चेतन शब्द से 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्माणि च,' पा. सू. ५.१.१२४ से ष्यञ् प्रत्यय जोड़ कर चैतन्य शब्द बना है । इस प्रकार) भावप्रत्ययान्त (चैतन्य आदि) शब्द अन्य सहचारी धर्मों का अभाव बतलाते हैं । इसलिये वह (प्रत्यय) द्रव्यवाची शब्द की विशेषता बतलाता है (जिसके कारण वह द्रव्य उस नाम से व्यवहृत होता है) । जैसा कि कहते है—

'द्रव्य और भाववाचक शब्दों का सर्वत्र यही अन्तर होता है । ज्ञाता की इच्छा के अनुसार धर्मान्तर का प्रतिक्षेप और अप्रतिक्षेप होता है । उन (प्रतिक्षेप और अप्रतिक्षेप) दोनों में सङ्केत का भेद (भिन्न-भिन्न) पद (चेतन, चैतन्य आदि की निष्पत्ति करता है) ।'

द्वितीय अर्थात् सूत्रवर्त्ती 'ज्ञान' शब्द से—ज्ञप्तिः-ज्ञानं तथा ज्ञायते अनेन इति 'ज्ञानम्'—इन व्युत्पत्तियों के द्वारा क्रमशः क्रिया और करण बतलाया जाता है । तस्य = 'चैतन्यमात्मा' इस सूत्र का, इसलिये चेतयते इति चित् = चेतन क्रिया का कर्त्ता, केवल यही रूप है जिसका उसका । द्वैत कहा जाता है = कर्त्ता-कर्म, कर्त्ता-कर्म-क्रिया इत्यादि भिन्न-भिन्न अवच्छेदकों के आगूरण (= स्वीकृति) से द्वैतप्रथा का प्रचलन किया जाता है इसके पूर्णरूप का आख्यान नहीं ।

इस संवित्स्वरूप अद्वैतस्वभाव वाले पूर्ण रूप का कथन न करने से द्वैत प्रथा ही अज्ञान = अपूर्ण ज्ञान है । अपूर्ण होने से वही अपूर्णमन्यता शुभ-अशुभ वासना-शरीर-भुवन आदि आकार के रूप में अनेक प्रकार के संकुचित ज्ञान के रूप में तीन मलों वाला 'बन्ध' कहा जाता है । और बन्धरूप होने के कारण ही वह अज्ञान समुच्छेद्य है ।

'मलं कर्म च मायीमाणवमखिलं च यत् ।
सर्वंहेयमिति प्रोक्तं...................... ॥

इत्युक्त्या हेयम्—इत्यर्थः । नन्वत्र द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं ज्ञानमेव अज्ञानम् इत्येतत्कुतोऽवगतम् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'इत्यावृत्त्या निरूपितम्'—इति । 'आवृत्त्या'—इति अज्ञानम् इति संहितापाततः पुनरावर्तनेन—इत्यर्थः ॥२८-३०॥

नन्वेवं मोक्षस्य लक्षणमभिधीयताम् ? इत्याशङ्क्याह—

स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन ।
न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङ्नामापि गृह्यते ॥ ३१ ॥

न कश्चिदन्योऽस्ति—इति वाक्यशेषः । यदि तुच्छस्तत्पूर्वोक्तनीत्या बन्ध एव स्यात्, अतुच्छश्चेत् पारमार्थिकत्वान्नास्य स्वतन्त्रात्मातिरेकः । यद्वक्ष्यति—

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संवित्.................. ॥'

इत्यादि । किमुक्तं भवति—इह तावदात्मज्ञानं मोक्ष इत्यविवादः, अतो यदेवात्मनो लक्षणं तदेव मोक्षस्य इति तन्नान्तरीयकत्वादेव अस्य लक्षणसिद्धेः

'आणव मायीय और कार्ममल सब हेय हैं—ऐसा कहा गया है ।'

इस उक्ति के अनुसार हेय है । द्वैतप्रथात्मक होने के कारण अपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान है—यह कहाँ से ज्ञात हुआ? ऐसी शङ्का कर कहते हैं—ऐसा आवृत्ति के द्वारा कहा गया है । आवृत्ति के द्वारा—'अज्ञानम्' यहाँ सन्धि मानने के कारण पुनः (सूत्र की) आवृत्ति के द्वारा—यह अर्थ है ॥ २८-३० ॥

मोक्ष का लक्षण बतलाइये? यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वतन्त्र आत्मा के अतिरिक्त मोक्ष नामक कोई भी तुच्छ या अतुच्छ पदार्थ नहीं है । इसलिए इस (= मोक्ष) का अलग से नाम भी नहीं लिया जाता (लक्षण आदि की चर्चा तो दूर की बात है) ॥ ३१ ॥

कोई और दूसरा नहीं है—इतना और जोड़ना चाहिये । यदि तुच्छ (= असत्) है तो पूर्वोक्त नियम के अनुसार वह 'बन्ध' ही है । और यदि अतुच्छ है तो पारमार्थिक होने के कारण यह स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं है । जैसा कि कहेंगे—

'मोक्ष कोई दूसरी वस्तु नहीं है । वह स्वरूप का विस्तार मात्र है । और संविद् ही आत्मा का स्वरूप है ।'

इत्यादि । इससे क्या कहा जाता है? (उत्तर है—) आत्मज्ञान ही मोक्ष है—इस विषय में विवाद नहीं है । इसलिये जो आत्मा का लक्षण है वही मोक्ष का (भी लक्षण) है । इसलिये नान्तरीयक (= अभिन्न) होने से इसका लक्षण हो जाने के

पृथक्लक्षणं न कृतम्, अत एव 'नामापि' इति अपिशब्देन लक्षणादेः पुनः का वार्ता—इत्यावेदितम् ॥ ३१ ॥

एवमप्यस्य तद्वैलक्षण्यं कटाक्षीकर्तुं दर्शनान्तरोक्तस्य मोक्षस्य स्वरूपमभिधातुमुत्क्रमते—

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य पूर्णपूर्णप्रथात्मकम् ।
तदुत्तरोत्तरं ज्ञानं तत्तत्संसारशान्तिदम् ॥ ३२ ॥

'यत्' पुनः 'ज्ञेयस्य' कला-तत्त्व-भुवनाद्यात्मनोऽध्वनः यत् 'सतत्त्वम्' उर्ध्वोर्ध्वमन्योन्यं च भेदेनावस्थानम्, तस्य 'उत्तरोत्तरम्' उपर्युपरिभावेन तत्तद्भुवनाद्युल्लङ्घनक्रमेण तत्तदवेच्छेदापगमात् यथायथमतिशयाद् द्वैतप्रथात्मकत्वात् संकुचितत्त्वेऽपि 'पूर्णपूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम्' उदेति तदधरीकृततत्त्वजालोल्लङ्घनात्

'चतुर्दशविधं यच्च प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।'

इत्याद्युक्तेः 'तस्य तस्य' चतुर्दशविधयोन्यात्मनः 'संसारस्य' 'शान्तिदं तत उन्मोचकम—इत्यर्थः । ज्ञानस्य हि मोचनमेव धर्मः, किंतु संकुचितस्यासंकुचितत्त्वम् ॥ ३२ ॥

कारण पृथक् लक्षण नहीं किया गया । इसलिये 'नामापि' यहाँ 'अपि' शब्द से यह सूचित होता है कि फिर लक्षण आदि की क्या चर्चा ॥ ३१ ॥

ऐसा होने पर भी इस (त्रिकदर्शन के मोक्ष) की विलक्षणता को सङ्केतित करने के लिये अन्य दर्शनों में कथित मोक्ष के स्वरूप का कथन करते हैं—

जो कि ज्ञेय (= कला तत्त्व भुवन-आदि के मूल में वर्तमान) सत् तत्त्व है जो कि पूर्णप्रसारस्वभाव वाला है, (संकुचितप्रसारस्वभाव वाले तत्त्वों को तिरस्कृत करते हुए) जो उस तत्त्व का उत्तरोत्तर (उत्कृष्ट पूर्णप्रसारात्मक) ज्ञान उत्पन्न होता है, वही संसार से शान्ति अर्थात् मुक्ति दिलाने वाला है ॥ ३२ ॥

जो कि ज्ञेय = कलातत्त्व भुवन स्वरूप अध्वा का जो, सतत्त्व = ऊपर-ऊपर परस्पर भिन्न रूप में अवस्थान, उसका उत्तरोत्तर = ऊपर-ऊपर क्रम से तत्तद् भुवन आदि का उल्लंघन करते हुए तत्तद् अवच्छेदकों के हट जाने से अनुरूप आतिशय्य के कारण द्वैतभाव के संकुचित होने पर भी पूर्ण-पूर्ण भाव का ज्ञान उत्पन्न होता है वह निम्नस्तरीय तत्त्वसमूह के उल्लङ्घन के कारण होता है ।

'जो संसारमण्डल चौदह प्रकार का कहा गया ।'

इत्यादि उक्ति से उस-उस का = चौदह प्रकार की योनियों वाले संसार का, शान्तिप्रद = उससे मुक्ति दिलाने वाला है । ज्ञान का कर्म (अज्ञान से) मोचन है अर्थात् संकुचित को सङ्कोचरहित करना ॥ ३२ ॥

एतदेव दर्शयति—

रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तःशून्योऽहं कर्तृतोज्झितः ।
इत्थं समासव्यासाभ्यां ज्ञानं मुञ्चति तावतः ॥ ३३ ॥

'इत्थम्' प्रथमार्धनिरूपितस्वरूपम् 'ज्ञानम्' 'तावतः' परिमिताद् बन्धात्, अर्थात् बौद्धादीन्मुञ्चति—इति संबन्धः । तत्र 'रागाद्यकलुषोऽहं भवामि' इति ज्ञानं योगाचाराणाम् । यदाहुः—

'रागादिकलुषं चित्तं संसारस्तद्विमुक्तता ॥'
'संक्षेपात्कथितो मोक्षः प्रहीनावरणैर्जिनैः ॥' इति ।

तथा—

'प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तवो मलाः ।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥' इति ।

अयमत्रार्थः—प्रकृतिप्रभावस्वरस्य चित्तस्य अनाद्यविद्यावशाद् रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृतत्वेन संसाराविर्भावेऽपि भावनाद्यात्मकमार्गानुष्ठानबलात्तत्तदागन्तुकमल-

---

उसी को दिखलाते हैं—

मैं राग आदि के द्वारा मलिन नहीं हूँ (यह विज्ञानवादी बौद्धों का मत है), मै अन्तःशून्य हूँ (यह माध्यमिकों का सिद्धान्त है), मै कर्तृत्व से रहित हूँ (यह सांख्यों का मत है) इस प्रकार का सम्पूर्ण रूप से अथवा पृथक्-पृथक् होने वाला ज्ञान उतने से ही (अर्थात् केवल कार्म या मायीय या आणव अथवा तीनों मलों से) मुक्ति प्रदान करता है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार = उक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में वर्णित स्वरूप वाला, ज्ञान । उतने = परिमित बन्ध से अर्थात् बौद्ध आदि को मुक्त करता है—ऐसा अन्वय है । उसमें— 'मै राग आदि दोषों से रहित हूँ'—यह ज्ञान योगाचार मतानुयायियों का है । जैसा कि कहते हैं—

'राग आदि से मलिन चित्त ही संसार है और उससे मुक्त होना संक्षेप में दिगम्बर जैनों के द्वारा मोक्ष कहा गया है ।'

तथा

'यह चित्त स्वभावतः प्रकाशरूप है । मल स्वभावतः आगन्तुक है । उन (मलों) का नाश होने पर वह अविनश्वर ज्योति ही सब कुछ है ।'

यहाँ यह तात्पर्य है—चित्त स्वभावतः प्रभास्वर है । अनादि अविद्या के कारण राग आदि आगन्तुक मलों से ढँक जाने के कारण संसार का आविर्भाव होता है । 'मै राग आदि से शून्य हूँ'—इत्यादि भावना वाले मार्ग पर चलने से उस आगन्तुक

प्रहाणेन आश्रयपरावृत्त्या अविनश्वरज्योतीरूपस्वरूपाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति, तदयुक्तम्, —भावना ह्यत्र भवद्भिः कारणमिष्यते, सा क्षणक्षयिणां चित्तक्षणानां विशेषमाधातुं नोत्सहते, तस्याः स्थिरैकाश्रयगतत्त्वेन विशेषाधानक्षमत्वात् । तथाहि स्थायिनस्तिलादयो भावाः स्थायिभिरेव सुमनोभिर्वास्यन्ते, तथेयमपि स्यात्, अतश्च प्रतिक्षणमपूर्वत्वेन उपजायमानस्य निरन्वयविनाशिलङ्घनाभ्यासवत् अनासादितातिशयस्य चित्तक्षणस्य प्रभास्वरचित्तक्षणोपजननाय भावना न प्रभवेत् इत्यनया कोऽर्थः । समलाश्च चित्तक्षणाः स्वारसिक्याः सदृशारम्भणशक्तेः स्वसदृशानेव चित्तक्षणानुत्पादयितुं क्षमन्ते, न विसदृशान् प्रभास्वरान् । एवं च चित्तक्षणभङ्गुरत्वान्मलप्रहारणायैव भावना न प्रगल्भेत इत्याश्रयपरावृत्तेः का वार्ता इति कृतं क्षणिकवादिनां मोक्षेण । बन्धमोक्षौ च स्थिरैकादिपक्षे युज्येते, बद्धो हि मोक्षाय प्रवर्तते, प्राप्य च निवृत्तो भवति इति, सन्तानश्चैको न विद्यते, तस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्त्वात् । 'अन्तः' संविद्रूपतायामपि 'शून्योऽहं' भवामि इति ज्ञानं माध्यमिकानाम् । ते खलु सर्वभावनैःस्वाभाव्यवादिनःसंविदोऽपि नैःस्वाभाव्यान्मिथ्यात्वमभिदधतस्यच्छून्यतायामेव मोक्षमाचक्षीरन् । यदाहुः—

मल का नाश होता है फिर मल के आश्रय (चित्त) के अपने स्वरूप में आने से अविनश्वर ज्योति रूप 'स्व' की अभिव्यक्ति हो जाती है । यही मोक्ष है । (उनका) यह कथन असमीचीन है—आप (बौद्ध) लोग इस विषय में भावना को कारण मानते हैं । वह (भावना) क्षणभंगुर चित्तक्षणों में विशेष को स्थापित नहीं कर सकती। क्योंकि वह (भावना) स्थिर किसी आश्रय में ही विशेष का आधान कर सकती है । वह इस प्रकार—स्थायी तिल आदि में स्थायी ही फूलों से सुगन्धि स्थापित की जाती है । उसी प्रकार यह (भावना) भी है । इसलिये प्रतिक्षण नया-नया उत्पन्न होने वाले असम्बद्ध विनाशी लङ्घन के अभ्यास के समान निर्विशेष चित्तक्षण में भावना प्रभास्वर चित्तक्षण को उत्पन्न नहीं कर सकती । इसलिए यह व्यर्थ है । (दूसरी बात यह है कि) मलयुक्त चित्तक्षण स्वाभाविक सदृश आरम्भण की शक्ति से अपने सदृश (= समल) चित्तक्षणों को ही उत्पन्न कर सकते है न कि (अपने से) भिन्न प्रभास्वर (चित्तक्षणों) को । इस प्रकार चित्तक्षणों के भंगुर होने के कारण भावना मलों को हटाने में ही समर्थ नहीं हो सकती फिर आश्रय (चित्त) की परावृत्ति की क्या बात । इसलिए क्षणिकवादियों का मोक्षसिद्धान्त असङ्गत है।

बन्ध और मोक्ष दोनों स्थिर पक्ष में ही हो सकते हैं । जो बद्ध होता है वही मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है और (मोक्ष को) प्राप्त कर (बन्ध से) छूट जाता है । सन्तान भी एक नहीं है क्योंकि वह भेदाभेद = विकल्प से उपहत हैं । अन्तः = (मोक्ष के) संविद्रूप होने पर भी 'मै शून्य हूँ' ऐसा ज्ञान माध्यमिकों को होता है । उनके अनुसार संसार के समस्त पदार्थ निःस्वभाव वाले हैं । फलतः संविद् भी निःस्वभावा होने से मिथ्या है । इस प्रकार संविद् की शून्यता ही मोक्ष है—ऐसा कहते हैं । जैसा कि कहा है—

'चित्तमात्रमिदं विश्वमिति या देशना मुनेः ।
तत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः ॥
सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रव्यवस्थितिः ।'

इति, तदप्युक्तम्,—संविदो हि मिथ्यात्वेन स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि मिथ्यात्वे सत्तैव न भवेत् तस्याः नीलादिवत् परतन्त्ररूपत्वाभावात्, नीलादीनां हि मिथ्यात्वेन स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि संविदात्मतयाऽस्त्यवस्थानम्, संविदि तु स्फुरत्तामात्रसारायां मिथ्यात्वादसत्त्वमेव स्यात् इति न किञ्चित्स्फुरेत् इति मूर्छैव स्यात् इति । न च संविदः स्फुरत्तामात्रसाररूपाया अपह्नवः शक्यक्रियः इति यत्किञ्चिदेतत् । अथ—

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं नं शून्यं परमार्थतः ॥'

इत्याद्युक्त्युक्त्या ग्राह्यग्राहकभावादिना कल्पितेन रूपेण शून्यम्, न तु संविदापि इति चेत्, एवं ह्युच्यमाने विज्ञानवादे एवाभ्युपगमः स्यात्, सोऽपि हि कल्पितपरतन्त्रादिरूपशून्यत्वेन

'इत्यन्तःकरणस्यैव विचित्रात्मावभासिनः ।
अविभावितत्त्वस्य विस्फूर्जितमिदं जगत् ॥'

'यह विश्व विज्ञान मात्र है'—यह जो शाक्यमुनि का सिद्धान्त या उपदेश है वह सामान्य जनों को (संसार से) छुटकारा दिलाने के लिये है न कि तत्त्वोपदेश । वह चित्तमात्र की व्यवस्था भी उनके द्वारा ध्वस्त कर दी गयी (क्योंकि वह भी निःस्वभाव है) ।

यह (कथन) भी ठीक नहीं है—मिथ्या होने के कारण संविद् का स्वतन्त्ररूप न रहने पर मिथ्या होने सें (उसकी) सत्ता ही नहीं रहेगी क्योंकि नील आदि की भाँति उसका रूप परतन्त्र नहीं है । नील (घट) आदि मिथ्या होने के कारण स्वतन्त्ररूपात्मक न होने से संविद् रूप से तो रहते ही हैं । और संविद् स्फुरत्तामात्र होने के कारण, मिथ्या होने से असत् हो जायेगी । फलतः कहीं कोई भी ज्ञान नही होगा और सर्वत्र मूर्च्छा ही रहेगी । स्फुरत्तामात्र तत्त्व वाली संविद् का तिरस्कार नही किया जा सकता ।

'समस्त आलम्बन धर्मों से समस्त सत्त्वों से तथा समस्त क्लेशों और उनकी वासनाओं से जो सम्पूर्णतया शून्य है वह भी परमार्थतः शून्य नहीं है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के द्वारा ग्राह्यग्राहक भाव आदि से कल्पित रूप से शून्य न कि संविद् से भी शून्य? यदि ऐसा कहें तो ऐसा कहने पर आप विज्ञानवाद को ही मान रहे है । वह भी—

'इस प्रकार यह संसार विचित्ररूप में अवभासन करने वाले तथा तत्त्व की

इत्याद्युक्तेर्विज्ञप्तिमेव परमार्थसतीमभ्युपागमत् इति न नवं किञ्चिदायुष्मतोत्प्रेक्षितम् । तत्र चोक्तो दोषः 'अकर्ताहं भवामि' इति ज्ञानं सांख्यानाम् । ते हि निष्क्रियमेवात्मानमभ्युपागमन्, अन्यथा हि तस्य चैतन्यं न स्यात्—अतेचनानामेव क्षीरादीनां क्रियावत्त्वोपलब्धेः । अयुक्तं चैतत्—अकर्तृत्वे हि पुरुषस्य अनिर्मोक्षः स्यात् अकिञ्चित्करत्वे हि पुरुषस्योत्पन्नेऽपि विवेकदर्शने स्वरूपेणावस्थानं न स्यात्, प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात् तं प्रत्यपि पुनः सम्भावनायाः सम्भवात् । न च प्रकृतेः 'दृष्टाहमनेन' इति 'न पुनरेतदर्थमहं प्रवर्ते' इत्यनुसन्धानमस्त्याचैतन्यादस्याः प्रेक्षाकारित्वाभावात् । एवं चेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे यथा पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा कृतायामपि विवेकख्यातौ पुनरपि तदर्थं प्रवर्तिष्यते, स्वभावस्यानपेतत्त्वात् । एवमपि कृतमकृतं न भवति—इति संकुचितमपि ज्ञानं बौद्धादीनां निजोचितामर्थक्रियां विदध्यात् । तथाहि बौद्धाः—

'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानमेव तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति

विशुद्ध भावना से रहित अन्तःकरण का ही उल्लास है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार कल्पित परतन्त्र आदि शून्यरूपता के कारण विज्ञान को ही परमार्थ सत् मानने वाले आप (शून्यवादी बौद्ध) कोई नयी बात तो नहीं कह रहे हैं । और उस (विज्ञानवाद) में दोष कहा जा चुका है ।

सांख्य दार्शनिकों के अनुसार 'मै अकर्त्ता हूँ' यह ज्ञान होता है । वे लोग आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं अन्यथा (आत्मा में) चैतन्य नहीं होगा । क्योंकि क्रिया दूध आदि अचेतन पदार्थों में ही मिलती है । यह (कथन) अयुक्त है—पुरुष के कर्त्ता न होने पर (उसका) मोक्ष नहीं होगा । पुरुष के निष्क्रिय होने पर उसमें विवेकज्ञान उत्पन्न होने पर भी (उसकी) स्वरूप में स्थिति नहीं होगी क्योंकि प्रकृति स्वभावतः प्रवृत्ति वाली है वह उदासीन हो नहीं सकती इसलिये उस (= पुरुष) के प्रति पुनः (बन्धन की) सम्भावना रहती ही है । 'मैं इस (पुरुष) के द्वारा देख ली गयी' इसलिये पुनः उसके लिये प्रवृत्त होती है उसी प्रकार विवेक ख्याति होने पर भी (पुरुष के लिये) वह प्रवृत्त नहीं होऊँगी इस प्रकार का प्रकृति द्वारा अनुसन्धान भी नहीं हो सकता क्योंकि जड़ता के कारण यह अनुसन्धान कर नहीं सकती । इस प्रकार जैसे यह शब्द आदि को सुनने पर उसके अर्थ के प्रति प्रवृत्त होगी ही क्योंकि स्वभाव को दूर नहीं किया जा सकता । ऐसा होने पर भी जो कृत है वह अकृत नहीं हो सकता—इस नियम के अनुसार बौद्धमतावलम्बियों का संकुचित भी ज्ञान अपने लिये उचित अर्थक्रिया को करेगा ही । बौद्ध (कहते) हैं—

'एक ही यह संविद् रूप (ज्ञान) हर्ष, विषाद आदि अनेक आकारों में विवर्त्तित होता है ।'

इत्यादि युक्ति के अनुसार बुद्धि की वृत्तिरूपी ज्ञान को ही परमतत्त्व मानते हैं ।

बुद्धितत्त्वप्राप्तिरेवैषां मोक्षः । तदुक्तम्—

'ब्रह्मा तत्राधिपत्वेन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः ।
सर्वज्ञं च तमेवाहुर्बौद्धानां परमं पदम् ॥ इति ।

अत एवैषां बुद्धितत्त्वाधोवर्तिनः संसारस्य शान्तिः । एवं च 'ज्ञानं मुञ्चति तावतः' इति युक्तमुक्तम् । सांख्याश्च सुखदुःखाद्यात्मकप्रकृति- पृथग्भावेन पुंस एव स्वरूपेणावस्थानं तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति पुंस्तत्त्वप्राप्तिरेवैषां मोक्षः । तदुक्तम्—

'पौरुषे चैव सांख्यानां सुखदःखादिवर्जितम् ।' इति ।

नैरात्म्यदृष्टेश्चात्मदृष्टिर्विशिष्यते, इति सांख्यानां बौद्धेभ्यः पूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम् इत्येषां बुद्धितत्त्वोर्ध्ववर्तिपुंस्तत्त्वप्राप्तिः । एवं च पूर्णप्रथात्मकमुत्तोत्तरं ज्ञानम्, इत्यादिः पूर्वसूत्रप्रतिज्ञातोऽर्थो निर्वाहितः । एवं सांख्यपातञ्जलयोः प्रकृतिपृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः पातञ्जलानामीश्वरप्रणिधानात् तद्विशिष्यते, इति तेषां पुंस्तत्त्वोर्ध्ववर्तिनियतितत्त्वप्राप्तिरुक्ता ।

'षडविंशकं तु देवेशि योगशास्त्रे परं पदम् ।' इति ।

इस प्रकार बुद्धि तत्त्व का साक्षात्कार ही इनके मत में मोक्ष है । वही कहा गया—

'बुद्धितत्त्व में ब्रह्मा अधिपति के रूप में स्थित है ।' उस सर्वज्ञ (ब्रह्मा) को बौद्धों का परमपद माना गया है ।'

इसलिये इनके मत में बुद्धितत्त्व के नीचे वाले संसार की शान्ति (ही मोक्ष) है । इस प्रकार 'ज्ञानं मुञ्चति तावतः (= ज्ञान ही इन्हें उतने—सीमित बन्ध—से मुक्त करता है) यह कथन ठीक है । सांख्य मत वाले सुख दुःख आदि स्वरूप वाली प्रकृति से पृथक् होकर पुरुष की स्वरूप में स्थिति को ही तत्त्व (= मोक्ष) मानते हैं । इस प्रकार पुरुष तत्त्व की प्राप्ति ही इनके (मत में) मोक्ष है । वही कहा है—

'सांख्यों के मत में सुख दुःख आदि से रहित पौरुष ज्ञान ही मोक्ष है । नैरात्म्यदृष्टि (= आत्मा का अस्तित्व न स्वीकार करना) से आत्मदृष्टि (= आत्मा को सत् मानना) बढ़कर है । इसलिये सांख्य दार्शनिकों का ज्ञान बौद्धों की अपेक्षा पूर्णप्रथा वाला है इसलिये इनके यहाँ बुद्धितत्त्व से ऊपर वाले पुरुषतत्त्व की प्राप्ति मानी गयी है । इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान पूर्णप्रथात्मक है—इत्यादि पूर्वसूत्र में प्रतिज्ञात अर्थ का निर्वाह किया गया । इस प्रकार सांख्य और योग दोनों मत में प्रकृति से पृथक् रूप में पुरुष ज्ञान समान होने पर भी पातञ्जल योग वालों का वह (मोक्षस्वरूप) बढ़कर है क्योंकि उसमें, ईश्वर प्रणिधानाद्वा' कह कर ईश्वर (= उत्कृष्ट पुरुष तत्त्व) के प्रणिधान को मोक्ष का साधन माना गया है । अर्थात् पुरुष तत्त्व से ऊपर नियति तत्त्व की प्राप्ति कही गयी है ।

'हे देवेशी ! योगशास्त्र में छब्बीसवाँ तत्त्व परम पद है ।'

एवं च मौसुलपाशुपतादीनामपि यथायथं ज्ञानातिशयादूर्ध्वोर्ध्व तत्त्वावाप्तिः परं पदम् इति । तदुक्तम्—

'मौसुले कारूके चैव मायातत्त्वं प्रकीर्तितम् ।' इति ।

तथा—

'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम् । इति ।

तत्रैवं बौद्धादीनां मायीयादेव मलादंशांशिकया, मौसुलानां कार्मादपि, पाशुपतानाम् अनात्मनि आत्माभिमानात् आणवादपि मलान्मोचकं ज्ञानम् इत्युक्तम् 'समासव्यासाभ्याम्' इति ॥ ३३ ॥

ननु स्वदर्शनौचित्येन एवं बन्धविगलनेऽपि किमिति नासौ मुक्तः इत्याशङ्क्याह—

तस्मान्मुक्तोऽप्यवच्छेदादवच्छेदान्तरस्थितेः ।
अमुक्त एव मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः ॥ ३४ ॥

'..............अध्वा बन्धस्य कारणम् ।'

इत्युक्तेः अध्वा तावद् बन्धकः । तत्र बौद्धादयो बुद्धितत्त्वान्तबन्धविगलनात्

इस प्रकार मौसुल पाशुपत आदि के मत में भी क्रमशः ज्ञान का अतिशय होने से ऊर्ध्व-ऊर्ध्व तत्त्व की प्राप्ति परम पद मानी गयी है । वही कहा गया—

'मौसुल और कारुक मत में माया तत्त्व (की प्राप्ति ही मोक्ष) कही गयी है' जैसे कि—

'पाशुपत व्रत (= सिद्धान्त) में ईश्वर को परमपद कहा गया है ।'

इस प्रकार बौद्ध आदि के मत में मायीय मल से अंश-अंश ज्ञान ही (उनको) मुक्त करता है । मौसुलों के मत में वही ज्ञान कार्म मल से तथा पाशुपत मत में अनात्मा में आत्माभिमान रूप आणव मल से मुक्ति दिलाता है। इस प्रकार (पूर्वकारिका में) 'समासव्यासाभ्याम्' पद से यह कहा गया ॥ ३५ ॥

प्रश्न है कि अपने-अपने दर्शन के अनुसार बन्धन के नष्ट होने पर भी यह (जीव) क्यों मुक्त नहीं होता? उत्तर देते हैं—

इस कारण अंशतः (अध्व बन्धन से) मुक्त होते हुए भी अन्य आंशिक बन्धन के वर्तमान होने से जीव अमुक्त ही है । वस्तुतः मुक्त तो वही होता है जो समस्त (अध्वरूपी) बन्धन से रहित होता है ॥ ३४ ॥

'अध्वा ही बन्ध का कारण है'

इस कथन के अनुसार अध्वा ही बन्धक है । ऐसी स्थिति में बौद्ध आदि

तन्मुक्ता अपि तदूर्ध्ववर्त्यध्वान्तरावच्छेदस्थितेरमुक्ता एव, अत एवैषां पुनरपि सर्गारम्भे सृज्यमानत्वात् संसाराविर्भावः, बन्धकारणस्य निःशेषेणाप्रक्षयात्। यद्वक्ष्यति—

'सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी ॥'

इति । श्रीस्वच्छन्दशास्त्रेऽपि—

'लौकिकानां पुनः सृष्टिः पुनः संहार एव च ।
संसारचक्रमारूढा भवन्ति घटयन्त्रवत् ॥'

इत्यादि सामान्येनाभिधाय—

'मुक्तं च प्रतिबन्धात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।
बन्धः संसारतो भूयो यावद्देवं न विन्दति ॥'

इति बौद्धाद्यवान्तरदर्शनमुक्तोपलक्षणपरतया विशेषेणोक्तम् । यः पुनर्निःशेष-प्रक्षीणसर्वाध्वबन्धः स एव साक्षान्मुक्तः इत्याह—'मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः' इति। यदुक्तम्—

बुद्धितत्त्वपर्यन्त बन्धन के नष्ट होने से उनसे मुक्त होकर भी उस (बुद्धितत्त्व) से ऊर्ध्ववर्त्ती अन्य अध्वाओं की सीमा के रहने के कारण अमुक्त ही हैं । इसलिये सृष्टि के आरम्भ में ये पुनः जन्म लेते हैं । और संसार की उत्पत्ति होती है । क्योंकि बन्धन के कारणों का पूर्णरूपेण क्षय नही हुआ रहता । जैसा कि कहेंगे—

'सांख्यवेद आदि के अनुसार संसिद्ध (= मुक्त) पुरुषों की, श्रीकण्ठनाथ सृष्टि के आरम्भ में पुनः सृष्टि करते हैं इसलिये (उनकी) ऐसी मुक्ति सम्यक्तया नही होती ।'

स्वच्छन्दतन्त्र में भी—

'लौकिक साधकों की बार-बार सृष्टि और संहार होते रहते हैं । (वे लोग) घटयन्त्र (= रहट) की भाँति संसार चक्र पर सदैव आरूढ रहते है ।'

इत्यादि सामान्य रूप से कथन कर—

'ईश्वर प्रतिबन्ध के कारण मुक्त को पुनः बन्धन में डालते है । बद्धपुरुष संसार के कारण तब तक बन्धन में होता है जब तक वह देव (= परमशिव) को नहीं जान लेता ।'

यह बात विशेषतया बौद्ध आदि अवान्तरदर्शन के अनुसार मुक्तों के लिये कही गयी है । जो समस्त अध्वबन्धन को पूर्णरूप से नष्ट कर चुका है वही साक्षात् मुक्त है । वही कहते हैं—समस्त अवच्छेदों (= प्रतिबन्धों) से रहित (ही वास्तविक मुक्त है)' जैसा कि कहा गया ।

'सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ।' इति ।

तथा—

'शैवः सिद्धो भाति मूर्ध्नीतरेषां
मुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येति नाधः ।' इति ॥ ३४ ॥

अत्र चैवंविधमेव पूर्णं ज्ञानं निमित्तम्—इत्याह—

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य ज्ञानं स्वात्मनोज्झितम् ।
अवच्छेदैर्न तत्कुत्राप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम् ॥ ३५ ॥

'अवच्छेदैः' सङ्कोचाधायिभिरिदन्तापरामर्शैः 'सर्वात्मना' सर्वप्रकारं वासना-मात्रेणापि यत् 'उज्झितम्' पराहन्तापरामर्शसारम—इत्यर्थः । अत एव च पूर्ण-प्रथात्मकत्वात् 'न तत् कुत्राप्यज्ञानम्' अतश्च 'सत्याम्' मुक्त्याभासविलक्षणां 'मुक्तिं' ददाति, अहंपरामर्शसारप्रमात्रैकात्म्येन स्फुरति—इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इदानीमुद्दिष्टयोर्ज्ञानाज्ञानयोरेव स्वरूपं विभजति—

ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः ।
द्विधापौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने ॥ ३६ ॥

'शैवों का परमपद समस्त अध्वाओं से परे है ।' तथा

'शैवसाधक सिद्ध होने पर अन्य (मुक्तों) के शिर पर बैठता है (= सर्वोत्कृष्ट स्थिति में होता है) । (एक बार) मुक्त होने पर वह पुनः नीचे की सृष्टि में पतित नहीं होता ॥ ३४ ॥'

इस विषय (= मुक्ति) में इस प्रकार का ही पूर्ण ज्ञान कारण बनता है—यह कहते हैं—

जो (इन्दतापरामर्शी) अवच्छेदों से सभी प्रकार से रहित है फलतः कहीं भी अर्थात् किसी भी अंश में अज्ञान नहीं हैं प्रत्युत ज्ञेय तत्त्व का (पूर्णप्रथात्मक) ज्ञान है वही वास्तविक मुक्ति को प्रदान करने वाला है ॥ ३५ ॥

अवच्छेद = सङ्कोच उत्पन्न करने वाले इदन्तापरामर्शों से । सब प्रकार से अर्थात् वासना तक, जो उज्झित = त्यक्त अर्थात् केवल पर अहन्ता परामर्शवाला, इसीलिये पूर्णविस्तारात्मक होने से वह किसी अंश में भी अज्ञान नहीं है । इसलिये सत्या = मुक्ति जैसी प्रतीत होने वाली अमुक्ति से विलक्षण, मुक्ति को देता है = अहं परामर्शरूप प्रमाता से अभिन्न रूप में स्फुरित होता है ॥ ३५ ॥

अब नाम लेकर बताये गये ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप का विभाग करते हैं—

ज्ञान और अज्ञान का जो स्वरूप पहले कहा गया पारमेश्वर दर्शन

'शिवशासने' इति पञ्चस्रोतोरूपे पारमेश्वरदर्शने—इत्यर्थः । एतद्धि सर्वत्रैवाविशेषेणोक्तम् ॥ ३६ ॥

तदेव लक्षयति—

तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशितावरणात्मकम् ॥ ३७ ॥
सङ्कोचिदृक्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम् ।

अथ—शब्द आनन्तर्ये, उद्देशानन्तरं हि लक्षणपरीक्षयोरवसरः—इत्याशयः । 'तत्र' द्विविधयोर्ज्ञानाज्ञानयोर्मध्यात्—

'........................ पुंसः प्रादुर्भवत्परम् ।'

इत्यस्यात्मनोऽपि यत्समनन्तरोक्तस्वरूपं मलाख्यमनन्यसाधाणानवच्छिन्नज्ञानक्रियायोगि परप्रमातृरूपाच्छिवादेव जातमुद्भूतम्—इत्यर्थः । परमेश्वर एव हि स्वस्वातन्त्र्यात्पूर्णज्ञत्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनेन अख्यात्यात्मकारणमलाविर्भाविन स्वात्मानमावृणुयात् । तदुक्तम्—

'परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य ।

(= शैवदर्शन) में पौरुष एवं बौद्ध भेद से वह प्रत्येक दो-दो प्रकार का कहा गया है ॥ ३६ ॥

शिवशासन में = पाँच धाराओं वाले पारमेश्वर दर्शन में यह सर्वत्र समानरूप से कहा गया है ॥ ३६ ॥

उसका लक्षण बतलाते हैं—

उनमें जो पुरुष का अज्ञान है जिसका नाम मल है, जो उस (परप्रमाता) पुरुष से उत्पन्न है, अपनी पूर्ण ज्ञानक्रियारूप शिवता का आवरण करने वाला है तथा परमशिव की ज्ञानक्रिया का सङ्कोचक है, वह (अज्ञान) पशु में भी निर्विकल्प अर्थात् आभास रूप में रहता है ॥ ३७-३८- ॥

'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्य अर्थ में हुआ है । नामसङ्कीर्त्तन के बाद लक्षण और परीक्षा का अवसर प्राप्त है—यह आशय है । वहाँ = दो प्रकार के ज्ञान-अज्ञान में से '.........यह (परप्रमाता रूप) पुरुष से उत्पन्न हुआ ।' आत्मा का जो पूर्वोक्त रूप वाला मल नामक (अज्ञान है वह) अनन्यसाधारण अनवच्छिन्न ज्ञान क्रिया वाले परप्रमाता रूप शिव से जात = उत्पन्न है । परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्यवश पूर्णज्ञत्त्व कर्त्तृत्व आदि को छिपाकर अज्ञान रूप आणवमल को उत्पन्न कर उससे अपने को ढँक लेता है । वही कहा गया—

'महेश्वर का दुर्घटसम्पादक जो परम स्वातन्त्र्य है, वह देवी मायाशक्ति शिव का

देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥ (प०सा० १५का०)
मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति ।' इति ।
(प० सा० १६ का०)

वक्ष्यति च—

'तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भितम् ।' इति ।

तदेव पशोराणवादिमलत्रययोगिनोऽपि तस्य मातुर्देशकालाद्यवच्छिन्नत्वान्नियत-दृक्क्रियास्वाभासालोचनात्मकं ज्ञानम् । परमेश्वर एव हि सर्वज्ञताद्यपहस्तनेन अणुतां प्रापितस्य स्वात्मनः पुनरपि कलादियोगं कृतवान्, येनास्य नियतं ज्ञत्वकर्तृत्वाद्यभियुक्तम् । तदुक्तम्—

'असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत्पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो विद्यारागौ ततोऽसृजत् ॥
विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।
रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ॥
नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।
कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः ॥' इति ।

ज्ञानस्वरूपस्य प्रथममुद्देशेऽपि अवश्योच्छेद्यत्वप्रतिपादनार्थमादाव-ज्ञानस्वरूपं निरूपितम् ॥

अपना आवरण है । माया के पाश में बद्ध होने के कारण शुद्धबोधरूपी पुरुष मलिन पशु हो जाता है ।'

आगे कहेंगे—'इस कारण मल का जो विजृम्भण है वह भी (परमेश्वर के) स्वरूप का स्वातन्त्र्य ही है ।'

वही (स्वातन्त्र्य) आणव आदि तीन मलों वाले उस प्रमाता का देश काल आदि से अवच्छिन्न होने के कारण दर्शन क्रिया एवं अपने आभास का आलोचक ज्ञान हो जाता है । परमेश्वर स्वयं सर्वज्ञता आदि को छिपाकर अणुभाव को प्राप्त आत्मा को कला, विद्या आदि से युक्त करता है जिससे ज्ञत्व कर्त्तृत्व आदि सीमित हो जाता है । वही कहा गया—

'उस (माया) ने कला तत्त्व को उत्पन्न किया जिसके योग से पुरुष ज्ञाता एवं कर्त्ता बन जाता है । इसके बाद (उसने) विद्या और राग की सृष्टि की । विद्या इसके कर्म को कार्यकारण भाव के रूप में विचारती है । राग इस पुरुष को अशुचि भोगों में अनुरक्त करता है । नियति इस पुद्गल (= शरीर) को अपने कर्म में नियुक्त करती है । तुटि आदि के रूप में उपहित काल इसको बद्ध करता है ।'

यद्यपि ज्ञान का नाम पहले लिया गया था तथापि अवश्य उच्छेद्यत्व प्रतिपादित

ननु पुंसा बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् इत्युच्यते, तत् कथमेतत् बुद्ध्यंशोपनिपाति न स्यात्—इत्याशङ्क्याह—

तदज्ञानं न बुद्ध्यंशोऽध्यवसायाद्यभावतः ॥ ३८ ॥

एवमपि हि बुद्धेः—

'अध्यवसायो बुद्धिः'

इत्याद्युक्तेरध्यवसाय एव मुख्यं रूपम्, कथमस्य एतदभावे तद्धर्मत्वं स्यात् ॥ ३८ ॥

अत एवाह—

अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी ।
षट्कञ्चुकाबिलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा ॥ ३९ ॥
धीर्जायते तदा तादृग्ज्ञानमज्ञानशब्दितम् ।
बौद्धं तस्य च तत्पौंस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च ॥ ४० ॥

करने के लिये पहले अज्ञान का स्वरूप बतलाया गया ॥ ३७ ॥

पुरुष की बुद्धि की वृत्ति रूप ज्ञान ही निर्विकल्पक कहा जाता है तो फिर यह ज्ञान बुद्धि पर आश्रित क्यों नहीं होगा? ऐसा आशंका कर कहते हैं—

चूँकि उसमें अध्यवसाय (= निश्चयात्मकता) नहीं रहती इसलिए वह अज्ञान बुद्धि का अंश नहीं है ॥ -३८ ॥

'अध्यवसायो (= निश्चयः) बुद्धि' (सां.का.) इत्यादि कथन के अनुसार अध्यवसाय बुद्धि का मुख्य रूप है । इस (अध्यवसाय) के अभाव में (अज्ञान) उस (= बुद्धि) का कर्म कैसे होगा? ॥ ३८ ॥

इसलिये कहते हैं—

छः कञ्चुकों से मलिन (परिमित प्रमाता) अणु में उत्पन्न होने वाले प्रतिबिम्ब से जब 'मैं इसे इस प्रकार जानता हूँ'—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है तब उस प्रकार का ज्ञान बौद्ध अज्ञान शब्द से अभिहित होता है । वह पौरुष अज्ञान बौद्ध अज्ञान का पोषणीय अर्थात् कार्य है और (उसका) कारण[१] भी है ॥ ३९-४० ॥

---

१. चूँकि बौद्ध अज्ञान पौरुष अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है इसलिए वह पौरुष अज्ञान का कार्य है । यदि बौद्ध अज्ञान न हो तो बौद्ध ज्ञान नहीं होगा और बौद्ध ज्ञान न होगा तो पौरुष अज्ञान नहीं हटेगा । अतः अपसारण की दृष्टि से बौद्ध अज्ञान कारण है ।

अस्याश्चैवमध्यवसाययोगित्वे हेतुः 'षट्कञ्चुक' इति । षट्कञ्चुकैः—

'कालकलानियतिबलाद् रागाविद्यावशेन संबद्धः ।
अधुनैव किञ्चिदेवेदमेव सर्वात्मनैव जानामि ।
मायासहितं कञ्चुकषट्कर्मणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ॥
(प०सा० १६ उ० १७)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपैः—'आबिलः' प्रतिनियतज्ञत्वकर्तृत्वाद्युत्पत्त्या म्लान-प्रायो योऽसौ 'अणुः' परिमितात्मा, ततो जातात् 'प्रतिबिम्बनात्' चिच्छाया-संक्रमणात्—इत्यर्थः । एवं ह्यस्याः पुंबोधव्यक्तिभूमित्वादेवंस्वभावो भवेत्—इति भावः । 'तादृक्' इति एवमध्यवसायरूपम् । अनयोश्च परस्परं कार्यकारण दर्शयितुमाह—'तस्य' इत्यादि, 'तस्य' इति बौद्धस्य, 'पौस्नम्' पुंसि भवं पौरुषम्—इत्यर्थः । 'पोषणीयम्' कार्यम् इत्यर्थः । कामशोकाद्यावेशभाजो हि तन्मयतानुसंधानादिना तत्तदर्थसाक्षात्कारात्मकमविकल्पकं ज्ञानमुदियात् । यदाहुः—

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥' इति ।

'पोष्टृ' इति कारणम् । स्वप्नादावपि अनुभव एव हि प्राच्यो निमित्तम्, नहि

इस (बुद्धि) के इस प्रकार के अध्यवसाय वाली बनने में छः कञ्चुक ही कारण हैं । छ कञ्चुक

'काल कला नियति के बल से राग और अविद्यावश सम्यक् रूप से आबद्ध पुरुष अभी, थोड़ा ही, यही, पूर्णरूप से जानता हूँ—ऐसा समझने लगता है । माया के सहित ये छः कञ्चुक अणु के अन्तरङ्ग कहे गये हैं ।'

इत्यादि के द्वारा बतलाये गये स्वरूप वालों से आविल = निश्चित—सीमित—ज्ञत्वकर्तृत्व आदि की उत्पत्ति से मलिन, जो यह अणु = परिमित आत्मा, उससे उत्पन्न = उसमें प्रतिबिम्बित, चित् की छाया के संक्रमण से । इस प्रकार पुरुष बोध की अभिव्यक्ति ही इसका आधार है अतः इस बुद्धि का ऐसा स्वभाव हो जाता है । वैसा = इस प्रकार का अध्यवसायरूप । इन दोनों (= बौद्ध और पौस्न ज्ञान) का कार्यकारण भाव दिखलाने के लिये कहा—तस्य... । तस्य = बौद्ध ज्ञान का, पौस्न = पुरुष में उत्पन्न अर्थात् पौरुष ज्ञान । पोषणीय = कार्य । काम शोक आदि के आवेश से युक्त साधक को तन्मयता के अनुसन्धान आदि के कारण भिन्न-भिन्न अर्थों के साक्षात्कार रूप निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है । जैसा कि कहा है—

'काम, शोक, भय, उन्माद, चौरकार्य, स्वप्न आदि से आक्रान्त मनुष्य असत् पदार्थों को भी सामने स्थित देखते हैं ।'

पोष्टृ = कारण । स्वप्न आदि में भी पूर्व का अनुभव कारण बनता

नारिकेलद्वीपवासिनो वह्निविकल्पादाविच्छापि भवेत् ॥ ३९-४० ॥

एवमज्ञानं निरूप्य, ज्ञानमपि द्विविधं निरूपयितुमाह—

क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरस्थितेः ।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम् ॥ ४१ ॥
विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावता ।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं प्राग्वत्पोष्यं च पोष्टृ च ॥ ४२ ॥

पशोराणवस्यापि वासनामात्रक्षयाभिधानात् 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्य-भावः' इति न्यायेन कार्ममायीययोरपि प्रक्षयान्निवृत्तनिखिलबन्धस्य 'पुंसः' अत एव प्राप्त-परमचिदैकात्म्यस्य 'विकस्वरम्' पराहन्ताविमर्शात्मकम् 'निर्विकल्पकम्' कृत्रिमा-हङ्कारादिविकल्पविलक्षणं ज्ञानं पौरुषं भवति—इति वाक्यार्थः ।

'औचित्येन' इति तद्वत्पूर्णेनात्मना—इत्यर्थः । अतश्च 'सर्वो ममायं विभवः' इत्येवंरूपत्वमस्याः । 'यस्य' इति बौद्धज्ञानस्य । 'प्राग्वत्' इति यथैवाज्ञानयोः

हैं। नारियल से भरे द्वीप के निवासी वह्निविकल्प की इच्छा भी नहीं कर सकते ॥ ३९-४० ॥

अज्ञान का निरूपण करने के बाद दो प्रकार के ज्ञान का निरूपण करने के लिये कहते है—

पशुसंस्कार क्षीण होने पर (परमचिदैकात्म्य) स्थिति को प्राप्त पुरुष के अन्दर (जो) विकस्वर निर्विकल्पक विज्ञान उत्पन्न होता है वह पौरुष (ज्ञान कहलाता है) ॥ ४१ ॥

विकस्वर निर्विकल्पक आत्मज्ञान के औचित्य (= पूर्ण होने) के कारण चूंकि वह बौद्ध (ज्ञान भी है) जिसका कि वह पौरुष ज्ञान पूर्ववत् (= जैसे बौद्ध अज्ञान पौरुष अज्ञान का कारण और कार्य है उसी प्रकार) पोष्य और पोषक है ॥ ४२ ॥

पशु के आणव मल की वासना तक के क्षय होने से 'कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव हो जाता है' इस सिद्धान्त के अनुसार कार्म और मायीय मलों का भी क्षय होने से पुरुष का समस्त बन्धन समाप्त हो जाता है परिणामस्वरूप परम संविद् के साथ ऐकात्म्य हो जाने से उसके अन्दर विकस्वर = पराहन्ताविमर्शरूप, निर्विकल्पक = कृत्रिम अहङ्कार आदि से विलक्षण जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह पौरुष (ज्ञान) होता है ।

औचित्य के साथ = पूर्णरूप से । इसीलिये इस (संविद्) का रूप—यह सब मेरा ही वैभव है—ऐसा होता है । जिसका = बौद्ध ज्ञान का । पूर्व की भाँति =

परस्परं पोष्यपोषकभावस्तथैव—इत्यर्थः । तथैव पूर्णापूर्णत्वेन पुनः विशेषो ग्राह्यः, अन्यथा हि ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपमेवाभिहितं न स्यात् ॥ ४१-४२ ॥

नन्वेवंविधमज्ञानं तावदनाद्येवावस्थितम् इति नास्ति विवादः, एतदभावात्मकं ज्ञानं पुनः कदा समुदियात् ? एतदभावे च किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

तत्र दीक्षादिना पौंस्नमज्ञानं ध्वंसि यद्यपि ।
तथापि तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम् ॥ ४३ ॥

यद्यप्युक्तस्वरूपम् 'पौंस्नमज्ञानम्'—

'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपया दीक्षया नश्यत्येव 'तथापि' 'तत्' अज्ञानाभावमात्र-रूपमात्मज्ञानं व्यक्त्युन्मुखमपि—

'......................प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।'

इत्याद्युक्तेरिदंशरीरारम्भकस्य कार्ममलस्य सद्भावात् 'तस्य' वर्तमान-शरीरस्य' अन्ते स्फुटं व्यज्यते'—

जिस प्रकार उक्त दोनों अज्ञानों में पोष्यपोषक सम्बन्ध है उसी प्रकार (दोनों में) अन्तर केवल पूर्ण और अपूर्ण का है । अन्यथा ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप ही नहीं कहा गया होता ॥ ४१-४२ ॥

इस प्रकार का अज्ञान अनादि ही कहा गया है—इसमें कोई विवाद नहीं है । इस (अज्ञान) का अभाव रूप ज्ञान कब उत्पन्न होगा और उस अभाव का निमित्त क्या होगा? ऐसी शङ्का कर कहते है—

उनमें दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष अज्ञान यद्यपि नाशवान् है तथापि (जिस शरीर में दीक्षा आदि होती है) उस शरीर का अन्त होने पर वह (= आत्मीय) ज्ञान स्पष्टतया व्यक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

यद्यपि (गुरु के द्वारा) ज्ञानसद्भाव दिया जाता है (जिसके फलस्वरूप) पशुवासना नष्ट हो जाती है । इस प्रकार दान एवं क्षपण से संयुक्त होने के कारण (वह संस्कार) दीक्षा कहलाता है ।

इत्यादि उक्त स्वरूपवाली दीक्षा के द्वारा उक्त रूप वाला पौरुष अज्ञान नष्ट हो जाता है तथापि, वह = अज्ञानाभावमात्ररूप आत्मज्ञान प्रकाशित होने की स्थिति में होते हुए भी—

'.......... प्रारब्ध कर्मों का शोधन नहीं करना चाहिये'

इत्यादि उक्ति के अनुसार शरीरारम्भक कार्ममल के रहने से, उसके = वर्त्तमान

'........................देहपाते शिवं व्रजेत् ।'

इत्याद्युक्त्या साक्षात्कारात्म स्फुरति—इत्यर्थः । आदिशब्दाच्च शेषवृत्त्या ग्रहणम्, न तु तीव्रतरशक्तिपातादेः, तद्धि दीक्षायां निमित्तम् इति तद्वचनेनैवास्य ग्रहः सिद्धः, न चास्मिन्दीक्षातोऽन्यत्किंचिन्मुक्तौ निमित्तम् । तदुक्तम्—

'तस्मात्प्रविततात् बन्धात्परस्थानविरोधात् ।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ॥' इति ।

तीव्रतमशक्तिपातादौ पुनरनुपायादिक्रमेण दीक्षा भवेत्, येनास्य तत्कालमेवापवर्गः । तदुक्तम्—

'तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते ।' इति ।

दीक्षानिरपेक्षमेव पुनरेतत् मुक्तौ निमित्तम् इति न सम्भाव्यम्, एवं श्रुतिविरोधः स्यात् ।

'तस्य दीक्षां विनैवात्मसंस्कारपरिणामतः ।
सम्यग्ज्ञानं भवेत्सर्वशास्त्रेषु परिनिष्ठितम् ॥'

शरीर के, अन्त में स्पष्टरूप से व्यक्त होता है—

'...देहपात होने पर (साधक) शिवभाव को प्राप्त हो जाता है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से स्फुरित होता है । (श्लोकस्थ दीक्षादि पद में) आदि शब्द से शेषवृत्ति (संस्कार) का ग्रहण करना चाहिये न कि तीव्रता, शक्तिपात आदि का । वह तो दीक्षा के विषय में निमित्त है इसलिये उसके ही कथन से इसका ग्रहण सिद्ध हो जाता है । इस मुक्ति में दीक्षा से भिन्न कोई कारण नहीं है । वही कहा गया—

'इस कारण परमस्थान (प्राप्ति) का विरोधी जो विस्तृत बन्धन है, दीक्षा ही उससे मुक्ति दिलाती है और ऊर्ध्ववर्ती शैवपद को प्राप्त भी कराती है तीव्रतम् शक्तिपात आदि की प्रक्रिया में अनुपाय आदि के क्रम से दीक्षा होती है जिससे इस (दीक्षित व्यक्ति) का तत्काल मोक्ष हो जाता है । जैसा कि कहा गया'—

'उसके बाद उससे सम्बन्ध होने के कारण कोई उसी समय अपवर्ग को प्राप्त हो जाता है ।'

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दीक्षा आदि से रहित यह (तीव्रतम शक्तिपात आदि) मुक्तिलाभ में कारण होता है......... क्योंकि ऐसा मानने पर श्रुति में विरोध हो जायेगा ।

'उस (साधक) का दीक्षा के बिना ही आत्मसंस्कार के परिणामस्वरूप समस्त शास्त्रों में परिनिष्ठित सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है ।'

इत्यादौ पुनर्बाह्यक्रियादीक्षाभिप्रायेण तन्निषेधो विवक्षितः, अन्यथा ह्यत्रात्मसंस्कारशब्दार्थ एव कथं सङ्गच्छताम् इत्यलं बहुना ॥ ४३ ॥

ननु यद्येवं दीक्षया देहान्त एवमुक्तिर्भवेत्, तत्कथं 'जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ' इत्याद्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम् ।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ॥ ४४ ॥

'बौद्धज्ञानेन' इति परमेश्वराद्वयशास्त्रश्रवणाद्युद्भूतेन । तदुक्तम्—

'गुरूणैव यदा काले सम्प्रदायो निरूपितः ।
तदाप्रभृति मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम् ॥' इति ।

एतच्च दीक्षिताधिकारेणैव ज्ञेयम्, नहि अकृतदीक्षस्य शास्त्रश्रवणेऽप्यधिकारः इति कुतस्तदवबोधनिमित्तकोऽपि तज्ज्ञानाविर्भावः स्यात् । तदुक्तम्—

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवपद्धतिम् ।' इति ।

न च अप्रध्वस्तपौरुषाज्ञानस्य अनेन किञ्चिद्भवति इत्युक्तप्रायम्, अन्यथा हि

इत्यादि में जो निषेध कहा गया है वह बाह्य क्रिया दीक्षा के अभिप्राय से, अन्यथा यहाँ आत्मसंस्कार शब्द के अर्थ की सङ्गति कैसे बैठेगी बस इतना पर्याप्त है ॥ ४३ ॥

यदि दीक्षा के कारण देहान्त होने पर ही मुक्ति हो जायेगी तो 'जीवित रहते हुए ही यह मुक्त हो जाता हैं ।' इत्यादि कैसे कहा गया? यह शङ्का कर कहते हैं—

बौद्ध ज्ञान के द्वारा जब बौद्ध अज्ञान का विस्तार समाप्त हो जाता है तब जीवन्मुक्ति करतल में स्थित हो जाती है ॥ ४४ ॥

बौद्धज्ञान के द्वारा—परमेश्वर से सम्बद्ध अद्वय शास्त्र के श्रवण आदि से उत्पन्न के द्वारा ।

वही कहा गया—

'जिस समय गुरु ने (शिष्य के लिये) सम्प्रदाय का निरूपण किया तभी से यह मुक्त हो गया । (अब जीवित रहने वाला वह) केवल यन्त्र के समान रहता है ।'

यह (कथन) दीक्षित के ही विषय में जानना चाहिये । जिसकी दीक्षा नही हुई है उसका शास्त्रश्रवण में भी अधिकार नहीं है फिर उसको (= शास्त्र को) समझने के कारण उत्पन्न ज्ञान का आविर्भाव कैसे होगा? वही कहा गया—

'दीक्षारहित लोगों के सामने शैवशास्त्र का उच्चारण नहीं करना चाहिये ।'

प्रेक्षावतां दीक्षायां प्रवृत्तिरेव न स्यात्—साध्यस्यार्थस्य अत एव स्रष्टुरभावात्, अत एव दीक्षायां शिथिलास्थत्वं न वाच्यम्, तस्या एव मुक्ति प्रति मूलकारणत्वात् । एवं दीक्षादिना पौंस्नं ज्ञानमभिव्यक्त्युन्मुखमपि न तदैव मुक्तिप्रदम्, देहान्ते तदभिव्यक्तेरुक्तत्वात्, इदं पुनस्तदैव इति ततोऽस्य प्राधान्यमपि कटाक्षितम् ॥ ४४ ॥

न केवलमेतदेवास्य ततः प्राधान्यनिमित्तं यावदन्यदपि—इत्याह—

दीक्षापि बौद्धविज्ञानपूर्वा सत्यं विमोचिका ।
तेन तत्रापि बौद्धस्य ज्ञानस्यास्ति प्रधानता ॥ ४५ ॥

इह—

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इत्याद्युक्तेरधिगतशास्त्रार्थस्यैव हि गुरोर्दीक्षायाम् अधिकारः, अत एव तस्य

'शिवशास्त्रविधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम् ।'

इति लक्षणं प्राधान्येनोक्तम्, अन्यथा पुनः—

जिसका पौरुष अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है उसका इस (श्रवण) से कुछ नही होता—यह तात्पर्य है । अन्यथा बुद्धिमान् लोग दीक्षा में प्रवृत्त ही नही होंगे । क्योंकि साध्य अर्थ का स्रष्टा ही नहीं है । इसीलिये दीक्षा में शिथिल आस्था नही होनी चाहिये । क्योंकि वही (= दीक्षा ही) मुक्ति के प्रति मूल कारण है । इस प्रकार दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष ज्ञान यद्यपि अभिव्यक्त होने वाला होता है तथापि वह उसी समय मुक्ति नहीं देता क्योंकि उस (पौरुष ज्ञान) की अभिव्यक्ति शरीरपात होने पर ही कही गयी है । यह (= पौरुष ज्ञान) भी उसी (= बौद्ध ज्ञान) के बाद होता है इस कारण इस बौद्ध ज्ञान की प्रधानता भी सङ्केतित है ॥ ४४ ॥

उस (= दीक्षा) की अपेक्षा केवल यही इस (= बौद्ध ज्ञान) प्राधान्द का कारण नहीं है बल्कि अन्य भी कारण है—यह कहते हैं—

बौद्ध विज्ञान है पूर्व में जिसके ऐसी दीक्षा भी मुक्ति देने वाली होती हैं (यह बात) सत्य है । इस कारण वहाँ (= दीक्षा के विषय में) भी बौद्ध ज्ञान की ही प्रधानता है ॥ ४५ ॥

'समस्त लक्षणों से रहित भी ज्ञानवान् गुरु सर्वश्रेष्ठ होता है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार समस्त शास्त्रों का ज्ञाता ही गुरु दीक्षा के विषय में अधिकारी होता है । इसीलिये

'शिवशास्त्र के विधान को जाननेवाला और ज्ञान तथा ज्ञेय में निपुण'

ऐसा उसका मुख्य लक्षण बतलाया गया है । अन्यथा

'शास्त्रहीने न सिद्धः स्याद्दीक्षायां वीरवन्दिते ।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षा विमोचिकैव न स्यात्, तेन इति दीक्षायां बौद्धस्य ज्ञानस्य कारणत्वात्, नहि तेन विना तस्या निष्पत्तिरेव स्यात् ॥ ४५ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

ज्ञानाज्ञानागतं चैतद् द्वित्वं स्वायम्भुवे रुरौ ।
मतङ्गादौ कृतं श्रीमत्खेटपालादिदैशिकैः ॥ ४६ ॥

तदुक्तम्—श्रीस्वायम्भुवे—

'अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये ।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवज्ञानं प्रवर्तते ॥' इति ।
'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।
तत्सद्भाववशोऽज्ञादिः पाशौघः पौरुषः स्मृतः ॥
तस्मात्तत्तत्त्वतो ज्ञेयं मोक्षमक्षयमिच्छता ।' इति च ।

श्रीरुरावपि—

'यजन्ति विविधैर्यज्ञैर्मन्त्रतत्त्वविशारदाः ।

'हे वीर शैवों द्वारा वन्दिते! शास्त्रहीन (गुरु से प्राप्त) दीक्षा सिद्धिदायक नहीं होती ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार दीक्षा मुक्तिप्रद नहीं होती । इस कारण = दीक्षा के विषय में **बौद्धज्ञान** के कारण होने से । उस (= बौद्धज्ञान) के बिना उस (= दीक्षा) **की निष्पत्ति** नहीं होती ॥ ४५ ॥

यह बात मैने अपने मन से नहीं कहीं—यह कहते हैं—

ज्ञान और अज्ञान की दृष्टि से ये दो प्रकार स्वायम्भुव, रुरु एवं मतङ्ग आदि शास्त्रों में श्रीमान् खेटपाल आदि आचार्यों के द्वारा किए गए हैं ॥ ४६ ॥

वही बात स्वायम्भुव शास्त्र में कही गयी है—

'आत्ममल अर्थात् आणवमल मायीयमल एवं कार्ममल, जो कि बन्धन रूप हैं, से मुक्ति तथा शिवत्व की अभिव्यक्ति के लिये शिवज्ञान प्रवृत्त होता है ।'

'अनादि अज्ञान ही पुरुषों का पशुत्व है (अथव पुरुषों के अन्दर वर्तमान अनादि अज्ञान ही उनका पशुत्व है) । उसके प्रभाव के कारण अज्ञान आदि पुरुषों के पाश कहे गये हैं । इस कारण अक्षय मोक्ष को चाहने वाले को उसको यथार्थ रूप से जाना चाहिये ।'

रुरुशास्त्र में भी कहा गया है—

गुरुतन्त्राद्यनुज्ञातदीक्षासिच्छिन्नसंशयाः ॥' इति ।
'न मीमांस्या विचार्या वा मन्त्राः स्वल्पधिया नरैः ।
प्रमाणमागमं कृत्वा श्रद्धातव्या विचक्षणैः ॥
सर्वे मन्त्रात्मका देवाः सर्वे मन्त्राः शिवात्मकाः ।
शिवात्मकमिदं ज्ञात्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ॥' इति च ।

श्रीमतङ्गेऽपि—

'ततः स भगवानीशः स्फुरन्माणिक्यशेखरः ।
वाक्यानलसमुत्थेन ज्वालावीर्येण मन्त्रराट् ॥
प्रददाह मुनेः सर्वमज्ञानं तृणराशिवत् ।' इति ।
'शिववक्त्राम्बुजोद्भूतममलं सर्वतोमुखम् ॥
शिवत्वोन्मीलनं तथ्यं ज्ञानमज्ञाननाशनम् ।
अनेन सिद्धाः पश्यन्ति यत्तत्पदमनामयम् ॥' इति च ।

आदिशब्देन चिल्लाचक्रेश्वरीमतादेर्ग्रहणम् । तदुक्तं तत्र—

'बौद्धं च पौरुषेयं च द्विविधं तन्मलं स्मृतम् ।
तत्र दीक्षादिना याति पौरुषेयं मलं क्षयम् ।

'मन्त्रों के तत्त्वज्ञान के पण्डित लोग अनेक प्रकार के यज्ञों से (परमेश्वर की) पूजा करते है । वे लोग गुरुतन्त्र आदि से अनुज्ञात दीक्षा रूपी तलवार से संशय को काट देते हैं ।'

'अल्पबुद्धि वाले लोगों के द्वारा मन्त्रों की मीमांसा या उन पर विचार नहीं करना चाहिये । उन बुद्धिमानों को चाहिये कि वे आगम शास्त्र को प्रमाण मानकर उनमें श्रद्धा करें । सभी देवतायें मन्त्रात्मक हैं और सभी मन्त्र शिवात्मक है । यह सब कुछ शिवात्मक ही हैं—ऐसा समझकर शिव का ही अनुचिन्तन करना चाहिये ।'

मतङ्गशास्त्र में भी—

'इसके बाद शिर पर चमकती हुई मणि वाले तथा मन्त्रों से सुशोभित भगवान् शिव ने वाक् रूपी अग्नि से उत्पन्न ज्वालारूपी शक्ति से मुनि के समस्त अज्ञान को तृणराशि के समान जला दिया ।'

शिव के मुखकमल से उत्पन्न निर्मल सर्वतोमुखी, शिवत्व को जागृत करने वाला, अज्ञान का नाशक यथार्थ ज्ञान (उत्पन्न होता है) । सिद्ध लोग इसके द्वारा उस अनामय पद को देखते हैं ।

'मतङ्गादौ' मे स्थित आदि पद से चिल्ला, चक्रेश्वरी आदि मतों का ग्रहण होता है । वही वहाँ कहा गया है—

'वह अज्ञान बौद्ध और पौरुष (भेद से) दो प्रकार का कहा गया है । उनमें से

बौद्धमक्षयमेवास्ते तावत्तावत्समुद्रितम् ।
यावन्न बौद्धमेवास्य सजातीयविलापकम् ॥
ज्ञानमभ्युदितं सम्यक्सारेतरविभागकृत् ।'

इति पौंस्नज्ञानाभिव्यञ्जने दीक्षा तावन्न प्रभवेद्यावदस्य बौद्धं ज्ञानं पूर्वभावि न स्यात्, येनास्य ततोऽपि प्राधान्यमुक्तम् ॥ ४६ ॥

एवं बौद्धमपि ज्ञानं पारमेश्वरं शास्त्रमन्तरेण कुतः समुदियात् इति तदेव मूलकारणत्वादिह प्रधानम्—इत्याह—

तथाविधावसायात्मबौद्धविज्ञानसम्पदे ।
शास्त्रमेव प्रधानं यज्ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम् ॥ ४७ ॥

'संपदे' इति—तां जनयितुम्—इत्यर्थः । यतो 'ज्ञेयस्य' नीलसुखादेः 'तत्त्वम्' प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या प्रकाशात्मकशिवस्वभावत्वम्, तस्य प्रदर्शकम् पराद्वयोपदेशकारित्वात्तदभिधायकम्—इत्यर्थः । अत एव चास्य तदप्रदर्शकतया शास्त्रान्तरेभ्यो वैलक्षण्यमपि कटाक्षितम् ॥ ४७ ॥

पौरुष अज्ञान दीक्षा आदि के द्वारा क्षीण होता है । बौद्ध अज्ञान तब तक पूर्ण उदित और अक्षय रहता है जब तक कि उसका सजातीय एवं (अज्ञान का) विलायक सम्यक् तथा तत्त्व से भिन्न को अलग करने वाला बौद्ध ज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता ।'

पौरुष ज्ञान को व्यक्त करने में दीक्षा तब तक समर्थ नहीं होती जब तक कि उसके पूर्व बौद्धज्ञान उदित न हो । इस कारण इस (बौद्ध ज्ञान) को उस (पौरुष ज्ञान) की अपेक्षा प्रमुख कहा गया है ॥ ४६ ॥

बौद्ध ज्ञान भी पारमेश्वर (= शैव) शास्त्र के अध्ययन के बिना कैसे उदित हो सकता है (अर्थात् नहीं उदित हो सकता) इसलिये मूल कारण होने से वही यहाँ प्रधान है—यह कहते हैं—

उस प्रकार के निश्चयात्मक बौद्धविज्ञान को उत्पन्न करने के लिए शास्त्र ही प्रधान है क्योंकि (वह) ज्ञेय तत्त्व का प्रदर्शक है[१] ॥ ४७ ॥

सम्पत्ति के लिये = पर विज्ञान को उत्पन्न करने के लिये । क्योंकि ज्ञेय = नील सुख आदि का, तत्त्व = प्रकाशमानत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से प्रकाश रूप शिवस्वभावत्व उसका प्रदर्शक = पर अद्वय का उपदेष्टा होने के कारण उसका कथन करने वाला । इसलिये उस (= द्वैतप्रथा वाले नील सुख आदि) का प्रदर्शक न होने के कारण इस शैव शास्त्र की अन्य शास्त्रों से विलक्षणता का भी सङ्केत किया गया ॥ ४७ ॥

---

१. यत् = यतः

ननु भवत्वेवम्, अत्र पुनः किं निमित्तं यत्पौंस्नाज्ञाननिवृतौ देहान्ते मुक्तिः, बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु तदैव—इत्याशङ्क्याह—

दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मनि ।
धीगतस्यानिवृत्तत्वाद्विकल्पोऽपि हि सम्भवेत् ॥ ४८ ॥

'धीगतस्य' इति अज्ञानस्य । 'विकल्पो हि' भेदप्रथात्मकः स चैव अख्याति-रूपत्वादज्ञानम् इति बहूक्तम् ॥ ४८ ॥

ननु धीगतमज्ञानं यदि न निवृत्तं तदात्मनः किमायातम्—इत्याशङ्क्याह—

देहसद्भावपर्यन्तमात्मभावो यतो धियि ।
देहान्तेऽपि च मोक्षः स्यात्पौरुषाज्ञानहानितः ॥ ४९ ॥

दीक्षितस्यापि हि नियतकालं बुद्धावात्मग्रहो भवेत् इति तयोरभेदाद् बौद्धमप्यज्ञानमात्मन्युपचितं सम्भवेत्—इति भावः । अत एव देहान्ते बुद्धावात्म-ग्रहव्युपरमात् पौरुषस्याज्ञानस्य दीक्षादिना पूर्वमेव प्रध्वस्तत्त्वान्मोक्षः इति युक्तमुक्तम् 'तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम्' इति ॥ ४९ ॥

प्रश्न है कि ऐसा हो जाय किन्तु इसका क्या कारण है कि पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर देहपात होने पर मुक्ति हो जाती है और बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर उसी समय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दीक्षा के द्वारा पौरुषात्मक अज्ञान के नष्ट होने पर भी बुद्धिगत अज्ञान के निवृत्त न होने से विकल्प की सम्भावना रहती है ॥ ४८ ॥

धीगत का = अज्ञान का । विकल्पभेदप्रथा वाला होता है और वही अख्यातिरूप होने से अज्ञान है—यह कई बार कहा जा चुका है ॥ ४८ ॥

यदि बौद्ध अज्ञान नहीं निवृत्त होता तो आत्मा का क्या होता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूंकि देह की सत्तापर्यन्त बुद्धि के विषय में आत्मभाव बना रहता है इसलिए (यदि बौद्ध अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है तो) पौरुष अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी देहान्त के बाद मोक्ष नहीं होगा ॥ ४९ ॥

दीक्षाप्राप्त व्यक्ति को भी नियत काल (= शरीरधारण) पर्यन्त बुद्धि मे आत्माभिमान रहता । इसलिये उन दोनों (आत्मा और बुद्धि) का अभेद होने से बौद्ध अज्ञान आत्मा में भी आ सकता । इसलिये देहपात होने पर बुद्धि में आत्मभावना के नष्ट हो जाने पर और पौरुष अज्ञान के दीक्षा आदि के द्वारा पहले ही नष्ट हो जाने से मोक्ष हो जाता है । इसलिये ठीक कहा गया—'उस (साधक) के शरीर का अन्त होने पर वह ज्ञान स्पष्टतया स्फुरित होता है' ॥ ४९ ॥

एवं विकल्पोऽत्र सम्भवन्मुक्तौ व्यवधायकः इति न तदैव मुक्तिः, तस्य पुनरसम्भवे सत्यपि देहे मुक्तिः—इत्याह—

बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु विकल्पोन्मूलनाद् ध्रुवम् ।
तदैव मोक्ष इत्युक्तं धात्रा श्रीमन्निशाटने ॥ ५० ॥

न चैतदप्रमाणकम्—इत्याह—'इत्युक्तम्' इत्यादि ॥ ५० ॥

विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत् ।
इतरस्तु तदैवेति शास्त्रस्यात्र प्रधानतः ॥ ५१ ॥

'इतरः' इति निर्विकल्पः ।' तदैव' इति देहसद्भावे—इत्यर्थः । यदुक्तम् तत्रैव—

'विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत् ।'
विकल्पहीनचित्तस्तु ह्यात्मानं शिवमव्ययम् ॥
पश्यते भावशुद्ध्य यो जीवन्मुक्तो न संशयः ।' इति ।

इदानीं प्राक् प्रतिज्ञातं शास्त्रस्यैव प्राधान्यं निगमयति—इति इत्यादिना 'इति'

मुक्ति में सम्भावित विकल्प बाधक बनता है इसलिये उसी समय मुक्ति नहीं होती और यदि वह (= विकल्प) उत्पन्न न हो तो शरीर रहते हुए मुक्ति हो जाती है—यह कहते हैं—

बौद्ध अज्ञान के निवृत्त होने पर विकल्पों का नाश होने से निश्चित ही उसी समय मोक्ष हो जाता है—ऐसा निशाटनशास्त्र में धाता के द्वारा कहा गया है ॥ ५० ॥

यह कथन अप्रामाणिक नहीं है—इसलिये कहा गया—इत्युक्तम्............. इत्यादि ॥ ५० ॥

विकल्प से युक्त चित्त वाला व्यक्ति शरीर के अवसान के बाद शिवत्व को प्राप्त करता है । दूसरा (= निर्विकल्पक चित्त वाला) तो उसी समय देह रहते हुए, (शिवत्व को) प्राप्त करता है क्योंकि यह विषय इस शास्त्र मे प्रधान है ॥ ५१ ॥

इतर = निर्विकल्प । उसी समय = देह के रहते हुए । जैसा कि वहीं पर (= निशाटन में) कहा गया—

विकल्पों से युक्त चित्त वाला साधक देहपात होने पर शिव को प्राप्त होता है किन्तु विकल्पों से रहित चित्तवाला जो (साधक) भावों की शुद्धिपूर्वक अपने को अव्यय शिव के रूप में देखता है वह जीवन्मुक्त होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है ।'

अब पूर्वप्रतिज्ञात शास्त्र के ही प्राधान्य को 'इति' इत्यादि के द्वारा निष्कर्ष रूप

शब्द: काकाक्षिन्यायेन योज्य:, तेन श्रीनिशाटनग्रन्थसमाप्तौ हेतौ च व्याख्येय: । स च 'ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम्' इत्यादिना प्रागप्युक्त: ॥ ५१ ॥

ननु किं नाम ज्ञेयस्य तत्त्वं यत्प्रदर्श्यमानं शास्त्रप्राधान्यावगमकमपि स्यात्—इत्याशङ्क्याह—

ज्ञेयस्य हि परं तत्त्वं य: प्रकाशात्मक: शिव: ।
नह्यप्रकाशरूपस्य प्राकाश्यं वस्तुतापि वा ॥ ५२ ॥

'ज्ञेयस्य' नीलादेर्नीलतैव—प्रकाशमानता न तावदात्मभूता, तथात्वे हि सर्वदैव सर्वान्प्रति च स्यान्न तु कदाचित्कंचित्प्रति इति सर्वेऽपि सर्वज्ञा: स्यु: । अतश्च अस्य प्रकाशते, मम प्रकाशते इति प्रकाशात्मप्रमातृसंलग्नैव सा युज्यते इति नासौ स्वातन्त्र्येण पर्यवसितस्वरूपो नीलादि:, शिव एव प्रकाशात्मक: प्रमाता, तदतिरिक्तस्य अन्यस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्त्वात्, अतश्च नीलादेर्ज्ञेयस्य प्रकाशमानत्वात् स एव परमार्थ: इत्युक्तम् 'प्रकाशात्मक: शिव: परं तत्त्वम्' इति । नन्वसौ स्वयमतथारूपोऽपि प्रकाशसंबन्धात्तथा भविष्यति इत्याशङ्क्याह—'नहि'

में बतलाते हैं—'इति' शब्द को काकाक्षिन्याय से जोड़ना चाहिये । इस प्रकार 'इति' शब्द के दो अर्थ है—

१. निशाटन की समाप्ति । २. शास्त्र ही हेतु है । वह 'ज्ञेय तत्त्व का प्रदर्शक है'—इत्यादि के द्वारा पहले भी कहा जा चुका है ॥ ५१ ॥

प्रश्न है कि—ज्ञेय का वह तत्त्व क्या है जो प्रदर्श्यमान होकर शास्त्र का बोधक भी होता है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

जो प्रकाशस्वरूप शिव है (वही) ज्ञेय का परमतत्त्व है । जो प्रकाशस्वरूप नहीं है उसकी प्रकाशमानता अथवा वास्तविकता भी नहीं है (अर्थात् उसकी सत्ता ही नहीं है) ॥ ५२ ॥

ज्ञेय = नील आदि की नीलता ही प्रकाशमानता है । यह (= प्रकाशमानता) आत्म तत्त्व नहीं है । वैसा होने पर (यदि यह आत्मा होता) तो (आत्मा चूँकि नित्य और सर्वव्यापी है अत:) सबको सदा प्रकाशित होता न कि किसी को किसी समय । फलत: सब लोग सर्वज्ञ हो जाते । इसलिये 'इसको दिखलायी पड़ता है ।' 'मुझे प्रकाशित होता है ।'—ऐसा (अनुभव होने से) प्रकाशस्वरूप प्रमाता से सम्बद्ध होने पर ही यह (= प्रकाशमानता) सङ्गत होती है । इस प्रकार नील आदि स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व वाले नहीं हैं । शिव ही प्रकाशस्वरूप प्रमाता है । उससे अतिरिक्त अन्य (पदार्थ) भेद और अभेद रूपी विकल्पों से ग्रस्त हैं । नील आदि ज्ञेय पदार्थों का प्रकाशक होने से वह (= शिव) ही अन्तिम तत्त्व है इसलिये कहा गया—'शिव परम तत्त्व है ।' प्रश्न है कि यह (नील आदि) स्वयं वैसा न होते हुए भी प्रकाश के सम्बन्ध से वैसा (= प्रकाशमान) हो जाता—ऐसी शङ्का कर कहते हैं

इत्यादि । प्रकाशसंबन्धेनापि हि प्रकाशमानो नीलादिः स्वयं प्रकाशरूप एव सन् प्रकाशते, न अप्रकाशरूपश्च प्रकाशते च इति स्यात् नहि अश्वेतः प्रासादः श्वेतते, न चैवं वस्तुत्वमप्यस्य स्यात् नहि प्रकाशरूपतामपहाय अन्यद्वस्तु सम्भवेत्—इति भावः ॥ ५२ ॥

एवं च न केवलं नीलादेर्ज्ञेयस्य भावस्य प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मकः शिवस्तत्त्वं यावत्तदभावस्यापि—इत्याह—

अवस्तुतापि भावानां चमत्कारैकगोचरा ।
यत्कुड्यसदृशी नेयं धीरवस्त्वेतदित्यपि ॥ ५३ ॥

यतो 'नास्त्यत्र घटः' इत्येवंरूपापि बुद्धिर्बोधस्वभावत्वात्कुड्यादिजडपदार्थ-विलक्षणा अत एव घटाद्यभावोऽपि बुद्ध्यमानत्वात्परमानन्दैकघनबोधात्मक-शिवस्वभाव एव—इत्यर्थः । तदाहुः—

'अबोधोऽपि बुद्ध्यमानो बोधात्मभूत ईश्वर एव ।' इति ॥ ५३ ॥

ननु सिद्धे प्रकाशे भावाभावरूपस्य ज्ञेयस्य तदेकपरमार्थत्वं सिद्ध्येत्, स एव पुनः केन प्रमाणेन सिद्धः ? इत्याशङ्क्याह—

'न हीं...)' नील आदि (यद्यपि अप्रकाश रूप हैं तथापि) प्रकाश के सम्बन्ध से प्रकाश मान होते हुए वे स्वयं प्रकाशरूप होकर प्रकाशित होते हैं । जो अप्रकाशरूप है वह प्रकाशित नहीं हो सकता । अश्वेत महल श्वेत नहीं बन सकता। इसी प्रकार यह वस्तु भी नहीं है क्योंकि प्रकाशरूपता को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु सम्भव नहीं है ॥ ५२ ॥

नील आदि ज्ञेय पदार्थों के प्रकाशित होने से शिव तत्त्व केवल (उनका) प्रकाशक है ऐसा नहीं है वह उनके अभाव का भी प्रकाशक है—यह कहते हैं—

पदार्थो की अवस्तुता भी केवल चमत्कार का विषय है क्योंकि अवस्तु (= यह वस्तु नहीं है) ऐसी बुद्धि भी दीवाल के समान (जड) नहीं है (अपितु बोधस्वरूप है) ॥ ५३ ॥

'यहाँ घट नही हैं—ऐसी बुद्धि बोधस्वभावा होने के कारण दीवाल आदि जड़ पदार्थों से विलक्षण है । इसलिये फट आदि को अभाव भी ज्ञात होने के कारण परमानन्दैकघनबोधरूप शिवस्वभाव वाला ही है । वही कहा है'—

'अबोध का भी ज्ञान होता है इसलिये वह भी बोधरूप ईश्वर ही है' ॥ ५३ ॥

प्रकाश के सिद्ध होने पर भावाभावरूप ज्ञेय प्रकाश रूपपरमार्थ सिद्ध होते हैं किन्तु वह (= प्रकाश) ही किस प्रमाण से सिद्ध होता है ?

यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते ।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन्मानकल्पनैः ॥ ५४ ॥

अपूर्वार्थविषयं खलु प्रमाणम् । यदाहुः—

'अनधिगतविषयं प्रमाणमज्ञातार्थप्रकाशो वा ।' इति ।

प्रकाशस्य अपूर्वत्वेन प्रकाशो नास्ति सर्वदैव तस्य प्रकाशमानत्वेन 'अनपह्नवनीयत्वात्' इति व्यर्थं तत्र प्रमाणपरिकल्पनम् । तथाहि तदा तस्य अपूर्वत्वेन प्रकाशः स्यात् यद्यसौ पूर्वमनधिगतत्त्वेन अप्रकाशमानः स्यात् तथाभावश्च तद्रहितपूर्वकालस्मृतौ सत्यां भवेत्त्, स्मृतिरपि एवंरूपमनुभवं विना नोत्पद्यते, अनुभूतविषयासम्प्रमोषात्मकत्वात्तस्याः, न च प्रकाशरहितत्त्वेन पूर्वकालमनुभवोऽस्ति, तस्यैवानुभवस्य प्रकाशात्मकत्वात्, स एव हि प्रकाशः इति कथं पूर्वमपि तदभावः, अतश्च सर्वदास्य अवभासमानत्वेन आदिसिद्धत्वात् न प्रमाणसव्यपेक्षा सिद्धिः । स एव च 'प्रकाश एव प्रकाशकः प्रमाता' इति नीत्या परप्रमातृरूपः परमेश्वरः शिवः इति युक्तमुक्तम्—'ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।' इति ॥ ५४ ॥

प्रकाश वही है जो सर्वत्र ही प्रकाशित होता है । चूंकि वह छिपाने (अस्वीकार करने) योग्य नहीं है अतः उसके बारे में प्रमाणों की कल्पना करने से क्या लाभ? ॥ ५४ ॥

प्रमाण वह है जो अपूर्ण (= अज्ञात) अर्थ को विषय बनाता है । जैसा कि कहते हैं—

'अप्राप्त अथवा अज्ञात वस्तु प्रमाण का विषय बनती है । या प्रमाण के द्वारा ज्ञात होती है ।'

प्रकाश अपूर्व के रूप में प्रकाशित नहीं होता । सर्वदा प्रकाशमान होने से उसका कभी निषेध नहीं किया जा सकता । इसलिये उसके विषय में प्रमाण खोजना व्यर्थ है । वैसा मानने पर वह अपूर्व रूप से प्रकाशक बनता। यदि यह पहले अनधिगत रूप होने से अप्रकाशक होता तो उसका वैसा होना उससे रहित पूर्वकाल की स्मृति होने पर होता । और स्मृति भी बिना उस प्रकार के अनुभव के उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वह अनुभूत विषय का असम्प्रमोष रूप वाली है । प्रकाशरहित होने से पूर्वकाल में अनुभव रहता नहीं क्योंकि वही (= प्रकाश वाला ही) अनुभव प्रकाश रूप होता है । वही प्रकाश है फिर उसका पहले अभाव कैसे होगा । इसलिये इस (= प्रकाश) के सर्वदा अवभासमान होने से आदि सिद्ध (= अनादि) होने के कारण उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। और वही 'प्रकाश प्रकाशक = प्रमाता है' इस नीति से परमेश्वर शिव ही परप्रमाता है । यह ठीक कहा गया कि 'जो प्रकाशात्मक शिव है वही ज्ञेय का परम तत्त्व है' ॥ ५४ ॥

न केवलमेतत्सिद्धौ प्रमाणानामनुपयोगो यावत्प्रत्युत एषां तदधीना सिद्धिः— इत्याह—

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते ।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः ॥ ५५ ॥

इह वस्तूनां नीलपीतादीनां प्रकाशनिरपेक्षेण स्वस्वरूपेण तावत्स्वयमन्योऽन्यं वा न कश्चिद्विशेषः । नहि स्वात्मनि नीलं नीलं पीतं वा पीतम् । यदि नाम हि स्वात्मनि नीलं पीतं स्यात्पीतं वा नीलम्, तत्किमिव न विरुद्धमापतेत् । अथ यथैव यत्प्रकाशते तथैव तत्स्वात्मनि परिनिष्ठतं स्यात् इति न नीलं पीतम्, पीतं वा नीलम्, इति चेत्—एवं तर्ह्येषां स्वात्मनि विशेषो न कश्चिदुक्तः स्यात् अपि तु प्रकाशते इति—इति प्रकाश एवैषां रूपं तत्तन्नियतस्वरूपप्रतिष्ठानिबन्धनत्वात् जीवितं वितनुयात् येन नीलमिदं पीतमिदम् इति सिद्ध्येत् । स च नीलाद्युपरागेण नियतरूपतामवलम्बमानः प्रमाणशब्दव्यपदेश्यो भवेत् । न चास्य स्वात्मसिद्धिं प्रति अन्यदपेक्षणीयम्—प्रकाशरूपत्वात्, प्रकाशस्य च स्वपरप्रकाशकत्वात्, तथाभूतोऽप्यसौ प्रकाशो विमर्शरूपतां विना नार्थस्य आत्मनो वा प्रकाशरूपतायां प्रतिष्ठास्पदं स्यात्, नहि प्रकाशः इत्येवासौ स्वपरात्मनोः

इस (प्रकाश रूप शिव) की सिद्धि में प्रमाण अनुपयोगी है—केवल इतना ही नहीं है बल्कि इन प्रमाणों की सिद्धि उस (= प्रकाश) के अधीन है—यह कहते हैं—

(लोग) जिन प्रमाणों को वस्तुओं का जीवित (= आधार) मानते है उन (प्रमाणों) का भी (एक) पर (= विमर्शात्मक प्रकाश) जीव (= आधार) है और वही परमेश्वर है ॥ ५५ ॥

नील पीत आदि वस्तुओं का प्रकाशनिरपेक्ष स्वस्वरूप की दृष्टि से स्वयं अथवा परस्पर कोई भेद नहीं है । नील अपने आप में नील नहीं है और पीत पीत नहीं। यदि अपने आप में नील पीत होता और पीत नील होता तो (अपने में ही) वह विरुद्ध हो जाता । इसलिये जो जिस रूप में प्रकाशित होता है वह उसी रूप में अपने में परिनिष्ठित रहता है । इसलिये नील पीत नहीं होता और पीत नील नहीं। यदि ऐसा हो तो फिर इन (नील आदि) का अपने में कोई वैशिष्ट्य उक्त नहीं होगा । चूँकि यह प्रकाशित होता है—इसलिये प्रकाश ही इनका रूप है और यही उनकी अपने-अपने नियत रूप में प्रतिष्ठा का कारण होने से उनको जीवन प्रदान करता है जिससे 'यह नील है' 'यह पीत है' यह सिद्ध होता है । वही (प्रकाश) नील आदि के उपराग से निश्चित रूप प्राप्त कर प्रमाण शब्द से व्यवहृत होता है । अपने को सिद्ध करने के लिए इसे दूसरे की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि यह स्वयंप्रकाश रूप है और प्रकाश स्वपरप्रकाशक होता है । ऐसा होकर भी यह प्रकाश विमर्शरूपता के बिना किसी पदार्थ का या स्वयं अपना भी प्रकाश नहीं

प्रतिष्ठापको भवेत्, एवं हि नीलमपि नीलम् इत्येव कृत्वा तथा स्यात् । तस्मात्स्वपरप्रकाशतासिद्धौ तस्यापि अहंपरामर्शात्मा जीवितभूतः प्रकाशोऽभ्युपगमनीयोयेन सर्वं सिद्ध्येत् । यदुक्तम्—

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।' इति ।

स एव च परप्रकाशात्मा परमेश्वरः शिवः इत्युक्तम्—'तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः' इति ॥ ५५ ॥

एवमादिसिद्धत्वादस्य न केवलं साधकं प्रमाणमकिञ्चित्करं यावद्बाधकमपि —इत्याह—

सर्वापह्नवहेवाकधर्माप्येवं हि वर्तते ।
ज्ञानमात्मार्थमित्येतन्नेति मां प्रति भासते ॥ ५६ ॥

'सर्वेषाम्' ज्ञातृज्ञानज्ञेयानाम् 'अपह्नवो' निराकरणं तत्र 'हेवाक' एव 'धर्मः' स्वभावो यस्यासौ बौद्धः । तत्र त्रयाभाववादिनो माध्यमिकाः । ज्ञातृज्ञेयाभाववादिनो योगाचाराः । ज्ञात्रभाववादिनो वैभाषिकाः ।

करा सकता । प्रकाशमात्र होने से यह अपना और दूसरे का प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता । ऐसा होने पर नील भी नील ही रहता (वह किसी को ज्ञात नहीं होता) । इसलिये (प्रकाश की) स्वपरप्रकाशता सिद्ध होने पर उस (प्रकाश) को भी अहंपरामर्श रूप जीवनात्मक प्रकाश मानना चाहिये जिससे सब सिद्ध हो जायेगा । जैसा कि कहा गया—

'प्रकाश की अपने में विश्रान्ति ही अहंभाव कहा गया है ।'

और वही पर प्रकाशरूप परमेश्वर शिव है ऐसा कहा गया—उन से भी परे जीव है वही परमेश्वर है ॥ ५५ ॥

इस (= प्रकाश) के आदि सिद्ध होने से केवल साधक प्रमाण व्यर्थ नहीं है बल्कि बाधक प्रमाण भी (व्यर्थ) है—यह कहते हैं—

सभी (ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि पदार्थों) के निषेध के लिए उत्कट इच्छा वाले (बौद्ध) भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं । (वे बौद्ध भी) 'ज्ञान आत्मा के लिए है'—ऐसा मुझे नहीं भासित होता (इस प्रकार कहते हुए अपनी सत्ता को स्वीकार करते हैं और वहीं आत्मसत्ता परमेश्वर है) ॥ ५६ ॥

समस्त = ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का, अपह्नव = निषेध इसलिये 'हेवाक' ही है धर्म = स्वभाव जिसका वह अर्थात् बौद्ध । उनमें से माध्यमिक (= शून्यवादी) बौद्ध (ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय) तीनों का अभाव मानते हैं । योगाचार (=विज्ञानवादी) बौद्ध ज्ञाता और ज्ञेय का अभाव मानते है । वैभाषिक ज्ञाता का अभाव स्वीकार करते हैं ।

सोऽपि 'ह्येवं ज्ञानमात्मार्थम्' इत्येतत् मां संवेदनस्वभावत्वाद् विचारयितारं प्रति नेति भासते—नास्ति इति प्रतीतिरूपो वर्तते—अवतिष्ठते—इत्यर्थः, तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावाक्षिप्तः सिद्धः नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, स च स्वतः सिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव ॥ ५६ ॥

अतश्च तत्र व्यर्थमेव बौद्धस्यापि प्रमाणस्य परिकल्पनम्—इत्याह—

अपह्नुतौ साधने वा वस्तूनामाद्यमीदृशम् ।
यत्तत्र के प्रमाणानामुपपत्त्युपयोगिते ॥ ५७ ॥

'वस्तूनाम्' ज्ञातृज्ञानज्ञेयात्मनाम्, 'आद्यम्' आद्यसिद्धत्वात् 'ईदृशम्' परप्रमातृरूपम्, 'तत्र' इति आदिसिद्धे प्रमातरि । प्रमेयं खलु प्रमिण्वत्प्रमाणमुच्यते, प्रमेयं च विभिन्नप्रकाशाधीनसिद्धिकमिदन्ताविमृश्यं च भवति । न चैवंरूपत्वं प्रमातुर्येन प्रमाणपरिच्छेद्यः स्यात्, स हि अर्थपरिच्छेदादौ पवृत्तः स्वप्रकाशरूपत्वान्न प्रकाशाद्भिन्नो नापीदन्ताविमृश्यः, अहंप्रत्यवमर्शमयत्वात्, स च यदि प्रमाणप्रमेयः स्यात् तत्रापि प्रमितिक्रियायां प्रमात्रा अपरेण भाव्यम्,

---

वह भी 'इस प्रकार ज्ञान आत्मा के लिये है इसलिये यह मुझे = संवेदन स्वभाव वाला होने के कारण विचारकर्त्ता को, भासित नहीं होता = नहीं है इस प्रतीति के रूप में रहता है । इसलिये आत्मा के निराकरण में अथवा सिद्ध करने में साधक अवश्य पूर्व कोटि में आक्षिप सिद्ध होता है । अर्थ साधयिता के बिना साध्य नहीं बन सकते और वह (= साधयिता स्वतः सिद्ध प्रकाशस्वरूप परमार्थ परमेश्वर शिव ही है ॥ ५६ ॥

इसलिये इस विषय में बौद्ध की भी प्रमाण कल्पना व्यर्थ ही है—यह कहते हैं—

(ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप) वस्तुओं के आद्य (= आदि सिद्ध) होने से इस प्रकार (परप्रमाता के भी आदि सिद्ध होने से उसके विषय में) प्रमाणों की उपपत्ति और उपयोगिता ही क्या है ॥ ५७ ॥

वस्तुओं का = ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप (वस्तुओं) का । आद्य = प्रथमसिद्ध । ऐसा = परप्रमाता रूप । उसमें = आदिसिद्ध प्रमाता के विषय में । प्रमेय को प्रमा का विषय बनाने वाला प्रमाण कहलाता है और प्रमेय की सिद्धि विभिन्न प्रकाश के अधीन होती है और (वह प्रमेय) 'इदम्' के रूप में विमर्श का विषय होता है । परप्रमाता का ऐसा रूप नहीं है जिससे वह प्रमाण का परिच्छेद्य (= विषय) बन सके । विषय के परिच्छेद आदि के विषय में प्रवृत्त वह (= प्रमाता) स्वप्रकाशरूप होने से प्रकाश से भिन्न नहीं है साथ ही वह इदन्ता के द्वारा विमृश्य भी नहीं है क्योंकि (वह) अहंप्रत्यवमर्श वाला है । यदि वह प्रमाणों के द्वारा प्रमेय होता तो

तत्राप्यन्येन इत्यनवस्थानं स्यात्, तस्मान्नात्र प्रमाणस्य प्रवृत्तौ काचिदुपपत्तिः । यस्तु भावनोपदेशादौ 'सकृद् विभातोऽयमात्मा प्रमाता' इत्यादिरिदन्तया व्यवहारः स न वास्तवः, तत्र तस्य साक्षादप्रतीतेः; अहन्ताव्यवधानेन हि तत्रासौ प्रतीयते इत्यास्ताम्, एतद्धि पदे पदे वितनिष्यते । प्रमाणानुपयोगस्त्वादिसिद्धत्वात् समनन्तरमेव दर्शितः, इति न पुनर्वितानितः ॥ ५७ ॥

न केवलमत्र युक्तिरेवास्ति यावदागमोऽपि—इत्याह—

कामिके तत एवोक्तं हेतुवादविवर्जितम् ।
तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ॥ ५८ ॥
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ।

ततः इति—तत्र प्रमाणानामुपपत्त्युपयोगयोरभावात्, हेतोः—अनुमानस्य वादेन विवर्जितम् अत एवाह—तस्य इत्यादि, परस्य—प्रमाणादेः, अतः इति—परानपेक्षत्वलक्षणाद्धेतोः ॥ ५८ ॥

एवमस्य परानपेक्षत्वाद्यथा न प्रमाणान्यवच्छेदकानि, तथा प्रमेयाण्यपि

उसका भी प्रमाता कोई दूसरा होता फिर इस (दूसरे) का तीसरा—इस प्रकार अनवस्था हो जाती है । इसलिये यहाँ प्रमाण की प्रवृत्ति में कोई युक्ति नहीं है । भावनोपदेश आदि (ग्रन्थों) में (अथवा किसी भावना के कारण या किसी के उपदेश के आधार पर) जो 'प्रमाता रूप यह आत्मा एक बार प्रकाशित हो जाता है तो बस हो गया । दुबारा प्रकाशित नहीं होगा ।' (आत्मा के लिये) 'इदम्' रूप में व्यवहार किया गया वह वास्तविक नहीं है क्योंकि वहाँ (= भावना में) उस (= आत्मा) की साक्षात् प्रतीति नहीं होती । वहाँ वह अहन्ता के व्यवधान से प्रतीत होता है । इतना कथन पर्याप्त है । इसका तो (इस ग्रन्थ में) पग-पग पर व्याख्यान किया जायेगा । (आत्मा के) आदिसिद्ध होने से प्रमाणों का कोई उपयोग नही है—यह अभी पहले दिखा दिया गया इसलिये फिर चर्चा नहीं की गयी ॥ ५७ ॥

इस विषय में केवल तर्क ही नहीं आगम प्रमाण भी है—यह कहते हैं—

इसलिए कामिक शास्त्र में हेतु और वाद से रहित होकर कहा गया है कि उस देवातिदेव को किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है । चूँकि दूसरा स्वयं उस (= देवातिदेव) की अपेक्षा रखता है अतः यह (देवातिदेव परमेश्वर) स्वतन्त्र सिद्ध है ॥ ५८-५९- ॥

इस कारण = उस विषय में प्रमाणों की सिद्धि और उपयोग न होने के कारण, हेतु के = अनुमान के, सिद्धान्त से रहित । इसलिये कहते हैं—उसका इत्यादि । पर का = प्रमाण आदि का । अतः = पर की अपेक्षा न रखने के लक्षण के कारण ॥ ५८ ॥

इत्याह—

अनपेक्षस्य वशिनो देशकालाकृतिक्रमाः ॥ ५९ ॥
नियता नेति स विभुर्नित्यो विश्वकृतिः शिवः ।

वशिनः—स्वतन्त्रस्य इति विशेषणद्वारेण हेतुः । अत्रापीति—परानपेक्षस्य, प्रकाशात्मनः शिवस्य हि देशकालाकारैर्भेदाभेदविकल्पोपहतत्त्वादवच्छेदाधानमशक्यम् इत्युक्तम्—नियता न इति अत एव च स एवंविधः इत्याह—विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः—इति । विभुः इति—देशावच्छेदशून्यत्वात् । नित्य इति—अतीतादिकालावच्छेदविगलनात् । विश्वाकृतिः इति—चिदचिदाद्याकारवैचित्र्योल्लासकत्वात् ॥ ५९ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः ॥ ६० ॥
विश्वाकृतित्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः ।

अत एवास्यागमेषु नानारूपत्वमुच्यते—इत्याह—

ततोऽस्य बहुरूपत्वमुक्तं दीक्षोत्तरादिके ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार (प्रकाश के) परानपेक्ष होने से प्रमाण इस (प्रकाश) के अवच्छेदक नहीं होते उसी प्रकार प्रमेय भी—यह कहते हैं—

वशी (= स्वतन्त्र, अत एव) निरपेक्ष (उस शिव) के देश काल आकृति और क्रम नियत (= परिच्छन्न) नहीं है इसलिए वह विश्वरूप शिव व्यापक एवं नित्य हैं ॥-५९, ६०-॥

वशी का = स्वतन्त्र का, यह विशेषण के रूप में हेतु है इसमें भी परानपेक्ष का । प्रकाशात्मक शिव चूँकि देश काल आकार के द्वारा भेदाभेद वाले विकल्पों से युक्त नहीं है, इस कारण उसमें अवच्छेद का आधान सम्भव नहीं है—इसलिये कहा गया—नियत नहीं और इसीलिये वह इस प्रकार का है—यह कहते हैं—(वह) व्यापक नित्य और विश्वरूप आकार वाला है । देशावच्छेदशून्य होने से वह विभु है। अतीत आदि कालावच्छेद के नहीं होने से वह नित्य है । चित् एवं अचिद् आदि विचित्र आकार को उल्लसित करने के कारण विश्वाकृति है ॥ ५९ ॥

उसी का व्याख्यान करते हैं—

व्यापक होने के कारण सर्वत्र गतिशील (= विद्यमान) है । नित्य होने से आदि और अन्त से रहित है और विश्वाकृति होने के कारण चित् अचित् रूप विचित्रता का आभास कराने वाला है ॥-६०, ६१-॥

इसीलिये आगमों में उसके अनेक रूपों का वर्णन है—

तदेवाह—

भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च।
बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥ ६२ ॥

भुवनम् तत्तद्भुवनाधिष्ठेयं भोगाधाररूपम् । विग्रहशब्देन उपचाराद्विग्रहिणो लक्ष्यन्ते । तेषां च रुद्रक्षेत्रज्ञादिनानारूपत्वेऽपि तत्तत्सिद्धिदानसामर्थ्यादिह रुद्रादीनि कारणान्येव । ज्योतिः—बिन्दुः—

'कदम्बगोलकाकारः स्फुरत्तारकसन्निभः ।'

इत्यादिनास्य ज्योतीरूपत्वेनाभिधानात् । खं शून्यम्—शक्ति-व्यापिनी-समना-लक्षणम् । शब्दो नादात्मा मन्त्रः अकारोकारमकारात्मा । अस्य विशेषणम्-बिन्दुनादादिसंभिन्नः इति । यदुक्तम्—

'बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ ।
षड्वस्त्वात्मा शिवोध्येयः फलभेदेन साधकैः ॥' इति ।

इसीलिए दीक्षोत्तर आदि में इसका अनेक रूप कहा गया है।।६१।।

यह कहते हैं—

भुवन (= भोग का आधार), विग्रह (= शरीरधारी), ज्योति, आकाश शब्द और मन्त्र (ये) बिन्दु और नाद आदि से मिश्रित होन पर छः प्रकार के शिव नाम से अभिहित होते हैं (इसमें ज्योति का बिन्दु से शब्द का नाद से मिश्रण समझना चाहिए अथवा बिन्दु और नाद इसका सम्बन्ध केवल मन्त्र से समझना चाहिए । बिन्दु और नाद मन्त्र के विशेषण हैं) ॥ ६२ ॥

वही कहते हैं—

भुवन = भिन्न-भिन्न का भुवन जो कि अधिष्ठेय के भोग का आधार है । विग्रह शब्द से लक्षणया विग्रही को समझना चाहिये । उनके रुद्रक्षेत्रज्ञ आदि अनेक रूप होने पर भी भिन्न-भिन्न सिद्धि को प्रदान करने के सामर्थ्य के कारण यहाँ रुद्र आदि कारण ही हैं । ज्योति = बिन्दु ।

'(बिन्दु) कदम्ब के गोल (पुष्प) के आकार वाला तथा चमकते हुए तारा की भाँति होता है ।'

इत्यादि के द्वारा इसका ज्योतिरूप में कथन किया गया है । ख = शून्य जो कि शक्ति-व्यापिनी और समना रूप है । शब्द = नाद । मन्त्र अउम् वाला ओम् । बिन्दु नाद आदि से सभिन्न—यह ओम् का विशेषण है ।

'बिन्दु नाद व्योम मन्त्र भुवन और विग्रह इन छः वस्तुओं (= रूपों) वाले शिव का ध्यान साधकगण फलभेद के अनुसार करें ।'

तथा—

'उन्मना तु परो भावः स्थूलस्तस्यापरो मतः ।
पुनः शून्यं च व्योमात्मा संस्पर्श च ततः परम् ॥
शब्दो ज्योतिस्तथा मन्त्राः कारणा भुवनानि च ।' इति ॥

तथा—

'व्योम-विग्रह-बिन्द्वर्ण-भुवनाध्वविभेदतः ।
लक्ष्यभेदः स्मृतः षोढा................ ॥' इत्यादि ॥ ६२ ॥

अत्र च—

'यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाक् .... ॥

इतिन्यायेन यस्य यत्र निष्ठा तस्य तत्प्राप्तिर्भवति—इत्याह—

यो यदात्मकतानिष्ठस्तद्भावं स प्रपद्यते ।
व्योमादिशब्दविज्ञानात् परो मोक्षो न संशयः ॥ ६३ ॥

यः साधकः, यस्य भुवनादेः, आत्मकतायां तद्रूपतायाः, **निष्ठः**, स

तथा

उन्मना पर भाव है । उसका अपर भाव स्थूल है । पुनः शून्य व्योमस्वरूप है। उसके बाद संस्पर्श (थोड़ा स्थूल) है । शब्द ज्योति मन्त्र और भुवन ये सब कारणा (= बन्धन में डालने वाले) हैं ।'

तथा

'आकाश विग्रह (= शरीर) बिन्दु, वर्ण, भुवन और अध्वा के भेद से लक्ष्यभेद छः प्रकार का माना गया है'—इत्यादि ॥ ६२ ॥

यहाँ पर—

'जो (साधक) जहाँ जिन भोगों की कामना करता है वह वहीं नियोजित होकर सिद्धि प्राप्त करता है ।'

इस न्याय से जिसकी जिसमें निष्ठा होती है उसको उसकी प्राप्ति होती है—यह कहते हैं—

जो (साधक) जिस (भुवन आदि) की स्वरूपता के प्रति निष्ठा रखता है वह उसी रूप में सिद्धि प्राप्त करता है । मोक्ष, व्योम आदि शब्द के विज्ञान (= परामर्श) से अतिरिक्त (शिवैकात्म्यलाभरूप) है इसमें कोई संशय नहीं ॥ ६३ ॥

जो = साधक, जिसका = भुवन आदि की, आत्मकता = तद्रूपता में निष्ठा

तद्भावम्—तत्तद्भुवनादिरूपत्वेन नियतां सिद्धिमेति—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'भुवनं चिन्तयेद्यस्तु वक्ष्यमाणैकरूपकम् ।
भुवनेशत्वमाप्नोति.............................. ॥'

इत्युपक्रम्य—

'ब्रह्मादिकारणानां तु विग्रहं यः सदा स्मरेत्।
पूर्वोक्तलक्षणं यच्च तन्मयत्वमवाप्नुयात् ॥
मन्त्रैश्च मन्त्रसिद्धिस्तु जपहोमार्चनाद् भवेत् ।
पूर्वोक्तरूपकध्यानात्सिध्यत्यत्र न संशयः ॥
ज्योतिर्ध्यानात्तु योगीन्द्रो योगसिद्धिमवाप्नुयात् ।
तन्मयत्वं तदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत् ॥
शून्यध्यानाच्च शून्यात्मा व्यापी सर्वगतिर्भवेत् ।
समनाध्यानयोगेन योगी सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥' इति ।

एषां च षण्णामपि शिवात्मकत्वात्—

'............... शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः ।'

इत्याद्युक्तेः शिवैकमयतयैकैकानुप्रवेशेऽपि शिवात्मकस्वरूपलाभो भवेत्—

रखता है वह उस भाव को = तत्तद् भुवन आदि के रूप में नियत सिद्धि को प्राप्त करता है—यह अर्थ है । वही कहा गया—

'जो (साधक) वक्ष्यमाण रूप वाले भुवन का चिन्तन करता है वह भुवनेश बन जाता है । ....'

इत्यादि से प्रारम्भ कर—

'जो ब्रह्मा आदि (सृष्टि के) कारणों के पूर्वोक्त लक्षण वाले विग्रह का (अथवा जो ब्रह्मा आदि का पूर्वोक्त लक्षण है) उसका स्मरण करता है वह उसकी तन्मयता को प्राप्त करता है । मन्त्रों के (जप) द्वारा मन्त्र की सिद्धि होम और पूजन के कारण होती है । पूर्वोक्तरूप का ध्यान करने से (ध्येय की तद्रुपता) की सिद्धि होती है—इसमें कोई संशय नहीं है । योगीन्द्र ज्योति का ध्यान करने से योगसिद्धि को प्राप्त करता है । उसके बाद तन्मयत्व (= ज्योतिर्मयत्व) को प्राप्त करता है और योगियों का राजा हो जाता है । शून्य का ध्यान करने से वह शून्यात्मा होकर सर्वव्यापी और सर्वत्र गतिशील हो जाता है । समना के ध्यान के कारण योगी सर्वज्ञ हो जाता है ।'

इन छहों के शिवात्मक होने से—

'.........शिव का ध्यान कर (योगी) शिवमय हो जाता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा शिवमय एकरूप में अनुप्रवेश होने पर भी (योगी को)

इत्याह—व्योमादिशब्दविज्ञानात् इत्यादि । व्योमादीनाम् एषां षण्णां शब्दानां शब्दः परो विमर्शः, तदात्मकतया यत् विज्ञानम्—अनुभवः, तस्मात् परो—विमर्शैक-सारशिवैकात्म्यापत्तिलक्षणो, मोक्षो निःसंशयं भवेत्—इति वाक्यार्थः । व्योमादि-षट्क इति पाठे तु व्योमादेः षट्कस्य विशिष्टादनवच्छिन्नाज्ज्ञानात्—इति व्याख्येयम् । न च अत्र भुवनादीनां क्रमो विवक्षितः इतीह व्योमादि इति प्रयुक्तम् ॥ ६३ ॥

ननु यद्ययं विश्वाकृतिस्तत्कथमस्य षड्विधत्वमेवोक्तम्—इत्याशङ्क्याह—

विश्वाकृतित्त्वे देवस्य तदेतच्चोपलक्षणम् ।
अनवच्छिन्नतारूढाववच्छेदलयेऽस्य च ॥ ६४ ॥

उपलक्षणम् एव भवति, अनेनैव निखिलविश्वसंग्रहसिद्धेः । न केवलमेत-द्विश्वाकारतायामेवास्योपलक्षणं यावदन्यत्रापि—इत्याह—अनवच्छिन्नतारूढौ इत्यादि । अवच्छेदलये इति—अवच्छेदानां सङ्कोचाधायिनां भुवनादीनां लये विश्वोत्तीर्ण-तायाम्—इत्यर्थः । विश्वमयत्वेऽप्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्यावः इत्याशयः । नन्वेमुभयथापि अस्य नियतात्मकत्वावगमादवच्छेद एवोक्तो भवेत् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—अनवच्छिन्नतारूढाविति । अस्य हि विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्ण-

---

शिवात्मक स्वरूप का लाभ हो जाता है—यह कहते हैं—'व्योम आदि शब्द को जान लेने से'—इत्यादि । व्योम आदि इन छः शब्दों का शब्द = पर विमर्श, तदात्मक जो विज्ञान = अनुभव, उससे परे विमर्शात्मक शिवैकात्म्यप्राप्तिरूप मोक्ष (वह) निःसंशय प्राप्त हो जाता है—यह वाक्यार्थ है । (व्योमादि शब्द के स्थान पर) व्योमादिषट्क—ऐसा पाठ होने पर व्योम आदि छः के विशिष्ट = अनवच्छिन्न (= असीम) ज्ञान से—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । यहाँ पर भुवन आदि का क्रम विवक्षित नहीं है इसलिये यहाँ व्योम आदि—प्रयोग किया गया है ॥ ६३ ॥

यदि यह (परमेश्वर शिव) विश्व आकृति वाला है तो फिर इसको छ प्रकार का कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

देव (= परमशिव) के विश्वाकृतिरूप (= विश्वमय) होने, अन-वच्छिन्नता पर आरूढ होने तथा अवच्छेद का लय (= विश्वोत्तीर्णता) होने पर उसका यह (= षड्विधत्व) उपलक्षण है ॥ ६४ ॥

(यह षड्विधकथन) उपलक्षण है । इसी से समस्त विश्व का संग्रह सिद्ध हो जाता है । यह केवल विश्वाकारता का ही उपलक्षण नहीं है बल्कि अन्यत्र भी उपलक्षण है—यह कहते हैं—अनवच्छिन्नता रूढि मे......' । अवच्छेद का लय होने पर = अवच्छेदों अर्थात् सङ्कोचाधायक भुवन आदि का लय होने पर अर्थात् विश्वोत्तीर्णता दशा में—यह अर्थ है । विश्वरूप होने पर भी इसकी अपने स्वरूप में च्युति नही होती । प्रश्न है—दोनों प्रकार से इसके नियत होने से अवच्छेद ही उक्त

त्वादनवच्छिन्नतायामेव प्ररोहो भवेत्, एक एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तथा तथा प्रस्फुरेत् इति ॥ ६४ ॥

ननु कथमेकदैव एकस्य विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णत्वं सङ्गच्छते ?—इत्याशङ्काशान्तत्यर्थमागमं संवादयति—

उक्तं च कामिके देवः सर्वाकृतिर्निराकृतिः ।
जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम् ॥ ६५ ॥

दर्पणाद्यन्तः प्रतिबिम्बितं घटादि यथा दर्पणादिव्यतिरेकेण प्रकाशमानमपि दर्पणाद्यनतिरिक्तमेव, अन्यथा दर्पणघटयोरन्योन्यं वैविक्त्येन भानं स्यात्, तथैव प्रकाशात्मना शिवेनापि स्थावरजङ्गमात्मकमिदं विश्वं स्वेच्छया स्वस्वरूपातिरिक्ताय-मानत्वेन अवभासितं सत्, व्याप्तं प्रकाशमानतान्यथानुपपत्त्या स्वस्वरूपानतिरेकेणैव क्रोडीकृतम्, अत एवायं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः इत्युभयथापि न कश्चिद् दोषः। अत एवोक्तम्—सर्वाकृतिर्निराकृतिः—इति । सर्वाकृतिः—विश्वमयः निराकृतिः—विश्वोत्तीर्णः आवृत्त्या तत्त्वेऽपि तदुत्तीर्णः—इति च । तदेवमयमेक एव प्रकाशात्मा परमेश्वरः सर्वतो जृम्भते इतीश्वराद्वयमेव परमार्थतः ॥ ६५ ॥

ननु भावानां तदपेक्षया पृथक्प्रकाशानुपपत्तेर्मा नाम तदतिरेकेण सत्ता भूत्

हो रहा है?—ऐसी शङ्का कर कहा गया—**अनवच्छिन्नता** रूढि मे) इसके विश्वमय होने पर भी विश्वोत्तीर्ण होने से यह **अनवच्छिन्न ही रहेगा** । एक ही स्वतन्त्र संविद उन-उन (= विश्वोत्तीर्ण विश्वमय आदि) रूपों में **प्रस्फुरित** होता है ॥ ६४ ॥

एक ही समय में एक के विश्वमय होने पर (उसकी) विश्वोत्तीर्णता कैसे सम्भव है—ऐसी शङ्का की शान्ति के लिये आगम की चर्चा करते हैं—

कामिक आगम में कहा गया है कि देव (= शिव) समस्त आकृतियों वाला (= विश्वमय) तथा आकृतिविहीन (= विश्वोत्तीर्ण) है । जलदर्पण के समान (समस्त) चराचर उससे व्याप्त है ॥ ६५ ॥

दर्पण आदि के भीतर प्रतिबिम्बित घट आदि जैसे दर्पण से भिन्न प्रकाशित होते हुए भी दर्पण से अभिन्न ही रहता है अन्यथा दर्पण और घट का परस्पर भिन्न रूप से भान होता, उसी प्रकार प्रकाशस्वरूप शिव भी स्थावर जङ्गम रूप इस विश्व को अपनी इच्छा से स्वरूप से भिन्न रूप में प्रकाशित करते हुए भी व्याप्त होकर प्रकाशमानता की अन्यथासिद्धि न होने से स्वस्वरूप से अभिन्न ही स्वीकार करते हैं। इसीलिये यह विश्वमय होने पर भी विश्वोत्तीर्ण और विश्वोत्तीर्ण होने पर भी विश्वमय हैं—इस प्रकार दोनों रूपों में कोई दोष नहीं है । इसलिये कहा गया—(वह) सर्वाकृति भी है और निराकार भी है । इस प्रकार यह एक ही प्रकाशात्मा परमेश्वर सर्वत्र उल्लसित है । अतः परमार्थतः ईश्वराद्वय ही है ॥ ६५ ॥

इति भावापेक्षया प्रकाशात्मक एव एतेश्वरः इत्यास्तां तावदेतत् ।

यत्पुपर्विभुत्वादि धर्मजातं तस्योक्तं, तदपेक्षया धर्मधर्मिणोर्धर्माणां च परस्परं भेदस्य अनपह्नवनीयत्वाद् योऽयं भेद उल्लसितः कथं वार्यते येन एक एवेश्वरः इत्यद्वयवादनिर्वाहः स्यात् इत्याशङ्क्याह—

न चास्य विभुताद्योऽयं धर्मोऽन्योन्यं विभिद्यते ।

न च विभुताद्योऽयं अस्य स्वरूपातिरिक्तस्तदतिशायकः कश्चित् धर्मः अपि तु स्वरूपमेवैतत् । विभुत्वं हि व्यापकत्वमुच्यते, तच्च स्वव्यतिरिक्ते व्याप्ये सति स्यात्, न च परं प्रकाशमपेक्ष्य दिगादि किञ्चित्सम्भवेत् इति किं नाम व्याप्नुयात् ।

नित्यत्वमपि नास्य धर्मः—तस्य कालत्रयानुगामिरूपत्वात्, अस्य चाकालकलितत्वात् । यदभिप्रायेणैव 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इत्याद्युक्तम् । एवं विश्वाकृतित्त्वमपि । नहि एतदपेक्षया विश्वं नाम किञ्चिदस्ति, यदाकारत्वमप्यस्य स्यात् । एवं चैषां परप्रकाशापेक्षया कथंचिद्भेदायोगात्पारस्परिकोऽपि भेदो नास्ति

प्रश्न है कि भावों का उस (= शिव) से पृथक् प्रकाश सिद्ध न होने से उनकी सत्ता उससे भिन्न सिद्ध नहीं होती इसलिये भावों की अपेक्षा प्रकाशस्वरूप ईश्वर एक ही है यह तो ठीक है किन्तु जो उसका विभुत्व आदि धर्मसमुदाय कहा गया उसको दृष्टि में रखकर धर्म और धर्मी का तथा धर्मों का परस्पर भेद अस्वीकृत नही किया जा सकता । इसलिये यह जो भेद उल्लसित है उसका निराकरण कैसे होगा जिससे कि ईश्वर एक है—इस अद्वयवाद का निर्वाह हो—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसका विभुत्व आदि धर्म एक का दूसरे से भेद नहीं करता । (यहाँ तक कि विभुत्व आदि भी उसका कर्म नहीं अपितु स्वरूप (characteristics) है ।। ६६- ।।

यह विभुता आदि इस (प्रकाशरूप शिव) से अतिरिक्त उसमें अतिशय लाने वाला कोई धर्म नहीं है बल्कि यह उसका स्वरूप ही है । विभु का अर्थ है—व्यापक । और वह अपने से भिन्न व्याप्य के रहने पर ही सम्भव है । किन्तु पर प्रकाश को छोड़कर दिशा आदि कुछ भी सम्भव नहीं है फिर वह (प्रकाश) किसे व्याप्त करेगा ।

नित्यत्व भी इसका धर्म नहीं है क्योंकि यह (= नित्यत्व) तीनों कालों का अनुगामी होता है और यह (शिव) अकालकलित है । जिस अभिप्राय से ही 'यह आत्मा सकृत् विभात है' इत्यादि कहा गया । इसी प्रकार (यह) विश्वाकृति भी है । इसकी अपेक्षा विश्व नाम की कोई (वस्तु) नहीं है जो कि इसका आकार बने । इस प्रकार इन (= धर्मों) का परप्रकाश की अपेक्षा किसी भी प्रकार का भेद न

इत्युक्तम्—न चान्योन्यं विभद्यते इति ।

ननु यद्येवं तत्कथमस्य विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः इत्यादिधर्मभेद उक्तः?—इत्याशङ्क्याह—

एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ॥ ६६ ॥
तेन स्वतन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।

अस्य खलु एक एवासौ अहंप्रत्यवमर्शाख्यो हि स्वभावभूतो धर्मोऽस्ति, यः सर्वं विभुत्वादिधर्मजातमाक्षिपेत् । अत्रायमर्थः—अयं हि नाम प्रकाशस्य अहंप्रत्यवमर्श उच्यते यदयं स्वस्य परस्य वा प्रकाशने परं नापेक्षते इति । अत एवास्य स्वातन्त्र्यरूपं तत्तद्देशकालाद्यवभाससहस्रोल्लासनसामर्थ्यं स्यात्, येनास्य स्वसमुल्लासितोऽपि संकुचितः प्रमातृवर्गः स्वापेक्षया व्यापकत्वनित्यत्वादि व्यवहरेत्, वस्तुतः पुनरप्यहंप्रत्यवमर्शाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति येन—

'स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।'
(प्र०१ अ०५ आ०१३ श्लो०)

इत्याद्युक्तम् । अत एवाह—तेन इत्यादि ॥ ६६ ॥

ननु सर्वत्रैवास्य इच्छाद्यनन्तशक्तियोगित्वमुक्तमिति तत्कथमिहैकयैव

होने से परस्पर भी कोई भेद नहीं है—यह कहा गया—'(इनका) परस्पर भी भेद नहीं हैं' ॥ ६५ ॥

यदि ऐसा है तो फिर इसका विभु नित्य विश्वाकृति इत्यादि धर्मभेद कैसे कहा गया—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसका एक ही धर्म है कि वह सभी (विभुत्व आदि) धर्मों को (अपने में) आक्षिप्त (= समाहित) करके वर्तमान है । इसलिए (वह) स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त है यही सरल विधि है ॥ -६६, ६७- ॥

इसका एक ही स्वभावभूत धर्म है और उसका नाम है—अहंप्रत्यवमर्श । यह सभी विभुत्व आदि धर्मसमूह का आक्षेप कर लेता है । यहाँ यह अर्थ है—प्रकाश का यही प्रत्यवमर्श है कि वह अपने या पर के प्रकाशन के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता । इसी कारण स्वातन्त्र्य ही इसका सामर्थ्य है जिसके कारण तत्तद् देश काल आदि रूप में हजारों-हजारों रूप का उल्लास हो रहा है । उसी (सामर्थ्य) के कारण इसका स्वसमुल्लसित भी सङ्कुचित प्रमातृवर्ग अपनी अपेक्षा व्यापकत्व नित्यत्व आदि का व्यवहार करता है । वस्तुतः अहंप्रत्यवमर्श नामक इसकी स्वातन्त्र्य शक्ति ही है जिससे—

"यह इसका स्वातन्त्र्य ही है और वही परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है ।"

इत्यादि कहा गया । इसीलिये कहा—इस कारण ॥ ६६ ॥

स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या योग उच्यते ? इत्याशङ्क्याह—

बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ॥ ६७ ॥

स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि तत्तदेषणीयाद्युपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियते इति तच्छक्तियोगितैवास्यानन्तशक्तित्वम् । यदुक्तम्—

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।
एकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।'

इत्याद्युपक्रम्य—

'एवमेषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी' ॥ ६७ ॥

ननु एवमपीश्वराद्वयवादो न निर्व्यूढस्तदतिरिक्तायाः स्वातन्त्र्यशक्तेरप्यभिधानात् ? इत्याशङ्क्याह—

शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम् ।

प्रश्न है कि सर्वत्र इसको इच्छा आदि अनन्तशक्ति से युक्त कहा गया है तो फिर यहाँ एक ही स्वातन्त्र्य नामक शक्ति से योग कैसे कहा जाता है—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसका अनेक शक्तियुक्त होना भी उस (स्वातन्त्र्य) शक्ति से वियुक्त न होना है ॥ -६७ ॥

स्वातन्त्र्य शक्ति ही तत्तत् एषणीय (ज्ञेय) आदि उपाधि के कारण नानारूप में व्यवहृत होती है इस प्रकार उस (स्वातन्त्र्य) शक्ति के योग से ही यह अनन्तशक्ति वाला है । जैसा कि कहा गया—

"जगत्पालक की जो वह शक्ति उसमें समवाय रूप से वर्त्तमान है, हे देवि ! वही सृष्टि की इच्छा वाले उस (परमेश्वर) की इच्छा हो जाती है । एक होकर भी वह जिस प्रकार अनेक होती है उसे सुनो ।" (मा.वि.तं. १/५)

इत्यादि प्रारम्भ कर—

"इस प्रकार यह ईश्वरी दो रूप वाली होती हुई भी अर्थ रूप उपाधि के कारण, चिन्तामणि के समान अनन्त भेदों को प्राप्त करती है" ॥ ६७ ॥

प्रश्न है कि—इस पर भी ईश्वराद्वयवाद सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि उस (= शिव) से अतिरिक्त स्वातन्त्र्य शक्ति का कथन किया जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रमाताओं के द्वारा कल्पित, पदार्थ का अपना रूप ही शक्ति है ।

तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने ॥ ६८ ॥

यतो भावस्य—यस्य कस्यचन सतः पदार्थस्य—स्वमेव रूपं फलभेदात् भेदारोपेण शक्तिः इति प्रमातृभिः परिकल्प्यते, न त्वसौ वस्तुतः पदार्थान्तरं किञ्चित्, अतः शक्तिशक्तिमत्परिकल्पनेऽपि क्रियमाणे, स एव अद्वयमयो विभुः, न काचिदद्वयखण्डना इति यावत् । तदुक्तम्—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।' इति ॥ ६८ ॥

नन्वेवमस्तु, यत्र शक्तिशक्तिमतोर्भेद इति, शक्तीनां पुनः परस्परं भेद एव भवति इति पुनः स दोषस्तदवस्थ एव ? इत्याशङ्क्याह—

मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ॥ ६९ ॥

यथा वह्नेः दाहपाकादिफलभेदाद् दाहिका पाचिका च शक्तिर्भेदेन कल्पितापि वस्तुतः शक्तिमदेकस्वभावत्वान्न परस्परस्य स्वरूपं भेत्तुमलम्; पृथक्सिद्धं हि वस्तु वस्त्वन्तरं भिनत्ति, नहि शक्तेः शक्तिमदतिरेकेण पृथक्सिद्धिरेवास्ति इति किं

इसलिए शक्तिमान् की कल्पना होने पर भी वह अद्वय ही है ॥ ६८ ॥

किसी भी पदार्थ का अपना ही रूप फलभेद के आधार पर भेद का आरोप करने से शक्ति होती है प्रमातृगण ऐसी कल्पना करते हैं । यह शक्ति वस्तुतः कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । इसलिये शक्ति और शक्तिमानरूपी दो की कल्पना करने पर भी वह विभु अद्वयमय ही है इस प्रकार अद्वयवाद का कोई खण्डन (सम्भव, नहीं है । वही कहा गया—

'फलभेद के कारण जिसमें भेद का आरोप होता है वह शक्ति पदार्थ की आत्मा ही है' ॥ ६८ ॥

प्रश्न है कि ठीक है कि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं है । किन्तु शक्तियों में परस्पर भेद तो है ही फिर वह दोष (= द्वैतापत्ति) वैसा ही है—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रमाताओं के द्वारा कल्पित, परमेश्वर के भिन्न-भिन्न शरीरों में अग्नि के दाहकत्व पाचकत्व आदि के समान वास्तविक क्या भेद है । (जैसे अग्नि की अनेक शक्तियाँ अग्नि से अभिन्न हैं उसी प्रकार परमेश्वर की अनेक शक्तियों के होने पर भी परमेश्वर एक है) ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार दाह, पाक आदि फलभेद से अग्नि की दाहिका पाचिका शक्ति भिन्न-भिन्न कल्पित होती है तो भी वस्तुतः शक्तिमान् (वह्नि) के एक स्वभाव वाली होने से परस्पर स्वरूप का भेद नहीं होता । पृथक् सिद्ध वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद होता है । शक्ति शक्तिमान् से भिन्न रूप में सिद्ध नहीं है फिर किसका किससे

केन भेद्यम्, वह्नेरेव हि दाहादिसमर्थं स्वरूपं तथा परिकल्पितम् । एवं परमेश्वरस्य परिकल्पितेऽपि शक्तीनामानन्त्ये न कश्चिद्भेदः इति न कदाचिदीश्वराद्वयवादक्षतिः ॥ ६९ ॥

ननु एवं परिकल्पितोऽपि शक्तीनां भेदो भासत एव इति कथं तदपह्नवः ? —इत्याशङ्क्याह—

न चासौ परमार्थेन न किञ्चिद्भासनादृते ।
नह्यस्ति किञ्चित्तच्छक्तितद्वद्भेदोऽपि वास्तवः ॥ ७० ॥

भानमन्तरेण अन्यत्किंचिन्नास्ति इत्यसौ भेदोऽपि भासमानत्वाद्वस्तुतो न न किञ्चित्, अपि तु परमार्थसन्नेव इति शक्तीनां तद्वतश्च भेदोऽपि पारमार्थिक एव —इति वाक्यार्थः । एवं भेदस्य भानैकस्वभावत्वान्न ततोऽतिरेकः इति नाद्वयवादक्षतिः, नापि शक्तीनां तद्वतश्च भेदेन स्थितस्य व्यवहारस्यापह्नवः इति सर्वं सुस्थम् ॥ ७० ॥

ननु परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिरेकैवास्ति इत्युक्तम्, इच्छादयस्तु किं तद्विस्फूर्जितमात्रम्, उत स्वतन्त्राणि शक्त्यन्तराणि ? इत्याशङ्क्याह—

भेद किया जाय । वह्नि का ही दाह आदि में सक्षम रूप वैसा (भिन्न) माना गया है। इसी प्रकार परमेश्वर की शक्तियों को अनन्त मानने पर भी (उनमें परस्पर) कोई भेद नहीं है । अत: ईश्वराद्वयवाद अक्षत है ॥ ६९ ॥

प्रश्न है—इस प्रकार शक्तियों का, कल्पित ही सही, भेद भासित तो होता है फिर उसको अस्वीकार कैसे किया जा सकता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आभास के अतिरिक्त परमार्थत: कुछ नहीं है (इसलिए यह (= भेद) भी आभासित होने के कारण) कुछ नहीं है ऐसा नहीं है (अर्थात् भेद भी पारमार्थिक है) शक्ति और शक्तिमान् का भेद भी वास्तविक है ॥ ७० ॥

भान के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है इसलिये यह भेद भी भासमान होने से वस्तुत: कुछ नहीं है—ऐसा नहीं है वरन् यह परमार्थ सत् ही है । इसलिये शक्तियों और शक्तिमान् का भेद भी पारमार्थिक ही है—यह वाक्यार्थ है । भेद का स्वभाव ही भान है इसलिये वह उस (प्रकाशरूप शिव) से अतिरिक्त नहीं है । इस प्रकार अद्वयवाद अक्षत है । शक्तियों और शक्तिमान् के भेद रूप में स्थित व्यवहार को भी छिपाया नहीं जा सकता । इस प्रकार सब ठीक है ॥ ७० ॥

प्रश्न है कि परमेश्वर की स्वातन्त्र्य नामक शक्ति एक ही है—यह कहा गया । तो इच्छा आदि क्या उस (= स्वातन्त्र्य) का विस्फूर्जितमात्र है या दूसरी स्वतन्त्र शक्तियाँ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वशक्त्युद्रेकजनकं तादात्म्याद्वस्तुनो हि यत्।
शक्तिस्तदपि देव्येवं भान्त्यप्यन्यस्वरूपिणी ॥ ७१ ॥

यत् नाम हि अवान्तरशक्तिवैचित्र्यं वह्न्यादेः वस्तुनः—स्वस्याः शक्तेः इति व्यपदेशप्रवृत्तिनिमित्तभूताया निर्विशेषक्रियामात्रनिष्ठायाः सामर्थ्यलक्षणायाः शक्तेः उद्रेको—दाहपाकादिविशेषरूपशक्त्यन्तरात्मतयोच्छलनं तस्य जनकम्—अवभासकम्, तदपि—तादात्म्यात्—एवंविधस्वशक्त्येकरूपत्वाद्यथोक्तरूपा स्वेव शक्तिः—इति सम्बन्धः । समर्थो हि वह्निः सर्वं दाहादिकार्यजातं कुर्यात्—इत्यभिप्रायः । एवं परमेश्वरस्यापि इच्छाद्यवान्तरशक्तिरूपतयावभासमानापि शक्तिर्देवी तत्तद्भेदोल्लासेऽपि परप्रकाशाभिन्नस्वभावत्वात् द्योतमानावभासा स्वातन्त्र्याख्यैव इति युक्तमुक्तम्—'एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ।' इति। एवमेकैवास्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिस्तथा तथा सृष्टेन भेदेन भायात् इति सिद्धम् ॥ ७१ ॥

न केवलं शक्तिरेवास्यैवङ्कल्पितेन भेदेनावभासते यावत्स्वयमपि—इत्याह—

शिवश्चालुप्तविभवस्तथा सृष्टोऽवभासते ।

जो (वह्नि आदि) वस्तु की आत्मशक्ति की आभासित उच्छलत्ता का जनक है वह भी अन्य स्वरूप में होता हुआ तादात्म्य के कारण (देव की स्वातन्त्र्य) चमत्कारिणी शक्ति ही है ॥ ७१ ॥

वह्नि आदि वस्तु का जो अवान्तर शक्ति वैचित्र्य है अर्थात् स्वशक्ति का = सामान्य क्रियामात्र वाली सामर्थ्य रूप शक्ति का, उद्रेक = दाह पाक आदि विशिष्ट शक्त्यन्तर के रूप में उच्छलन, उसका जनक = अवभासक, है । वह भी तादात्म्य के कारण इस प्रकार की अपनी शक्ति के एक रूप होने के कारण यथोक्तरूप वाली स्व ही शक्ति है । समर्थ ही वह्नि दाह आदि समस्त कार्यसमूह को सम्पन्न करता है—यह अभिप्राय है । इसी प्रकार परमेश्वर की भी इच्छा आदि अवान्तर शक्ति के रूप में अवभासमान होने वाली शक्ति देवी तत्तद् भेद का उल्लास होने पर भी परप्रकाश से अभिन्न स्वभाव वाली होने के कारण द्योतमान अवभास वाली स्वातन्त्र्य नामक ही है । इस प्रकार ठीक ही कहा गया—इसका एक ही धर्म सबको आक्षिप्त कर के हैं । इस प्रकार इस (= प्रभु) की एक ही स्वातन्त्र्य नामक शक्ति सृष्टि के भेद से भिन्न - भिन्न रूप में प्रकाशित हो रही है—यह सिद्ध है ॥ ७१ ॥

उसकी केवल शक्ति ही इस कल्पित भेद के रूप में नहीं भासित होती वरन् वह स्वयं भी (भासित होता है)—यह कहते हैं—

शिव अपनी संविद्रूपी प्रमातृदर्पण में भावना (उपदेश) आदि के विषय में अपने स्वातन्त्र्यवश उस प्रकार (= भिन्न-भिन्न रूप में) सृष्ट

स्वसंविन्मातृमकुरे स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ॥ ७२ ॥

शिवश्च स्वा संकुचिता संवित् लक्षणं यस्यासौ बुद्ध्यादौ गृहीतात्मग्रहः परिनिष्ठितः प्रमाता, स एव स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बसहिष्णुत्वेन मकुरः, तस्मिन् भावनोपदेशादौ स्वस्वातन्त्र्यात् तथा भाव्यमानत्वादिना कल्पितेन भेदेन सृष्टः प्रमेयतामापादित इव अवभासते, न चैवमप्यसौ प्रमात्रेकरूपत्वात् तथा भवति इत्युक्तम्—अलुप्तविभव इति, अपरिहृतप्रमातृभाव:—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'स्वातन्त्र्याददृयात्मानं स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ।।' इति ।। ७२ ।।
(ई०प्र० १-५-१६)

एतदेवोपसंहरति—

तस्माद्येन मुखेनैष भात्यनंशोऽपि तत्तथा ।
शक्तिरित्येष वस्त्वेव शक्तितद्वत्क्रमः स्फुटः ॥ ७३ ॥

तस्मात् उभयोरपि शिवशक्त्योस्तथा सृष्टेन भेदेन अवभासननोपपत्तेर्हेतोरपि

होकर आभासित होते है (= तत्तद् व्यवहार करते है और ऐसा होने पर भी) उनका वैभव लुप्त नहीं होता ।। ७२ ।।

शिव = अपनी संकुचित संवित् ही है लक्षण जिसका वह, बुद्धि आदि को आत्मा मानने वाला परिमित प्रमाता, वही स्वच्छ होने के कारण प्रतिबिम्ब धारण करने की क्षमता वाला होने से मकुर (= दर्पण), उसमें भावनोपदेश आदि में अपने स्वातन्त्र्यवश उस प्रकार भाव्यमानत्व आदि कल्पित भेद से, सृष्ट = प्रमेयता को प्राप्त जैसा अवभासित होता है । प्रमातृरूप होने से वह वैसा नहीं होता— इसलिये कहा गया—अलुप्त विभव वाला = अपरित्यक्त प्रमातृभाव वाला । वही कहा गया—

"स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण अद्वय रूप आत्मतत्त्व को स्वतन्त्र भावना आदि कार्यों में वह सर्व समर्थ विभु ईश आदि सङ्कल्पों के द्वारा अपने को उसी रूप में परिवर्तित कर समस्त व्यवहार करता है" ।। ७२ ।।

उसी का उपसंहार कहते है—

इसलिए निरंश होते हुए भी (जिस भुवन आदि वाले पदार्थों के) रूप में (शिव) आभासित होते हैं वह वस्तु (उस शिवैकात्म्यलाभ का उपाय होने के कारण) शक्ति ही है । इस प्रकार शक्ति और तद्वान् (= शक्तिमान्) का (उपायोपेय रूप में) क्रम स्पष्ट (= सशंय-रहित) है ।। ७३ ।।

इस कारण शिवशक्ति दोनों के उस प्रकार बनाये गये भेद से अवभासमान होने

शिवः प्रकाशमात्रैकरूपत्वात् अनंशोऽपि येन भुवनाद्यन्यतमांशलक्षणेन मुखेन भावनादौ भासते तत् मुखम्—

'.................... शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या तथा शिवप्राप्त्युपायतया शक्तिरेव, नहि एतदवगमादौ उपायान्तरमस्ति उपपद्यते वा । अतश्च शक्तिशक्तिमतोरूपायोपेयभावात्मा क्रमः सम्यगेव स्फुटः न कश्चिदत्र संशयः—इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

अतश्च अनयोरसावुपायोपेयभावस्तत्र तत्र आगमेषु उद्घोष्यते—इत्याह—

श्रीमत्किरणशास्त्रे च तत्प्रश्नोत्तरपूर्वकम् ।
अनुभावो विकल्पोऽपि मानसो न मनः शिवे ॥ ७४ ॥
अविज्ञाय शिवं दीक्षा कथमित्यत्र चोत्तरम् ।

तत् इति शिवागमे शक्तेरुपायत्वमुक्तम्—इति वाक्यशेषः । एतदेव च शब्दार्थरूपत्वेन शास्त्रस्य द्वैविध्येन प्रवृत्तेरर्थद्वारेण दर्शयति अनुभाव इत्यादिना । तत्र गरुडेन—

से भी प्रकाशमात्र होने के कारण अनंश भी शिव जिस = भुवन आदि किसी भी अंशरूप मुख से भावना आदि में भासित होता है वह मुख

'......... शिव का मुख कही जाती है'

इत्यादि उक्ति के द्वारा उस प्रकार शिवप्राप्ति के उपाय के रूप में शक्ति ही है। इस (शिव) की प्राप्ति आदि के विषय में कोई अन्य उपाय न है और न हो सकता है । इसलिये शक्ति और शक्तिमान् का उपाय-उपेय रूप क्रम पूर्णरूपेण स्पष्ट है इसमें कोई संशय नहीं है—यह अर्थ है ॥ ७३ ॥

इसलिये इन दोनों का उपायउपेय सम्बन्ध भिन्न-भिन्न आगमों में घोषित किया जाता है—यह कहते हैं—

श्रीमत्किरण संहिता में प्रश्नोत्तरपूर्वक वह (= शक्ति उपाय है ऐसा कहा गया) है (प्रश्न यह है कि) अनुभाव तो विकल्प है वह मन में उत्पन्न होता है । शिव के विषय में मन (की गति है नहीं तो फिर मन के द्वारा) शिव को बिना जाने दीक्षा कैसे (सम्भव है) इस विषय में उत्तर है— ॥ ७४-७५- ॥

वह = शिवागम में । शक्ति को उपाय कहा गया—यह जोड़ देना चाहिये। यही शास्त्र की शब्द एवं अर्थ रूप दो प्रकार से प्रवृत्ति होने के कारण अर्थ के द्वारा दिखाते हैं—अनुभाव......... ।

इस विषय में गरुड़ ने जब प्रश्न किया कि—

'शिवतत्त्वं कथं शून्यं तच्छून्यं नाक्षगोचरः ।
प्रत्यक्षं चाक्षविज्ञानं तदतीतं न किञ्चन ॥'

इति प्रत्यक्षागोचरत्वाच्छिवत्त्वं न किञ्चित् इति पृष्टे, भगवता—

'माया हेया शिवो ग्राह्यो ग्राहकः पुरुषः स्मृतः ।
मायाधर्मैः शिवः शून्यः .... ॥'

इत्यादिना—

'अतीन्द्रियं च यद्वस्तु तत्राप्यनुभवो न किम् ।
अनुभावो मनोऽध्यक्षः प्रसिद्धः क्षुद्यथा च तृट् ॥'

इत्यन्तेन शिवतत्त्वस्य बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वेऽपि मानसप्रत्यक्षविषयत्वात् किञ्चित्त्वेन प्रतिसमाहितम् । एतच्च पुनरप्यागूर्य गरुडेन—

'अनुभावो विकल्पोत्थो विकल्पो मानसः स च ।
समनस्कं च तज्ज्ञेयमनस्कमरूपकम् ॥
अज्ञात्वा दैशिकस्तत्त्वं कथं दीक्षां करोत्यसौ ।
ज्ञेयः सर्वात्मनैवार्थः स ज्ञेयो नैव सर्वथा ॥'

इत्यादिना पृष्टम् । एतत्प्रश्नार्थ एव ग्रन्थकृता संक्षेपचिकीर्षया स्ववचसो-

---

शिवतत्त्व शून्य कैसे है? जो शून्य है वह इन्द्रियों का विषय नहीं होता । इन्द्रियों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और उससे परे कुछ नहीं है ? फलतः प्रत्यक्ष का विषय न होने से शिवतत्व कुछ नहीं है ?—तो भगवान् ने

माया हेय है शिव ग्राह्य है पुरुष ग्राहक माना गया है । शिव माया के कर्मों से शून्य है... ।

इत्यादि के द्वारा

''जो वस्तु अतीन्द्रिय होती है क्या उसका अनुभव नहीं होता अनुभव तो मानसिक प्रत्यक्ष है जैसे कि भूख और प्यास (का प्रत्यक्ष)''

यहाँ तक—शिव तत्त्व के बाह्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी मानस प्रत्यक्ष का विषय होने से 'कुछ है' इस रूप में (गरुड़ के प्रश्न का) समाधान किया है । इस पर पुनः विचार कर गरुड़ ने—

'अनुभव विकल्प से उत्पन्न होता है । विकल्प मन से उत्पन्न होते हैं । वह (= मानस प्रत्यक्ष) समनस्क है । वह ज्ञेय (= शिव) अमनस्क और अरूप है आचार्य इस तत्त्व को न जानकर कैसे दीक्षा कर सकते हैं । यह (= शिव) जिसे 'हम' ज्ञेय समझते हैं वही सर्वात्मना परमार्थ है और वह सर्वथा (= किसी भी दशा में) ज्ञेय नहीं है ।'

इत्यादि के द्वारा प्रश्न किया । इस प्रश्न का निहितार्थ ही ग्रन्थकार के द्वारा

पनिबद्धः । अत्रायमर्थः—यन्नाम बुभुक्षादिन्यायेन शिवस्य मानसप्रत्यक्षविषयत्व-मुक्तं तत्र मानसोऽनुभवः

'सङ्कल्पकमत्र मनः............................ ।'

इति नीत्या सङ्कल्पात्मकत्वात् विकल्पः तस्य चार्थासंस्पर्शित्वं रूपम् इति मनः तावत् शिवे न प्रमाणम्, यत्र च न प्रमाणं प्रवर्तते, तत्र ज्ञातं भवेत् इत्यज्ञाते शिवतत्त्वे कथं दीक्षा स्यात्, दैशिको हि परं तत्त्वं ज्ञात्वा तत्र दीक्षया दीक्ष्यं योजयेत् । अत एव 'गुरौ ज्ञानम्' इत्याद्युक्तम् । इति शब्दः प्रश्नसमाप्तौ। अत्र इति गरुडोक्ते प्रश्ने । उत्तरम् इति भगवदुक्तं प्रति-समाधानम् ॥ ७४ ॥

तदेवाह—

क्षुधाद्यनुभवो नैव विकल्पो नहि मानसः ॥ ७५ ॥

न-शब्दो भिन्नक्रमः, तेन प्रश्ननिषेधविषयत्वेन योज्यः, नायं प्रश्न इति । हि-शब्दो हेतौ, यतो बुभुक्षादीनां विकल्पात्मक एव मानसोऽनुभवो न भवति—इत्यर्थः । आसां हि प्रथममविकल्पकमानसप्रत्यक्षविषयत्वमप्यस्ति, अन्यथा

संक्षेप करने की इच्छा से अपने शब्दों में लिखा गया । यहाँ यह अर्थ है—बुभुक्षादि न्याय से शिव को जो मानस प्रत्यक्ष का विषय बतलाया गया वहाँ मानस अनुभव

"मन सङ्कल्प करने वाला है..."

इस नीति से, सङ्कल्पात्मक होने से विकल्प है । उस (= मानस अनुभव) का रूप अर्थ का स्पर्श नहीं करता । इस कारण मन शिव के विषय में प्रमाण नहीं हो सकता । और जिस विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती वह ज्ञात नहीं हो सकता । इस रीति से जब शिवतत्त्व अज्ञात है तो उसके विषय में दीक्षा कैसे हो सकती है? आचार्य परतत्त्व को जानकर ही उस (तत्त्व) से दीक्ष्य को दीक्षा के द्वारा जोड़ता है । इसलिये 'गुरु में ज्ञान रहता है' इत्यादि कहा गया । 'इति' शब्द प्रश्न की समाप्ति (के अर्थ) में (प्रयुक्त है) । अत्र = गरुड़ के द्वारा उक्त प्रश्न के विषय में । उत्तरम् = भगवान का वचन ही प्रतिसमाधान है ॥ ७४ ॥

वही कहते हैं—

ऐसा नहीं है । क्षुधा आदि का अनुभव विकल्पात्मक है किन्तु मानस नहीं । (निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था में मन का सहयोग नहीं होता) ॥ -७५ ॥

'न' शब्द का क्रम भिन्न है । उसको (श्लोककार्ध के पहले) प्रश्न के निषेध के रूप में जोड़िये । (अर्थ हुआ) यह प्रश्न (उचित) नहीं है । 'हि' शब्द का

तत्पृष्ठभाविनो बुभुक्षेयम् इति विकल्पस्योदयो न स्यात् । सविकल्पकमानसप्रत्यक्षविषयत्वेऽप्यासां न कश्चिद्दोषः, तस्य वस्त्वाश्रयत्वेन प्रमाणत्वाभ्युपगमात् । एवं शिवोऽपि मानसप्रत्यक्षगोचरो भवत्येव, किं तु शक्तिद्वारेण इति विशेषः । यदुक्तं तत्रैवोत्तरग्रन्थे—

'क्षुधाद्यनुभवो यत्र विकल्पस्तत्र नो भवेत् ।
वस्त्वाश्रयो विकल्पोऽपि तद्वस्तु घटवन्न च ॥
विकल्पो मानसः सूक्ष्मः शून्यशक्तिलयं गतः ।
तद्गतस्त्वन्यविच्छिन्नस्तेनासौ चित्तवर्जितः ॥
ज्ञानं चात्मेन्द्रियाश्लेषात्कर्ता ह्यात्मा मनः क्रिया ।
शिवः साध्योऽत्र मन्तव्यो विभुरप्येकधर्मतः ॥' इति ।

यत्तु अस्य शून्यत्वमुक्तं तन्मायाक्षयोपचारेण तद्धर्मैः परिणामित्वादिभिः शून्यत्वाच्छून्यम्—इत्युक्तम् । अन्यापेक्षया तु तदशून्यमेवेत्यर्थावाप्तम् । अतश्च शिवं शक्तिद्वारेण ज्ञात्वा दैशिकस्तत्र दीक्षया दीक्ष्यं योजयति इति न काचित्क्षतिः ॥ ७५ ॥

प्रयोग हेतु अर्थ में है । बुभुक्षा आदि का विकल्पात्मक ही मानस अनुभव नहीं होता अपितु इनका पहले निर्विकल्पक मानस प्रत्यक्ष होता है । अन्यथा उसके बाद होने वाली 'यह बुभुक्षा है' ऐसे विकल्प का उदय ही नहीं होगा । इनको सविकल्पक मानस प्रत्यक्ष का विषय मानने पर भी कोई दोष नहीं है । क्योंकि वह (= सविकल्पक मानस प्रत्यक्ष) वस्तु के आधार पर ही प्रमाण माना जाता है । इस प्रकार शिव भी मानस प्रत्यक्ष का विषय है ही । किन्तु यह प्रत्यक्ष विषयता शक्ति के द्वारा होती है । जैसा कि वहीं पर आगे वाले ग्रन्थ में कहा गया—

"जहाँ क्षुधा आदि का अनुभव होता है वहाँ विकल्प नहीं होता । विकल्प भी वस्तु के अधीन होता है । वह वस्तु घट के समान नहीं है । विकल्प मन में होता है वह सूक्ष्म है तथा शून्य (में व्याप्त) शक्ति के माध्यम से वह (शक्ति में) लीन हो जाता है । उस (शक्ति) में लीन होने से वह दूसरे (पदार्थों) से अलग हो जाता है इसके कारण वह चित्त से असम्बद्ध हो जाता है । आत्मा और इन्द्रिय के आश्लेष से ज्ञान होता है । उसमें आत्मा कर्त्ता होता है और मन (उसकी) क्रिया है । यहाँ शिव को, विभु होने पर भी एक धर्म (= शक्ति या स्वातन्त्र्य) के कारण साध्य मानना चाहिये ।"

जो इस (= शिव) को शून्य कहा गया वह माया के क्षय के कारण लक्षणा के द्वारा, उसके परिणामित्व आदि धर्मो से शून्य होने के कारण (उस शिव को) शून्यता है । अन्य की अपेक्षा तो वह अशून्य ही है—यह बात अर्थात् आक्षिप्त है। इसलिये शक्ति के द्वारा शिव का ज्ञान कर आचार्य शिष्य को दीक्षा के द्वारा उस (शिव) से जोड़ देता है—इस प्रकार कोई क्षति नही हैं ॥ ७५ ॥

ननु सर्वात्मनार्थो ज्ञातो भवति न तु अंशेन । विकल्पश्च सर्वात्मना अर्थं ज्ञातुं न शक्नोति—नियतांशाभिनिवेशित्वात् तस्य, अतः शिवस्तेन शक्तिद्वारेण विषयीकृतोऽपि सर्वात्मना तद्गोचरीभावाभावान्न ज्ञातः इति प्रश्नशेषमाशङ्क्याह—

रसाद्यनध्यक्षत्वेऽपि रूपादेव यथा तरुम् ।
विकल्पो वेत्ति तद्वत्तु नादबिन्द्वादिना शिवम् ॥ ७७ ॥

विकल्पः अत्र निर्विकल्पकपृष्ठभावी ग्राह्यः । तेन स तरुं रूपरसाद्यात्मकमपि रूपाद्यात्मनैव गृह्णाति न रसाद्यात्मनापि नियतत्वात्तद्ग्रहणस्य, नहि सर्वात्मत्वेन अगृहीतत्वाद् अगृहीत एवासौ इति वक्तुं युज्यते अनुभवविरोधात् । तद्वत् नादबिन्द्वाद्यात्मकशक्तिद्वारेण शिवोऽपि ज्ञात एव भवति इति सिद्धान्तः । तदुक्तं तत्रैव—

'प्रत्यक्षेण यथा वृक्षो रूपमात्राद्विगृह्यते ।
रसादयो गृहीता नो तथेशो ज्ञानशक्तितः ॥
गृह्यते तत्त्वभावेन वस्तुभावविवर्जनात् ।' इति ।

प्रश्न है कि कोई भी पदार्थ ज्ञात है—ऐसा तभी कह सकते हैं ज़ब कि वह सर्वात्मना ज्ञात हो न कि अंशतः । विकल्प अर्थ का सर्वात्मना ज्ञान नहीं कर सकता क्योंकि उसका प्रवेश एक निश्चित अंश में ही होता है । अतः शक्ति के द्वारा (ज्ञान का) विषय बनाये जाने पर भी शिव सर्वात्मना उस (= विकल्प) का विषय नहीं होने से ज्ञात नहीं है—इस प्रश्न की आशङ्का कर कहते हैं—

रस आदि का प्रत्यक्ष न होने पर भी जिस प्रकार रूप (के प्रत्यक्ष मात्र) से वृक्ष को विकल्प जान लेता है उसी प्रकार नाद बिन्दु आदि (रूपों वाली शक्ति) के द्वारा शिव को भी 'विकल्प' जान लेता है ॥ ७७ ॥

यहाँ विकल्प का अर्थ निर्विकल्पक ज्ञान के बाद होने वाला (ज्ञान) समझना चाहिये । इसलिए वह (= विकल्प) रूप रस आदि वाले भी वृक्ष को रूप वाला ही समझते हैं न कि रस आदि वाला भी क्योंकि उस (= रस) का ग्रहण नियत (= रसनेन्द्रिय से ही हो सकता) है । सर्वात्मना गृहीत न होने पर भी यह 'ज्ञात नही है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभव से विरोध हो जाता है । उसी प्रकार नाद बिन्दु आदि रूपों वाली शक्ति के द्वारा शिव भी ज्ञात ही हो जाता है—यह सिद्धान्त है । वही वहाँ कहा गया है—

"जिस प्रकार वृक्ष केवल रूप के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनता है जब कि उसके रस आदि का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार शिव भी ज्ञान शक्ति के द्वारा तत्त्व के रूप में अनुभूत होता है क्योंकि उस अनुभूति में वस्तुभावना का अभाव रहता है ।" तथा—

तथा—

'बिन्दुर्नादस्तथा शक्तिः शून्यत्वे परिकल्पिताः ।
चेतसः स्थितिहेत्वर्थं पुनर्नित्यं स्थिरं भवेत् ॥
अतीन्द्रियः सुसूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मा शक्तिः स तद्गतः ।
ज्ञानशक्तिर्मता सापि तज्ज्ञानाज्ज्ञात एव सः ॥' इति ।

एवं शक्तिरेव परतत्त्वाधिगमे परमुपायः इति सिद्धम् । सा च भुवनादिरूपतया अनन्तप्रकारा इत्युक्तप्रायम् ॥ ७७ ॥

एवं यत्किञ्चन जडाजडात्मकविश्वैचित्र्यं यच्च तद्विषयं सृष्ट्यादि जाग्रदाद्यवस्थादि वा तत्सर्वं परमेश्वरस्य शक्तिस्फार एव—इत्याह—

बहुशक्तित्वमस्योक्तं शिवस्य यदतो महान् ।
कलातत्त्वपुरार्णाणुपदादिर्भेदविस्तरः ॥ ७८ ॥
सृष्टिस्थितितिरोधानसंहारानुग्रहादि च ।
तुर्यमित्यपि देवस्य बहुशक्तित्वजृम्भितम् ॥ ७९ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्यतदतीतानि यान्यपि ।
तान्यप्यमुष्य नाथस्य स्वातन्त्र्यलहरीभरः ॥ ८० ॥

"बिन्दु, नाद और शक्ति शून्य रूप में परिकल्पित हैं । चित्त को स्थिर बनाने के लिये वह (शिव) नित्य और स्थिर होता है । वह (शिव) अत्यन्त सूक्ष्म हाने के कारण इन्द्रियों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । शक्ति सूक्ष्म है और वह (शिव) उसमें रहता (रमण) करता है । वही (शक्ति) ज्ञान शक्ति मानी गयी है और उस (= ज्ञानशक्ति) के ज्ञान से वह ज्ञात हो जाता है ।"

इस प्रकार सिद्ध हो गया कि शक्ति ही परमतत्त्व के ज्ञान के लिये परम उपाय है । और वह भुवन आदि के रूप में अनन्त प्रकार की है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार जड़ चेतन रूप जो कुछ विश्ववैचित्र्य है और तद्विषयक सृष्टि आदि या जाग्रंत आदि अवस्था आदि हैं वह सब परमेश्वर का शक्ति विस्तार (या शक्ति उल्लास) है—यह कहते हैं—

इस शिव की अनेक शक्तिता कही गई है । क्योंकि इसी से महान् कला, तत्त्व, पुर (= भुवन), अर्ण (= वर्णमाला का अक्षर), अणु (मन्त्र) पद आदि भेदों का विस्तार हुआ है ॥ ७८ ॥

सृष्टि स्थिति संहार निग्रह अनुग्रह आदि तथा तुरीय अवस्था ये भी (उस) देवता की अनेक शक्ति का उल्लास है ॥ ७९ ॥

जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति और उससे अन्य (= तुरीय) और तुरीयातीत ये जो कुछ हैं वे सब इस परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की लहरों की

महामन्त्रेशमन्त्रेशमन्त्राः शिवपुरोगमाः ।
अकलौ सकलश्चेति शिवस्यैव विभूतयः ॥ ८१ ॥

पदादि इति आदिशब्देन भूतभावग्रहणम् । सृष्टिस्थिति इत्यनेन कृत्यभेद उक्तः । तुर्यमित्यन्यच्छब्दवाच्यं सृष्ट्यादीनामन्तर्वर्ति पूर्णं रूपम् । अनेन चतुष्टयार्थस्यापि आसूत्रणं कृतम्, तेन स्थितौ संहारे तिरोधानानुग्रहयोरन्तर्भावः कार्यो येनैतत्स्यात्, अन्यत्तुर्यम्, जाग्रत्स्वप्न इत्यनेन अवस्थाभेद उक्तः । अकलौ इति विज्ञानाकलप्रलयाकलौ । अनेन प्रमातृभेदः ॥ ७८-८१ ॥

तदेवं वैचित्र्यभाजः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकस्य जगतश्चिदानन्दैकघनः परमार्थः शिव एवानुप्राणकतया वर्तते—इत्याह—

तत्त्वग्रामस्य सर्वस्य धर्मः स्यादनपायवान् ।
आत्मैव हि स्वभावात्मेत्युक्तं श्रीत्रिशिरोमते ॥ ८२ ॥

द्विविधो हि धर्मः पदार्थस्य—प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । आद्यो यथा सामान्यम्, नहि गोत्वमन्तरेण गौः गौरेव भवति । द्वितीयो यथा गुणः,

---

उच्छलता है ॥ ८० ॥

शिव जिसके पहले वर्तमान है ऐसे (सदाशिव तत्त्व में रहने वाले) महामन्त्रेश (ईश्वर तत्त्व में रहने वाले) मन्त्रेश्वर (शुद्धविद्या तत्त्व मे निवास करने वाले) मन्त्र दो अकल, विज्ञानकल और प्रलयाकल तथा सकल (ये सब) शिव की ही विभूतियाँ हैं ॥ ८१ ॥

'पर आदि' में आदि पद से भूत भाव का ग्रहण होता है । 'सृष्टि स्थिति' इस पद से कृत्यभेद कहा गया । तुर्य शब्द का पृथक् कथन सृष्टि आदि के अन्तवर्त्ति पूर्णत्व को बतलाने के लिये है । इसके द्वारा पुरुषार्थचतुष्टय का भी सन्दर्भ दिया गया । इससे स्थिति और संहार में तिरोधान और अनुग्रह का अन्तर्भाव कर लेना चाहिये जिससे यह (= तुर्य = पूर्णत्व) सङ्गत हो जाय । अन्य तुर्य अर्थात् जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओं से परे की अवस्था (= तुरीय और तुरीयातीत अवस्था) । अकलौ यहाँ द्विवचन से विज्ञानाकल और प्रलयाकल (समझना चाहिये) इससे प्रमातृभेद (कहा गया) ॥ ७८-८१ ॥

इस प्रकार इस विचित्र ३६ तत्त्वों वाले जगत् का चित्आनन्दरूप परमतत्त्व शिव ही अनुप्राणक है—यह कहते हैं—

आत्मा ही समस्त (छत्तीस) तत्त्व समूह का स्वाभाविक धर्म है (और इसीलिए) वह कभी भी (इन छत्तीस तत्त्वों से) अपायवान् अर्थात् वियुक्त नहीं होता—ऐसा त्रिशिरो भैरव में कहा गया है ॥ ८२ ॥

पदार्थ के दो धर्म होते हैं—प्राणदायक और वैशिष्ट्याधायक । प्रथम जैसे

शुक्लादिर्हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिनष्टि । एवमिह आत्मैव तत्त्वसमूहस्य प्राणप्रदत्वात् स्वभावभूतो धर्मः अत एव अनपायवान् नित्यावियुक्तः—इत्युक्तम् । हि शब्दो हेतौ । नन्वत्र किं प्रमाणम्—इत्याशङ्क्योक्तम्—'इत्युक्तं त्रिशिरोमते' इति ॥ ८२ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं शास्त्रस्य शब्दार्थरूपतया द्वैविध्येन प्रवृत्तेरुभयथाप्याह—

हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम् ।
सामूह्यं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्तितम् ॥ ८३ ॥

समूह एव सामूह्यम् । ग्रामशब्दो हि समूहार्थवृत्तिः—

'कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपकम् ।'

इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तच्च सर्वत्र बाह्ये देहे चान्तः साधारणा-साधारणतया द्वैविध्येन वर्तमानम्—इत्यर्थः । अत एव स्वभावे स्थावर-जङ्गमाद्यात्मनि नियते रूपे स्थितम् । एवमपि हृदि—बोधे स्थितम्, तदैकात्म्येन परिस्फुरत् इति यावत्, अत एव सुसूक्ष्मम्—अपरिच्छेद्यम् ॥ ८३ ॥

गुणसामान्य[1] । गोत्व के बिना गाय गाय ही नहीं रहेगी । दूसरा जैसे गुण । शुक्ल आदि (गुण) सत्तात्मक वस्तु को (अन्य काली नीली आदि वस्तुओं से) अलग करता है । इस प्रकार यहाँ आत्मा ही समस्त तत्त्वों का प्राणप्रद होने से (उनका) स्वभावभूत धर्म है । इसीलिये उसको अविनश्वर तथा नित्य संश्लिष्ट है—ऐसा कहा गया । 'हि' शब्द का प्रयोग यहाँ 'हेतु' अर्थ में किया गया है । इसमें क्या प्रमाण है ? यह शङ्का कर कहते हैं—त्रिशिरोमत में ॥ ८२ ॥

शास्त्र की शब्द एवं अर्थ दो प्रकार से प्रवृत्ति होने के कारण उस ग्रन्थ को दोनों प्रकार से उद्धृत करते हैं—

तत्त्वों का (वह) समूह जो कि हृदय (= बोध), सभी देह तथा स्वभाव में स्थित है और अत्यन्त ही सूक्ष्म है, 'ग्राम' शब्द से कहा गया है ॥ ८३ ॥

समूह ही सामूह्य है । ग्राम शब्द का अर्थ समूह है ।

"समस्त तत्त्वसमूह रूप अपने स्वरूप को निगलने वाला ।"

इत्यादि प्रयोग देखा जाता है । वह (तत्त्व) सर्वत्र बाहर और शरीर के भीतर साधारण और असाधारण दोनों रूपों विद्यमान है । इसीलिये वह स्वभाव = स्थावर जङ्गम आदि नियतरूप, में स्थित है । ऐसा होते हुए भी (वह) हृदय = बोध में स्थित है अर्थात् बोध से अभिन्न रूप में स्फुरित हो रहा है । इसीलिये (वह)

---

१. नित्यत्वेसत्यनेकसमवेतत्वम् सामान्यम् ।

तत्त्वग्रामस्य चास्य न संकुचित आत्मा धर्मः, अपि तु परः—इत्याह—

आत्मैव धर्म इत्युक्तः शिवामृतपरिप्लुतः।

शिवामृतपरिप्लुतः इति परानन्दचमत्कारमयः—इत्यर्थः । एवं स एव परमुपेयः इति तत्रैवावधातव्यम्—इत्यपि सूचितम् ।

कश्च अत्र उपायो येनैतत्साक्षात्कारो भवेत्—इत्याह—

प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः ॥ ८४ ॥
स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं द्रष्टृत्वं विगतावृति ।
विविक्तवस्तुकथितशुद्धविज्ञाननिर्मलः ॥ ८५ ॥
ग्रामधर्मवृत्तिरुक्तस्तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति ।

आदिशब्दाद्भावोऽपि, तेन भावाभावयोः भावयोर्वा यत् मध्यम् अन्तरालं तदवलम्ब्य प्रकाशे स्वात्मन्येव, न पुनर्भावाभावादिस्वरूपे अवस्थितं यत् ज्ञानं

सुसूक्ष्म = अपरिच्छेद्य है ॥ ८३ ॥

इस तत्त्वसमूह का धर्म संकुचित आत्मा नहीं अपितु परम आत्मा है—यह कहते हैं—

शिवामृत (= परमानन्द) से व्याप्त आत्मा ही धर्म है ऐसा कहा गया है ॥ ८४- ॥

शिवामृतपरिप्लुत = पर आनन्द के चमत्कार से परिपूर्ण । इस प्रकार वही परम उपेय है—यह वहीं से समझ लेना चाहिये—यह भी सूचित किया गया ।

इस विषय में कौन सा उपाय है जिससे इसका साक्षात्कार हो जाय ?—यह कहते हैं—

भाव और अभाव (अथवा दो भावों) के बीच में वर्तमान जो प्रकाशावस्थ ज्ञान, उस (ज्ञानस्वरूप आत्मा) का अपने स्थान में रहना और आवर्त्तनरहित उसका द्रष्टृत्व जानना चाहिए । विविक्त (= ·अवच्छेद- रहित) वस्तु (= महासत्तात्मक परमतत्त्व) में कथित शुद्ध विज्ञान के द्वारा निर्मल एवं उसके साथ एकात्मता होने के कारण जिसके समस्त बन्धन निरूद्ध हो गए हैं उसे (हमारे गुरु के द्वारा) ग्राम धर्मवृत्ति कहा गया है । ऐसे व्यक्ति को सब कुछ सिद्ध हो जाता है ॥ -८४-८६- ॥

'आदि' शब्द से भाव भी (समझना चाहिये) इससे भाव और अभाव अथवा दो भाव पदार्थों का जो मध्य = अन्तराल उसको आधार बनाकर प्रकाश = स्वात्मा में ही, न कि भाव अभावादिरूप में अवस्थित जो ज्ञान, उस अपने = आत्मा के

तस्य स्वस्य आत्मनः स्थाने स्थितौ वर्तनं ज्ञेयम्—ग्रामधर्मविषये वृत्तिर्ज्ञातव्या—इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—भावद्वयस्य भावाभावयोर्वा प्रतीतिकाले मध्यं तद्द्वयावच्छेदहेतुं शून्यमुपलभ्य तद्भावाभावादि युगपत्त्यक्त्वा तत्रैव सावधानस्य परमोपेये शिवामृतपरिप्लुते परमात्मनि वृत्तिर्जायते इति । तदुक्तम्—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते ॥
भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत् ।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ॥' इति ।

'ज्ञेयम्' इति काकाक्षिन्यायेन योज्यम् । तेन वर्तनमपि परमार्थसाक्षात्काररूपं द्रष्टृत्वं ज्ञेयम्, तच्च विगतावृति विगता निवृत्ता भावाभावाद्यात्मकबाह्यरूपा आवृतिः यस्य तत्, बाह्यदेशाद्यवच्छेदशून्यम् इति यावत् । अथ च विगता परापरात्मना कालेन रहिता कलनात्मिका आवृतिः यस्य तत्, अकालकलितम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'अपरः षोडशो यावत्कालः सप्तदशः परः ।
परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ॥

स्थान = स्थिति में वर्त्तन को जानना चाहिये । अर्थ यह है कि ग्राम धर्म के विषय में (उसकी) वृत्ति जाननी चाहिये । यहाँ यह तात्पर्य है—दो भाव पदार्थों की अथवा भाव और अभाव की प्रतीति के समय मध्य = उन दोनों के अवच्छेद का कारण जो शून्य है उसको प्राप्त कर उन भाव अभाव आदि को एक साथ छोड़कर उसी (= शून्य) में सावधान (साधक) की परम उपेय शिवामृत से परिप्लुत परमात्मा के विषय में वृत्ति उत्पन्न होती है । वही कहा गया—

'दोनों भावों का ज्ञान हो जाने पर मध्य को जानकर उसमें ध्यान लगाना चाहिये और फिर दोनों (भावों) का एक साथ त्याग कर मध्य (में ध्यान लगाने पर) तत्त्व का प्रकाश होता है । भावों का त्याग होने पर निरुद्ध संवित् दूसरे पदार्थ को अपना विषय नहीं बनाती । परिणामस्वरूप उन (= भावों) के मध्य में भावना को अतिक्रान्त करने वाली (चित् रूपा संविद्) विकसित होती है ।

(श्लोक सं. ८४ में) 'ज्ञेय' पद को काकाक्षिन्याय से जोड़ना चाहिये । इससे वर्त्तन भी परमार्थ साक्षात्कार रूप दृष्टा के रूप में ज्ञेय है और वह विगतावृत्ति = विगत अर्थात् निवृत्त है भावाभावादि रूप बाह्य आवृत्ति जिसकी वह अर्थात् बाह्य देश आदि अवच्छेद से शून्य अथवा विगता = परापरात्मक काल से रहित, कलनात्मिका आवृत्ति है जिसकी वह अर्थात् अकालकलित । वही कहा गया—

'अपर काल सोलह (कलात्मक) होता है पर सत्रह (कलात्मक) । हे प्रिये ! जो परापरात्मक काल होता हैं वह अठारह (कलाओं वाला) होती है । यह प्रभु है ।

प्राण एकं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत्पुनः।' इति ।

तथा विगता पदैकादशकात्मिका आवृतिः यस्य तत्, तत्प्रतिनियत-तत्तद्ब्रह्माद्याकारोज्झितम् इति यावत् । यदुक्तम्—

'पदैकादशिका सा च प्राणे चरति नित्यशः ।
अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ॥
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ॥' इति ।

अत एव च उन्मनाभिन्नप्रमातृरूपं परमार्थसाक्षात्कारलक्षणमेतद्भवति इति पिण्डार्थः । तदुक्तम्—

'उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ।' इति ।

अत एव तत्तद्देशकालाकारैः विविक्तम् अवच्छेदशून्यं यत् वस्तु महासत्तात्म परं तत्त्वम्, तत्र कथितं सर्वागमेषु अविगानेन उक्तं यत् शुद्धं पराहंपरामर्शमयं विज्ञानं तेन निर्मलः तदैकात्म्यापत्त्या खिलीकृतनिखिलबन्धो ग्रामधर्मवृत्तिः—

'भैरवाद्भैरवीं प्राप्तः .... ।'

इत्याद्युक्तेरस्मद्गुरुभिरप्युक्तः इति श्रीकण्ठस्येयमुक्तिः । तदुक्तं तत्र—

एक ही काल को प्राण तीन प्रकार का बना देता है और फिर उसे छोड़ देता है।'

तथा विगत है ग्यारह पदों वाली आवृत्ति जिसकी वह अर्थात् निश्चित तत्तद् ब्रह्मा आदि आकार को छोड़ने वाला । जैसा कि कहा गया—

"एकादश पदों वाली वह (= आवृत्ति) प्राण में नित्य चलती रहती है । (वे एकादश पद निम्नलिखित है –) अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना । इसलिये यह (वर्त्तन) उन्मना से भिन्न प्रमातारूप परमार्थ साक्षात्कार रूप होता है । वही कहा गया'—

"उन्मना उन (एकादश पदों) से परे है और उससे भी परे है वह निरामय (= संविद् तत्त्व या शिव तत्त्व) ।"

इसलिये तत्तत् देश काल आकार से रहित अवच्छेद से शून्य जो वस्तु है वही महासत्तात्मक पर तत्त्व है । वहाँ = समस्त आगमों में, एक मत से उक्त जो शुद्ध पर अहंपरामर्शमय विज्ञान, उससे निर्मल = उसके साथ अभिन्न होने से साधक नष्ट समस्त बन्धनों वाला हो जाता है । साथ ही वह ग्रामधर्मवृत्ति वाला हो जाता है ।

"(साधक) भैरवभाव से भैरवी भाव को प्राप्त हो जाता है ।"

इत्यादि वचनों से हमारे गुरु के द्वारा उक्त यह भगवान् श्रीकण्ठनाथ की उक्ति है । वही वहाँ कहा गया—

'चतुर्थं सम्प्रवक्ष्यामि ग्रामधर्मविभेदत: ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम् ।
सामूह्यं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्तितम् ॥
आत्मा वै धर्म इत्युक्तो ग्रामधर्म: प्रकीर्तित: ।
प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यत: ॥
स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं वर्तनं वृत्तिरुच्यते ।
वृत्तिस्तु स्वपदं ज्ञात्वा द्रष्टृत्वं परिपठ्यते ॥
प्रबुद्धं तद्विजानीयाद्बाह्यावरणवर्जितम् ।
परापरविनिर्मुक्तमेकादशपदोज्झितम् ॥
स्वात्मन्यात्मनि यज्ज्ञानं शिवामृतपरिप्लुतम् ।
विविक्तवस्तुकथितशुद्धविज्ञाननिर्मल: ॥
ग्रामधर्मवृत्तिरुक्तस्तन्त्रेऽस्मिन्सर्वथोदित: ।' इति ।

एतदेव च

'अथ वा शिवमन्विच्छेत्साधक: परतत्त्ववित् ।'

इत्यादि

'स्थिति: कार्या तु तत्त्वस्था मध्यशक्तिप्रभान्विता ।'

"ग्रामधर्म के भेद से चतुर्थ (सिद्धान्त) को कहूँगा ।"

इत्यादि प्रारम्भ कर—

"हृदय मे वर्त्तमान समस्त शरीरों में अवस्थित, स्वभाव में रहने वाला अत्यन्त सूक्ष्म जो तत्त्वों का समूह वह ग्राम शब्द से कहा गया है । आत्मा ही (उनका) धर्म है इसलिए आत्मा को ग्रामधर्म कहा गया है । ज्ञान प्रकाश (रूप शिव तत्त्व) में स्थित है । भावाभाव (भाव-भाव एवं भाव-अभाव के मध्य) में स्थित आत्मरूप में रहना ही ज्ञान का विषय है । वर्त्तन को वृत्ति कहते हैं । वृत्ति का अर्थ है—अपने स्थान को जानकर (वहाँ) द्रष्टा के रूप (= भाव) में रहना ।'

उस (= ज्ञान) को प्रबुद्ध मानना चाहिये जो बाह्य आवरण से रहित हो, पर अपर (भाव) से मुक्त और एकादश पर से परे हो, इस प्रकार का स्वात्मा में आत्मविषयक जो ज्ञान होता है वह शिवभावनारूपी अमृत से आप्लावित होता है । सर्वावच्छेदशून्य वस्तु के रूप में कथित शुद्धविज्ञान से निर्मल यह ग्रामधर्मवृत्ति इस तन्त्र में सब प्रकार से कही गयी है ।" और यही

"अथवा परतत्त्ववेत्ता साधक शिव (भाव) की कामना करे ।" इत्यादि ।

'शिव तत्त्व में अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसे मध्य शक्ति के चमत्कार

इत्यन्ततत्रत्यग्रन्थार्थगर्भीकारेण ग्रन्थान्तरमुपक्षेप्तुकामो ग्रन्थकार: स्वोक्त्या योजयति—'तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति' इति—तस्य—ग्रामधर्मवृत्ते: प्राणापानगति-त्रोटनेन मध्यधामानुप्रवेशात् प्राप्तपरशक्तिसामरस्यस्य, सर्वं—बाह्य माभ्यन्तरं च, प्रकर्षेण—शिवाभेदमयत्वेन, सिद्ध्यति प्रथते—इत्यर्थ: । तदुक्तम्—

'शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृते ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ॥' इति ॥ ८४-८५ ॥

अत आह—

ऊर्ध्वं त्यक्त्वाधो विशेत्स रामस्थो मध्यदेशग: ॥ ८६ ॥

ऊर्ध्वम् इति ऊर्ध्ववाहित्वात्प्राणम्, अध इति अधोवाहित्वादपानम्, त्यक्त्वा इति तद्गतिं त्रोटयित्वा, स ग्रामधर्मवृत्तिरर्थात् मध्यनाडीं प्रविशेत् । स च कीदृश: मध्यदेशग: मध्यनाडिकाया अपि यत् मध्यं तत्रस्था या बिससूत्राकारा शक्ति: तस्या देश: अन्तर्व्योमरूप एकदेशस्तं गच्छति जानाति य: स:—तदेकतानतया

से युक्त करना चाहिये ।'

यहाँ तक वहाँ के ग्रन्थार्थ को अन्तर्भूत कर दूसरे ग्रन्थ की अवतारणा करने की इच्छा वाले ग्रन्थकार अपना वचन जोड़ते हैं—तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति । उसको = ग्रामधर्मवृत्ति वाले को, प्राण अपान की गति को विराम देने से मध्यधाम (= सुषुम्ना) में अनुप्रवेश के कारण (जो साधक) पर शक्ति का सामरस्य प्राप्त कर लेता है उसको सब = बाह्य और आभ्यन्तर, प्र = प्रकृष्ट रूप से अर्थात् शिवाभेद रूप में सिद्ध हो जाता है = प्रस्फुरित होने लगता है ।

वही कहा गया है—

काष्ठ कुड्य आदि में (तत्तद्भेदबुद्धि से) विक्षिप्त संचरणशील चञ्चल पारदरूपी मन को जब शिवभावना रूपी औषधि के द्वारा बाँध लिया जाता है तब वह मन जगत् को स्वर्णरूप (= शिवरूप) समझने लगता है अर्थात् स्वयं स्वर्णमय (= शिवमय) हो जाता है ॥ ८४-८५ ॥

इसलिये कहा—

जो ऊर्ध्व (= प्राण) और अध: (= अपान) को छोड़कर (मध्यधाम अर्थात् सुषुम्णा में) प्रवेश करता है (वह) मध्यदेश को प्राप्त होने वाला रामस्थ (परमात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त) हो जाता है ॥ -८६ ॥

ऊर्ध्व = प्राण, क्योंकि यह ऊर्ध्वगमन करता है । अध: = अपान, क्योंकि यह नीचे की ओर गमन करता है । त्यक्त्वा = छोड़कर अर्थात् उसकी गति को तोड़कर, वह ग्रामधर्मवृत्ति (हो जाय) अर्थात् सुषुम्ना में प्रवेश कर जाय । वह कैसा है ? (उत्तर में कहते हैं) मध्यदेश = मध्य नाड़ी का भी जो मध्य, उसमें रहने

तन्निष्ठ: इति यावत् । तदुक्तम्—

'मध्यनाडी　　मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देव: प्रकाशते ।।' इति ।।

अत एवोक्तं रामस्थ: इति

'......................एकाकी न रमाम्यहम् ।'

इत्याद्युक्त्या रमते तत्तज्जडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति राम: परमात्मा, तत्र तिष्ठति तद्रूपतया परिस्फुरति इत्यर्थ: । तदुक्तं त्रिशिरोभैरवे—

'सेव्यमानमधोर्ध्वं　तु　प्राणापानोत्थरूढधी: ।
ऊर्ध्वं त्यक्त्वा तु प्रविशेद्रामस्थोऽत्रात एव च ।।'

तत्रैवागूरणेन भगवत्या—

'राम: किमुच्यते देव योऽत्रस्थ: स च क: प्रभो।
तस्याभ्यास:　कथं　नाम　ब्रूहि सर्वं महेश्वर ।।'

वाली जो कमलनाल के तन्तु सदृश आकार वाली शक्ति, उसका देश = अन्तर्व्योम रूप जो एक देश, उसको जाने वाला = अर्थात् तदेकतान होकर तन्निष्ठ हुआ ।

वही कहा गया—

'मध्यनाड़ी के मध्य में स्थित कमलनाल के तन्तु के समान रूप वाली का ध्यान करने पर अन्तर्व्योमरूपा उस देवी (= शक्ति) के द्वारा देव (= शिव) प्रकाशित होते हैं ।'

इसीलिये कहा गया—रामस्थ ।

'मैं अकेले रमण करता ।'

इत्यादि उक्ति से, जो रमण करता है = ततज्जड चेतन वाले विश्ववैचित्र्य के साथ क्रीड़ा करता है, वह राम है अर्थात् परमात्मा । उसमें रहता है अर्थात् उस रूप में परिस्फुरण करता है—यह अर्थ है । वही (बात) त्रिशिरोभैरव में कही गयी है—

'प्राण और अपान (की गतियों) से (ऊपर) उठा हुआ दृढ़बुद्धि (साधक) प्राण को छोड़कर इसमें (सुषुम्ना में) प्रवेश कर जाता है इसीलिये वह रामस्थ (कहलाता) है ।'

इस विषय में सहमति के कारण भगवती (पार्वती) के द्वारा—

'हे देव ! राम किसे कहते हैं? जो इसमें रहता है वह कौन है? उसका अभ्यास कैसे किया जाता है? हे महेश्वर ! यह सब बतलाइये ।'

इति पृष्टे, भगवता—

'रामस्थं परमेशानि योगं यत्कीर्तितं मया ।
कथयामि यथातथ्यमभ्यासस्तस्य योगतः ॥'

इत्यन्तेन प्रतिज्ञाय, तत्समाधानं बहुना ग्रन्थेन कृतम् ॥ ८६ ॥

इह च तदेव ग्रन्थकारः शब्दार्थद्वारेण पठति—

गतिः स्थानं स्वप्नजाग्रदुन्मेषणनिमेषणे ।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम् ॥ ८७ ॥
बुद्धिभेदास्तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः ।
एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम् ॥ ८८ ॥

स्वप्नः विकल्पः, जाग्रत् ज्ञानम्, उन्मेषणम् ईश्वरदशा, निमेषणम् सदाशिव-दशा, आयासः 'अय गतौ' गत्यर्थो ज्ञानार्थः तेन अयः अयनं ज्ञानं तस्यासः क्षेपो निवृत्तिः—अज्ञानम्—इत्यर्थः । धर्माद्या अष्टौ बुद्धिधर्माः, संज्ञाः—यादृच्छिका डित्थादयः, कर्माणि—व्यापाराः । अनेन च गत्यादिना चतुर्दशकेन सकलविश्वस्वीकारः कृतः । यच्चैतद्गत्यादि एष रामः—सकलविश्वावभासन-

---

ऐसा पूछे जाने पर भगवान् (शिव) ने—

'हे परमेशानी ! जिस रामस्थ योग की चर्चा मैंने की है उसके यथार्थ रूप को मैं कह रहा हूँ । उसका अभ्यास योग से होता है ।'

यहाँ तक के ग्रन्थ से प्रतिज्ञा कर उसका अनेक बार ग्रन्थ के आधार पर समाधान किया है ॥ ८६ ॥

यहाँ पर ग्रन्थकार उसी को शब्दार्थ के द्वारा कह रहे हैं—

चलना, ठहरना स्वप्न (= विकल्प) जाग्रत (= ज्ञान) उन्मेष (ईश्वरदशा निमेष = सदाशिव धावन और प्लवन, आयास (= अज्ञान) बुद्धिभेद (= धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान वैराग्या वैराग्य ऐश्वर्यानैश्वर्य) रूपभाव, संज्ञा (यादृच्छिक शब्द 'पप्पू' आदि) तथा अनेक कर्म—ये सब राम (अर्थात् परमेश्वर) ही है । इसीलिए व्यापक शिव ही इस विषय में परम कारण हैं ॥ ८७-८८ ॥

स्वप्न = विकल्प, जाग्रत् = जागरण, उन्मेषण = ईश्वरदशा, निमेषण = सदाशिव दशा, आयास = अज्ञान । 'अय् गतौ' धातु गति अर्थात् ज्ञान अर्थ वाली है । इस प्रकार अय = अयन = ज्ञान, उसका आस = क्षेप (असु क्षेपणे) = निवृत्ति = अज्ञान । (बुद्धिभेद) = धर्म आदि आठ बुद्धिधर्म । संज्ञा = डित्थ डवित्थ आदि यदृच्छा शब्द । कर्म = व्यापार । इस गति आदि चौदह के द्वारा समस्त विश्व को स्वीकृत किया गया । जो यह गति आदि है वही राम अर्थात्

क्रीडापरः परमात्मा परमेश्वरः, अत एवोक्तम्—'व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम्' इति, 'अत्र' इति—गत्याद्युपलक्षिते विश्वस्मिन्, शिवस्यैव हि अयमशेषविश्वात्मा स्फारः—इति भावः । तदुक्तम्—

'विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ।।' इति ।। ८७-८८।।

कथं चात्र तदैकात्म्यापत्तिलक्षणा स्थितिर्भवति—इत्याह—

कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात् ।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम् ।। ८९ ।।
परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि ।

येन क्षीणं कल्मषं तत्तद्भेदावभासकालुष्यं यस्य तादृशं मनो, मनुते इति मनो विमर्शात्मावबोधो यस्य तेन—

'सर्वो विकल्पः स्मृतिः........................ ।'

इति नीत्या स्मृतिरेव केवला स्मृतिमात्रं शरीरमुखहस्ताद्यात्मकं विकल्पनम्, तस्य निरोधनम्—आकाराद्युल्लेखशून्यत्वेन प्रतिहननम्, तदवलम्ब्य, तत्तन्नियता-

---

समस्त विश्व के अवभासन रूपी क्रीड़ा में निरत परमात्मा परमेश्वर हैं । इसीलिये कहा गया—'व्यापक शिव यहाँ परम कारण है ।' यहाँ = गति आदि से उपलक्षित विश्व में, यह समस्त विश्व शिव का ही प्रसार या उल्लास है । वही कहा गया—

'समस्त विषयों में और समस्त इन्द्रियों में (वह शिव) स्थित है । जहाँ-जहाँ देखा जाय कोई भी स्थान शिव से रहित नहीं है' ।। ८७-८८ ।।

उस (शिव) से तादात्म्य रूपा स्थिति कैसे होती है—यह कहते हैं—

(भेदावभास रूप) कल्मष से रहित मन के द्वारा (विकल्प रूप) स्मृति का निरोध करने से परमध्येय का ध्यान किया जाता है । (फलतः ध्याता) गति और स्थिरता के पद में स्थित भैरव नामक परमशिव को प्राप्त होता है जप से भी (उक्त प्राप्ति होती है) ।। ८९-९०- ।।

जिसके द्वारा कल्मष = तत्तद्भेदावभासरूप कालुष्य, क्षीण हो गया है जिसका वैसा मन । जो मनन करे वही मन है अर्थात् विमर्शरूप अवबोध है जिसका । इससे

'समस्त विकल्प ही स्मृति है ।'

इस नीति से स्मृतिमात्र अर्थात् केवल स्मृति—शरीर, मुख, हाथ आदि वाला विकल्प । उसका निरोध = आकार आदि के उल्लेख से शून्य के रूप में

कारसङ्कोचाभावात् परमं ध्येयं शिवलक्षणं परमकारणं ध्यायते स्वात्माभेदेन परामृश्यते । यदुक्तम्—

'ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना ।।' इति ।

एवंविधो ध्याता, गमो गमनं गतिः, अगमश्च अगतिः स्थानम्, ताभ्यामुपलक्षिते पदे समनन्तरोक्ते चतुर्दशविधे आश्रये स्थितम्, अत एव परम् पूर्णम्, अत एव च भैरवाख्यं शिवं व्रजति—तत्समावेशमाप्नोति—इत्यर्थः । न केवलमयं ध्यानादेव शिवं व्रजति यावज्जपादपि इत्युक्तं—जपादपि इति ।। ८९ ।।

कोऽसौ जपो नाम ? इत्याशङ्क्याह—

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ।। ९० ।।

तस्य—शिवस्य, स्वरूपम् परावाक्स्वभावाम् आत्मरूपम् अर्थात् भूयो भूयः परामृश्यमानं जपः, अत एव भावाभावपदच्युतः—पूर्वोक्तनीत्या तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शमात्रसारः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

प्रतिघात, उसको आधार बनाकर, तत्तत् नियत आकार का सङ्कोच न होने से परम ध्येय शिव लक्षण परम कारण का, ध्यान किया जाता है = (उसका) अपने से अभिन्न रूप में परामर्श किया जाता है । जैसा कि कहा गया—

'जो निश्चल निराकार निराश्रय बुद्धि है (वही) ध्यान है न कि शरीर के मुख, हाथ आदि की कल्पना ध्यान है ।'

इस प्रकार का ध्याता । गम = गमन = गति । अगम = अगति = स्थिति । उन दोनों के द्वारा उपलक्षित पद = समनन्तरोक्त चौदह प्रकार के आधार में, स्थित अत एव पर = पूर्ण और इसीलिये भैरव नामक शिव को, जाता है = उनके समावेश को प्राप्त करता है । केवल ध्यान से ही शिव को नहीं प्राप्त करता बल्कि जप से भी (प्राप्त करता है) ।। ८९ ।।

यह जप क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भाव और अभाव (= प्राण अपान) दोनो पदों (= गतियों) से रहित होकर तत्स्वरूप (= शिवस्वरूप, का परामर्श ही) जप कहा गया है ।। -९० ।।

उसका = शिव का, स्वरूप = परावाक् स्वभाव वाला आत्मरूप (अर्थात् परावाक् का) बार-बार परामर्श ही जप है । इसीलिये भाव और अभाव के पद से रहित अर्थात् पूर्वोक्त नीति से उस (= भाव अभाव) के बीच स्फुरित होने वाली संवित् का परामर्शमात्र । वही कहा गया—

'भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥' इति ।

एवं ग्रामधर्मवृत्तिरेव रामस्थः इत्युक्तं स्यात् । तदुक्तम्—श्रीत्रिशिरोभैरवे—

'गच्छंस्तिष्ठन्स्वपञ्जाग्रदुन्मिषन्निमिषंस्तथा ।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम् ॥
बुद्धिभेदास्तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः ।
एतच्चतुर्दशविधं रामं तु परिकीर्तितम् ॥
व्यापितं देवदेवेन शिवेन परमात्मना ।
सर्वभावान्तरस्थेन अनेकाकारलक्ष्मणा ॥
कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात् ।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम् ॥
परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि ।
तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥' इति ॥ ९० ॥

ननु प्रायः सर्वत्रैव ध्यानस्य व्यतिरिक्तसाकारध्येयविषयत्वं जपस्य विकल्पात्मकवाचकवाच्यजप्यनिष्ठत्वं चोक्तम्, इह पुनः स्वात्माभेदेन परामर्शमात्रमेवोभयो रूपम् इति किमेतद् ? इत्याशङ्क्याह—

तदत्रापि तदीयेन स्वातन्त्र्येणोपकल्पितः ।

'परभाव में जो बार-बार भावना की जाती है वही यहाँ जप है । यह स्वयं नाद है । ऐसा मन्त्रस्वरूप ही जाप्य होता है ।'

इस प्रकार ग्रामधर्मवृत्ति वाला (साधक) ही रामस्थ है—ऐसा कहना चाहिए। वही (बात) त्रिशिरो भैरव में कही गयी है—

'गति, स्थिति, शयन, जागरण, उन्मेष, निमेष, धावन, संतरण, आयास, शक्तिवेदन, बुद्धिभेद, भाव, संज्ञा और अनेक कर्म में चौदह प्रकार का राम कहा गया है । यह समस्त भावों के अन्दर विद्यमान, अनेक आकार वाले देवाधिदेव परमात्मा शिव से व्याप्त है । स्मृति का निरोध करने से कालुष्य से रहित मन के द्वारा गमागम पद में स्थित परम ध्येय का ध्यान किया जाता है । जप के द्वारा भी साधक भैरव नामक परम शिव को प्राप्त करता है । भावाभाव पद से ऊपर उठकर उसके स्वरूप का परामर्श ही जप कहा गया है' ॥ ९० ॥

प्रश्न है कि प्रायः सर्वत्र ध्यान का विषय (ध्यान से) भिन्न साकार (वस्तु) होती है, जप विकल्पात्मक वाचक वाच्य रूप जप्य तक सीमित रहता है और यहाँ अपने से अभिन्न रूप में परामर्शमात्र ही दोनों (ध्यान और जप) का रूप है यह कैसे?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिए इस विषय में भी उस (चित्) के स्वातन्त्र्य की अपेक्षा

दूरासन्नादिको भेदश्चित्स्वातन्त्र्यव्यपेक्षया ॥ ९१ ॥

इह पराहंपरामर्शमात्रसारत्वात् स्वतन्त्रप्रकाशात्मा परमेश्वर एव परमार्थः इति तत्प्राप्तौ उपदेश्यभेदेन तदुपकल्पितमेव उपायानां नानात्वम्, तेन चित्स्वातन्त्र्य-प्रधानतया उल्लसित उपाय आसन्नः इत्युच्यते, अन्यथा तु इतरः—इत्याह दूर इति । एवमपि उपेयासन्नतया कस्यचिदेव उपायत्वम् इति नाशङ्क्यम्—उपायोपेयभावस्य द्वारद्वारिभावेन वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ९१ ॥

एतदेवोपसंहरति—

एवं स्वातन्त्र्यपूर्णत्वादतिदुर्घटकार्ययम् ।
केन नाम न रूपेण भासते परमेश्वरः ॥ ९२ ॥

रूपेण इति तत्तत्स्वशक्त्यात्मना—इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अत एवाह—

निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः ।
आवृतानावृतो भाति बहुधा भेदसङ्गमात् ॥ ९३ ॥

उसी (परमतत्त्व) के स्वातन्त्र्य के द्वारा कल्पित दूर और आसन्न आदि (उपायों के अनेक) भेद हैं ॥ -९१ ॥

यहाँ पर अहंपरामर्शमात्र रूप होने से स्वतन्त्र प्रकाश रूप परमेश्वर ही परमार्थ है इसलिये उसकी प्राप्ति के विषय में उपदेश्य के भेद से उपाय के अनेक प्रकार कल्पित होते हैं । इस कारण जो उपाय चित् के स्वातन्त्र्य को प्रधानता देता है उसे आसन्न उपाय कहते हैं । इसके विपरीत उपाय दूरगामी माने जाते हैं । इसमें भी उपेय के आसन्न होने से किसी-किसी को ही उपाय मानना पड़ता है—ऐसी शङ्का नही करनी चाहिये । क्योंकि उपाय उपेय भाव में द्वारा-द्वारी भाव रहता है ॥ ९१ ॥

इसी का उपसंहार करते है—

इस प्रकार स्वातन्त्र्यपूर्ण होने से अत्यन्त दुर्घटकारी यह परमेश्वर किस रूप में भासित नहीं होता? (अर्थात् सभी रूपों में भासित होता है) ॥ ९२ ॥

रूपेण का अर्थ है—भिन्न-भिन्न अपनी शक्ति वाले (रूप) के द्वारा ॥ ९२ ॥

इसीलिये कहते है—

वह आवरण रहित (= शुद्धप्रकाशमय) होकर भासित होता है । अपने को आवृत्ति करके भी भासित होता है आवृत और अनावृत होकर भी ज्ञात होता है । इस प्रकार अनेक रूप से (वह आभासित

इति शक्तित्रयं नाथे स्वातन्त्र्यापरनामकम् ।
इच्छादिभिरभिख्याभिर्गुरुभिः प्रकटीकृतम् ॥ ९४ ॥

निरावरणम् इति—शुद्धप्रकाशमयत्वात्, आवृत इति—भेदकालुष्योदयात्, आवृतानावृतः इति—शुद्धज्ञानमयत्वेऽपि भेदकालुष्यासूत्रणात्, अत एव परापरपरापरत्वम्, बहुधा इति—एषणीयादिनानात्वात् अनेकप्रकारम्—इत्यर्थः । निरावरणत्वेऽपि हि निषेध्यमानत्वाद् भेदस्य वासनामात्रेणावस्थानम् । इति शब्दः स्वरूपपरामर्शकः, तेन एतदेव अवभासमानं निरावरणत्वादि परादिरूपं शक्तित्रयं गुरुभिः एतच्छास्त्रावतारकैः, इच्छादिसंज्ञाभिः परमेश्वरविषयतया उन्मीलितमपि स्वातन्त्र्यशक्त्यभिधानमेव इति 'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता' इति निर्वाहितम् ॥ ९३-९४ ॥

बहुशक्तित्वमेव च एतदभिधायकानां प्रवृत्तिनिमित्तम्—इत्याह—

देवो ह्यन्वर्थशास्त्रोक्तैः शब्दैः समुपदिश्यते ।
महाभैरवदेवोऽयं पतिर्यः परमः शिवः ॥ ९५ ॥

अन्वर्थैः—व्युत्पन्नैः निरुक्तैः, शास्त्रोक्तैः सामयिकैः ॥ ९५ ॥

होता है) । इस प्रकार उस परमात्मा में स्वातन्त्र्य नाम वाली जो तीन शक्तियाँ, (पर, परापर और अपर) हैं उसे हमारे गुरुओं के द्वारा इच्छा आदि (= इच्छा-ज्ञान-क्रिया) नाम से प्रकट किया गया है ॥ ९३-९४ ॥

निरावरण इसलिये है कि वह शुद्ध प्रकाशमय है । आवृत इसलिये कि भेद रूप कालुष्य का उदय होता है । आवृतानावृत इसलिये कि शुद्ध ज्ञानमय होने पर भी भेदरूपी मलिनता रहती ही है । इसलिये पर, अपर और परापर (तीन रूपों में भासित होता है) बहुधा = एषणीय आदि के अनेक होने से अनेक प्रकार का । निरावरण होने पर (किसी प्रकार के कालुष्य का) निषेध होने पर भी वासना मात्र से भेद रहता है । इति शब्द (शिव) स्वरूप को बतलाता है । इसलिये निरावरणत्व आदि ही (उसका) अवभास है । उसका जो पर आदि रूप है वही इस शास्त्र के अवतारक गुरुओं के द्वारा इच्छा आदि (= ज्ञान किया) नाम से (कहे गए हैं) परमेश्वर के विषय के रूप में उन्मीलित भी यह स्वातन्त्र्य शक्ति ही कही जाती है । 'इस (परमेश्वर) की अनन्त शक्तियाँ है और उस शक्ति से अवियुक्त होना (उसका स्वभाव) है' ॥ ९३-९४ ॥

इस (शिव) के अभिधायक (शास्त्रों) का प्रवृत्तिनिमित्त भी बहुशक्तित्व ही है—यह कहते हैं—

यहाँ भैरवदेव जो कि पति एवं परमशिव हैं वे (= देव) अन्वर्थ शास्त्रोक्त शब्दों के द्वारा कहे जाते हैं ॥ ९५ ॥

अन्वय = व्युत्पन्न निरुक्तशास्त्र प्रतिपादित । शास्त्रोक्त = सामयिक ॥ ९५ ॥

तदेवाह—

विश्वं बिभर्ति पूरणधारणयोगेन तेन च भ्रियते ।
सविमर्शतया रवरूपतश्च संसारभीरुहितकृच्च ॥ ९६ ॥
संसारभीतिजनिताद्रवात्परामर्शतोऽपि हृदि जातः ।
प्रकटीभूतं भवभयविमर्शनं शक्तिपाततो येन ॥ ९७ ॥
नक्षत्रप्रेरककालतत्त्वसंशोषकारिणो ये च ।
कालग्राससमाधानरसिकमनःसु तेषु च प्रकटः ॥ ९८ ॥
सङ्कोचिपशुजनभिये यासां रवणं स्वकरणदेवीनाम् ।
अन्तर्बहिश्चतुर्विधखेचर्यादिकगणस्यापि ॥ ९९ ॥
तस्य स्वामी संसारवृत्तिविघटनमहाभीमः ।

बिभर्ति—धारयति पोषयति च स्वात्मभित्तिसंलग्नत्वेन तदुल्लासनात् । तेन इति विश्वेन, भ्रियते इति धार्यते पोष्यते च—तस्य विश्वमयत्वेनैव सर्वत्र

वही कहते हैं—

(यहाँ भैरव शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—) पूरण और धारण के द्वारा जो विश्व का भरण करता है और उस (= विश्व) के द्वारा जो सेवित (= भरित, धृत और पुष्ट) होता है (वह भैरव है) । स्वरूप (= शब्द व्यापार) के द्वारा (संसार का भरण एवं रवण करने से भैरव हैं) । संसार में वर्तमान् भीरु (पशुओं) का हित करने से (भैरव) हैं ॥ ९६ ॥

संसार की भीति से जनित जो रव (अर्थात् भगवद्विषयक आक्रन्द) अथवा परामर्श, उसके द्वारा जो हृदय में उत्पन्न हो (वह भैरव है) । शक्तिपात के माध्यम से जिसनें भवमय विमर्श को प्रकट कर दिया है (अर्थात् संसार से विमुख बना दिया है वह भैरव है) ॥ ९७ ॥

भ (= नक्षत्र) के प्रेरक भेर अर्थात् काल तत्त्व का शोषण करने वाले (= भैरव अर्थात् कालग्राससमाधि लगाने वाले योगी जन) उनका स्वामी = उनके मन में प्रकट होने से (भैरव कहलाते हैं) ॥ ९८ ॥

सङ्कोची पशु लोगों के भय के लिए जिन अपने करण देवियों का रवण (—वे देवियाँ भीरव हैं अर्थात्) भीतर बाहर वर्तमान चार प्रकार का खेचरी आदि गण (= खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी) उसका स्वामी (अर्थात्) संसारवृत्ति के विघटन में महाबलशाली ॥ ९९-१००- ॥

भरण करता है = आत्मभित्ति से संलग्न होने से उस (विश्व) को उल्लसित करने के कारण धारण या पोषण करता है । उससे = विश्व से (इस विश्व का

स्फुरणात् । रवरूपतः इति शब्दनस्वाभाव्यात्, तेन भरणाद्रवणाच्च भैरवः इत्ययं निरुक्तः । भीरूणाम् अयं हितकृत् इति भैरवः, भीरुत्वे च निमित्तं संसारः तेन संसारिणामभयप्रदः—इत्यर्थः । भयं भीः संसारत्रासः, तया जनितो योऽसौ रवः भगवद्विषय आक्रन्दः परामर्शो वा ततो जातः इति भैरवः, तेनाक्रन्दवतां परामर्शवतां च हृदि परमार्थभूमौ स्फुरितः इति यावत् । भवाद्भयं भीस्तस्य रवो विवेचनं विमर्शनं तस्य शक्तिपातमुखेन अयं कारणम् इति भैरवः, संसारवैमुख्येऽपि अयमेव निमित्तम्—इति भावः । भानि—नक्षत्राणि, ईरयति प्रेरयति इति भेरः कालः तस्य तत्त्वं क्षणाद्यात्मकं स्वरूपम्, तस्य सम्यङ् निःशेषेण शोषम् अभिभवं कुर्वन्ति इति कालं वयन्ति इति भेरवाः—कालग्राससमाधिरूढावधाना योगिनः, तेषु अयं स्वामी तत्त्वेन प्रकटः स्फुरितः इति भैरवः । सङ्कोचिनो भेदप्रथामयस्य पशुजनस्य भिये तत्तत्सुखदुःखाद्युपजनन-त्रासाय रवणं शब्दराशिसमुत्थकादिकलाविमर्शमयो रवो यासां ताः स्वकरणदेव्यः इन्द्रियशक्तयः, तथा अन्तर्बहिः प्रमातृप्रमेयाद्यात्मा चतुर्विधः चतुष्प्रकारः खेचर्यादिको गणः खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचर्यो भीरवास्तासामयं स्वामी भैरवः । महाभीम इति भीषणः, तेनात्र भैरवशब्दः सङ्केतितः—इति भावः ॥ ९६-९९ ॥

उसके द्वारा) भरण अर्थात् धारण और पोषण किया जाता है क्योंकि वह विश्वमय होने से सर्वत्र स्फुरण करता है । स्वरूप होने से = शब्दन स्वभाव वाला होने के कारण । इस प्रकार भरण और रवण करने से (यह शिव) भैरव कहलाता है । यह भययुक्त (साधकों) का हितकारी है इसलिये भैरव है । भीरुत्व में कारण है—संसार । इसलिये संसारियों को अभय देने वाला । भय = भी = संसार से त्रास । उससे उत्पन्न जो रव = भगवद्विषयक आर्त्तनाद अथवा परामर्श उससे उत्पन्न भैरव । तात्पर्य यह है कि आक्रन्द वालों या परामर्श वालों के हृदय में = परमार्थ भूमि में स्फुरित होने वाला । भव से भय को भी (कहते हैं) उसका रव = विवेचन—विमर्श उसका शक्तिपात के द्वारा कारण होने से यह भैरव है । संसार से विमुखता होने में भी यही कारण है । जो भ = नक्षत्र को ईरयति = प्रेरणा देता है वह भेर = काल । उसका तत्त्व = क्षण आदि वाला स्वरूप, उसका सम्यक् = पूर्णरूप से, शोषण = अभिभव करते हैं या जो काल को प्राप्त होते है वे भेरव अर्थात् कालग्रास की समाधि में रूढ़ ध्यान वाले योगीजन, उनमें यह स्वामी तत्त्व के रूप में प्रकट या स्फुरित होता है इसलिये भैरव । सङ्कोची = भेदप्रथा वाले पशुओं के भय = तत्तत् सुख दुःख आदि की उत्पत्ति रूप त्रास, के लिये रवण = शब्दराशि से उत्पन्न 'क' आदि कला के विमर्श से पूर्ण रव है जिन (करणदेवियों) का वे अपनी करणदेवियाँ इन्द्रियों की शक्तियाँ तथा भीतर एवं बाहर प्रमाता प्रमेय आदि चतुर्विध = चार प्रकार वाला खेचरी आदि समूह = खेचरी - गोचरी - दिक्चरी - भूचरी ही भीरव है, उनका यह स्वामी भैरव है । महाभीम = भयङ्कर । इससे यहाँ भैरव शब्द का सङ्केत है ॥ ९६-९९ ॥

एतदेवोपसंहरति—

भैरव इति गुरुभिरिमैरन्वर्थैः संस्तुतः शास्त्रे ॥ १०० ॥

गुरुभिः तत्तच्छास्त्रावतारकैः, इमैः एभिः समनन्तरोक्तैः अन्वर्थैः अर्थानुगतैर्वाचकैः, संस्तुतः परिचितः शास्त्रे विशेषानुपादानात् सर्वत्रैव अर्थादुक्तः । अथ च अन्वर्थैः सम्यक् सकलजगद्भरणादिसामर्थ्यप्रतिपादनद्वारेण स्तुतः इत्यर्थः, यदुक्तम्—

'भ्रियात्सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सततोच्चारणाच्छिवः ॥' इति ॥

तथा—

.... भरणाद्भरितस्थितिः ।' इति ।

इमैः इति चिन्त्यम् । गुरुगदितैरिति तु श्रेष्ठः पाठः ॥ १०० ॥

हेयेत्यादिना देवशब्दस्य निर्वचनमाह—

हेयोपादेयकथाविरहे स्वानन्दघनतयोच्छलनम् ।

इसी का उपसंहार करते है—

इन अन्वर्थों से हमारे गुरुओं के द्वारा शास्त्र में (वह परमतत्त्व) भैरव कहा गया है ॥ -१०० ॥

गुरुओं = तत्तत् शास्त्रों के प्रणेताओं के द्वारा इन = पूर्वोक्त, अन्वर्थ = अर्थानुगत वाचक शब्दों के द्वारा, संस्तुत = परिचित, शास्त्र में विशेष का उपादान न होने से सब (शास्त्रों) में यह बात अर्थात् उक्त हो गयी । और भी—अन्वर्थ = पूर्णरूपेण समस्त संसार के भरण आदि समार्थ्य के प्रतिपादन द्वारा स्तुत । जैसा कि कहा गया—

'सबका भरण करता है, सदा शब्दन करता है , सम्पूर्ण (विश्व) में व्याप्त है इस प्रकार 'भैरव' शब्द का सतत् उच्चारण करने से (साधक साक्षात्) शिव हो जाता है ।'

तथा—

'... (वह) भरण करता है इसलिये वह पूर्णता वाला है ।'

'इमैः' यह पाठ (अशुद्ध होने से) चिन्तनीय है । (उसके स्थान पर) 'गुरुगदितैः' यह पाठ श्रेष्ठ है ॥ १०० ॥

'हेय' इत्यादि के द्वारा देव शब्द का निर्वचन करते है—

हेय एवं उपादेय की कथा से रहित केवल अत्यधिक आनन्द के

क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा तथा स्वतन्त्रत्वम् ॥ १०१ ॥
व्यवहरणमभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन सङ्कल्पः ।
निखिलावभासनाच्च द्योतनमस्य स्तुतिर्यतः सकलम्॥ १०२ ॥
तत्प्रवणमात्मलाभात्प्रभृति समस्तेऽपि कर्तव्ये ।
बोधात्मकः समस्तक्रियामयो दृक्क्रियागुणश्च गतिः ॥ १०३ ॥

स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेव अस्य क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा, तथा स्वतन्त्रत्वं व्यवहरणम् इति—अभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन सङ्कल्पः, क्रीडेति दीव्यति क्रीडति इति देवः । न चात्र क्रीडातिरिक्तं निमित्तम् इत्याह—हेय इत्यादिना । नहि किञ्चिदुपादातुं हातुं वा जगत्सर्गादौ ईश्वरः प्रवर्तते, अत एव स्वानन्दघनत्वमेवात्र हेतुरुपात्तः, अत एव चास्य स्वतन्त्रत्वमेव, सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा विजिगीषुता, विजिगीषोर्हि कथं नु नाम सर्वानिवाभिभूय अहं वर्ते इतीयमेव इच्छा भवति । तथाशब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये तेन दीव्यति विजिगीषते इति देवः । देवशब्दस्य सर्वस्मात् अभिन्नेऽपि स्वात्मनि

कारण उच्छलत्ता ही क्रीडा है (इसलिए दीव्यति क्रीडति इति देवः—ऐसी व्युत्पत्ति करने से वे देव हैं) सबसे बढ़कर रहने की इच्छा तथा स्वतन्त्र व्यवहार, स्वयं अभिन्न होते हुए भी भेदपूर्वक (अहं आत्मानं जानामि ऐसा) सङ्कल्प, समस्त चराचरात्मक जगत् का अवभासन करने से इस (देव) का द्योतन, स्वरूपलाभ से प्रारम्भ कर सभी कर्त्तव्यों में सम्पूर्ण विनम्रता उसकी स्तुति, बोधात्मक, समस्त क्रियाओं वाला, दृक् (= दर्शन = ज्ञान) एवं क्रियारूप गुणों वाला, (और चूँकि उक्त सभी गुणों से युक्त है अतः) गति (सर्वज्ञ) और सर्वव्यापक हैं ॥ १०१-१०३ ॥

अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त समस्त विश्व के रूप में उल्लासन ही इसकी क्रीड़ा अर्थात् सबसे बढ़कर रहने की इच्छा तथा स्वतन्त्र व्यवहार अर्थात् अभिन्न अपने में भेद का प्रसार, जो क्रीड़ा करे वह देव है (क्योंकि दिव् धातु का अर्थ क्रीड़ा होता है ।) क्रीड़ा के अतिरिक्त (इस संसार का) कोई दूसरा कारण नहीं हैं यह कहते हैं—हेय इत्यादि । जगत् की सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर कुछ का ग्रहण या त्याग करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता । इसलिये इस (सृष्टि) के विषय में (उसका) स्वानन्दघन होना ही कारण बतलाया गया । और इसीलिये उसकी स्वतन्त्रता भी है । सबसे बढ़कर रहने की इच्छा ही विजिगीषुता होती है । विजिगीषु के हृदय में—'मैं सबको अभिभूत कर वर्त्तमान रहूँ' यह इच्छा क्यों उदित होती है (इस पर विचार करना चाहिये) । 'तथा' शब्द पूर्व की अपेक्षा समुच्चय (अर्थ) में प्रयुक्त हुआ है । इससे दीव्यति अर्थात् विजिगीषति इति देव—(यह देवशब्द की व्युत्पत्ति है) देव शब्द का अर्थ है—सबसे अभिन्न भी स्वात्मा में

भेदेन 'अहमिदं जानामि' इति योऽयमस्य सङ्कल्पः तद्व्यवहरणम् अपारमार्थिकेन रूपेण स्फुरणम्—इत्यर्थः, तेन दीव्यति व्यवहरति इति देवः । निखिलस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो निखिले चास्य यत् अवभासनं तत् द्योतनं, तेन दीव्यति द्योतते द्योतयति इति वा देवः । यतः 'सकलमिदं जगत् स्वरूपलाभात्प्रभृति समस्तेतिकर्तव्यतायां तदायत्तप्रवृत्ति इत्यस्य स्तुतिः । सर्वे हि शिवमन्त्रमहेश्वरादयः तत्परतन्त्रवृत्तित्वादुन्मुखतया प्रह्वा एव—इति भावः । अस्य इति कर्मणि षष्ठी, तेन दीव्यते स्तूयते इति देवः । समस्ता पूर्णा विमर्शलक्षणा क्रिया प्रकृता यस्यासौ, दृक्क्रिये गुणः—शक्तिर्यस्यासौ, यतोऽयमेवंविधः ततोऽस्य गतिः—विशेषानुपादानात् सर्वत्र ज्ञानं प्रसरणं च इति सर्वज्ञः सर्वव्यापकश्च इति सिद्धम्, तेन दीव्यति, जानाति, प्रसरति च इति वा देवः ॥ १०१-१०३ ॥

एतदेवोपसंहरति—

इति निर्वचनैः शिवतनुशास्त्रे गुरुभिः स्मृतो देवः ।

गुरुभिः इति बृहस्पतिपादैः । स्मृत इति—

'एवं वामो देवः स दीव्यति क्रीडति प्रभुर्यस्मात् ।'

भेदपूर्वक 'मैं इसे जानता हूँ' ऐसा जो इसका सङ्कल्प उसका व्यवहार अर्थात् अपारमार्थिक रूप से स्फुरण । इसलिये (देव शब्द की एक व्युत्पत्ति और है) दीव्यति व्यवहरति इति देवः । समस्त प्रमाता और प्रमेय का निखिल में ही अवभासन अर्थात् उसका प्रकाशन (भी देव शब्द का अर्थ है) इससे दीव्यति = द्योतते अथवा द्योतयति इति देवः—यह विग्रह भी है । यह समस्त जगत् अपनी सत्ता में आने से लेकर समस्त कार्यों के लिये उसके अधीन होकर चलता है—यह इसकी स्तुति है । शिव मन्त्रमहेश्वर आदि सब उसके अधीन कार्यकारी होने से उसकी ओर उन्मुख होकर नत होते हैं—यह भाव है । 'अस्य' यहाँ कर्म में षष्ठी है । इस प्रकार दीव्यति स्तूयति इति देवः (ऐसी भी व्याख्या है । समस्त = पूर्ण, विमर्शलक्षण क्रिया है जिसकी वह (समस्त क्रियामय है) । दृक् और क्रिया हैं गुण अर्थात् शक्ति जिसकी वह (दृक्क्रियागुण है) । चूँकि वह इस प्रकार का है इसलिये इसकी गति—विशेष का उपादान न होने से सर्वत्र ज्ञान और प्रसरण है जिसका वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है—यह सिद्ध हो गया । इसलिये दीव्यति जानाति प्रसरति च वा इति देवः (ऐसा विग्रह भी समझना) चाहिये ॥ १०१-१०३ ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

उपर्युक्त व्याख्याओं के द्वारा (बृहस्पति) गुरु ने शिवतनुशास्त्र में देव (= परमेश्वर) का वर्णन किया है ॥ १०३- ॥

'इस प्रकार वह वाम (= सुन्दर गुरु = वृहस्पति कहा गया—) देव प्रभु जिस कारण क्रीड़ा करते है'

इत्यादिना—

'अविहतगतिः स यस्माद्देवस्तस्मात्सदाशिवो गीतः ।'

इत्यन्तेन ग्रन्थेन व्यावर्णितः—इत्यर्थः ॥

शासनेत्यादिना पतिशिवशब्दयोर्निर्वचनमाह—

शासनरोधनपालनपाचनयोगात्स सर्वमुपकुरुते ।
तेन पतिः श्रेयोमय एव शिवो नाशिवं किमपि तत्र ॥ १०४ ॥

शासनम् शास्त्रोपदेशादिना बोध्यानां बोधनम् । रोधनम् संसारिणां विलयशक्त्या आघ्रातत्वात् तत्रैवावस्थापनम् । पालनम् यथास्थितस्य विश्ववैचित्र्यस्य नियतनियन्त्रणया तथैव स्थापनात्मकं संरक्षणम् । पाचनम् कर्मणां कर्मिणः प्रति फलदानौन्मुख्यजननम् । उक्तं हि—

'स्वापेऽप्यास्ते बोधयन्बोधयोग्यान्
रोध्यान् रुन्धन्पाचयन्कर्मिकर्म ।
मायाशक्तीर्व्यक्तियोग्याः प्रकुर्वन्
सर्वं पश्यन् यद्यथावस्तुजातम् ॥' इति ।

इत्यादि से प्रारम्भ कर

'चूँकि वह देव अप्रतिहत गति वाला है इसलिये सदाशिव कहा गया है ।'

यहाँ तक के ग्रन्थ से विशेषरूप से वर्णित है । शासन इत्यादि के द्वारा 'पति' एवं शिव शब्दों का निर्वचन करते हैं—

शासन (= शास्त्रोपदेश आदि के द्वारा लोगों का) उद्‌बोधन, रोधन अपनी निग्रहशक्ति के द्वारा (= संसारियों का संसार में) रक्षण, (पुनः उस विश्व का) पालन, (कर्मशील जीवों के कर्मों का) फलदान आदि करने के कारण वह सबका उपकार करते हैं इसलिए वे पति हैं । श्रेयोमय होने के कारण वे शिव हैं । उनमें लेशमात्र भी अशिव नहीं है ॥ १०४ ॥

शासन = शास्त्रोपदेश आदि के द्वारा बोध्य (शिष्य या साधक) को बोध कराना । रोधन = विलय शक्ति से संस्पृष्ट होने के कारण उसी (= संसार) में अवस्थापन । पालन = यथास्थित विश्ववैचित्र्य का निश्चित नियन्त्रण के द्वारा उसी रूप में स्थापना रूप संरक्षण । पाचन = कर्म करने वालों को (उनके) कर्मों को फल देने की उन्मुखता को पैदा करना ।

कहा भी गया है—

'(वह) मोहनिन्द्रा में भी बोध के योग्य साधकों को उद्बुद्ध करता है । रोध के

तेन इति—रक्षणार्थपर्यवसायिनोऽपि पतिशब्दस्य शासनादिकारकत्वेन हेतुना —इत्यर्थः । अत एव पाति रक्षति इति पतिः । श्रेयोमयः पराद्वयस्वभावत्वात् । अशिवम् इति द्वैतम् ॥ १०४ ॥

ननु एवमपि किं विशेषणयोगेन ? इत्याशङ्क्याह—

ईदृग्रूपं कियदपि रुद्रोपेन्द्रादिषु स्फुरेद्येन ।
तेनावच्छेदनुदे परममहत्पदविशेषणमुपात्तम् ॥ १०५ ॥

ईदृक् इति—भैरवादिशब्देष्वन्वर्थगत्या दर्शितम् । कियत् इति—किञ्चिदेव, न तु सर्वम्, एतत् हि अंशांशिकया सर्वत्रैव सम्भवेत्—इति भावः । अत एव अन्यव्यवच्छेदेन सर्वातिशयप्रतिपदनार्थं परममहत्पदलक्षणं विशेषणमुक्तम् ॥१०५॥

ननु अज्ञानं संसृतौ निमित्तं, ज्ञानं च मोक्षे, स्वस्वरूपाख्यातिश्चाज्ञानम्, तत्ख्यातिश्च ज्ञानम्, स्वात्मनश्च स्वरूपं परः प्रकाशः, स एव च स्वं रूपं स्वेच्छया प्रच्छाद्य विश्वरूपतामवभासयेत् । एवमपि तदधिगमे तच्छक्तिरेवोपायो

योग्य का रोधन करते हुए कर्म करने वालों को कर्मो का फल देता है । माया की शक्तियों को अभिव्यक्ति के योग्य बनाकर जो वस्तुसमूह जैसा है उसको वैसा देखता रहता है ।'

'तेन' का प्रयोग हेतु अर्थ में है । रक्षण अर्थ को बतलाने वाले पति शब्द का अर्थ शासन आदि करने वाला भी होता है—इस कारण । इसीलिये (पति शब्द की व्युत्पत्ति है)—पाति = रक्षति इति पतिः । पर अद्वय स्वभाव वाला होने के कारण वह श्रेयोमय है । अशिवम् का अर्थ है—द्वैत ॥ १०४ ॥

प्रश्न है कि ऐसे (तत्त्व) के लिये विशेषण की क्या आवश्यकता—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि (उस शिव का) ऐसा रूप रुद्र उपेन्द्र आदि में स्फुरित होता है इसलिए अवच्छेद को हटाने के लिए परममहत् पद विशेषण के रूप में दिया गया है ॥ १०५ ॥

ऐसा = भैरव आदि शब्दों में अन्वर्थ के द्वारा दिखाया गया । कितना = थोड़ा सा ही न कि सब । अंशअंशी रूप में यह सर्वत्र सम्भव है । इसीलिये अन्य के व्यवच्छेद के द्वारा सर्वातिशयत्व का प्रतिपादन करने के लिय परम महत् पदवाला विशेषण कहा गया ॥ १०५ ॥

प्रश्न है कि अज्ञान संसार का कारण है और ज्ञान मोक्ष का । अपने स्वरूप का भान न होना अज्ञान है और उसका भान होना ज्ञान । अपना स्वरूप परम प्रकाश है और वही अपने रूप को अपनी इच्छा से आच्छादित कर विश्वरूपता का अवभासन करता है । ऐसा होने पर भी उस (पर प्रकाश रूप शिव) को जानने के

येन स्वरूपख्यातिर्भवेत्, इयदेव च ज्ञातव्यम् यत्सर्वेषामेव शास्त्राणां प्रतिपाद्यं तच्च इह उक्तप्रायम् इत्यत एव विरन्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्श्यते तच्छिवाज्ञया ।
मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात् ॥ १०६ ॥

'इत्युपोद्घातः' । इति—उक्तेन प्रकारेण यत् ज्ञेयस्य बन्धमोक्षादेः शास्त्रान्तर-दृष्टत्वात् सतत्त्वम् पारमार्थिकं रूपम् अर्थादिह संक्षेपेण उट्टङ्कितम्, तन्मया शिवाज्ञया स्वसंविदादि अवलम्ब्य च दर्श्यते विस्तरेण उच्यते—इत्यर्थः । शिवोऽत्र गुरुः ।

'यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥' इति ।

नहि अत्र तदादेशमन्तरेण अधिकार एव भवेत्—इति भावः । स्वसंवित् स्वानुभवः । सत्तर्को युक्तिः । पतिशास्त्रम् भेदप्रधानं शैवम् । त्रिकम् परादिशक्ति-त्रयाभिधायकं शास्त्रम् । क्रमः चतुष्टयार्थः । समाहारेऽयं द्वन्द्वः । इह सर्वमेव स्वानुभवेन युक्त्या सामान्यागमेन विशेषागमेन च सिद्धमुपदिश्यते इत्यागमः ।

लिये उसकी शक्ति ही उपाय है जिससे स्वरूप का भान होता है । इतना अवश्य जानना चाहिये कि जो सभी शास्त्रों का प्रतिपाद्य है वह यहाँ प्रायः कह दिया गया है इसलिये यहीं पर विराम कर लेना चाहिये?—यह शङ्का कर कहते है—

इस प्रकार का जो ज्ञेय तत्त्व है (जिसकी संक्षिप्त सूचना इस प्रस्ताव में की गई), अपनी संवित् सत्तर्क, पतिशास्त्र एवं त्रिक इन चारों का आलम्बन कर परमशिव (= गुरु) की आज्ञा से मेरे द्वारा वह (= ज्ञेय तत्त्व विस्तारपूर्वक) प्रतिपादित किया जा रहा है ॥ १०६ ॥

इति अर्थात् उक्त प्रकार से जो ज्ञेय का = बन्ध मोक्ष आदि का, दूसरे शास्त्रों में दृष्ट होने से, सतत्त्व = पारमार्थिक रूप है अर्थात् यहाँ (= पूर्वोक्त ग्रन्थ में) संक्षेप में कहा गया वह शिव की आज्ञा से मेरे द्वारा अपनी संविद् आदि के आधार पर दिखलाया जा रहा है = विस्तारपूर्वक कहा जा रहा है । यहाँ शिव का अर्थ है—गुरु ।

'जो गुरु हैं वह शिव कहे गये हैं और जो शिव हैं वह गुरु । गुरु और शिव दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।'

उस (गुरु) के आदेश के बिना इस (शास्त्रवर्णन) में अधिकार ही नहीं होता । स्वसंविद् = अपना अनुभव । सत्तर्क = युक्ति । पतिशास्त्र = भेदप्रधान शैवशास्त्र । त्रिक् = परा (अपरा और) परापरा इन तीन शक्तियों का वर्णन करने वाला शास्त्र । क्रम = चारो (= अनुभव, युक्ति, पतिशास्त्र और त्रिक्) अर्थों वाला, यहाँ (= स्वसंवित् सत्तर्क पतिशास्त्र त्रिक् इस स्थल में) द्वन्द समाहार अर्थ में है । यहाँ सब

उपोद्घात इति—उप आशु संक्षेपेण ऊर्ध्वमादौ हन्यते टंक्यते दीनार इव राजाभिधानं शास्त्रार्थो यस्मिन् स तथा ॥ १०६ ॥

तदेवं प्रतिज्ञाय शास्त्रार्थगर्भीकारेण सम्प्रति अवतारयितुमाह—

तस्य शक्तय एवैतास्तिस्रो भान्ति परादिकाः ।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः ॥ १०७ ॥

तस्य परमेश्वरस्य भैरवादिशब्दाभिधेयस्य, एताः निखिलशक्त्यन्तरगर्भीकारेण प्रधानतया प्रतिपादिताः परादिकास्तिस्रः शक्तयः, सृष्टौ, स्थितौ, लये, संहारे, तुर्ये, अनाख्ये च भान्ति सर्वसर्वात्मकेन रूपेण स्फुरन्ति इत्येकैकस्याः चातूरूप्येण श्रीसृष्टिकाल्याद्यात्मकतया द्वादशधोदय इति वाक्यार्थः । तदुक्तम्—

'धाम्नां त्रयाणामप्येषां सृष्ट्यादिक्रमयोगतः ।
भवेच्चतुर्धावस्थानमेवं द्वादशधोदितः ॥
स्वसंवित्परमादित्यः प्रकाशवपुरव्ययः ।' इति ॥ १०७ ॥

ननु एक एव परप्रकाशात्मको भैरवादिशब्दव्यपदेश्यः परमेश्वरः समस्ति,

---

कुछ अपने अनुभव, युक्ति, सामान्यागम और विशेष आगम के द्वारा सिद्ध का ही उपदेश किया जा रहा है । उपोद्घात का अर्थ है—उप = शीघ्र संक्षेप में, उत् = ऊपर पहले, घात = मारना उभारना । जैसे दीनार आदि मुद्राओं में राजा का आदेश आदि उभारा जाता है वैसे इस पूर्वोक्त ग्रन्थ में शास्त्र का प्रतिपाद्य उट्टङ्कित है ॥ १०६ ॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर शास्त्र-विषयक रहस्य को अब बतलाने के लिये कहते हैं—

उस (परमेश्वर) की ये पर आदि तीन शक्तियाँ (अन्य **शक्तियों को** अपने में लीन करती हुई) आभासित होती हैं । (चूँकि ये) **सृष्टि** स्थिति लय (अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) एवं तुरीय (= अनाख्या) दशाओं में भासित होती है इसलिए ये बारह कही गई है ॥ १०७ ॥

उसका = भैरव आदि शब्दों के अभिधेय परमेश्वर का, ये = अन्य समस्त शक्तियों को अपने अन्दर समाहित कर प्रधानरूप से प्रतिपादित परा आदि तीन शक्तियाँ, सृष्टि, स्थिति, लय अर्थात् संहार, चतुर्थ अर्थात् अनाख्या दशाओं में, भासित होती है = सभी रूपों में स्फुरित होती है । इस प्रकार एक-एक के चार-चार रूप होने से सृष्टिकाली आदि १२ प्रकार का (इनका) उदय होता है ।

'इन तीनों (= परा, परापरा, अपरा) प्रकाशों की सृष्टि आदि के क्रम से चार-चार प्रकार की स्थिति होती हैं । इस प्रकार ये १२ कही गयी हैं । (ये सब) स्वसंवित् परम आदित्य प्रकाशस्वरूप अव्यय (शिव ही) हैं' ॥ १०७ ॥

तस्य चाभिन्ना एकैव स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः इत्युपपादितम्, तत्कथमस्य इह द्वादशधोदय इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते ।
तेनात्रोपासकाः साक्षात्तत्रैव परिनिष्ठिताः ॥ १०८ ॥

तावान् इति—द्वादश शक्तयः परिमाणमस्य, स तथा, अत एव पूर्णस्वभावः इत्युक्तम् । पूर्णे सर्वमस्ति, सर्वत्र पूर्णमस्ति, अन्यथास्य पूर्णतैव न स्यात् । अत एव अत्र द्वादशात्मके चक्रे ये उपासकाः 'ते तत्र परमशिवे एव परिनिष्ठिताः—तदैकात्म्यभाजो भवन्ति—इत्यर्थः । एतच्च बहुप्रघट्टकवक्तव्यम्, इति शाक्तोपायाह्निक एव वितत्य विचारयिष्यते, इति नेहायस्तम् ॥ १०८ ॥

ननु कथमेतद्युक्तम्, यतोऽत्र संख्यायाः तत्र तत्र न्यूनत्वमाधिक्यं च सम्भवति ? इत्याशङ्क्याह—

तासामपि च भेदांशन्यूनाधिक्यादियोजनम् ।
तत्स्वातन्त्र्यबलादेव शास्त्रेषु परिभाषितम् ॥ १०९ ॥

प्रश्न है कि परप्रकाश रूप भैरव आदि शब्दों से व्यवहार्य परमेश्वर एक ही है । और उसकी स्वातन्त्र्य नामक अभिन्न शक्ति भी एक ही है—ऐसा कहा गया । तो फिर इसकी १२ प्रकार की शक्तियाँ कैसे कही गयी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(उन बारह शक्तियों से युक्त होने के कारण) वह परमशिव उतना पूर्ण स्वभाव वाला है । इसलिए द्वादश शक्तिचक्र के उपासक लोग सीधे-सीधे उसी (= शिव में) परिनिष्ठित (= उससे एकाकार) हो जाते हैं ॥ १०८ ॥

उतना = १२ शक्तियों के परिमाण वाला । इसीलिये पूर्णस्वभाव कहा गया । पूर्ण में सब कुछ है और पूर्ण सर्वत्र है । अन्यथा इसकी पूर्णता ही नहीं होगी । इसलिये जो इन बारह चक्रों में उपासना करते हैं वे उस परम शिव में परिनिष्ठित होते हैं अर्थात् उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं । यह वक्तव्य बहुत स्थानों में कहा जा सकता है इसलिये शाक्तोपाय आह्निक में ही विस्तार के साथ इसका विचार किया जायगा, इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया गया ॥ १०८ ॥

प्रश्न है कि ऐसा कैसे कहा गया क्योंकि स्थान-स्थान पर (= भिन्न-भिन्न शास्त्रों में) संख्या की न्यूनता या अधिकता सम्भव है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शास्त्रों में उन (= शक्तियों) की भी भेदांश में न्यूनाधिक्ययोजना उसी (= शिव) के स्वातन्त्र्य के कारण कही गई है (वह इस प्रकार है—) ॥ १०९ ॥

तदेवाह—

एकवीरो यामलोऽथ त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः ।
पञ्चमूर्तिः षडात्मायं सप्तकोऽष्टकभूषितः ॥ ११० ॥
नवात्मा दशदिक्छक्तिरेकादशकलात्मकः।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवस्त्विति ॥ १११ ॥

यथा एकवीरो मृत्युजिति प्रथमध्याने । यामलः तत्रैव । कुलप्रक्रियायां तिस्रः शक्तयः पराद्याः । चतुरात्मा जयादिभेदेन । पञ्चमूर्तिः सद्योजातादितया । तदुक्तम्—

'सिद्धान्ते पञ्चकं सारं चतुष्कं वामदक्षिणे ।
त्रिकं तु भैरवे तन्त्रे........................ ॥' इति ।

षडात्मा इति, यद्वक्ष्यति—

'विश्वा तदीशिका रौद्री वीरका त्र्यम्बिका तथा ।
गुर्वीति षडरे देव्यः................................ ॥' इति ।

सप्तकः इति, यदुक्तम्—

'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।

वही कहते हैं—

एकवीर, यामल, त्रिशक्ति, चार शक्ति वाला, पाँचमूर्त्ति, षडात्मा, सप्तक, अष्टकविभूषित, नवात्मा, दश दिक्शक्ति वाला, ग्यारह कला वाला, द्वादशार महाचक्र का नायक और भैरव (तेरह संख्या वाला) है ॥ ११०-१११ ॥

जैसे एक है और वीर भाव वाला है । मृत्युञ्जय के रूप में प्रथम ध्यान का विषय है । उसी (ध्यान) में वह यामल (= शिवशक्तिसङ्घट्ट रूप) है । कुलप्रक्रिया में परा आदि तीन शक्तियाँ हैं । जया आदि चार शक्तियों तथा जाग्रत आदि चार अवस्थाओं से युक्त वह चतुरात्मा है । सद्योजात आदि (ईशान तत्पुरुष, वामदेव, अघोर) के कारण वह पञ्चमूर्ति है । वही कहा गया—

'शैव सिद्धान्त में पाँच ही मुख्य हैं । वामदक्षिण में चार । भैरव तन्त्र में तीन ।'

षडात्मा—जैसा कि कहेंगे—

विश्वा, विश्वेश्वरी, रौद्री, वीरका, त्र्यम्बका और गुर्वी ये छः अरायें देवीचक्र की है......... ।'

सप्तक जैसा कि कहा गया—

वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा चेति मातरः॥'इति ।

अष्टकेन—अघोरादिना । स एव एतदष्टकमध्यवर्ती नवात्मा । दशदिक्छक्तिः इति, यदुक्तम्—

'उमा दुर्गा भद्रकाली स्वस्ति स्वाहा शुभङ्करी ।
श्रीश्च गौरी लोकधात्री वागीशी दशमी स्मृता ॥'

इति । एकादश इति खण्डचक्रोक्ता । इयदन्तं न्यूनसंख्यास्वीकारः भैरवः इति त्रयोदशः । अनेन अधिकसंख्यासूत्रणम् ॥ ११०-१११ ॥

तच्च अधिकसंख्याकत्वं निरवधि—इत्याह—

एवं यावत्सहस्रारे निःसंख्यारेऽपि वा प्रभुः ।
विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते ॥ ११२ ॥

सहस्रारे इति—त्रिशिरोभैरवप्रथमपटलोक्ते । ग्रन्थविस्तरभयात्तु न प्रातिपद्येन संवादितम् । निःसंख्यारे इति भुवनादीनामानन्त्यात् । एवमपि एतस्मान्न व्यतिरिक्तम्, इत्याह विश्वशक्तिः इति । तदुक्तम्—

'ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा ये (सात) मातायें हैं ।'

अष्टक के द्वारा—अघोर आदि के द्वारा । इन आठ के मध्य में रहने वाला वह नवात्मा है । दश अर्थात् दिशाओं की अधिष्ठात्री शक्तियाँ । जैसा कि कहा गया—

उमा, दुर्गा, भद्रकाली, स्वस्ति, स्वाहा, शुभङ्करी, श्री, गौरी, लोकधात्री और वागीशी ये दश (शक्तियाँ) हैं ।

ग्यारह—खण्ड चक्र में उक्त (= अ,उ,म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना) (इनमें उन्मना को जोड़ने पर १२ हो जाते हैं ।) यहाँ तक (शक्तियों की) न्यून संख्या मानी गयी है । भैरव तेरहवें हैं । इसके द्वारा अधिक संख्या बतलायी गयी ॥ ११०-१११ ॥

और वह अधिक संख्या असीम है—यह कहते हैं—

इस प्रकार (त्रिशरोभैरव के अनुसार) हजार रूप में अथवा असंख्य होने के कारण संख्यारहित रूप में वही महेश विश्वशक्तियुक्त प्रभु इस विश्वचक्र में प्रस्फुरित हो रहे हैं ॥ ११२ ॥

सहस्रार (का वर्णन) त्रिशिरोभैरव के प्रथम पटल में है । ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ प्रत्येक पद की व्याख्या नहीं की गयी । भुवन आदि के अनन्त होने से वहाँ असंख्या अरायें है । फिर भी वे इस (सहस्रार) से भिन्न नहीं हैं इसलिये कहा गया—विश्वशक्ति । वही कहा गया—

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥' इति ॥ ११२॥

ननु विश्वेषामपि चक्राणां यदि प्रभुरेव परमार्थः तदेकेनैव कार्तार्थ्यात् प्रतिशास्त्रं बहूनि किमुक्तानि ? इत्याशङ्क्याह—

तेषामपि च चक्राणां स्ववर्गानुगमात्मना ।
ऐक्येन चक्रगो भेदस्तत्र तत्र निरूपितः ॥ ११३ ॥

ऐक्येन तत्तत्सृष्ट्याद्यात्मनियतकृत्यकारित्वादिना साजात्येन । तच्च नियत-कृत्यकारित्वादेव अस्य स्ववर्गानुगमात्मकत्वमुक्तम्, अत एव चक्रगो भेद इति शास्त्रेषु चक्राणामानन्त्यम् ॥ ११३ ॥

तदेव दर्शयति—

चतुष्षड्द्विर्द्विगणनायोगात्त्रैशिरसे मते ।
षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता चित्रनिजाकृतेः॥ ११४ ॥

चतुर्णां द्विगणनायोगेन अष्टौ, पुनस्तथात्वेन षोडश, षण्णां द्विगणनायोगेन द्वादश, पुनस्तथात्वेन चतुर्विंशतिः इति षण्णां चक्राणामीश्वरता, तत्तत्समुल्लास्य-

---

'शक्ति और शक्तिमान् दो पदार्थ (शास्त्रों में) वर्णित हैं । इस (शक्तिमान्) की शक्तियाँ ही सम्पूर्ण संसार है और शक्तिमान् तो महेश्वर हैं' ॥ ११२ ॥

प्रश्न है कि यदि सभी चक्रों का अन्तिम तत्त्व परमेश्वर ही है तो एक ही (परमेश्वर) से कृतार्थ होने से काम चल जायगा शास्त्रों में बहुत से (चक्रों) का निर्वचन क्यों है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उन चक्रों का भी (नियत कृत्यकारित्व के कारण) अपने वर्ग का अनुगमन होने से ऐक्य होने पर भी चक्रगत भेद वहाँ-वहाँ (= भिन्न-भिन्न शास्त्रों में) निरूपित है ॥ ११३ ॥

ऐक्य के कारण = तत्तत् सृष्टि आदि रूप नियतकृत्यकारित्व आदि सजातीयता के कारण । और वह (= ऐक्य) नियम कृत्यकारी होने के कारण ही है । इसी कारण इसको अपने वर्ग का अनुगमक कहा गया है । इसीलिए चक्रों में भेद है और इस प्रकार चक्र अनन्त हैं ॥ ११३ ॥

उसी को दिखलाते है—

चार और छः की दो-दो गुनी गणना (४ × २ = ८ × २ = १६ और ६ × २ = १२ × २ = २४) करने से त्रिशिरोभैरव में विचित्र आत्म-स्वरूप वाले उस परमात्मा की षट्चक्रेश्वरता कही गई है ॥ ११४ ॥

चार को दो बार गिनने से आठ फिर उसी प्रकार (दो बार गिनने से) सोलह,

चक्राद्युपाधिवैचित्र्याच्चित्रा—नानाकारा, तदतिरिक्तस्य अन्यस्य अनुपलम्भात् निजाकृतिः यस्य, अत एव नाथस्य स्वातन्त्र्यशालिनः तत्तच्चक्राधिष्ठातुः प्रभोः, त्रैशिरसे मते त्रिशिरोभैरवे उक्ता अभिहिता इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'चतुष्कं षट्काष्टकं द्वादशारं षोडशारकम् ।
चतुर्विंशारकं देवि प्रविभक्त्या सुसंस्थितम् ।।' इत्यादि ।।११४।।

बहुप्रकारत्वं चक्राणां भेदनिमित्तमपि त्रिशिरोभैरव एवोक्तम्,—इत्याह—

नामानि चक्रदेवीनां तत्र कृत्यविभेदतः ।
सौम्यरौद्राकृतिध्यानयोगीन्यन्वर्थकल्पनात् ॥ ११५ ॥

उक्ता इति पूर्वश्लोकाल्लिङ्गादिविपरिणामाद् योज्यम् । एक एव हि परमेश्वरः तत्तत्साधककामानुसारं नियतां सौम्यरौद्रादिरूपाम् आकृतिमाभास्य तां तां सिद्धिं नियच्छेत् । तदुक्तम्—

'येन येन हि रूपेण साधकः संस्मरेत्सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः ।।' इति ।

छ को दो बार गिनने से बारह फिर उसी प्रकार चौबीस । इस प्रकार (४,८,१६ तथा ६,१२,२४) छः चक्रों के स्वामी (महेश्वर ही) हैं । तत्तत् समुल्लास्य चक्र आदि उपाधि के वैचित्र्य के कारण चित्र अर्थात् अनेक आकार वाली, (क्योंकि) उनसे अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता न होने से, अपनी ही आकृति है जिसकी इसलिये नाथ का = स्वातन्त्र्य शाली तथा तत्तत् चक्र के अधिष्ठाता प्रभु का, त्रैशिरसमत में = त्रिशिरोभैरव में । उक्त = कही गयी है। वही वहाँ कहा गया है—

'हे देवि ! चार, छः, आठ, बारह, सोलह और चौबीस अरों वाले (चक्र) अच्छी तरह विभक्त होकर अच्छी तरह स्थित हैं' इत्यादि ।। ११४ ।।'

चक्रों की अनेक प्रकारता का कारण भी त्रिशिरोभैरव में ही कहा गया—

उनमें कार्यों की भिन्नता के आधार पर चक्रदेवियों के नाम अन्वर्थ कल्पना के कारण सौम्य, रौद्र आकृति वाले ध्यान से युक्त है ।। ११५ ।।

उक्त है—श्लोक सं० ११४ में आये ('उक्ता' पद को प्रकृत श्लोक में 'नामानि' के अनुसार) लिङ्ग परिवर्त्तन कर (अर्थात् 'उक्ता' की जगह 'उक्तानि') जोड़ना चाहिये । एक ही परमेश्वर भिन्न-भिन्न साधकों की इच्छा के अनुसार निश्चित सौम्य रौद्र आदि रूपों वाली आकृति को आभासित कर भिन्न-भिन्न सिद्धियों को देता है । वही कहा गया—

'साधक जिस-जिस रूप में स्मरण करता है, परमेश्वर चिन्तामणि के समान

श्रीत्रिशिरोभैरवप्रथमपटलाच्च अयमर्थः स्वयमेवाधिगन्तव्यः । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तारभयात् न प्रातिपद्येन संवादितम् ॥ ११५ ॥

तदेवाह—

एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः ।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते ॥ ११६ ॥

आन्तरी प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्तिः । अन्यत् इति रौद्रम् । अत एव तत्तत्सौम्य-रौद्रादिनियताकारावच्छिन्नत्वात् मितम् ॥ ११६ ॥

एतदेव विभज्य दर्शयति—

अस्य स्यात्पुष्टिरित्येषा संविद्देवी तथोदितात् ।
ध्यानात्सञ्जल्पसंमिश्राद् व्यापाराच्चापि बाह्यतः ॥ ११७ ॥
स्फुटीभूता सती भाति तस्य तादृक्फलप्रदा ।
पुष्टिः शुष्कस्य सरसीभावो जलमतः सितम् ॥ ११८ ॥
अनुगम्य ततो ध्यानं तत्प्रधानं प्रतन्यते ।
ये च स्वभावतो वर्णा रसनिःष्यन्दिनो यथा ॥ ११९ ॥

उसके लिये उसी रूप में उपस्थित होते हैं ।'

यह अर्थ त्रिशिरोभैरव के प्रथम पटल से स्वयं समझ लेना चाहिये । ग्रन्थ-विस्तार के भय से हमने प्रतिपद व्याख्या नहीं की ॥ ११५ ॥

वही कहते हैं—

एक ही संविद्प्रभु की आन्तरिक संवित् प्रतिभा शरीर की सौम्य अथवा अन्य = रौद्र, ऊर्मिचक्र के रूप में उपासना की जाती है ॥ ११६ ॥

आन्तरी प्रतिभा = स्वातन्त्र्यशक्ति । अन्यत् = रौद्र । इसीलिये तत्तत्, सौम्य, रौद्र आदि नियत आकार से अवच्छिन्न होने के कारण परिमित हैं ॥ ११६ ॥

इसी को अलग कर दिखलाते हैं—

इस (= शिव) की पुष्टि नामक संविद् देवी है । वह उसी प्रकार कहे गए सञ्जल्पमिश्रित ध्यान से अथवा बाह्य व्यापार के द्वारा स्पष्ट होकर उस (= उपासक) के लिए वैसा ही फल देने वाली होती है (तब साधक को) पुष्टि (= एक प्रकार का आनन्द) तथा (शुष्क तालाब में वर्षा के जल के आने पर उसके) सरस होने की तरह स्थिति होती है इसलिए वह सित अर्थात् उज्ज्वल स्वच्छ होती है । इसलिए तत्प्रधान (= पुष्टि का प्रेरक) ध्यान किया जाता है । जो वर्ण

दन्त्यौष्ठ्यदन्त्यप्रायास्ते कैश्चिद्वर्णैः कृताः सह ।
तं बीजभावमागत्य संविदं स्फुटयन्ति ताम् ॥ १२० ॥
पुष्टिं कुरु रसेनैनमाप्याययतरामिति ।
सञ्जल्पोऽपि विकल्पात्मा किं तामेव न पूरयेत् ॥ १२१ ॥
अमृतेयमिदं क्षीरमिदं सर्पिर्बलावहम् ।
तेनास्य बीजं पुष्णीयामित्येनां पूरयेत्क्रियाम् ॥ १२२ ॥

ध्यानाद्येव क्रमेण निरूपयति—पुष्टिरित्यादिना । ततः इति समनन्तरोक्ताद्धेतोः । अतः इति पुष्टेः शुष्कस्य सरसीभावापादानलक्षणत्वात् । जलं हि आप्यायकं तत्प्रधानं पुष्टिप्रयोजकम् पूर्णमित्यादिरूपम । सम्प्रति सञ्जल्पमपि लौकिकालौकिकभेदेन द्विधा व्याचष्टे—ये च इत्यादिना । ते इति दन्त्योष्ठ्यदन्त्यप्राया वर्णाः । तां संविदं पुष्टिरूपां । बीजभावं मन्त्रभावम् । अत एवास्य सञ्जल्पस्यालौकिकत्वम् । दन्त्योष्ठ्या वकारादयः । दन्त्या अमृतबीजादयः । कैश्चिद्वर्णैरिति अदन्त्योष्ट्यप्रायादिभिः । यदुक्तम्—

स्वभावतः जिस प्रकार रसनिष्यन्दी हैं, दन्त्य या ओष्ठ्यदन्तप्राय हैं, वे कुछ वर्णों के साथ उस बीजभाव को प्राप्त कर उस (पुष्टिरूपा) संविद को स्पष्ट करते हैं । 'पुष्टि करो' 'इसको रस से अधिकाधिक आप्लावित करो' —ऐसा विकल्पात्मक सञ्जल्प क्या उसी (= संवित्) को आपूरित नहीं करेगा? यह अमृता (= गुडूची) है यह बलाधायक दधि है यह (बलाधायक) घृत है उसके द्वारा इस (= शरीर) के बीज (= शुक्र शोणित आदि धातुओं) को पुष्ट करता हूँ इस प्रकार इस (= पुष्टिरूप) क्रिया का पूरण करना चाहिए ॥ ११७-१२२ ॥

ध्यान आदि का ही क्रम से निरूपण करते हैं—पुष्टि इत्यादि के द्वारा । इस कारण = समनन्तर कथित हेतु से । इसलिये = पुष्टि के कारण । (पुष्टि) शुष्क को सरस बनाने का नाम है । जल आप्यायन करता है, वह प्रधान रूप में पुष्टि का प्रयोजक है । पूर्णरूप वाला है । अब 'ये च' इत्यादि के द्वारा सञ्जल्प को भी लौकिक, अलौकिक भेद से दो प्रकार की व्याख्या करते हैं वे = दन्त्य[1], ओष्ठय[2], दन्त्यप्राय[3] वर्ण । उस संविद् को जो कि पुष्टिरूपा है । बीज भाव = मन्त्रभाव । इसीलिये यह (मन्त्र का) सञ्जल्प अलौकिक होता है । दन्त्योष्ठ्य = वकार आदि । दन्त्य = अमृत बीज[4] आदि । किन्हीं वर्णों से = अदन्त्य अनोष्ठ्य[5] प्राय आदि से । जैसा कि कहा गया—

---

१. ऌ ॡ तवर्ग दन्त्य 'स'
२. उ ऊ पवर्ग
३. व
४. वं
५. ऋ ॠ टवर्ग 'र' 'ष'

'वषडाप्यायने शस्तः .... ।'

इति । तथा—

'पुष्टावाप्यायने वर्गैः .... ।'

इति । एवं मूर्धन्यादीनामपि ग्रहणम् । विकल्पात्मा इत्यनेन अस्य लौकिकत्वं दर्शितम् । तामिति पुष्टिरूपां संविदम् । इदानीं बाह्यमपि होमादिरूपं व्यापारं विभजति अमृता इत्यादिना । क्षीरं दधि । तदुक्तम्—

'दधिहोमात्परा पुष्टिः .... ।' इति ।

बलावहशब्देन प्रत्येकं संबन्धः । तेन इति गुडूच्यादिना द्रव्यजातेन । बीजम् इति—शरीरकारणभूतं शुक्रशोणितादि धातुव्रातम् । एनाम् इति—पुष्टिरूपां क्रियाम् ॥ ११७-१२२ ॥

एतदेव प्रमेयान्तरमुपक्षिपन् उपसंहरति—

तस्माद्विश्वेश्वरो बोधभैरवः समुपास्यते ।
अवच्छेदानवच्छिद्भ्यां भोगमोक्षार्थिभिर्जनैः ॥ १२३ ॥

अवच्छेदानवच्छिद्भ्याम् इति, अवच्छेदः समनन्तरोक्तनीत्या ध्यानादिनियत-विधिनियन्त्रितत्वम्, तदन्यथात्वमनवच्छेदः । यद्वक्ष्यति—

'तृप्ति के लिय वषट् कहा गया है ।' तथा—

'पुष्टि और तृप्ति अर्थ में वर्णों के द्वारा'

इसी तरह मूर्धन्य आदि का भी ग्रहण होता है । 'विकल्पात्मा' पद से इसका लौकिकत्व दिखलाया गया । उसको = पुष्टिरूपा संविद् को । अब बाह्य होम आदि रूप व्यापार का वर्गीकरण करते हैं—अमृता इत्यादि के द्वारा । क्षीर = दही । वही कहा गया—

'दधि के होम से अत्यन्त पुष्टि होती है ।'

'बलावह' शब्द को हर एक के साथ जोड़ना चाहिये । उससे = गुडूची आदि द्रव्यसमूह से । बीज = शरीर का कारण भूत शुक्र, रजस् आदि धातुसमूह । इसको = पुष्टिरूपा क्रिया को ॥ ११७-१२२ ॥

प्रमेयान्तर को प्रस्तुत करते हुए इसका उपसंहार करते हैं—

इसलिए भोग एवं मोक्ष चाहने वाले लोगों के द्वारा अवच्छेद अनवच्छेद के द्वारा विश्वेश्वर संविद् भैरव की उपासना की जाती है ॥ १२३ ॥

अवच्छेद अनवच्छेद के द्वारा—अवच्छेद = पूर्वोक्त नीति के अनुसार ध्यान

'साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ॥'

इति । भगवतश्च एतत्सावच्छेदमपि रूपम् अनवच्छिन्नपरस्वरूपानुप्राणितमेव, नहि तत्स्वरूपानुप्रवेशं विना किञ्चिदपि सिद्ध्येत् ॥ १२३ ॥

एतदेव शब्दार्थद्वारकं गीताग्रन्थेन संवादयति—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यतो गुरुरादिशत् ।

इत्यतः—इत्येवमादिकात् वाक्यकदम्बकात्—इत्यर्थः । गुरुरिति तात्त्विकार्थोपदेष्टा भगवान्वासुदेवः । तत्र हि—

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥'

इत्यादिना ।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।'

आदि नियत विधि रूपी नियन्त्रण । उससे भिन्न होना अनवच्छेद । जैसा कि कहेंगे—

भोगेच्छु साधकों के लिये विधि नियति के अधीन होती है और तत्त्व ज्ञानी मोक्षेच्छु लोगों के लिये वही विधि निरर्गल अर्थात् विधि-निषेध से रहित होती है ।

भगवान् का यह सीमित रूप भी असीम परमस्वरूप से अनुप्राणित ही रहता है। उस (= पर) स्वरूप के अनुप्रवेश के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता ॥ १२३ ॥

यही बात गीता ग्रन्थ के उदाहरण से शब्द अर्थ दोनों के द्वारा कहते हैं—

जो दूसरी देवताओं के भक्त हैं (वे भी, श्रद्धा से युक्त होकर यदि यजन करते हैं तो अविधिपूर्वक मेरा ही यजन करते हैं)—ऐसा गुरु ने उपदेश दिया है ॥ १२४- ॥

इससे = इत्यादि वाक्य समूह से । गुरु = तात्त्विक अर्थ के उपदेष्टा भगवान् वासुदेव । वहाँ (गीता) पर—

'तीनों वेदों के अनुयायी, सोम पीने वाले, पापरहित जन यज्ञ के द्वारा (मेरा) पूजन कर मुझ से स्वर्गप्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं । वे पुण्य को प्राप्त कर इन्द्रलोक में जाते हैं और स्वर्गलोक में दिव्य देव भोगों को प्राप्त करते हैं ।' इत्यादि के द्वारा तथा–

'पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आ जाते हैं ।'

इत्यादिना च भोगार्थिनाम्,

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥'

इत्यादिना च मोक्षार्थिनाम्, अवच्छेदानवच्छेदाभ्यां क्रमेण स्वरूपमभिधाय पुनः सावच्छेदेऽपि रूपेऽनवच्छिन्नं रूपम् अस्त्येव इत्यभिधातुम्—

'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥'

इत्यादिना तेनोपदिष्टम् ॥

एतदेव व्याचष्टे—

ये बोधाद्व्यतिरिक्तं हि किञ्चिद्याज्यतया विदुः ॥ १२४ ॥
तेऽपि वेद्यं विविञ्चाना बोधाभेदेन मन्वते ।

ये याजका बोधाद् वेदित्रेकस्वभावात् स्वात्मरूपात्, व्यतिरिक्तमन्यत् तत्तन्नियताकारमिन्द्रादिदैवतं याज्यतया विदुः जानीयुः, ते विच्छिन्ननियता-

---

इत्यादि के द्वारा भोगार्थियों के, और

'जिनके लिये मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है ऐसे जो लोग मेरा चिन्तन करते हुए (मेरी) उपासना करते हैं, नित्य और सब प्रकार से (मुझ में) लगे हुए उन लोगों का मैं योगक्षेम[1] वहन करता हूँ ।'

इत्यादि के द्वारा मोक्षार्थियों के अवच्छेद और अनवच्छेद के क्रम से स्वरूप का कथन कर पुनः सावच्छेद रूप में भी अनवच्छिन्न रूप है—यह कहने के लिये

'जो अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा के साथ यजन करते हैं वे भी हे अर्जुन ! अविधिपूर्वक मेरा ही यजन करते हैं'

इत्यादि के द्वारा उपदेश दिया गया है ।

उसी व्याख्या करते हैं—

जो लोग बोध (= आत्मस्वरूप) से भिन्न किसी (देवता आदि को) याज्य के रूप में जानते हैं वे भी वेद्य (= उस देवता) का विमर्श करते हुए (उस देवता को) संविद् से अभिन्न रूप में जानते हैं ॥-१२४, १२५-॥

जो = याजक, बोध से = वेदितामात्र स्वभाव वाले आत्मरूप से, व्यतिरिक्त = भिन्न = तत्तत् नियत आकार वाले इन्द्र आदि देवताओं को, यजनीय मानते हैं, वे

---

१. अलब्धलाभो योगः, लब्धरक्षणं क्षेम ।

कारवत्त्वात् वेद्यमपि इन्द्रादिरूपं दैवतं श्रद्धातिशययोगाद् गाढगाढं विमृशन्तः

'वेद्यो वेदकतामाप्तो वेदकः संविदात्मताम् ।
संवित्त्वदात्मा चेत्सत्यं तदिदं त्वन्मयं जगत्॥'

इत्यादिन्यायेन बोधाभेदेन परप्रमात्रेकरूपस्वात्मयत्वेन अवबुध्यन्ते इत्यर्थः ॥

ननु 'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः' इत्युक्तेः द्रव्यत्यागार्थमुद्दिष्टैव देवता भवति, न च बोधैकरूपस्य स्वात्मतत्त्वस्य तथात्वेन उद्देशोऽस्ति, कथमस्य याज्यत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—

तेनाविच्छिन्नतामर्शरूपाहन्ताप्रथात्मनः ॥ १२५ ॥
स्वयंप्रथस्य न विधिः सृष्ट्यात्मास्य च पूर्वगः ।
वेद्या हि देवतासृष्टिः शक्तेर्हेतोः समुत्थिता ॥ १२६ ॥
अहंरूपा तु संवित्तिर्नित्या स्वप्रथनात्मिका ।

तेन बोधात्मत्वेन हेतुना, अस्य **स्वात्मतत्त्वस्य,** 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन अनवच्छिन्नतया प्रवृत्ताविरतेन **रूपेण** **पराहंप्रकाशपरामर्शमयस्य,** अत एव स्वयंप्रथस्य प्रमाणादिनैरपेक्ष्येण स्वतः सिद्धस्य, विधिः—अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मा,

---

विच्छिन्न नियत आकार वाला होने के कारण वेद्य भी इन्द्र आदि रूप देवता का अतिशय श्रद्धा के कारण गाढरूप में विमर्श करते हुए

'वेद्य वेदक बन जाता है और वेदक संविद् । (हे भगवन्) यदि संवित् तुम ही हो तो यह (वेद्य) संसार भी त्वन्मय (= तुम्हीं) हो ।'

इत्यादि न्याय से, बोध से अभिन्न केवल परप्रमातृरूप स्वात्ममय ही समझते हैं—यह अर्थ है ।

प्रश्न है कि देवता को उद्दिष्ट कर द्रव्य का त्याग याग होता है—ऐसा कहने में जो द्रव्यत्याग के लिये उद्दिष्ट है वही देवता होता है । किन्तु बोध-स्वरूप स्वात्मतत्त्व उस प्रकार उद्दिष्ट नहीं होता फिर यह यजनीय कैसे है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिए अविच्छिन्नतामर्श रूप अहन्ताप्रथात्मक स्वयंसिद्ध इस (आत्मदेव) की कोई पूर्णगामी सृष्ट्यात्मक विधि नहीं है । देवता की रची गयी सृष्टि ही वेद्य होती है जो कि शक्ति के लिए है । अहंरूपा संवित् तो नित्य और स्वप्रकाश है (वह किसी का विधेय नहीं हो सकती) ॥ -१२५-१२७- ॥

इस कारण = बोधात्मक होने से । इसका = आत्मतत्त्व का । 'यह आत्मा एक ही बार प्रकाशमान हुआ' इस न्याय से, अनवच्छिन्न रूप से = प्रवृत्त अविरत रूप से, परअहंप्रकाशपरामर्शमय का, इसीलिये स्वयंप्रथ का = प्रमाण आदि से

पूर्वभावी, तथा सृष्ट्यात्मा तत्तत्सिद्धसाधनस्वभावो न भवति—इत्यर्थः । न खलु बोधस्वभावं स्वात्मतत्त्वं विधिविषयतामापद्यते—तस्य विधिप्राप्त्यभावात्, यावदप्राप्तं हि विधेर्विषयः, न च स्वात्मनः कदाचित् अप्राप्तिरस्ति—आदिसिद्धतया सर्वदैव स्फुरणात् ॥ १२७ ॥

ननु विधेर्नियोगभावनाद्यात्मतया बहुविधत्वमुक्तम्, स्वात्मा पुनः कस्य विधेर्विषयतां न भजते ? इत्याशङ्क्याह—

विधिर्नियोगस्त्र्यंशा च भावना चोदनात्मिका ॥ १२७ ॥

विधिः अप्रवृत्तप्रवर्तको न पुनरज्ञातज्ञापकः । यदाहुः—

'विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।
अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं विधिः ॥' इति ।

स्वर्गयागयोश्च साध्यसाधनभावमवबोधयतोऽस्यैव विधेः तावत्प्रवर्तकत्वं यत् सप्रत्ययस्य पुंसः 'प्रवृत्तोऽहम्' इति ज्ञानजननम् । स च 'नियोगः' इति प्राभाकरैरुक्तः, 'भावना' इति भाट्टैः । तत्र तिङादिप्रत्ययवाच्यः 'प्रवर्तितोऽहम्'

निरपेक्ष स्वतः सिद्ध का, विधि = अप्रवृत्त का प्रवर्त्तन रूप पूर्वभावी तथा सृष्ट्यात्मा = तत्तत् सिद्ध को पुनः सिद्ध करने वाला नहीं होता।

बोधस्वभाव आत्मतत्त्व विधि का विषय नहीं बनता । क्योंकि वह विधि हो नहीं सकता । अप्राप्त ही विधि का विषय बनता है । और आत्मा कभी भी अप्राप्त नहीं है क्योंकि आदि सिद्ध होने के कारण वह सर्वदा स्फुरित होता रहता है ॥ १२७॥

प्रश्न है कि नियोग अथवा भावनारूप होने के कारण विधि के अनेक प्रकार कहे गये फिर यह आत्मा किस विधि का विषय नहीं होता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विधि (प्रभाकरों के द्वारा) नियोग नाम से (कही गई हैं) (भाट्टमीमांसक उसे) भावना कहते हैं (वह प्रेरणात्मक भावना साध्य साधन इतिकर्त्तव्यता रूप) तीन अंशों वाली है ॥ -१२७ ॥

विधि वह है जो अप्रवृत्त का प्रवर्त्तक हो न कि अज्ञात का ज्ञापक है जैसा कि कहते हैं—

'विधि का यही लक्षण है कि वह अप्रवृत्त का प्रवर्त्तक है अतिव्याप्ति दोष के कारण अज्ञात का ज्ञापन विधि नहीं है ।'

स्वर्ग और याग का साध्यसाधन सम्बन्ध बतलाना ही विधि का प्रवर्त्तन है कि ज्ञानवान् पुरुष के अन्दर 'मै प्रवृत्त हुआ' यह ज्ञान उत्पन्न करना । प्रभाकर एवं उनके मतानुयायी इसे 'नियोग' कहते हैं और कुमारिल भट्ट एवं उनके मतानुयायी 'भावना' । 'तिङ्' आदि प्रत्यय का अर्थ 'मैं प्रवर्त्तित हुआ' ऐसा प्रेरणास्वरूप

इति प्रेरणात्मकः कार्यात्मा अनुष्ठेयो धर्मो नियोगः । स च—

'दार्शपौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः ।'

इत्यादावनुबन्धद्वयावच्छिन्नः प्रतीयते । याज्यादिना हि अस्य विषयानुबन्ध उच्यते । 'स्वर्गकामः' इत्यनेन च अधिकारानुबन्धः, अत एव च द्व्यनुबन्ध-बान्धवो 'नियोगः' इत्युद्घोष्यते । कंचित् क्वचिन्नियुंक्ते इति नियोगस्वरूपम् इति । 'भावना' च भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारः, भाव्यं स्वर्गादिफलम्, तन्निष्ठस्तदुत्पादकः पुरुषव्यापारो भावना । पुरुषो हि भवन्तं स्वर्गादिकमर्थं स्वव्यापारेण भावयति इति भावना इत्युच्यते । सा च द्विविधा—शब्दभावना अर्थभावना च इति । तस्याश्च किम्, केन, कथं भावयेत् इति अंशत्रयापेक्षत्वात् त्र्यंशत्वम् । तदुक्तम्—

'सा धातोः प्रत्ययाद्वापि भावनावगता सती ।
अपेक्षतेऽशत्रितयं किं केन कथमित्यदः ॥' इति ।

त्र्यंशा इति, तत्रार्थभावनायां 'किम्' इत्यपेक्षायां स्वर्गः, 'केन' इत्यपेक्षायां यागः, 'कथम्' इत्यपेक्षायां च व्रीह्यादि सम्बन्धनीयम् । एवं शब्दभावनायामपि, 'किम्' इत्यपेक्षायां भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः, 'केन' इत्यपेक्षायां शब्दः, 'कथम्'

कार्यात्मक अनुष्ठेय धर्म नियोग कहलाता है । और वह—

'स्वर्गकामी दर्श पूर्णमास याग को करें'

इत्यादि में दो अनुबन्धों से अवच्छिन्न (= सीमित = बँधा हुआ) प्रतीत होता है । ('यजेत' के द्वारा बोधित) यज्ञ आदि के द्वारा इस (= नियोग) का विषयानुबन्ध कहा जाता है । 'स्वर्गकामः' पद से अधिकारानुबन्ध (उक्त होता है) । इसीलिये 'नियोग' दो अनुबन्धों वाला होता है—यह उद्घोष किया जाता है । जो किसी (पुरुष) को कहीं नियुक्त करे वही नियोग का स्वरूप होता है । 'भावना' भाव्य में रहने वाला भावक का व्यापार होता है । 'भाव्य' होता है—स्वर्ग आदि फल । उसमें रहने वाला या उसको उत्पन्न करने वाला पुरुष-व्यापार भावना (कहलाता है) । पुरुष (भविष्य में) होने वाले स्वर्ग आदि विषय को अपने व्यापार से निष्पन्न करता है । इसलिये (वह व्यापार) भावना कहलाता है । वह (= भावना) दो प्रकार की है—शाब्दी भावना और आर्थी भावना । उसके तीन अंश होते हैं—क्या बनाना चाहिये, किसके द्वारा बनाना चाहिये और कैसे बनाना चाहिये । वही कहा गया—

'वह भावना धातु अथवा प्रत्यय से ज्ञात होती हुई क्या, किसके द्वारा और कैसे—इन तीन अंशों की अपेक्षा रखती है ।'

तीन अंश—आर्थी भावना में क्या—इसकी अपेक्षा होने पर 'स्वर्ग', किसके द्वारा—यह अपेक्षा होने पर 'याग' और कैसे—यह अपेक्षा होने पर व्रीहि आदि का सम्बन्ध जोड़ना चाहिये । इसी प्रकार शाब्दी भावना में भी 'क्या' अपेक्षा होने पर

इत्यपेक्षायाम् अर्थवादवाक्यव्यापारः सम्बन्धनीयः। चोदना वैदिकं विधायकं वाक्यम् । यदाहुः—

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् ।' इति ।

एतच्चोभयत्रापि सम्बन्धनीयम् । तच्च प्रमाणान्तरप्रतिपन्नमेव अर्थमभिदधत् प्रमाणतां लभते, तं चार्थं साधयति ।

'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् ।'

इत्यादौ निर्वपणादिवदुद्दिष्टा इन्द्राद्या देवता अपि विधेयाः—द्रव्यदेवता-संबन्धस्यैव साक्षात्प्रतिपाद्यत्वात् ॥ १२४-१२७ ॥

तदेवाह—

तदेकसिद्धा इन्द्राद्या विधिपूर्वा हि देवताः ।
अहंबोधस्तु न तथा ते तु संवेद्यरूपताम् ॥ १२८ ॥
उन्मग्नामेव पश्यन्तस्तं विदन्तोऽपि नो विदुः ।

तदुक्तम्—

न विदुर्मां तु तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ १२९ ॥

भावनीया पुरुष की प्रवृत्ति, किसके द्वारा—अपेक्षा होने पर शब्द और 'कैसे' अपेक्षा होने पर अर्थवादवाक्य का व्यापार जोड़ना चाहिये । चोदना = वेदोक्त विधिवाक्य । जैसा कि कहा गया—

'चोदना क्रिया को कराने वाला वचन है ।'

इसे दोनों (= शाब्दी एवं आर्थी भावानाओं) के साथ जोड़ देना चाहिये । यह प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ को बतलाती हुई प्रमाण बन जाती है और उस अर्थ को सिद्ध करती है ।

'इन्द्र और अग्नि देवता को उद्दिष्ट कर ग्यारह कपाल (मे पुरोडाश रखकर उसका) निर्वाप (= त्याग) करना चाहिये ।'

इत्यादि में निर्वपण की भाँति इन्द्र आदि देवता का भी विधान होता है । क्योंकि द्रव्य और देवता का साक्षात् सम्बन्ध प्रतिपाद्य होता है ॥ १२४-१२७ ॥

वही कहते हैं—

विधि प्रमाणों वाली इन्द्र आदि देवताएँ केवल शास्त्र से प्रमाणित होती हैं अहं बोध वैसा नहीं हैं । वे (आत्मदेव से भिन्न देवताओं की पूजा करने वाले) उन्मग्न अर्थात् शास्त्रों के द्वारा स्पष्टीकृत संवेद्य-रूपता को ही देखते हैं इसलिए उस (आत्मा) को जानते हुए भी नहीं जानते ॥ १२८-१२९- ॥

विधिपूर्वा:—विधिरेव पूर्वम् पूर्वभावि अनधिगतार्थप्रकाशनात्मकं प्रमाणं यासां ताः तथोक्ताः, स्वात्मव्यतिरिक्ता हि देवताः वेद्यप्रायाः प्रमाणान्तरा- प्रतिपन्नाः शास्त्रेण साध्यन्ते इति युक्तः पक्षः । अहंबोधैकरूपः पुनः स्वात्मा पूर्वोक्तयुक्त्या सदैव प्रकाशमानत्वात् न स्वसिद्धौ प्रमाणं किञ्चिदपेक्षते इति युक्तमुक्तम्—अविधिपूर्वकमिति । तदेवाह—अहंबोधः इति । तथा इति विधिपूर्वः—इत्यर्थः ।

ननु यदि प्रमाणादिनैरपेक्ष्येणैव स्वात्मा स्वयं प्रकाशते किमिति न सर्वदैव सर्वेषाम्? इत्याशङ्क्याह—ते तु इत्यादि । त इति—स्वात्मव्यतिरिक्तेन्द्रादिदेवता-याजकाः, तम् सर्वदैव प्रकाशमानं स्वात्मानम्, वेद्यवेदनान्यथानुपपत्त्या तदति-रिक्तस्य च अन्यस्य देवतात्वानुपपत्तेः, वस्तुतो विदन्तोऽपि न विदुः—वेद्यताया एव प्राधान्येन दर्शनात् वेदित्रेकरूपतया न जानीयुः इत्यर्थः । अतश्च नियतततत्तद्देवतादिरूपग्रहणेन च्यवन्ते इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।'

इति ॥ १२८-१२९ ॥

तदेव व्याचष्टे—

इसलिए कहा गया है कि वे मुझे तत्त्वतः = नहीं जानते इसलिए (नियत उन-उन देवताओं का रूप प्राप्त करते हुए तत्त्व से विचलित हो जाते हैं (= लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं) ॥ -१२९ ॥

विधिपूर्वा: = विधि ही है पूर्व = पूर्वभावी = अज्ञात अर्थ का ज्ञापन करने वाला प्रमाण जिनका वे । अपने से भिन्न देवतायें वेद्यप्राय = प्रमाणान्तर से अज्ञात होने से शास्त्र के द्वारा बतलायी जाती हैं—यह पक्ष ठीक है । अपनी आत्मा अहंबोधरूप है और पूर्वोक्तयुक्ति के अनुसार सदैव प्रकाशमान है । इस कारण अपनी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नही रखती । इसलिए ठीक ही कहा गया—अविधिपूर्वकम् । उसी को कहते हैं—अहंबोधः । तथा = विधिपूर्वक ।

प्रश्न है कि यदि स्वात्मा प्रमाण आदि की अपेक्षा न करते हुए स्वयं प्रकाशन करता है तो फिर यह सबको सब समय क्यों नहीं (प्रकाशित होता)?—यह शङ्का कर कहते हैं—वे तो । वे = आत्मा को छोड़कर इन्द्र आदि देवताओं की पूजा करने वाले । उसको = सर्वदा प्रकाशमान् स्वात्मा को । क्योंकि वेद्य और वेदन की अन्यथा सिद्धि न होने से उनसे भिन्न अन्य का देवतात्व ही असिद्ध है । वस्तुतः जानते हुए भी नहीं जानते, क्योंकि वेद्यता को ही मुख्यतया देखने के कारण वेत्ता के रूप में नहीं जानते । इसलिये नियत तत्तद् देवता आदि का रूप ग्रहण करने च्युत हो जाते हैं । वही वहाँ कहा गया—

'(वे) मुझको नहीं जानते इसलिए तत्त्वज्ञान से च्युत हो जाते हैं' ॥ १२८-१२९ ॥

चलनं तु व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिरेव या ।

एतदपि तत्रत्येन ग्रन्थेनैव संवादयति—

देवान्देवयजो यान्तीत्यादि तेन न्यरूप्यत ॥ १३० ॥

तेन इति—व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिलक्षणेन हेतुना इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥'

इति ॥ १३० ॥

ननु यद्येवं कथमन्यदेवताभक्ता अपि यजन्ति इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

निमज्ज्य वेद्यतां ये तु तत्र संविन्मयीं स्थितिम् ।
विदुस्ते ह्यनवच्छिन्नं तद्भक्ता अपि यान्ति माम् ॥ १३१ ॥

तत्र इति—स्वात्मव्यतिरिक्तायां देवतायाम् । तद्भक्ताः स्वात्मव्यतिरिक्तदेवता-याजिनः—इत्यर्थः । माम् इति—परबोधैकस्वभावम् आत्मानम् । अस्मिन् परमा-द्वयमये संविन्मयतयावस्थानमेव यागः, तत्समापत्तिरेव च फलम् ॥ १३१ ॥

उसी की व्याख्या करते हैं—

जो व्यवच्छिन्नरूपता को प्राप्त होना है वही चलन है ॥ १३०- ॥

इसको भी वहीं के ग्रन्थ से उद्धृत कर स्पष्ट करते हैं—

इसलिए देवता की उपासना करने वाले देवता को प्राप्त होते हैं ऐसा कहा गया है ॥ -१३० ॥

इससे—व्यवच्छिन्नरूपतापत्ति के कारण । जैसा कि कहा गया—

'देवताओं में निष्ठा रखने वाले देवलोक को प्राप्त करते हैं पितृव्रत लोग पितृलोक को जाते हैं । भूतप्रेत की पूजा करने वाले भूत बनते हैं और मेरी पूजा करने वाले मुझको प्राप्त होते हैं' ॥ १३० ॥

यदि ऐसा है तो 'अन्य देवताअें के भक्त भी (प्रकारान्तर से मेरी ही) पूजा करते हैं—ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो लोग वेद्यता को विलीन करके उस (स्वात्मव्यतिरिक्त देवता में) संविन्मयी स्थिति को जानते हैं (ऐसे) उन (= देवताओं) के भक्त भी अनवच्छिन्न मुझको प्राप्त होते हैं ॥ १३१ ॥

उसमें = आत्मा से भिन्न देवता में । उसके भक्त = स्वात्मा से भिन्न देवता के याजक । मुझको = परबोधस्वभाव वाले आत्मा को । इस परम अद्वय स्वरूप (आत्मतत्त्व) में संविन्मय होकर स्थित होना ही याग है । उस की समापत्ति (=

ननु भगवद्वासुदेवेन उक्तस्य 'माम्' इति अस्मच्छब्दस्य तदेकवाचकत्वात् कथं बोधमात्राभिधायकत्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह—

सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रैकवाचकः ।
स भोक्तृप्रभुशब्दाभ्यां याज्ययष्टृतयोदितः ॥ १३२ ॥

अत्र इति—गीताग्रन्थे, अनवच्छिन्नस्यैव बोधमात्रस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्, अत एव केवलस्यैव बोधस्य वाचकः परामृष्टा इत्युक्तम् । नहि प्रकाशाद् द्वितीयस्य अपोह्यस्य प्रतियोगिनः सम्भवोऽप्यस्ति, तस्य प्रकाशमानत्वाप्रकाशमानत्वविकल्पोपहतत्वात् । यस्तु शरीरादौ 'कृशोऽहम्' इत्यादिः अहंविमर्शः स विकल्प एव, सम्भवात् ।

ननु यदि बोध एव अप्रतिपक्ष एकोऽस्ति, तत्कथं 'मां यजन्ति' इत्यादौ याज्ययष्टृतया भेदः पारमार्थिकः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—स भोक्तृ इत्यादि । बोध एव उभयात्मना स्फुरितः—इति भावः । तदुक्तं तत्र—

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।' इति ॥ १३२ ॥

ननु एकश्च उभयात्मा च इति कथं सङ्गच्छताम् ? इत्याशङ्क्याह—

शिवसमावेश) ही फल है ॥ १३१ ॥

भगवान् वासुदेव के द्वारा उक्त 'माम्' पद वाला 'अस्मत्' शब्द उन्हीं का वाचक होने से बोधमात्र का वाचक कैसे हो सकता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस (= गीता) में 'अहम्' शब्द सर्वत्र बोधमात्र का वाचक है । वह (बोध) भोक्ता और प्रभु शब्दों के द्वारा याज्य और यष्टा के रूप में कहा गया है ॥ १३२ ॥

यहाँ = गीता ग्रन्थ में । क्योंकि वहाँ अनवच्छिन्न बोधमात्र ही वर्णन इष्ट है । इसलिये केवल बोध का ही वाचक = परामर्शक ऐसा कहा गया । प्रकाश को छोड़कर कोई दूसरा अपोह्य प्रतियोगी सम्भव नहीं है । क्योंकि वह (दूसरा पदार्थ) प्रकाशमानत्व और अप्रकाशमानत्व विकल्प से प्रभावित है । शरीर आदि के विषय में जो 'मैं दुर्बल हूँ' ऐसा अहंविमर्श होता है वह भी विकल्प ही है । क्योंकि शरीर आदि की अपेक्षा अन्य अपोह्य प्रतियोगी सम्भव है ।

प्रश्न है कि यदि बोध ही एक ऐसा तत्त्व है जो प्रतिपक्षरहित है तो फिर 'मेरी पूजा करते हैं' इत्यादि स्थलों में यजनीय और याजक की दृष्टि से भेद पारमार्थिक होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—वह भोक्ता इत्यादि । बोध ही दोनों (यजनीय और याजक) रूपों में स्फुरित होता है । वहीं वहाँ गीता में कहा गया—

'मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ' ॥ १३२ ॥

याजमानी संविदेव याज्या नान्येति चोदितम् ।
न त्वाकृतिः कुतोऽप्यन्या देवता न हि सोचिता ॥ १३३ ॥

संविदेव याज्या, इति उदितम् प्रतिज्ञातम् । न पुनः कुतोऽपि हेतोः अन्याकृतिः इन्द्रादिरूपा, सा च संवित् याजमान्येव, न पुनः अन्या भिन्ना, याजमानी संविदद्वयमयी—इत्यर्थः । सा हि एवंविधाकृतिः, आकृतिमती वा संविद्देवता नोचिता, संविदि भेदानुपपत्तेः, संविदतिरिक्तस्य च जाड्यात् । न च जडस्य द्योतमानत्वाद्येकस्वभावं देवतात्वं युज्यते इति स्वप्रकाशा संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति इति युक्तमुक्तम्—'स एव याज्ययष्टृतयोदितः' इति ॥ १३३ ॥

अत एव च आदिसिद्धत्वात् संविदि न किञ्चिद् विध्यादि सिद्धिनिमित्तमुक्तम्—इत्याह—

विधिश्च नोक्तः कोऽप्यत्र मन्त्रादि वृत्तिधाम वा ।

इह खलु वेदवाक्यानि मन्त्रब्राह्मणरूपत्वेन द्विधा । ब्राह्मणवाक्यान्यपि विध्यर्थवादनामधेयात्मकत्वेन त्रिधा । तत्र विधिवाक्यानां तावत् संविदि व्यापारो

एक ही और दो वाला है यह कैसे सङ्गत होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यज्ञ करने वाली संविद् ही यजनीय है दूसरी कोई नहीं—ऐसा कहा गया है । कोई दूसरी आकृति कहीं भी नहीं है और न तो वह (संविद्) देवता (आकृति वाली है ऐसा मानना) उचित ही है ॥ १३३ ॥

संविद् ही यजनीय है—ऐसा कथित = प्रतिज्ञात है । किसी भी कारण से इन्द्र आदि रूप अन्य आकृतियाँ नहीं हैं । (जो हैं) वह याजमानी संविद् ही है । दूसरी = भिन्न, नहीं है । अर्थात् संविद् अद्वयमयी है । वह (= संविद्) इस प्रकार की आकृति वाली है या संविद् देवता आकृतिवाली है—ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि संविद् में भेद सिद्ध नहीं है । जो संविद् से अतिरिक्त है वह जड़ है । जो जड़ है वह द्योतमानत्व आदि एक स्वभाव वाला और स्फुरणशील हो, यह सम्भव नहीं । एक स्वप्रकाश संविद् ही भिन्न-भिन्न रूपों में स्फुरित होती है । इसलिये ठीक ही कहा गया—यजनीय और याजक के रूप में वही उदित है ॥ १३३ ॥

इसीलिये आदिसिद्ध होने से संविद् के विषय में सिद्धि का कारण कोई विधि आदि नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

इस विषय में न तो कोई विधि गई और न व्यापार का आश्रयभूत (कोई) मन्त्र आदि कहा गया है ॥ १३४- ॥

मन्त्र एवं ब्राह्मण भेद से वेदवाक्य दो प्रकार के होते हैं । ब्राह्मणवाक्य भी विधि अर्थवाद नामधेय रूप से तीन[1] प्रकार के हैं । उनमें से विधिवाक्यों का संविद्

---

१. निषेध नामक चौथा प्रकार भी समझना चाहिए ।

नास्ति इत्युक्तप्रायम् । एवं मन्त्रादेरपि तत्र नास्ति व्यापारः । यतो मन्त्रादिः वृत्तेः विधिव्यापारात्मनः क्रियायाः, धाम आश्रयः—तेन विना क्रियाया असम्पत्तेः । न च संविदि वाच्यवाचकयाज्ययाजकभावाद्यात्मकः कश्चिद्भेदः सम्भवति, एक एव आदिसिद्धो बोधः इति सिद्धम् ॥

ननु यद्येवं तत्कथमयं जडाजडात्मा विश्वप्रसरः ? इत्याशङ्क्याह—

सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गतः ॥ १३४ ॥
आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तगः ।
जडाजडस्याप्येतस्य द्वैरूप्यस्यास्ति चित्रता ॥ १३५ ॥

आवृत्य इति स्वस्वरूपगोपनात्मिकया मायाशक्त्या सङ्कोचवत्तामाभास्य—इत्यर्थः । जडपदम् इति परप्रकाश्यभावराशिस्वरूपताम्—इत्यर्थः । विश्व-निर्माणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत्, अयमेव च आदिसर्गः तत्र तत्रागमेषु उच्यते, अनन्तरं च यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मदर्पणे अनन्तग्राह्यग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति. स्वाङ्गरूपभावराशिमध्यादेव हि देहप्राणबुद्धिशून्यानि स्वगताहन्तात्मककर्तृतार्पणेन

के विषय में व्यापार सम्भव नहीं है—यह कहा जा चुका है । इसी प्रकार मन्त्र आदि का भी उस (= संविद्) के विषय में व्यापार सम्भव नहीं है। क्योंकि मन्त्र आदि वृत्ति का = विधि व्यापार रूप क्रिया का, धाम = आश्रय है । क्योंकि उनके बिना क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती । संविद् में वाच्य-वाचक, याज्य-याजक सम्बन्ध वाला कोई भी भेद सम्भव नहीं है । बोध एक ही है और वह आदि सिद्ध है—यह निश्चित है ।

यदि ऐसा है तो फिर यह जड़ चेतन रूप विश्व का विस्तार कैसे है ? —यह शङ्का कर कहते हैं—

(जब) वह यह (= बोध अथवा संविद्) अपने को ढँक कर स्थित होता है (तब) जड होता है । आवृत और अनावृतस्वरूप (वह) देवता से लेकर स्थावर पर्यन्त रहने वाला है । जड और अजड (= चेतन) इस दो रूप वाले की भी (तार मन्द्र ज्ञान सन्तान आदि भेदों से) अनेक-रूपता है ॥ -१३४-१३५ ॥

आवरण कर = अपने स्वरूप को छिपाने वाली मायाशक्ति के द्वारा सङ्कोचवत्ता को आभासित कर । जडपद को = परप्रकाश्य भावराशिस्वरूपता को । विश्वरचना की इच्छा वाला परमेश्वर पहले अपने से अभिन्न विश्व को प्रकाशित करता है । यही भिन्न-भिन्न आगमों में आदि सृष्टि कही जाती है । बाद में जब इसके अन्दर माया के द्वारा सृष्टि करने की इच्छा होती है तब अपने स्वातन्त्र्यवश वह स्वात्मरूपी दर्पण में अनन्त ग्राह्य-ग्राहक रूप युग्मको की परम्परा का आभास कराता है ।

ग्राहकीभावयति, तदपरं शब्दादि च इदन्ताविषयतया चिद्रूपतातिक्रमणेन ग्राह्यतामापादयति, अत एव च देहादिः कर्तृतां ज्ञातृतां च स्वात्मनि धत्ते, तदितरच्च कार्यतां ज्ञेयतां च । अत एव चैषां जडाजडव्यपदेशः, तदाह— 'आवृतानावृतात्मा' इति । एवमपि चास्य प्रकारवैचित्र्येण आनन्त्यम् इत्याह— 'जड' इत्यादि, चित्रता इति तत्र जडस्य तावच्छब्दादिभेदेन, तस्यापि तारमन्द्रादिभेदेन बहुप्रकारत्वम्, अजडस्यापि सन्तानभेदेन आनन्त्येऽपि बन्धत्रयस्य तारतम्यादिभेदेन नानात्वम् । संकुचिता प्रमातारो हि तत्तत्कर्माशयानुसारेण परिभ्राम्यन्तः तत्तदवस्थासु एकमपि स्वात्मानं धर्माधर्मादिबुद्धिभावरहितत्वेन तत्तदिच्छापरिष्कृतत्वेन च नानाकारतया वैचित्र्येण जानते, जडं च विषयं सुखदुःखादिकारितया नानात्वेन परिविन्दन्ति इति ॥ १३४-१३५ ॥

एवं वैचित्र्यस्य किं निमित्तम् इत्याशङ्क्याह—

तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् ।

तदुक्तम्—

त्रिशिरःशास्त्रे सम्बुद्ध इति वेत्ति यः ॥ १३६ ॥

स्वाङ्गरूप पदार्थों की राशि के मध्य से ही देह प्राण बुद्धि से रहित अपने अन्दर अहंकर्तृत्व को उत्पन्न कर ग्राहक बनाता है । उसके बाद अपनी चिद्रूपता का अतिक्रमण कर इदन्ता के विषय के रूप में शब्द आदि को ग्राह्य बनाता है । इसीलिये देह आदि अपने को कर्त्ता और ज्ञाता समझते हैं और उससे भिन्न को कार्य और ज्ञेय । इसलिये इनको जड़ और अजड़ कहा जाता है । वही कहा— आवृत और अनावृत रूप। इस प्रकार वह प्रकार की विचित्रता के कारण अनन्त है—यह कहते है—जड़ इत्यादि । चित्रता—(को स्पष्ट करते हैं)—जड़ भी शब्द आदि के भेद से और फिर उन (शब्द आदि) के तीव्र मन्द आदि भेद से अनेक प्रकार हैं । अजड़ भी सन्तानभेद से अनन्त होते हुए तीन बन्धन (= आणव, मायीय और कार्म) के तारतम्य आदि के भेद से अनेक हैं । संकुचित प्रमातागण भिन्न-भिन्न कर्माशयों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमण करते हुए एक ही स्वात्मा को धर्म अधर्म आदि ज्ञान से रहित के रूप में और भिन्न-भिन्न इच्छाओं के परिष्कार के कारण विचित्र अनेक रूपों में जानते हैं । और जड़ विषय को सुख दुःख आदि का कारक समझकर अनेक रूपों में जानते हैं ॥ १३४-१३५ ॥

इस प्रकार की विचित्रता का कारण क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कौन सी ऐसी वस्तु है जिसको उसका स्वातन्त्र्य नहीं सोचता वही बात त्रिशिरोभैरव में कहीं गई है कि 'भली-भाँति ज्ञात है'— ऐसा जो जानता हैं (इस प्रकार अनेक प्रकार से उसकी चर्चा की गई है) ॥ १३६ (१) ॥

एतदेवार्थद्वारकं संवादयति—तदुक्तम् इत्यादिना । इति वैचित्र्यं यो वेत्ति स संबुद्धः—सम्यग्बुद्धः इत्यर्थः । त्रिशिरःशास्त्रे इति श्रीत्रिशिरोभैरवे । तत्र हि

'अन्यथा स्वल्पबोधस्तु तन्तुभिः कीटवद्यथा ।
मलतन्तुसमारूढः क्रीडते देहपञ्जरे ॥'

इत्युपक्रम्य—

'सम्यग्बुद्धस्तु विज्ञेयः .... ।'

इत्यादिना च—

'नानाकारैर्विभावैश्च भ्राम्यते नटवद्यथा ।
स्वबुद्धिभावरहितमिच्छाक्षेमबहिष्कृतम् ॥'

इत्यन्तं बहूक्तम् ॥ १३६ ॥

ननु देहादिर्ग्राहकतया अभिमतोऽपि जाड्याज्ज्ञेय एव इति तस्य कथमेवंविधं ज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह—

ज्ञेयभावो हि चिद्धर्मस्तच्छायाच्छादयेन्न ताम् ॥ १३६ ॥

ज्ञेयत्वं हि ज्ञानधर्मः, नहि अर्थं जानामि इत्यर्थस्य कश्चिदतिशयः, अपि तु

इसी की अर्थ द्वारा सङ्गति बैठाते हैं—तदुक्तम् इत्यादि । इस वैचित्र्य को जो जानता है वह सम्बुद्ध = पूर्णरूप से ज्ञानवान् है । त्रिशिरःशास्त्र = त्रिशिरोभैरव । वहाँ—

'इसके विपरीत जो अल्प ज्ञान वाले हैं वे देहपञ्जर में उसी तरह फँसे रहते हैं जैसे (मकड़ी के) लाला से निकले हुए तन्तु के ऊपर आरूढ़ मकड़ी (अथवा दूसरा कीड़ा)' । इस प्रकार प्रारम्भ कर

'सम्यक् बुद्ध (उसे) समझना चाहिये...' ॥ इत्यादि तथा—

'जैसे नट अनेक प्रकार के आकार और हाव-भाव के द्वारा (कठपुतली को) घुमाता है उसी प्रकार आत्मविवेक से रहित और भगवदिच्छा के योग से बहिष्कृत व्यक्ति को (परमेश्वर या उसकी माया) नचाती है ।' यहाँ तक बहुत कहा गया है ॥ १३६ (१) ॥

यदि देह आदि ज्ञाता के रूप में माने गये हैं तो फिर भी जड़ होने के कारण वे ज्ञेय ही हैं फिर उनको ऐसा ज्ञान कैसे हो ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ज्ञेयत्व चैतन्य का धर्म है इसलिए उस (= ज्ञेय शरीर आदि) की छाया उस (= चैतन्य) को आवृत नहीं करती ॥ १३६ (२) ॥

ज्ञेयता ज्ञान का धर्म है । 'मै अर्थ को जानता हूँ' ऐसे ज्ञान में अर्थ का कोई

ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानरूपता । तदुक्तमत्रापि च—

'............... ज्ञेयस्य ज्ञेयता ज्ञानमेव ।' इति ।

अत एव च तेषां ज्ञेयानां सतां देहादीनां छाया स्वेनैव स्वस्य आवरकत्वायोगात् न चितम् आच्छादयेत् आवृणुयात्, येनैवंविधं ज्ञानं न स्यात्, तेन देहादावात्मग्रहेऽपि आत्मनो न काचिच्चिद्रूपताहानिः । तदुक्तं तत्रैव—

'ज्ञेयस्वभावश्चिद्रूपस्तच्छाया नैव छादयेत् ।' इति ॥ १३६ ॥

अत एवाह—

तेनाजडस्य भागस्य पुद्गलाण्वादिसंज्ञिनः ।
अनावरणभागांशे वैचित्र्यं बहुधा स्थितम् ॥ १३७ ॥

तेन इति—चिदनाच्छादनेन हेतुना । अनावरण इति—शुद्धसंविद्रूपे आत्मनि —इत्यर्थः । देहादीनां हि संविद्रूपत्वेऽप्यामुखे ज्ञेयत्वेन अवभासादशुद्धत्वमपि सम्भवेत् ॥ १३७ ॥

ननु संविदि भेदानुपपत्तेः कथं वैचित्र्यं सङ्गच्छताम् ? इत्याशङ्क्या—

आतिशय्य नहीं है अपि तु (वह) ज्ञान की ही ज्ञानरूपता है । वही यहाँ भी कहा गया—

'... ज्ञेय की ज्ञेयता (और कुछ नहीं) ज्ञान ही है ।'

इसलिए उन देह आदि ज्ञेयों की छाया, अपने द्वारा ही अपना आवरण सम्भव न होने से, संविद् का आच्छादन = आवरण नहीं करती जिस कारण ऐसा ज्ञान नहीं होता। इसलिए देह आदि को आत्मा मानने पर भी आत्मा के स्वरूप को कोई क्षति नहीं पहुँचती । वही वहाँ कहा गया—

'ज्ञेय का स्वभाव चिद्रूप है । उसकी छाया उसका आवरण नहीं कर सकती' ॥ १३६ (२) ॥

इसीलिये कहते हैं—

इस (= अनाच्छादन) के कारण पुद्गल अणु आदि संज्ञा वाले उस अजड (= चेतन) अंश की, शुद्धसंविद्रूप अंश में अनेक प्रकार की विचित्रता रहती है ॥ १३७ ॥

इस कारण = चित् का आवरण न होने से अनावरण होने पर शुद्ध संविद् रूप आत्मा में आवरण का न होने पर । यद्यपि देह आदि संविद् रूप है तो भी प्रथमदृष्ट्या ज्ञेय के रूप में अवभास होने के कारण (उस शरीर में) अशुद्धता भी सम्भव है ॥ १३७ ॥

संविद् में भेद सिद्ध न होने से वैचित्र्य कैसे सम्भव है ?—यह शङ्का कर

संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात्स　　लक्ष्यते ॥ १३८ ॥

आवृतेः—आणवस्य मलस्य, निर्ह्रासः परिक्षयः तस्य तारतम्यम् मृदुमध्याधिमात्रात्मा अतिशयः, ततो लक्ष्यते, इति, न तु साक्षात् सम्भवति—इत्यर्थः, अत एव पूर्वं 'वास्तवः' इति विशेषणमुपात्तम् ॥ १३८ ॥

किं च तत्तारतम्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

तद्विस्तरेण वक्ष्यामः शक्तिपातविनिर्णये ।
समाप्य परतां स्थौल्यप्रसङ्गे चर्चयिष्यते ॥ १३९ ॥

वक्ष्यामः इति—यद्वक्ष्यति—

'तारतम्यप्रकाशे　　यस्तीव्रमध्यममन्दताः ।
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिताः ॥'

इत्यादि बहुप्रकारम्, चर्चयिष्यते इति—लक्ष्यते परीक्ष्यते च इत्यर्थः । इह हि सर्वस्यैव वक्ष्यमाणस्य प्रमेयजातस्य उद्देश्य एव भवेत् इति भावः । यद्वक्ष्यति—

कहते है—

यद्यपि ध्रुव संविद् रूप (तत्त्व) में वास्तविक कोई भेद नहीं है फिर भी आवरण और (मल के) निर्ह्रास के तारतम्य से वह (भेद) लक्षित होता है ॥ १३८ ॥

आवृति का = आणवमल का । निर्ह्रास = परिक्षय । उसका तारतम्य = मृदुमध्य तीव्र रूप वाला अतिशय, उससे ज्ञात होता है न कि साक्षात् सम्भव है । इसीलिये (भेद के) पहले 'वास्तव' विशेषण दिया गया ॥ १३८ ॥

वह तारतम्य क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शक्तिपातनिर्णय (वाले आह्निक) में (हम) उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे । परतत्त्व को समाप्त करके स्थूलता के प्रसङ्ग में (इसकी चर्चा की जाएगी) ॥ १३९ ॥

कहेंगे—

जो तारतम्य का प्रकाश तीव्र मध्य और मन्द रूप से होता है वे ही प्रत्येक शक्तिपात की तीन प्रकार की अवस्थायें होती हैं (वे है—तीव्र-तीव्र, तीव्र-मध्य, तीव्र-मन्द, मध्य-तीव्र, मध्य-मध्य, मध्य-मन्द तथा मन्द-तीव्र, मन्द-मध्य और मन्द-मन्द ।) इत्यादि अनेक प्रकार से चर्चा की जायेगी = लक्षण बतलाया जायेगा और परीक्षा की जायगी । इस प्रकरण में समस्त वक्ष्यमाण प्रमेयसमूह का केवल नाम

'विज्ञानभित्प्रकरणे सर्वस्योद्देशनं क्रमात् ।' इति ।

तच्च अस्माभिर्ग्रन्थविस्तरभयात् प्रातिपद्येन न दर्शितम् इति स्वयमेव अवधार्यम् ॥ १३९ ॥

एवं मलनिर्ह्रासतारतम्यानुसारमेव आत्मनां भगवत्स्वरूपमपि प्रथते— इत्याह—

अतः कंचित्प्रमातारं प्रति प्रथयते विभुः ।
पूर्णमेव निजं रूपं कंचिदंशांशिकाक्रमात् ॥ १४० ॥

कश्चित् इति—तीव्रनिर्ह्रासतावृतितारतम्यम्, अंशांशिकाक्रमात् इति—आवृति-निर्ह्रासतारतम्यमन्दादिप्रायत्वात् ॥ १४० ॥

ननु किं नाम पारमेश्वरस्य रूपस्य पूर्णत्वमपूर्णत्वं च ? इत्याशङ्क्याह—

विश्वभावैकभावात्मस्वरूपप्रथनं हि यत् ।
अणूनां तत्परं ज्ञानं तदन्यदपरं बहु ॥ १४१ ॥

विश्वेषां नीलसुखादीनां भावानां य एको भावः प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या

बतलाया जायेगा । जैसा कि कहेंगे—

'विज्ञानभिद् प्रकरण में सबका क्रम से नाम सङ्कीर्त्तन होगा ।'

ग्रन्थ विस्तार के भय से हमने उसे प्रतिपद नहीं दिखाया । उसे स्वयं समझ लेना चाहिए ॥ १३९ ॥

मलक्षय के तारतम्य के अनुसार ही आत्माओं को भगवान् का स्वरूप भी प्रकट होता है—यह कहते हैं—

इसलिए व्यापक (परमेश्वर) किसी प्रमाता के लिए अपना पूर्णरूप प्रकट करता है और किसी के लिए अंश-अंशिक क्रम से (प्रकाशित करता है) ॥ १४० ॥

किसी (प्रमाता) को—आवरण का तीव्रक्षय जिसे हुआ है उसको । अंशअंशी के क्रम से = आवरणक्षय के क्रम के मन्द आदि रूप होने से ॥ १४० ॥

परमेश्वर के रूप की पूर्णता अपूर्णता क्या है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

जो समस्त भावों के एक (= प्रधान) भाव वाला स्वरूपप्रथन है वही अणुओं का परमज्ञान है । उससे अतिरिक्त जो (शाक्त आदि ज्ञान है) वह अपूर्ण और अनेक प्रकार का है ॥ १४१ ॥

समस्त नील (= घट) सुख आदि भावों का जो, एक भाव = प्रकाशमानत्व की अन्यथा उपपत्ति न होने से परप्रकाशलक्षण वाली प्रधान सत्ता तत्स्वरूप जो स्व

परप्रकाशलक्षणा प्रधाना सत्ता, तदात्म यत् स्वस्य आत्मनो रूपं तस्य यत्प्रथनम्—अविकल्पवृत्त्या साक्षात्करणम्, तत् एव अणूनां परं पूर्णं पारमेश्वरं ज्ञानम्, तत एवंविधात् पूर्णात् ज्ञानात् अन्यत् विकल्पात्मकं शाक्तादि ज्ञानम्, अपरं चित्स्वरूपप्रथाविरहादपूर्णम्, बहुवक्ष्यमाणप्रकारेण अनेकप्रकारम् इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

तदेव बहुप्रकारत्वं दर्शयति—

तच्च साक्षादुपायेन तदुपायादिनापि च ।
प्रथमानं विचित्राभिर्भंगीभिरिह भिद्यते ॥ १४२ ॥

तत् इति—परमपरं वा ज्ञानम् । साक्षादुपायेन इति—शाम्भवेन । तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तम्, स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते । अत एव अनुपायः इति नोपायनिषेधमात्रम् इति वक्ष्यते । तस्य शाम्भवस्य उपायः शाक्तः, आदिशब्दात् तस्यापि उपाय आणवः । भिद्यते इति—औपचारिकं भेदमेति—इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

न केवलमेवं यावदन्यदपि एतद्वैचित्र्ये निमित्तमस्ति—इत्याह—

तत्रापि स्वपरद्वारद्वारित्वात्सर्वशोंऽशशः ।

= अपना रूप, उसका जो प्रथन = निर्विकल्पक वृत्ति से साक्षात्कार, वही जीवात्माओं के लिये पारमेश्वर ज्ञान होता है । उससे = इस प्रकार के पूर्ण ज्ञान से, भिन्न जो विकल्पात्मक शाक्त आदि ज्ञान है वह अपर = चित्तस्वरूप प्रसरण से भिन्न अपूर्ण तथा बहु = वक्ष्यमाण रीति से अनेक प्रकार का है ॥ १४१ ॥

उसी बहुप्रकारता को दिखला रहे हैं—

वह (पर अथवा अपर ज्ञान) साक्षात् उपाय के द्वारा अथवा उस (= साक्षात् अर्थात् शाम्भ्व उपाय) के उपाय (= शाक्तोपाय आदि) के द्वारा विस्तृत होता हुआ विचित्र भंगिमाओं के द्वारा (अनेक रूपों में) भिन्न होता है ॥ १४२ ॥

तत् = पर या अपर ज्ञान । साक्षात् उपाय के द्वारा = शाम्भवोपाय के द्वारा, वही पर ज्ञान की प्राप्ति में अव्यवहित कारण है । और वही (= शाम्भवोपाय) जब चरम अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो अनुपाय कहलाता है । इसीलिये अनुपाय का अर्थ उपाय का निषेधामात्र नहीं है—यह कहेंगे । उसका = शाम्भवोपाय का, उपाय शाक्तोपाय है । आदि शब्द से उसका भी उपाय आणवोपाय है । भिन्न होता है—औपचारिक भेद को प्राप्त करता है ॥ १४२ ॥

केवल यही नहीं इस वैचित्र्य के अन्य भी कारण हैं—यह कहते हैं—

उसमें भी स्व-पर, द्वार-द्वारि होने से सर्वांशतः एवं पूर्णांशतः

व्यवधानाव्यवधिना भूयान्भेदः प्रवर्तते ॥ १४३ ॥

स्वेन, यथा—शाम्भवेन शाम्भवम्, अत एव स्वपरलक्षणेन द्वारेण, द्वारि सोपायम् । सर्वशः इति—पूर्णात्मना । अंशश इति—अपूर्णेन । व्यवधान इति—साक्षादुपायत्वाभावात् । एवं प्रथमं तावदुपायस्त्रेधा—शाम्भवादिभेदात्, तेषां च द्वारद्वारिभावेन प्रत्येकं द्वैधे षट्, तत्रापि प्रत्येकं पूर्णत्वापूर्णत्वेन द्वैधे द्वादश, तेषां च प्रत्येकं व्यवहिताव्यवहितत्वेन द्वैधे चतुर्विंशतिः । व्यवधानं च बहुभिर्विजातीयैः, इति भेदानां भूयस्त्वम् ॥ १४३ ॥

ननु ज्ञानं तावदुपेयतया प्रतिज्ञातम् इति, तत्र उपायेन केनचिद्भाव्यम्, स च न ज्ञानमेव, उपेयत्वात्, नापि अज्ञानम्, तदनौपयिकत्वात् तस्य, इति किं नाम उपायस्वरूपम् ? इत्याशङ्क्याह—

ज्ञानस्य चाभ्युपायो यो न तदज्ञानमुच्यते ।
ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं परं त्विच्छात्मकं मतम् ॥ १४४ ॥

किं तु तत्सूक्ष्मम् वैकल्पिकस्थूलशाक्तादिज्ञानविलक्षणं मतम् इति—सम्बन्धः । अत एव परम्—शाम्भवम्—इत्यर्थः । अत एव 'इच्छात्मकम्'—इत्युक्तम् ।

तथा व्यवधान और व्यवधानाभाव के द्वारा (उसका) अनेक भेद होता है) ॥ १४३ ॥

अपने—जैसे के शाम्भव से शाम्भव, इसलिये स्वपरलक्षण वाले द्वार से, द्वारि = उपायसहित । सर्वशः = पूर्णरूप से । अंशशः = अपूर्ण रूप से । व्यवधान = साक्षात् उपाय न होने से । इस प्रकार शाम्भव आदि भेद से उपाय के प्रथम-प्रथम तीन प्रकार हैं । उनका फिर द्वार-द्वारि भाव से प्रत्येक का दो-दो भेद होने पर छः । उसमें भी प्रत्येक का पूर्ण-अपूर्ण भेद से दो प्रकार होने पर बारह और उनमे प्रत्येक का व्यवहित और अव्यवहित भेद से दो प्रकार होने से चौबीस । यह व्यवधान अनेक विजातीयों के कारण और भी प्रकार का हो सकता है इस विधि से भेदों के अनेक प्रकार हो जाते हैं ॥ १४३ ॥

ज्ञान को उपेय माना गया है तो फिर उसका कोई उपाय होना चाहिये और वह उपाय ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वह उपेय है, अज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि वह उसका उपाय ही नहीं हो सकता । फिर उपाय का स्वरूप क्या है ? —यह शङ्का कर कहते हैं—

जो ज्ञान का उपाय है वह अज्ञान नहीं कहा जा सकता अपितु (संविद्रूप ज्ञान का उपाय भी है) वह पर ज्ञान सूक्ष्म इच्छात्मक (वही) माना गया है ॥ १४४ ॥

किन्तु वह सूक्ष्म है = वैकल्पिक स्थूल शाक्त आदि ज्ञान से विलक्षण माना

शाक्ताणवयोर्हि ज्ञानक्रियात्मकत्वं भवेत्—इति भावः ॥ १४४ ॥

ननु एवमपि कथमेकस्यैव उपायोपेयभावः सङ्गच्छते ? इत्याशङ्क्याह—

उपायोपेयभावस्तु ज्ञानस्य स्थौल्यविभ्रमः ।
एषैव च क्रियाशक्तिर्बन्धमोक्षैककारणम् ॥ १४५ ॥

स्थौल्यम् चिदानन्दैकघनपरसूक्ष्मस्वरूपनिमज्जनादनन्तग्राह्यग्राहकात्मना भेदेन उल्लसनम्, तत्कृतोऽयं भ्रमः—यत् 'इदमुपेयम्' अयमुपायः' इति । वस्तुतो हि परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः, स च सर्वत एवावभासते, तस्य क्वचिदपि अनपायात् । अत एव नात्र उपायानां किञ्चित्प्रयोजनम्, अज्ञातज्ञापकत्वात् तेषाम् । तदुक्तम्—

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥' इति ।

अनेनैव आशयेन च अनुपायनिरूपणं करिष्यते । ननु यद्येवं तत्कथमयं व्यवहारः प्ररोहमुपारोहते ? इत्याशङ्क्याह—एषैव इत्यादि । क्रियाशक्तिः इति—तत्तद्भेदवैचित्र्यावस्थितिकारित्वात् । तेन परमेश्वरस्फार एवायम्—इत्याशयः । अत

गया है । इसीलिये वह पर = शाम्भव है । इसीलिये 'इच्छात्मक' कहा गया । शाक्तोपाय और आणवोपाय ज्ञानरूप एवं क्रियारूप होता है ॥ १४४ ॥

ऐसा होने पर भी एक ही ज्ञान उपाय और उपेय दोनों कैसे हो सकता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(एक ही) ज्ञान का उपायउपेयभाव (उसका) अनन्त ग्राह्यग्राहक रूप भेद से उल्लास वाला भ्रम मात्र है । और यही क्रिया शक्ति है जो बन्धन और मोक्ष का एकमात्र कारण है ॥ १४५ ॥

स्थूलता = चिदानन्दैकघन पर सूक्ष्म स्वरूप में निमज्जन करने से अनन्त ग्राह्यग्राहक रूप भेद से उल्लास । तो यह भ्रम कहाँ से हो गया कि यह उपेय है। वस्तुतः उपेय तो परप्रकाश रूप शिव ही है और वह सर्वत्र सब प्रकार से भासित होता है । उसका कहीं भी अभाव नहीं है । इसलिए इस विषय में उपयों का कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि वे (= प्रयोजन) अज्ञात के ज्ञापक होते हैं । वही कहा गया—

(हे परमेश्वर !) तत्त्व स्वरूप आप जब अपरोक्ष और सर्वतः प्रकट रूप में वर्त्तमान हैं तो जो लोग (आपको जानने के लिये) उपाय ढूंढ़ते हैं वे निश्चित रूप से आपको नहीं जानते ।

इसी आशय से अनुपाय का निरूपण किया जायेगा । यदि ऐसा हो तो यह (उपाय-उपेय का) व्यवहार कहाँ से उत्पन्न होता है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

एवायम् तथात्वेन अज्ञातो बन्धकः, ज्ञातस्तु मोचकः, तदाह 'बन्धमोक्षैककारणम्' इति । यदुक्तम्—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' इति ॥ १४५॥

ननु एवमपि अत्र किं नाम उपायतया संमतम् ? इत्याशङ्क्याह—

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि ।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ १४६ ॥

तत्र एवं सति, आद्ये प्राथमिकालोचनज्ञानात्मनि, अत एव निर्विकल्पोत्थे, अत एव भिन्नस्य परामृश्यस्य अनुल्लासात् स्वपरामर्शे स्फुरत्तामात्ररूपे यत् प्रकटं स्फुरेत्, साक्षात्कारात्मतया यत् स्फुरणं तत् साक्षात् इच्छाख्यं प्रकीर्तितम्, उपायान्तरनिरपेक्षत्वात्, अव्यवधानेच्छाशक्तिस्फाररूपः शाम्भवाख्य उपाय उक्तः —इत्यर्थः ॥ १४६ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदेशेन स्फुटीकर्तुमाह—

यही इत्यादि । तत्तद् भेदवैचित्र्य को बनाने के कारण वह क्रियाशक्ति है । इसलिये यह परमेश्वर का आनन्दोच्छलन ही है—यह आशय है । इसलिये यह वैसा (= यथार्थ स्वरूप में) ज्ञात न होने से बन्ध का कारण बनता है और उस रूप के ज्ञात होने पर मुक्तिप्रद हो जाता है । वही कहा—बन्ध और मोक्ष का (वह) एक मात्र कारण है । जैसा कि कहा गया—

'शिव की यह क्रियात्मिका शक्ति पशु के अन्दर रहती है । अपने मार्ग (= भेदप्रसार) में रहने पर वह बन्ध का कारण बनती है और ज्ञात होने पर सिद्धि (मोक्ष) को देती है' ॥ १४५ ॥

फिर यहाँ उपाय के रूप में क्या माना गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस स्थिति में प्राथमिक आलोचनात्मक निर्विकल्पक स्वरूप स्वपरामर्श में जो स्पष्टतया स्फुरित होता है साक्षात् (स्फुरित होने के कारण) वह इच्छोपाय नाम से कहा गया है ॥ १४६ ॥

वहाँ = ऐसा होने पर, प्रथम = पहले आलोचन ज्ञान स्वरूप इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान से उत्पन्न, इसलिए भिन्न का = परामृश्य का, उल्लासन होने से अपने परामर्श में = जो कि स्फुरत्तामात्र होता है उसमें, जो प्रकटरूप में स्फुरित होता है = साक्षात् रूप से जो स्फुरण होता है, वह साक्षात् इच्छा कहा गया है क्योंकि उसे किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं होती । तात्पर्य यह है कि वह व्यवधान इच्छाशक्ति का स्फार है और वही शाम्भवोपाय कहा जाता है ॥ १४६ ॥

यही बात दृष्टान्त देकर स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—

यथा विस्फुरितदृशामनुसन्धिं विनाप्यलम् ।
भाति भावः स्फुटस्तद्वत्केषामपि शिवात्मता ॥ १४७ ॥
भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात् ।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः ॥ १४८ ॥

तथैव 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्येवमात्मनो विकल्पस्य आत्मानात्माख्यांश-द्वयाक्षेपित्वेऽपि प्रतियोगिनिषेधपूर्वको योऽयं पौनःपुन्येन अंशरूपो निश्चयः तस्य यत् क्रमेण चर्चनम् यथायथं स्फुटताभावित्वादिना संस्करणम्, ततो यत् विकल्प्यमानमात्मस्वरूपपरामर्शम् 'इत्थमेव इदम्' इत्येवं प्रतीतिमभिन्नां—साक्षात्कारात्मता मभ्येति, तज्ज्ञानोपायं विदुः—ज्ञानशक्तिस्फारात्मकं शाक्तमुपायं जानीयुः—इत्यर्थः । तु-शब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेचकः । इह हि विकल्प एव क्रमेण निर्विकल्पतामेति—इत्युक्तम् । तत्र पुनर्निर्विकल्पतयैव साक्षात्करणं रूपम्, अत एव च अनयोर्द्वारिद्वारभावः ॥ १४७-१४८ ॥

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम् ।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥ १४९ ॥

तथा तत् आत्मस्वरूपं क्रियोपायमाम्नातम्—क्रियाशक्तिस्फारात्मकाणवो-

---

जिस प्रकार स्पष्ट दृष्टि वालों को विना किसी अनुसन्धि (= उपकरण) के पदार्थों का पर्याप्त स्पष्ट भान होता है उसी प्रकार कुछ लोगों को शिवात्मा (का आभास होता है) । बार-बार विकल्पांश के निश्चय के क्रम की चर्चा के द्वारा (साधक) जिस परामर्श को प्राप्त होता है उसे ज्ञानोपाय जानना चाहिए ॥ १४७-१४८ ॥

'यह सब आत्मा ही है' इस प्रकार आत्मा के विषय में उत्पन्न विकल्प आत्मा और अनात्मा नामक दो अंशो की अपेक्षा रखता है । इसमें प्रतियोगी (= अनात्मा) का निषेध करने के बाद जो यह बार-बार अंश रूप निश्चय होता है, उसकी जो क्रम से चर्चा होती है = यथार्थ रूप में प्रकटीकरण रूप संस्कार होता है, उससे 'यह ऐसा ही है'—इस प्रकार का जो विकल्प्यमान आत्मस्वरूप का परामर्श = साक्षात्काररूपा अभिन्न प्रतीति होती है वही ज्ञानोपाय है (ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं) = ज्ञानशक्ति का स्फार ही शाक्तोपाय है = ऐसा जानते हैं । 'तु' शब्द पूर्ववर्णित शाम्भवोपाय से भिन्नता को बतलाता है । यहाँ विकल्प ही क्रम से निर्विकल्पता को प्राप्त होता है—यह कहा गया । वहाँ निर्विकल्पक रूप में ही साक्षात्कार होता है । इसीलिये इन दोनों (शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय) का द्वार-द्वारि सम्बन्ध है ॥ १४७-१४८ ॥

जो उस (= भेदप्रथावाली) कल्पना से कल्पित बाह्यभूत अर्थ का साधन है वह क्रियोपाय कहा गया है यहाँ अपवर्गगत भेद नहीं है ॥ १४९ ॥

पायसमधिगम्यं सर्वागमेषु उक्तम् । यतस्ताभिः भेदप्रथामयीभिः कल्पनाभिः, क्लृप्तः स्वशिल्पेन कल्पितः, बहिर्भूतोऽवच्छिन्नो योऽसौ उच्चारादिः अर्थः तत्साधनम्, तुशब्दो व्यतिरेके । शाक्ते हि विकल्प एव अर्थः, इह तु बाह्योऽपि इति, अत एव न तत्र उच्चारादिः । ननु उपायभेदादुपेयभेदोऽपि स्याद् ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'भेदो नात्रापवर्गगः' इति । स्वरूपप्रथनं हि अपवर्गः, तच्च सर्वैरेव हि द्वारद्वारिभावेन भवति इति भावः ॥ १४९ ॥

ननु ज्ञानमेव उपायः इति सामान्येन प्रतिज्ञातम्, तत्कथमाणवे क्रियोपायत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेव हि तत्तथा ।
रूढेर्योगान्ततां प्राप्तमिति श्रीगमशासने ॥ १५० ॥

अन्या इति अर्थाज्ज्ञानात्, यतः तज्ज्ञानमेव रूढेः प्ररोहात् योगस्यान्तः पराकाष्ठा, तत्त्वं प्राप्तं सत् तथा 'क्रिया' इति सर्वत्र अभिधीयते—इत्यर्थः । ननु अत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'इति श्रीगमशासने' इति, अर्थादुक्तम्—इति शेषः ॥ १५० ॥

तद् = आत्मस्वरूप । क्रियोपाय = क्रियाशक्ति के स्फारस्वरूप आणवोपाय से प्राप्य । आम्नात = सब आगमों में कहा गया । क्योंकि उनके द्वारा भेदप्रथामयी कल्पनाओं के द्वारा, क्लृप्त = अपनी शिल्पकला के द्वारा कल्पित । बहिर्भूत = अवच्छिन्न, जो यह उच्चार आदि अर्थ, उसका साधन । (श्लोक में) 'तु' शब्द भिन्नता को बतलाता है । शाक्तोपाय में विकल्प ही अर्थ (= विषय) होता है लेकिन यहाँ (आणवोपाय में) बाह्य पदार्थ भी (साधना के) विषय बनते हैं । इसलिये इसमें उच्चार आदि नहीं होते । प्रश्न है कि उपाय के भेद से उपेय का भेद भी होना चाहिये?—यह शङ्का कर कहा गया कि अपवर्ग में यह भेद नहीं होता । स्वरूप का भान ही अपवर्ग है और वह सभी (उपायों) के द्वारा द्वारद्वारि भाव से होता है ॥ १४९ ॥

ज्ञान ही उपाय है—ऐसा सामान्य रूप से कहा गया । तो फिर आणवोपाय को क्रियोपाय कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्रिया कोई दूसरी वस्तु नहीं है । वह ज्ञान ही है क्योंकि (वह ज्ञान ही) रूढि से योग की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है—ऐसा श्रीगमशास्त्र में (= कहा गया है) ॥ १५० ॥

(क्रिया) ज्ञान से भिन्न नहीं है । क्योंकि वह ज्ञान ही रूढ़ि अर्थात् प्ररोह के कारण योग का अन्त = पराकाष्ठा (= अन्तिम सीमा) है । तत्त्व प्राप्त होकर वैसा = क्रिया नाम से सर्वत्र उक्त होता है । इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहा गया—श्रीगमशास्त्र में । अर्थतः (यह बात) कही गयी है ॥ १५० ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति—

योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः ।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥ १५१ ॥

इति ॥ १५१ ॥

एतच्च स्वयमेव व्याचष्टे—

स्वचित्ते वासनाः कर्ममलमायाप्रसूतयः ।
तासां शान्तिनिमित्तं या मतिः संवित्स्वभाविका ॥ १५२ ॥
सा देहारम्भिबाह्यस्थतत्त्वव्राताधिशायिनी ।
क्रिया सैव च योगः स्यात्तत्त्वानां चिल्लयीकृतौ ॥ १५३ ॥

'निमित्तम्' इत्यनेन सप्तमी व्याख्याता । संवित्स्वभाविका इत्यनेन मतेर्ज्ञानार्थत्वमुक्तम् । सा मतिः—

'प्रणवेन तु तत्सर्वं शरीरोत्पत्तिकारणम् ।
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्त्वदीक्षादिना साधारणानि तत्त्वानि अधिशयाना स्वचित्तवासनाशान्तिकारित्वात् क्रिया स्यात् । तथा सैव—

वहीं के ग्रन्थ को पढ़ते है—

योग कोई भिन्न वस्तु नहीं । क्रिया भी कोई भिन्न नहीं । जो तत्त्व को प्राप्त बुद्धि है, अपने चित्त की वासना के शान्त होने पर वह क्रिया कही जाती है ॥ १५१ ॥

इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं—

अपने चित्त में कर्म मल एवं माया से उत्पन्न (जो) वासनाएँ है उनकी शान्ति के लिए जो संवित् स्वभाववाली बुद्धि है वहीं (शुद्ध) शरीर के आरम्भक (तत्त्व) तथा बाह्य तत्त्वसमूहों को अधिकृत करती हुई क्रिया मानी जाती है । और वही तत्त्वों का चित् में लय हो जाने पर योग (कही जाती है) ॥ १५२-१५३ ॥

श्लोकोक्त 'निमित्तम्' पद से सप्तमी कही गयी है । (इसलिये 'निमित्तम्' के स्थान पर 'निमित्ते' समझना चाहिये) । संवित्स्वभाविका—इस पद के द्वारा मति शब्द का अर्थ है—ज्ञान । वह मति—

'हे देवेशि ! शरीरोत्पत्ति के समस्त कारणों का प्रणव के द्वारा ३१ की संख्या से क्रमशः न्यास करना चाहिये ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा शुद्ध देह के आरम्भक तत्त्व असाधारण कहे जाते हैं ।

'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।'

इत्याद्युक्त्या तत्त्वानां चितियोजनाद्योग: स्यात् इति नानयोर्ज्ञानातिरेक: इति युक्तमुक्तम्—'योगो नान्य: क्रिया नान्या' इति ।। १५२-१५३ ।।

ननु कथं ज्ञानमेव क्रिया भवेत् ? इति दृष्टान्तोपदर्शनेन उपपादयति—

लोकेऽपि किल गच्छामीत्येवमन्त: स्फुरैव या ।
सा देहं देशमक्षांश्चाप्याविशन्ती गतिक्रिया ।। १५४ ।।

अन्त: आत्मनि 'गच्छामि' इति या स्फुरा स्फुरणम् उद्यन्तृतात्मिका संवित्, सैव देहाद्याविशन्ती वैवश्याविष्करणेन स्वमयतामापादयन्ती गमनक्रिया भवति, इति युक्तमुक्तं 'ज्ञानमेव हि तत्तथा' इति । गन्तुर्हि 'गच्छामि' इति स्फुरणायां सत्यां कर्तृकरणकर्मात्मकशरीरपादग्रामाद्यावेशेन गमनक्रियासंपत्ति: स्यात् ।। १५४ ।।

तथा

'हे वरानने ! हेय अध्वाओं को नीचे (= गौण) करते हुए उसे छोड़ना चाहिये। (यह प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिये) जब तक समना स्तर की प्राप्त न हो जाय ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार बाह्यस्थ तत्त्वदीक्षा आदि तत्त्व साधारण कहे जाते हैं। (इन असाधारण और साधारण तत्त्वों में) रहने वाली (संवित्) अपने चित्त की वासना को शान्त करने के कारण क्रिया कही जाती है । और वही—

'एक वस्तु का दूसरी वस्तु से एकत्व ही योग (कहलाता) है ।'

इत्यादि उक्ति के अनुसार तत्त्वों का चैतन्य (= ज्ञान) से योजन ही योग है । इसलिये ये (क्रिया और योग) दोनों ज्ञान से भिन्न नहीं हैं । इस प्रकार ठीक ही कहा गया—योग (ज्ञान से) भिन्न नहीं और क्रिया (भी ज्ञान से) भिन्न नहीं है' ।। १५२-१५३ ।।

प्रश्न है कि ज्ञान ही क्रिया कैसे हो जाता है ? इसको दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध करते हैं—

लोक में भी 'जाता हूँ' इस प्रकार जो अन्त:करण में स्फुरण होता है वही शरीर प्रदेश एवं इन्द्रियों में प्रवेश करती हुई गति क्रिया कहलाती है ।। १५४ ।।

अन्त: = आत्मा में 'जाता हूँ' इस प्रकार का जो स्फुरण = गमनात्मिका संवित्, वही देह आदि में आविष्ट होती हुई (देह इन्द्रिय आदि) को विवश कर जब स्वमय (= संविन्मय) कर देती है तब वही गमन क्रिया बन जाती है । इसलिये ठीक ही कहा—वह उस प्रकार ज्ञान ही है ।' जाने वाले के अन्दर 'जाऊँ' ऐसी स्फुरत्ता होने पर कर्त्ता, करण, कर्म रूप, शरीर, पैर आदि से आवेश के द्वारा

तदेवोपसंहरति—

तस्मात्क्रियापि या नाम ज्ञानमेव हि सा ततः।
ज्ञानमेव विमोक्षाय युक्तं चैतदुदाहृतम् ॥ १५५ ॥

ततः इति—क्रियाया ज्ञानात्मकत्वात् । तेन—

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।'

इत्यादिना क्रियाया अपि अपवर्गनिमित्तत्वमुक्तम् । एवं च युक्तमुक्तम्—'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' इति । तदाह—'युक्तं चैतदुदाहृतम्' इति ॥ १५५ ॥

ननु 'स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु' इत्यादिना प्राक् आत्मज्ञानातिरिक्तो मोक्षो नाम न कश्चिदस्ति इत्युक्तम्, इति ज्ञानमेव विमोक्षाय इत्यनेन हेतुफलभावोऽनयोरुच्यमानः कथं सङ्गच्छते ? इत्याशङ्क्याह—

मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्तत्र तु याः पुनः ॥ १५६ ॥
क्रियादिकाः शक्तयस्ताः संविद्रूपाधिका नहि ।
असंविद्रूपतायोगाद्धर्मिणश्चानिरूपणात् ॥ १५७ ॥

गमनक्रिया सम्पन्न होती है ॥ १५४ ॥

उसी का उपसंहार करते हैं—

इसलिए जो क्रिया है वह भी ज्ञान ही है इसीलिए ज्ञान ही मोक्ष के लिए (उचित एवं समर्थ साधन है) यह ठीक ही कहा गया है ॥ १५५ ॥

इस कारण = क्रिया के ज्ञानात्मक होने के कारण । इसलिये

'दीक्षा ही (जीव को) मुक्त करती है और ऊर्ध्ववर्त्ती शैव धाम को ले जाती है'

इत्यादि के द्वारा क्रिया को भी मोक्ष को कारण कहा गया है । इसीलिये ठीक कहा गया, ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है । 'वही कहा—यह ठीक ही कहा गया' ॥ १५५ ॥

'स्वतन्त्र आत्मा के अतिरिक्त मोक्ष और कुछ नहीं है इत्यादि के द्वारा आत्मज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष नाम की कोई और वस्तु नहीं है—ऐसा पहले कहा गया । इस प्रकार 'ज्ञान ही विमोक्ष के लिये' (समर्थ) है इस (कथन) के द्वारा इन दोनों (= ज्ञान और मोक्ष) का कारणकार्य भाव कैसे संगत होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मोक्ष कोई दूसरी वस्तु नहीं, वह स्वरूप का विस्तार हैं । और स्वरूप आत्मसंवित् है दूसरा कुछ नहीं । उसमें जो क्रिया आदि

ननु स्वरूपमेव नाम किं यस्यापि प्रथनं मोक्षः स्यात् ? इत्याह—स्वरूपम् इति, तेन स्वस्य आत्मनो रूपम् संविच्चैतन्यम्, तस्य प्रथनम् यथातत्त्वम् ज्ञानम्, स एव मोक्षः इति यथोक्तमेव युक्तम् । यः पुनरयं हेतुफलभाव उक्तः स काल्पनिक एव, न तात्त्विकः, यद्वक्ष्यति—

'यतो ज्ञानेन मोक्षस्य या हेतुफलतोदिता ।
न सा मुख्या .... ॥ इति ।

अन्यत् इति संविदतिरिक्तम्—इत्यर्थः । ननु आत्मनः संविदतिरिक्तं यदि रूपं नास्ति, तत्कथमस्य शक्त्यन्तरयोगित्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—तत्र इत्यादि, तु-शब्दः चार्थे ॥ १५६-१५७ ॥

ननु—

'पत्युर्धर्माः शक्तयः स्युः .... ।'

इत्याद्युक्त्या साक्षात्पत्युर्धर्मितया शक्तीनां च धर्मतया निरूपणं कृतम् इति धर्मिणश्च अनिरूपणात् इत्यसिद्धोऽयं हेतुः ? इत्याशङ्क्याह—

परमेश्वरशास्त्रे हि न च काणाददृष्टिवत् ।

शक्तियाँ हैं वे असंविद्रूपता का योग होने से तथा धर्मी का निरूपण न होने से संविद् रूप से नहीं है ॥ १५६-१५७ ॥

प्रश्न है कि स्वरूप ही क्या है जिसका विस्तार ही मोक्ष है?—(इस प्रश्न के उत्तर में) कहा—स्वरूप... । स्व—अपना, रूप = संवित्चैतन्य, उसका प्रथन = यथार्थ ज्ञान, वही मोक्ष है । इसलिये जैसा कहा गया वह ठीक है । और जो कारणकार्य भाव कहा गया वह काल्पनिक है तात्त्विक नहीं । जैसा कि कहेंगे—

'ज्ञान के द्वारा मोक्ष (होता है) यह जो कारणकार्य भाव कहा गया वह मुख्य नहीं है... ।'

अन्यत् = संविद् से भिन्न । प्रश्न है कि यदि आत्मा का संविद् से भिन्न कोई दूसरा रूप नहीं है तो यह (= आत्मा) दूसरी शक्तियों से सम्बद्ध कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—वहाँ...। 'तु' शब्द का अर्थ 'और' है ॥ १५६-१५७ ॥

प्रश्न है कि—

'शक्तियाँ पति (= परमेश्वर) के धर्म हैं'

इत्यादि कथन के द्वारा साक्षात् पति को धर्मी और शक्तियों को धर्म कहा गया। धर्मी का निरूपण न होने से यहाँ हेतु ही असिद्ध है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वैशेषिक दर्शन की भाँति परमेश्वरशास्त्र में धर्मरूपशक्तियों का कोई

शक्तीनां धर्मरूपाणामाश्रयः कोऽपि कथ्यते ॥ १५८ ॥

यथा खलु काणादाः—

'आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा ।'

इत्यादिना धर्मिरूपमात्मानं निरूप्य,

'तस्य गुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-
संस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ।'

इत्यादिना तत्समवेतम् आगमापायि भिन्नं धर्मजातम् अभ्युपागमन्, नैवमिह शक्तितद्वतोर्धर्मधर्मिभावः कश्चिद् अभिधीयते । पर एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तत्तदुपाधिवशात् तत्तच्छक्तिरूपतया व्यपदिश्यते इति न वस्तुतः कश्चित् शक्तितद्वतोर्भेदः यदुक्तं प्राक्—

'मातृक्लृप्ते हि भावस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ॥' इति ॥ १५८ ॥

ननु यदि काणादादिदर्शनवत् इहापि धर्मधर्मिभावस्य निरूपणं क्रियते, तदा को दोषः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

ततश्च दृक्क्रियेच्छाद्या भिन्नाश्चेच्छक्तयस्तथा ।

आश्रय नहीं कहा गया है ॥ १५८ ॥

जैसे वैशेषिक दर्शन वाले 'आत्मत्व जाति के समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होने के कारण आत्मा है' (प्र. पा. भा. १२)

इत्यादि के द्वारा धर्मीस्वरूप आत्मा का निरूपण कर 'उस (आत्मा) के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, गुण हैं ।'

इत्यादि के द्वारा उस, (= आत्मा) में समवेत, आगम और विनाश से भिन्न धर्मसमूह को स्वीकार करते हैं । इस शैव दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् का कोई धर्मधर्मीभाव कथित नहीं है । स्वतन्त्र परबोध ही भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न शक्ति के रूप में व्यवहृत होता है । इसलिये शक्ति और शक्तिमान् में वस्तुतः कोई भेद नहीं है । जैसा कि पहले कहा गया—

प्रमाता के द्वारा कल्पित पदार्थों के उन-उन स्वरूपों में वस्तुतः कोई भेद उसी प्रकार नहीं है जैसे वह्नि और उसके दग्धृत्व और पक्तृत्व में' ॥ १५८ ॥

यदि वैशेषिक आदि दर्शनों की भाँति इस दर्शन में भी धर्मधर्मी भाव का निरूपण किया जाय तो क्या दोष होगा?—यह शङ्का कर कहते है—

(यदि) वैशेषिक दर्शन की भाँति यहाँ भी शक्ति और शक्तिमान् के

एकः शिव इतीयं वाग्वस्तुशून्यैव जायते ॥ १५९ ॥

यदि हि शक्तितद्वतोर्धर्मधर्मिभावन्यायेन वास्तव एव भेदः स्यात्, तदा

'इत्थं नानाविधैः रूपैः स्थावरैः जङ्गमैरपि ।
क्रीडया प्रसृतो नित्यमेक एव शिवः प्रभुः ॥'

इत्यादौ 'एक एव शिव' इति इयमीश्वराद्वयप्रतिज्ञात्मिका वाक् अनेकेषां शक्तितद्वदात्मनाम् अर्थानां सम्भवाद् वस्तुशून्या—अभिधेयरहिता स्यात्, अद्वयवादखण्डना भवति इति यावत् ॥ १५९ ॥

ननु यदि वस्तुतः संवित्स्वभावः शिव एव एकोऽस्ति, तत्कथमयं चिदादिनानाशक्त्यात्मा व्यवहारोऽन्यथा क्रियते ? इत्याशङ्काम् उपसंहारभङ्ग्या उपशमयितुमाह—

तस्मात्संवित्त्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं तत्तदप्यलम् ।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यपि शक्तिषु ॥ १६० ॥

एतच्च निर्णीतपूर्वम् इति पुनरिह नायस्तम् । यथोक्तम्—

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।' इति ॥ १६० ॥

बीच धर्मधर्मी सम्बन्ध का निरूपण किया जाता तो इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि शक्तियाँ भिन्न होती तो 'शिव एक है ।' यह कथन वस्तुशून्य ही हो जाता है (अर्थात् अद्वयवाद का खण्डन हो जाता) ॥ १५९ ॥

यदि शक्ति और शक्तिमान् में धर्मधर्मी भाव के न्याय से वास्तविक भेद होता तो—

'इस प्रकार एक ही समर्थ शिव स्थावर, जङ्गम नानारूपों से खेल में नित्य लगा (फैला) हुआ है ।'

इत्यादि में 'एक ही शिव' ऐसी ईश्वर के अद्वयभाव वाली वाणी शक्ति शक्तिमान् वाले अनेक अर्थों के सम्भव होने से वस्तुशून्य = अभिधेयरहित हो जायेगी अर्थात् अद्वयवाद का खण्डन हो जायगा ॥ १५९ ॥

संवित्स्वभाव शिव यदि वस्तुतः एक ही है तो यह चेतन आदि अनेक शक्तियों वाला व्यवहार अन्यथा (= विपरीत) कैसे किया जा सकता है ?—इस आशङ्का का उपसंहार की भंगिमा से समाधान करते हैं—

इसलिए यह संवित्त्व ही स्वातन्त्र्य है । वह भी विवेचन करने पर अनेक शक्तियों में पर्यवसित होता है ॥ १६० ॥

इसका निर्णय पहले ही हो चुका है इसलिये यहाँ पुनः उसका विस्तार नहीं किया गया । जैसा कि कहा गया—

इह 'आत्मज्ञानमेव मोक्षः' इति ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव एव वस्तुतो नास्ति—इति 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति' इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात् इत्यनिष्टापादनात्मायं प्रसङ्गो नाशङ्कनीयः ? —इत्याह—

यतश्चात्मप्रथा मोक्षस्तन्नेहाशङ्क्यमीदृशम् ।
नावश्यं कारणात्कार्यं तज्ज्ञान्यपि न मुच्यते ॥ १६१ ॥

ज्ञानिनो हि अवश्यभाविनी मुक्तिः—इति भावः । अत एव च—

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥' इति ।

तथा—

'.................... ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः ।'

इत्यादि गीतम् ॥ १६१ ॥

'इस (परमेश्वर) की बहुशक्तिता भी उस शक्ति से अवियुक्त होना ही है' ॥ १६० ॥

इस शास्त्र में 'आत्मज्ञान ही मोक्ष है'—इस प्रकार का कार्यकारण भाव ही वस्तुतः नहीं है । फिर जितने कारण हैं सबका कोई न कोई कार्य अवश्य होता है ऐसी बात नहीं है—इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानियों के पास ज्ञान रूप कारण के रहते हुए भी मोक्ष रूप कार्य नहीं होगा—ऐसा अनिष्ट लाने वाला यह प्रसङ्ग है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये—यह कहते हैं—

चूँकि आत्म का ज्ञान ही मोक्ष है इसलिए यहाँ ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि कारण से कार्य अवश्य नहीं होता इस कारण ज्ञानी मुक्त नहीं होता (अर्थात् ज्ञानी की मुक्ति अवश्य होती है) ॥ १६१ ॥

ज्ञानी की मुक्ति अवश्य होती है—यह तात्पर्य है । इसीलिये भगवद् गीता में—

उन (= आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी) में नित्य (= गुरु में 'एकीभाव से स्थित हुआ) अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी उत्तम है । मैं ज्ञानी के लिये अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

तथा—

'ज्ञानी को (मैं) अपनी आत्मा मानता हूँ ।'

इत्यादि कहा गया है ॥ १६१ ॥

ननु—

'ज्ञानमेव विमोक्षाय .... ।'

इत्यादिना ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव उक्त एव, इति कथं नायं प्रसङ्गः ? इत्याह—

यतो ज्ञानेन मोक्षस्य या हेतुफलतोदिता ।
न सा मुख्या, ततो नायं प्रसङ्ग इति निश्चितम् ॥ १६२ ॥

एतच्च निर्णीतचरम् इति नेह पुनरायस्तम् ॥ १६२ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

एवं ज्ञानस्वभावैव क्रिया स्थूलत्वमात्मनि ।
यतो वहति तेनास्यां चित्रता दृश्यतां किल ॥ १६३ ॥

ज्ञानस्वभावा इति—क्रियाया ज्ञानाविनाभावित्वात् । यदुक्तम्—

'.................. न ज्ञानरहिता क्रिया ॥' इति ।

स्थूलत्वम् इति—अन्तर्ग्राह्यग्राहकात्मना भेदेन उल्लासात् । तेन इति—

प्रश्न है कि—

'मोक्ष के लिये ज्ञान ही (साधन) है ।'

इत्यादि के द्वारा ज्ञान और मोक्ष का कारणकार्य भाव कहा ही गया । तो फिर यहाँ उसे क्यों नहीं मानते ?—इसके उत्तर में कहते हैं—

चूँकि ज्ञान के द्वारा मोक्ष की जो कारणकार्यता कही गई है वह मुख्य नहीं है इसलिए यह प्रसङ्ग (= नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति) नहीं है यह निश्चित है ॥ १६२ ॥

इसका पहले ही निर्णय हो चुका है इसलिये यहाँ चर्चा नहीं की गयी ॥ १६२ ॥

इसका उपसंहार करते हुए दूसरे (प्रसङ्ग) को कह रहे है—

इस प्रकार क्रिया ज्ञानस्वभाव वाली ही है और चूँकि (वह) अपने अन्दर स्थूलता रखती है इस कारण इस (= क्रिया) में चित्रता (= ग्राह्यग्राहक आदि भेदवैचित्र्य) देखिए ॥ १६३ ॥

(क्रिया) ज्ञानस्वभाव वाली है अर्थात् ज्ञान के बिना क्रिया हो नहीं सकती। जैसा कि कहा गया—

'क्रिया (कभी भी) ज्ञानरहित नहीं होती ।'

स्थूलता—इसलिये कि अन्दर (= आत्मा में) ग्राह्यग्राहक रूप भेद के रूप में

स्थूलतावहनेन हेतुना । चित्रता इति—तत्तद्ग्राह्यादिभेदवैचित्र्यात् ॥ १६३ ॥

अत एवाह—

क्रियोपायेऽभ्युपायानां ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम्।
भेदोपभेदवैविध्यान्निःसंख्यत्वमवान्तरात् ॥ १६४ ॥

ग्राह्याः उच्चाराद्याः । बाह्याः कुण्डमण्डलादयः । उच्चारादयो हि ग्राह्यभूमिगताः बाह्यत्वेन अवसिता अपि चक्षुरादिबाह्येन्द्रियागोचरत्वात् प्रमात्रन्तरासाधारणत्वाच्च न बाह्याः । कुण्डमण्डलादयः पुनर्बाह्येन्द्रियगोचरत्वात् साधारण्याच्च बाह्याः सन्तो ग्राह्याः इत्युक्तम्—'ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम्' इति । एवं नियतभेदवत्त्वेऽपि एषामेव अवान्तरभेदात् भेदोपभेदनानात्वात् निःसंख्यत्वम् बहुप्रकारत्वम्—इत्यर्थः । तथाहि—उच्चारस्य प्राणादिभेदात् प्रथमे पञ्च भेदाः, तत्रापि विन्दुनादादयो बहव उपभेदाः, एवमपि उच्चार्यमाणानां मन्त्राणामानन्त्यम् इत्यसंख्यभेदत्वम् ॥ १६४ ॥

एवं च—

'यतो नान्या क्रिया नाम .... ।'

उल्लास होता है । इसके कारण = स्थूलता धारण करने से । चित्रता—इसलिये कि तत्तद् ग्राह्यग्राहक भेद की विचित्रता है ॥ १६३ ॥

इसीलिये कहते हैं—

क्रियोपाय में ग्राह्य एवं बाह्य भेदवाले उपायों का, भेदोपभेदक विविधता एवं उनके अवान्तर भेद के कारण असंख्यता है ॥ १६४ ॥

ग्राह्य = उच्चार आदि । बाह्य = कुण्ड मण्डल आदि । उच्चार आदि यद्यपि ग्राह्य की स्थिति में होने से बाह्य के रूप माने जाते हैं तथापि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का विषय न होने से तथा दूसरे प्रमाताओं के ज्ञान का विषय न होने से वे बाह्य नहीं हैं । जबकि कुण्ड मण्डल आदि बाह्य इन्द्रियों का विषय होने से तथा सर्वसाधारण (के प्रत्यक्ष का विषय) होने से बाह्य होने के कारण ग्राह्य हैं । इसलिये कहा गया—ग्राह्य बाह्य भेद वाले का । इस प्रकार नियतभेद वाले होने पर भी इन्हीं का अवान्तर भेद तथा भेदोपभेद होने से अनेक होने के कारण निःसंख्यत्व = अनेक प्रकार, होते हैं । वह इस प्रकार—उच्चार के प्राण आदि भेद से पहले पाँच भेद होते हैं । उनमें भी बिन्दु नाद आदि बहुत से उपभेद होते हैं । इस प्रकार भी उच्चार्यमाण मन्त्र भी अनन्त हैं । इस प्रकार इनका असंख्य भेद है ॥ १६४ ॥

इस प्रकार—

'क्योंकि क्रिया नाम की कोई वस्तु नहीं है'

इत्यादिना उपक्रान्तं क्रियाया ज्ञानात्मकत्वं युक्त्यागमाभ्यां निर्वाहितम् इत्येक एव ज्ञानात्मा मोक्षावाप्तावुपाय इति न उपायनानात्वम्, अत एव तत्फलभूते मोक्षेऽपि न कश्चिद्भेदः—इत्याह—

अनेन चैतत्प्रध्वस्तं यत्केचन शशङ्किरे ।
उपायभेदान्मोक्षेऽपि भेदः स्यादिति सूरयः ॥ १६५ ॥

यत्केचन सूरय इति शशङ्किरे—इति सम्बन्धः । केचन सूरय इति—भेदवादिनः । तत्र हि हेतुफलयोर्वास्तव एव भेदः इति हेतुभेदात् फलभेदोऽपि स्यात् । इह पुनः—

'प्रदेशो ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इत्यादिनीत्या 'संविदेव सर्वम्' इति को नाम हेतुफलभेदः, काल्पनिके- ऽपि हेतुफलयोर्भेदे ज्ञानात्मा एक एव उपायोऽभ्युपगतः इति उपायनानात्वस्यैव अभावात् को नाम फलभूतेऽपि मोक्षे भेदः स्यात् ॥ १६५ ॥

ननु—

'तच्च साक्षादुपायेन .... ।'

इत्यादि के द्वारा सन्दर्भित क्रिया की ज्ञानात्मकता का युक्ति एवं आगम के द्वारा निर्वाह किया गया । इसलिये केवल ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति में उपाय है । इस प्रकार मोक्ष के अनेक उपाय नहीं हैं । फलस्वरूप उस (ज्ञान) के फलभूत मोक्ष में भी कोई भेद नहीं है—यह कहते हैं—

इस कारण जो कुछ (भेदवादी) विद्वान् शङ्का किए कि उपायों का भेद होने से मोक्ष में भी भेद हो जाएगा, यह (शङ्का) ध्वस्त हो गयी ॥ १६५ ॥

'जो कुछ विद्वानों ने आशङ्का की'—इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ना चाहिये । कुछ विद्वान् = भेदवादी विद्वान् । इस विषय में हेतु और फल में वास्तविक भेद नहीं है जिससे कि हेतु के भेद से फलभेद हो जाय । और यहाँ—

'ब्रह्म का प्रदेश सार्वरूप्य का न तो अतिक्रमण करता है न उसका विकल्प है ।'

इत्यादि नीति के द्वारा 'संविद् ही सब कुछ है' । इसलिये हेतु और फल में भेद कैसा । हेतु और फल का काल्पनिक भेद होने पर भी ज्ञानरूप उपाय एक ही माना गया है इसलिये अनेक उपाय न होने से फलभूत मोक्ष मे भेद कैसा ? ॥ १६५ ॥

'वह भी साक्षात् उपाय के द्वारा... ।'

इत्यादिना साक्षात् उपायनानात्वमुक्तम् इति कथं न तद्भेदादुपेयेऽपि भेदः ? इत्याशङ्क्याह—

मलतच्छक्तिविध्वंसतिरोभूच्युतिमध्यतः ।
हेतुभेदेऽपि नो भिन्ना घटध्वंसादिवृत्तिवत् ॥ १६६ ॥

यत्र वास्तव एव हेतुफलभावोऽस्ति तत्रापि हेतोः दीक्षादेः भेदेऽपि तत्फलभूतस्य मलतच्छक्त्योर्विध्वंसादेः न कश्चिद्भेदः—कलातत्त्वभुवनादिना भेदेऽपि दीक्षायाः तस्य अविशेषात्, तथा च घटस्य मुद्गरकरभित्तिघटाद्युपायभेदेऽपि अविशिष्ट एव ध्वंसतिरोभावादिः । अतश्च अवश्यमेव हेतुभेदात् फलभेदः इति नायमेकान्तः । यत्र पुनः काल्पनिक एव उपायोपेयभावः, तत्र का नाम इयं वार्ता—इति भावः । तदेवम् इच्छाज्ञानक्रियात्मकत्वाद् उपायस्य त्रैविध्येऽपि तदुपेयभूतेऽपवर्गे न कश्चित् भेदः—इति सिद्धम् ॥ १६६ ॥

न केवलं युक्तित एव एतत्सिद्धं यावदागमतोऽपि—इत्याह—

तदेतत्त्रिविधत्वं हि शास्त्रे श्रीपूर्वनामनि ।
आदेशि परमेशित्रा समावेशविनिर्णये ॥ १६७ ॥

इत्यादि उक्ति के द्वारा साक्षात् उपाय की अनेकता कही गयी है फिर उसके भेद के कारण उपेय (= मोक्ष) में भेद क्यों नहीं होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मल और उसकी शक्ति के विध्वंस तिरोभाव च्युति के बीच हेतु का भेद होने पर भी मुक्ति भिन्न नहीं है जैसे कि घटनाश आदि (के कारणों में भिन्नता रहने पर भी नाश रूप कार्य एक होता है उसी प्रकार ॥ १६६ ॥

जहाँ वास्तविक कारणकार्य भाव है वहाँ भी हेतु = दीक्षा आदि का भेद होने पर भी उसके फलभूत मल और उसकी शक्तियों के विध्वंस आदि में कोई भेद नहीं है क्योंकि कला तत्त्व और भुवन आदि का भेद होने पर भी उसके (संस्कार के नाश का कारण) दीक्षा सर्वत्र समान ही है । उदाहरण के लिये (घटध्वंस के लिये) मुद्गर, हाथ, भित्ति और (स्वयं दूसरा) घट रूप उपाय भिन्न होने पर भी घट का ध्वंस या तिरोभाव एक ही है । इसलिये हेतु के अनेक होने पर फल भी अनेक हों—यह नियम सर्वथा सर्वत्र लागू नहीं होता । जहाँ उपायउपेय का भेद काल्पनिक ही है (वास्तविक नहीं) वहाँ यह बात कैसे सम्भव है । तो इस प्रकार उपाय के इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन प्रकार का होने पर भी उसके उपेयभूत अपवर्ग के विषय में कोई भेद नहीं है—यह सिद्ध हो गया ॥ १६६ ॥

यह बात केवल तर्क से ही नहीं आगम से भी सिद्ध है—यह कहते हैं—

(उपायों की) यह त्रिविधता परमेश्वर ने श्रीपूर्वनामकशास्त्र में

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥ १६८ ॥
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ १६९ ॥
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ १७० ॥

व्यत्यासपाठे च अयमाशयः—यद् उपायोपेयादिना द्वारद्वारिभावेन शाम्भवोपाये एव प्राधान्येन विश्रान्तिः इति ॥ १६७-१७० ॥

तदेव क्रमेण व्याचष्टे—

अकिञ्चिञ्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥ १७१ ॥

समावेश निर्णय के प्रसङ्ग में कही है ॥ १६७ ॥

वहीं का ग्रन्थ पढ़ते हैं—

कुछ न सोचने वाले व्यक्ति के अन्दर गुरु के द्वारा उत्पन्न किए गए प्रतिबोध से जो आवेश उत्पन्न होता है वह शाम्भवोपाय कहा जाता है ॥ १६८ ॥

उच्चार से रहित वस्तु की केवल मन से चिन्ता करने वाला (साधक) जिस समावेश को प्राप्त करता है वह शाक्त (उपाय) कहलाता है ॥ १६९ ॥

उच्चार, इन्द्रिय, ध्यान, वर्ण, स्थान की कल्पनाओं के द्वारा जो उचितरूप में समावेश होता है वह आणव (उपाय) कहलाता है ॥ १७० ॥

(उपर्युक्त १६८ से १७० तक श्लोकों का) विपरीत क्रम से पाठ करने पर यह आशय है कि उपाय-उपेय आदि के द्वारा द्वार द्वारी भाव से शाम्भवोपाय में ही प्रधान रूप से विश्रान्ति होती है ॥ १६७-१७० ॥

उसी की क्रम से व्याख्या करते हैं—

उपर्युक्त श्लोक में 'अकिञ्चिच्चिन्तकस्य' (इस पद के द्वारा) विकल्पों की अनुपयोगिता (की ओर सङ्केत किया गया है) उसके द्वारा तुरन्त ज्ञेय की समापत्ति हो जाती है ॥ १७१ ॥

तया इति—विकल्पानुपयोगितया । विकल्पोपयोगे हि तदैव—

'यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।'

इत्यादिदृष्ट्या ज्ञेयस्य अवश्यज्ञातव्यस्य पारमार्थिकस्य चिदात्मनो रूपस्य समापत्तिर्न स्यात्, विकल्पो हि अभ्यासबलात् स्वतुल्यविकल्पान्तराविर्भावकतया विगलदस्फुटत्वादिना यथायथं सातिशयविकल्पजननाक्रमेण अविकल्पात्मक-संवित्तादात्म्यम् अभ्येति । यद्वक्ष्यति—

'प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ।'

इत्याद्युपक्रम्य—

'संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ।' इति ।

अत एव शाक्तोपायादस्य भेदः ॥ १७१ ॥

ननु कथं विकल्पानुपयोगितयैव एतत् स्यात् ? इत्याशङ्कां दर्शयितुमाह—

सा कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढत्वशालिना ॥ १७२ ॥

उसके द्वारा = विकल्प के अनुपयोगी होने से । विकल्प का उपयोग होने पर उसी समय—

'जिसका ज्ञेयमय भाव स्थिर हो जाता है वह सब प्रकार से पूर्ण हो जाता है।'

इत्यादि दृष्टिकोण से ज्ञेय = अवश्य ज्ञातव्य = पारमार्थिक चिदात्मा के रूप की समापत्ति नहीं होगी । विकल्प ही अभ्यास के बल से अपने समान दूसरे विकल्प को उत्पन्न करता है । परिणामस्वरूप अस्फुटता समाप्त हो जाती है ; फिर क्रमशः उत्तमोत्तम विकल्पों का जन्म होता है और पर्यन्त में (साधक) अक्रमिक अविकल्पात्मकरूपा संवित् के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । जैसा कि कहेंगे—

'(शैवीसाधना में) प्रवेश का इच्छुक साधक सरल विधि से विकल्पों का संस्कार करे ।'

इत्यादि प्रारम्भ कर—

'(अन्त में साधक) निर्विकल्पस्वरूपा निर्मल संवित् को प्राप्त करता है।' यह (कहा गया) । इसीलिये शाक्तोपाय से इस (शाम्भवोपाय) का भेद सिद्ध हो जाता है ॥ १७१ ॥

विकल्प की अनुपयोगिता से ही यह (= ज्ञेय की समापत्ति) कैसे होती है? इस शंका को दिखाने के लिये कहते हैं—

वह (= ज्ञेय समापत्ति) कैसे होती है? इस विषय में कहते हैं

प्रतिः आभिमुख्ये, आभिमुख्यं च वस्त्वन्तरापेक्षम्, तच्च अत्र औचित्यात् चिन्मात्रम्—इत्युक्तम् 'ज्ञेयाभिमुखेति' । अतिगरीयस्त्वमेव व्याख्यातुं द्राक्प्ररूढ-त्वेत्याद्युक्तम्, द्राक् इत्यनेन यथोक्तविकल्पक्रमोपारोहाभावः सूचितः ॥ १७२ ॥

ननु कथमनयोर्भिन्नविभक्तिकयोः सामानाधिकरण्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।

तृतीयार्थे तसि इति—तसि इत्यनुबन्धलोपे प्रयोगः । तृतीयार्थे इति सर्वविभक्त्यन्तात् प्रातिपदिकात् तस्येष्टेः । वा शब्दः पक्षान्तरे । वैयधिकरण्यतः इति गुरुणा कृतो यः प्रतिबोधः ततः—इत्यर्थः ॥

आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् ॥ १७३ ॥
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ।

गुरु की प्रेरणा से तुरन्त उत्पन्न होने वाले अतएव अत्यन्त गरीयान् ज्ञेयाभिमुखबोध के द्वारा (वह होती है) ॥ १७२ ॥

(श्लोक सं. १६८ में) 'प्रति' शब्द का प्रयोग आभिमुख्य अर्थ में है । आभिमुख्य का अर्थ है—दूसरी वस्तु की अपेक्षा । औचित्य के कारण यहाँ यह आभिमुख्य चिन्मात्र है । इसी को ज्ञेयाभिमुख शब्द से कहा गया । अतिशय गुरुता की व्याख्या करने के लिये 'द्राक् प्ररूढ़' (= झट से उत्पन्न) इत्यादि कहा गया । 'द्राक्' शब्द से यथोक्त विकल्प क्रम के उपारोह का अभाव बतलाया गया ॥ १७२ ॥

भिन्न विभक्ति वाले इन दोनों (गुरुणा और प्रतिबोधतः) में समानविभक्ति कैसे है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(प्रतिबोधतः पद में) तृतीया के अर्थ में तसिल् (का प्रयोग हुआ है) अथवा वैयधिकरण से व्याख्या (करनी चाहिए) ॥ १७३- ॥

(श्लोक में) 'तृतीयार्थे तसि' यहाँ 'तसि' का प्रयोग अनुबन्ध का लोप होने पर किया गया है । (तसिल् प्रत्यय में इल् अनुबन्ध है) । तृतीया के अर्थ में कहने का तात्पर्य है कि 'तसिल्' प्रत्यय का प्रयोग सभी विभक्तियों के अर्थ में होता है । 'वा' शब्द का प्रयोग दूसरे पक्ष में है । वैय्यधिकरण्य का तात्पर्य है कि गुरु के द्वारा किया गया जो प्रतिबोध उससे (यहाँ 'तसिल्' का प्रयोग पञ्चमी अर्थ में मानना चाहिये) ।

अस्वतन्त्र = जड मितप्रमाता का अपने = असाधारण उस = संकुचित रूप के निमज्जन होने से पर = स्वतन्त्र शक्ति से अभिन्न आद्य शम्भु से अपने वाले के साथ तद्रूपता = तादात्म्य ही आवेश (कहलाता) है ॥ -१७३, १७४- ॥

अस्वतन्त्रस्य जडस्य बुद्ध्यादेः, मितस्य प्रमातुः, स्वम् असाधारणम्, तत् संकुचितं यत् रूपं तस्य निमज्जनम् गुणीभावः, तदवलम्ब्य परेण स्वतन्त्रेण बोधेन या तद्रूपता—तादात्म्यम्, स आवेशः इति सम्बन्धः । यदुक्तम्—

'मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः ।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ।।' इति ।

कुतः पुनरयमागतः ? इत्याह—शम्भोः इति । न पुनः शक्तेरणोर्वा । आद्यात् इति—तत एव हि शक्तेरणोश्च प्रभवः इति भावः । अत एव शक्तिरत्र इच्छा, न तु ज्ञानं क्रिया वा—तयोः समावेशान्तरगतत्वेन अभिधास्यमानत्वात् ।। १७३ ।।

इह पदार्थावगमपुरःसरीकारेण वाक्यार्थावगमः इति पदार्थयोजनानन्तरं वाक्यार्थमपि योजयितुमाह—

तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयं प्रोन्मिषत्स्वयम्।। १७४ ।।
विनापि निश्चयेन द्राक् मातृदर्पणबिम्बितम् ।
मातारमधरीकुर्वत् स्वां विभूतिं प्रदर्शयत् ।। १७५ ।।
आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ।

अस्वतन्त्र का = जडका = बुद्धि आदि परिमित प्रमाता का, स्व = असाधारण, तत् = संकुचित, जो रूप उसका निमज्जन = गौण हों जाना । उसको आधार मानकर पर = स्वतन्त्र बोध के द्वारा जो तद्रूपता = तादात्म्य, वही आवेश कहलाता है—ऐसा अन्वय समझना चाहिये । जैसा कि कहा गया—

'जब स्वात्मकर्त्तृता' और चिदात्मक बोध मुख्य हो जाते हैं और शून्य आदि (= जड़ पदार्थ) गौण समझे जाते हैं तो यह समावेश का लक्षण समझना चाहिये ।'

यह (= समावेश) कहाँ से आता है ?—इस विषय में कहते हैं—शम्भु से न कि शक्ति अथवा अणु से । आद्यात् का अर्थ है कि उसी (= शाम्भव) से ही शक्ति और अणु की उत्पत्ति होती है । इसीलिये यहाँ शक्ति का ताप्तर्य है—इच्छा न कि ज्ञान अथवा क्रिया । क्योंकि वे दोनों समावेश के अन्तर्गत कही जायेंगी ।। १७३ ।।

पदार्थ का ज्ञान होने के बाद वाक्यार्थ का ज्ञान होता है—इस नियम के अनुसार पदार्थ योजना के बाद वाक्यार्थ की योजना करने के लिये कहते है—

इसलिए यहाँ यह वाक्यार्थ है—बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित, परिमित प्रमाता को गौण करता हुआ, तरतम भाव से अपनी विभूति को प्रदर्शित करता हुआ विज्ञेय (= चिन्मात्र पारमार्थिक रूप) विमर्श की निर्मलता के अतिशयित होने पर (पराकाष्ठा पर पहुंचने के बाद) स्वयं प्रकाशित होता है ।। -१७४-१७६- ।।

विज्ञेयम् चिन्मात्राख्यं पारमार्थिकं रूपम्, माता—सकलकरणग्रामप्रसव-निमित्तत्वाद् बुद्धिः, सैव चिच्छायासंक्रान्तिसहिष्णुत्वाद् दर्पणः, तत्र प्रतिबिम्बितं गृहीतात्मग्रहं परिमितं प्रमातारम् अधरीकुर्वत् बुद्ध्यादौ आत्माभिनिवेशनं गुणीभाव-मापादयत् । एवं तरतमभावेन अनन्यसाधारणां विभूतिम् बोधात्मताप्रधानतां रचयत्, समनन्तरोक्तयुक्त्या विकल्पोपारोहमन्तरेण अनन्यापेक्षित्वात् झटिति—

'सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।'

इत्याद्युक्तेः हृदयम् विमर्शः, तस्य नैर्मल्यम् अनन्योन्मुखत्वादपरिम्लानत्वम्, तस्य अतिशयः पराकाष्ठा, तत्र स्वयं प्रोन्मिषदास्ते स्वप्रकाशतया प्रकाशते—इत्यर्थः ॥ १७४-१७५ ॥

ननु ज्ञेयं तावत् जडाजडात्म द्विधा सम्भवति, तत्र संविदि जडेन नीलादिनापि आवेशोऽस्ति इति कथं 'बोधात्मैव समावेशः' इत्युक्तम् ? इत्याह—

ज्ञेयं द्विधा च चिन्मात्रं जडं चाद्यं च कल्पितम् ॥ १७६ ॥
इतरत्तु तथा सत्यं तद्विभागोऽयमीदृशः ।
जडेन यः समावेशः सप्रतिच्छन्दकाकृतिः ॥ १७७ ॥
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ।

विज्ञेय = चिन्मात्र पारमार्थिक रूप । प्रमाता = बुद्धि क्योंकि वह समस्त इन्द्रियसमूह की उत्पत्ति का कारण है । वही चित् की छाया के संक्रमण का आधार होने से दर्पण है । उसमें प्रतिबिम्बित = अहङ्कारयुक्त आत्मा जो कि परिमित प्रमाता है उसको, अधरी कुर्वत् = बुद्धि आदि में आत्मभावना को गौण बनाता है । इस प्रकार (वह संवित्) तरतम के तारतम्य से अनन्य साधारण विभूति = बोधात्मक प्रधानता की रचना करती है । पूर्वोक्त युक्ति से (वह) विकल्प के बिना निरपेक्ष होकर तत्काल हृदयरूपी विमर्श की निर्मलता अर्थात् -अनन्योन्मुख होने के कारण मलिनताराहित्य, उसकी पराकाष्ठा के रूप में प्रोन्मिषित होता है = स्वयं प्रकाशित होता है ॥ १७४-१७५ ॥

प्रश्न है कि यह (= ज्ञेय) जड़ और अजड़ रूप से दो प्रकार का होता है । संविद् में जड़ नील आदि से भी आवेश होता है फिर कैसे कहा कि समावेश बोधात्मक ही होता है—उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञेय दो प्रकार का है—चिन्मात्र (ज्ञेय) और जड (ज्ञेय); उन दोनों में पहला (= चिन्मात्र ज्ञेय) कल्पित है । दूसरा (= जड नील आदि) उस प्रकार (= ज्ञेय रूप में) सत्य है । यह उसका विभाग ऐसा है । जड के साथ जो समावेश है वह प्रतिच्छन्दक (= प्रतिम्बित प्रतिमा) की आकृति वाला है (अर्थात् तादात्म्य नहीं है) और जो चैतन्य के साथ (समावेश है वह) तादात्म्य है दूसरा कुछ नहीं ॥ -१७६-१७८- ॥

ननु कथं स्वप्रकाशायाः चितोऽपरप्रकाश्यत्वं ज्ञेयत्वं नाम ? इत्याशङ्क्योक्तम्—'आद्यं च कल्पितम्' इति । चः शङ्काद्योतकः, परमेश्वर एव हि स्वातन्त्र्याद् अपरिहृतवेदकभावमपि स्वात्मानं भावनोपदेशादौ शिव एव सर्वक्रियाणां कर्ता विज्ञेयः इत्यादि परामर्शैः अहंप्रतीतिम् अन्तरीकृत्य वेद्यतया प्रतिपादयति । इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यम्—यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति ।

अत एव कल्पितम् वस्तुशून्यम्—इत्युक्तम् । इतरत् इति—जडं नीलादि । तथा इति—ज्ञेयतया । तत्र नीलज्ञानम् इत्यादौ चितो नीलादिना दर्पणमुखन्यायेन प्रतिबिम्बनमात्रमेव समावेशार्थो न तु तादात्म्यम्, तथात्व हि नीलादेर्ज्ञानात्मीभूतत्वात् ज्ञानमेव अवशिष्यते इति प्रतिच्छन्दव्यवस्थैव न स्यात् । संकुचितायाः चितः पुनरसंकुचितया चितैकात्म्यमेव, तस्या एव वस्तुतो भावात्, तेन बोधैकात्म्यमेव समावेशार्थः इति युक्तमुक्तम्, अस्वतन्त्रस्य परतद्रूपता नामावेशः इति ॥ १७६-१७७ ॥

जो चित् स्वप्रकाश है वह परप्रकाश्य ज्ञेय रूप कैसे हो जाती है ?—

यह शङ्का कर कहा गया—'पहला कल्पित होता है' । 'च' शङ्का का द्योतक है । परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य से वेदकभाव को न छोड़ते हुए भी अपने को भावनोपदेश आदि में—शिव की समस्त क्रियाओं को कर्त्ता जानना चाहिये'—इत्यादि परामर्शों के द्वारा अहंप्रतीति को छिपाकर वेद्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं । (इनका) यही परमस्वातन्त्र्य है कि अपने वेदक स्वरूप को वेद्य के रूप में निश्चित कराते हैं ।

इसीलिये कहा गया—(चेतन का ज्ञेयत्व) कल्पित अर्थात् वस्तुशून्य है । इतरत् = जड़ नील आदि । तथा = ज्ञेय के रूप में । 'नीलज्ञानम्' इत्यादि स्थलों में चित् का ही नील आदि के रूप में दर्पणमुखन्याय[1] से प्रतिबिम्ब ही समावेश कहलाता है न कि (चित् और नील का) तादात्म्य । वैसा (अभेद) होने पर नील आदि भी ज्ञानस्वरूप हो जायेंगे और फिर ज्ञान ही बच जायगा (न कि नील आदि) । फलस्वरूप पृथक्त्व की व्यवस्था समाप्त हो जायगी । संकुचित चिति का असंकुचित चिति के साथ ऐकात्म्य ही उस (= चित्) की वास्तविक सत्ता है । इसलिये (संकुचित जड़ आदि का) बोध के साथ ऐकात्म्य ही समावेश है । इसलिये ठीक ही कहा कि परतन्त्र का परतत्त्व के साथ एकरूप हो जाना ही आवेश है ॥ १७६-१७७ ॥

---

१. जिस प्रकार दर्पण में मुख की छाया दिखायी देती है न कि मुख उसी प्रकार नील आदि में चित् की छाया दिखायी देती है न कि चित् । इसलिए नील और चित् अभिन्न नही होता ।

तदेवोपसंहरति—

तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ॥ १७८ ॥
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः।

संवित्तिः अर्थात् संकुचितरूपा ॥ १७८ ॥

ननु अत्र उत्पत्तौ विकल्पापेक्षित्वं मा भूत् तथात्वे हि शाक्तोपायादस्य भेदो न स्यात्, औत्तरकालिकाः पुनर्विकल्पाः किमत्र अपेक्ष्यन्ते न वा ? इत्याशङ्क्याह—

तत्प्रसादात्पुनः पश्चाद्भाविनोऽत्र विनिश्चयाः॥ १७९ ॥
सन्तु तादात्म्यमापन्ना न तु तेषामुपायता ।

तच्छब्देन निर्विकल्पकपरामर्शः । अविकल्पकयैवं संवित्त्या शिवात्मताधिगमः कृतः इति कृतस्य करणायोगात् तत्पृष्ठभाविनां विकल्पानां तत्र अकिञ्चित्करत्वम् —इत्याह—न तु 'तेषामुपायता' इति ॥ १७९ ॥

अत एव च अविकल्पस्य विकल्पापेक्षं प्रामाण्यं वदन्तो निरस्ताः— इत्याह—

उसी का उपसंहार करते हैं—

इसलिए भावना आदि की अपेक्षा न रखने वाली विकल्परहित संवित्ति (= संकुचितरूपा संवित्) जब शिव के साथ तादात्म्य को प्राप्त होती है तब शाम्भव समावेश होता है ॥ -१७८, १७९- ॥

संवित्ति से यहाँ संकुचित संवित्ति जानना चाहिये ॥ १७८ ॥

प्रश्न है कि यहाँ (= शाम्भव समावेश की) उत्पत्ति में विकल्पों की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वैसा होने पर इस (शाम्भव समावेश) का शाक्तोपाय से भेद नहीं होगा, किन्तु उत्तरकालिक विकल्पों की यहाँ अपेक्षा होती है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस (= निर्विकल्पक परामर्श) की कृपा से (शाम्भव समावेश प्राप्त होने के) बाद होने वाले विकल्प तादात्म्य को प्राप्त हो जाते हैं वे पुनः (समावेश) के कारण नहीं बनते ॥ -१७९, १८०- ॥

तत् शब्द से निर्विकल्पक परामर्श समझना चाहिये । निर्विकल्पक संवित् के द्वारा ही शिवात्मता की उपलब्धि होती है । इस प्रकार किये गये कार्य का कारण नहीं होने से उसके बाद होने वाले विकल्प उस (= शिवतादात्म्य के विषय) में कोई महत्त्व नहीं रखते । इसलिये कहा कि—वे उपाय नहीं बनते ॥ १७९ ॥

इसीलिये सविकल्प की अपेक्षा निर्विकल्पक (ज्ञान) को प्रमाण मानने वाले

विकल्पापेक्षया मानमविकल्पमिति ब्रुवन् ॥ १८० ॥
प्रत्युक्त एव सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते ।

अनधिगतार्थविषयं खलु प्रमाणम् । यदाहुः—

'अनधिगतविषयं प्रमाणम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा ।' इति

निर्विकल्पकगृहीतमेव वस्तु च तत्पृष्ठभावी विकल्पः परिच्छिनत्ति इति, तस्य गृहीतग्राहकत्वात् स्वात्मन्येव प्रमाण्यं नास्ति—इति कथमन्यस्यापि प्रामाण्ये निमित्ततां यायात् । अत आह—'सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते' इति । सिद्धम् इति—अधिगतम् । अनुगम्यते इति—अनु पश्चात् गम्यते अधिगम्यते—इत्यर्थः ॥ १८० ॥

ननु प्रवर्ततां नाम गृहीतेऽर्थे विकल्पः, तत्र पुनरध्यवसायात्मकत्वादस्य ग्राहकत्वं न युज्यते इति 'गृहीतं गृह्णामि' इति प्रतिपत्तिरस्य कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

गृहीतमिति सुस्पष्टा निश्चयस्य यतः प्रथा ॥ १८१ ॥

(बौद्धों) का खण्डन हो जाता है—यह कहते हैं—

(इसलिए) निर्विकल्प विकल्प की अपेक्षा रखकर प्रमाण है ऐसा कहने वाले का खण्डन हो गया । क्योंकि विकल्प ज्ञात पदार्थ का ही अनुज्ञान कराता है (और प्रमाण वह होता है जो अज्ञात अर्थ को बताए) ॥ -१८०, १८१- ॥

प्रमाण उसे कहते हैं जो अज्ञात विषय को बतलाये । जैसा कि कहते हैं—

'प्रमाण वही है जो या तो अप्राप्त विषय की प्राप्ति या अज्ञात विषय का ज्ञान कराता हो ।'

निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु को ही उसके बाद होने वाला सविकल्पक ज्ञान बतलाता है । इस प्रकार उस (संविल्पक) ज्ञान के गृहीत-ग्राही होने के कारण वह अपने आप में ही प्रमाण नही हैं फिर दूसरे की प्रामाणिकता का कारण कैसे बनेगा इसलिये कहा—ज्ञात (पदार्थ) ही विकल्प के द्वारा बतलाया जाता है ।' सिद्ध = ज्ञात । अनुगम्यते—अनु = पश्चात्, गम्यते = अधिगत होता है ॥ १८० ॥

प्रश्न है कि—विकल्प ज्ञात अर्थ के विषय में भले ही प्रवृत्त हो किन्तु निश्चयात्मक होने से यह ग्राहक नहीं हो सकता । यदि ऐसा होता है तो फिर 'मैं ज्ञात का ज्ञान कर रहा हूँ' यह ज्ञान (ज्ञाता को) कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि 'मैने जान लिया' इस प्रकार निश्चय का सुस्पष्ट प्रसरण होता

गृह्णामीत्यविकल्पैक्यबलात्तु प्रतिपद्यते ।

गृहीतमिति प्रथा हि विकल्पस्य भावादौपपत्तिकी, गृहीत एवार्थे अस्य प्रवृत्तेः, यत्तु गृह्णामि इति प्रतिपद्यते तत् दृश्यविकल्प्यार्थैकीकारादिना निर्विकल्पकैकात्म्यावलम्बनबलात् इति युक्तमुक्तम्—'विकल्पेन गृहीतं गृह्यते' इति ॥ १८१ ॥

ननु ज्ञानं खलु ज्ञापकं न तु कारकम् इति, तेन वस्तुनो ज्ञप्तिः स्यात् न तु सिद्धिः इति कथमुक्तम्—'सिद्धं विकल्पेनानुगम्यते' ? इत्याशङ्क्याह—

अविकल्पात्मसंवित्तौ या स्फुरत्तैव वस्तुनः ॥ १८२ ॥
सा सिद्धिर्न विकल्पात्तु वस्त्वपेक्षाविवर्जितात्।

आभासवादे हि आभासमानतेव सिद्धिः इत्युक्तम् स्फुरत्तैव वस्तुनः सिद्धिः । ननु विकल्पानामपि स्वात्मनि अविकल्पकत्वात् स्फुरद्रूपता अस्ति इति किमिति न ततोऽपि वस्तुनः सिद्धिः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—'न विकल्पात्' इति 'सर्वो विकल्पः स्मृतिः' इति नीत्या विकल्पानां तावत् स्मृतिरेव रूपम्, सा च असंनिहिते पूर्वानुभूत एव अभिप्रवर्तते इति विकल्पानां वस्त्वनपेक्षित्वम्, यद्यपि

है । 'जान रहा हूँ; यह निश्चय निर्विकल्पक ज्ञान की एकता के आधार पर होता है ॥ -१८१, १८२- ॥

'ज्ञात हो गया' इस प्रकार का ज्ञान विकल्प के रहने से युक्ति के आधार पर है क्योंकि यह (= विकल्प) ज्ञात अर्थ में ही प्रवृत्त होता है । और जो 'ज्ञान कर रहा हूँ' ऐसा ज्ञान होता है वह दृश्य अतएव विकल्प्य अर्थ के साथ एकात्मता होने से निर्विकल्पक के साथ ऐकात्म्य के आधार पर होता है। इसलिये ठीक कहा कि 'विकल्प के द्वारा ज्ञात का ज्ञान होता है' ॥ १८१ ॥

प्रश्न—ज्ञान ज्ञापक होता है कारक नहीं । इसलिये वस्तु का ज्ञान होता है न कि सृष्टि । इसलिये कैसे कहा कि 'विकल्प के द्वारा सिद्ध का अनुगमन होता है— यह शङ्का कर कहते है—

निर्विकल्पक आत्मज्ञान होने पर वस्तु का जो स्फुरण होता है वही सिद्धि है न कि वस्तु की अपेक्षा से रहित विकल्प से (वस्तु की सिद्धि होती है) ॥ -१८२, १८३- ॥

आभासवाद में आभासमानता ही सृष्टि होती है । इसलिये कहा गया कि वस्तु की स्फुरत्ता ही सृष्टि है । प्रश्न है कि विकल्प भी अपने आप में निर्विकल्प ही है इसलिये उनकी भी स्फुरद्रूपता तो है ही फिर उनसे भी वस्तु की सृष्टि क्यों नहीं होती ?—यह शङ्का कर कहते हैं—विकल्प से नहीं। 'सभी विकल्प स्मृति होते हैं' इस नीति के अनुसार स्मृति ही विकल्पों का रूप है । और वह (= स्मृति) दूरस्थ पूर्वानुभूत वस्तु के विषय में प्रवृत्त होती है । इस प्रकार विकल्प वस्तु की अपेक्षा

च स्वतन्त्रविकल्पादौ क्षेत्रज्ञनिर्मितानां योजनास्ति तथापि पूर्वानुभवसंस्कारजा एव तेऽर्थाः इत्युक्तम् 'वस्त्वपेक्षाविवर्जितात्' इति । यस्य च यदपेक्षा नास्ति स कथं तत्सिद्धौ निमित्ततां यायात्—इति भावः ॥ १८२ ॥

यद्येवं निर्विकल्पकसिद्ध एव अर्थे विकल्पः प्रवर्तते न अधिकं किञ्चित्करोति तत्किमिति तेन स क्वचिदपेक्ष्यते—इत्याह—

केवलं संविदः सोऽयं नैर्मल्येतरविभ्रमः ॥ १८३ ॥
यद्विकल्पानपेक्षत्वसापेक्षत्वे निजात्मनि ।

एवं संविदः सर्ववादिसिद्धं व्यवहारादौ विकल्पसापेक्षत्वं परिहृत्य विकल्पानपेक्षत्वमेव स्फुटीकर्तुमुदाहरति—

निशीथेऽपि मणिज्ञानी विद्युत्कालप्रदर्शितान् ॥ १८४ ॥
तांस्तान्विशेषांश्चिनुते रत्नानां भूयसामपि ।

वैकटिको हि अचिरस्थायिनि परिमितेऽपि आलोके भूयसामपि रत्नानाम् अतिसूक्ष्मान् परस्परविशेषान् अवसायं विनापि अनुभवातिशयादेव जानीते, येन 'इदमल्पम्, इदं महत्,' 'इदमितोऽपि महद्रत्नम्' इत्यस्य विवेकः

नही रखते । यद्यपि स्वतन्त्र विकल्प आदि में जीव द्वारा निर्मित (पदार्थों) की योजना रहती है फिर भी वे (= पदार्थ) पूर्वानुभवों के संस्कार से ही उत्पन्न रहते हैं। इसलिये कहा गया—वस्तु की अपेक्षा से रहित.......... । जिसको जिस (वस्तु) की अपेक्षा नहीं रहती वह (वस्तु) उसकी सृष्टि में कारण कैसे बन सकती है ?—यह भाव है ॥ १८२ ॥

इस प्रकार यदि विकल्प की प्रवृत्ति निर्विकल्पक से सिद्ध अर्थ में ही होती है और (वह विकल्प) इससे अधिक कुछ नहीं करता तो फिर उस (अर्थ) के द्वारा कहीं-कहीं उस (विकल्प) की अपेक्षा क्यों की जाती है ?—यह कहते हैं—

यह संविद् की निर्मलता का दूसरा विभ्रममात्र है कि अपनी आत्मा में विकल्प की निरपेक्षता और सापेक्षता (दोनों अनुभव का विषय बनती हैं) ॥ -१८३, १८४- ॥

इस प्रकार व्यवहार आदि में संविद् की सर्ववादिसिद्ध विकल्पसापेक्षता का खण्डन कर विकल्पनिरपेक्षता को ही स्पष्ट करने के लिये उदाहरण दे रहे है—

मणि का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति अर्द्धरात्रि में भी अनेक रत्नों का विद्युत्कालप्रदर्शित (= अत्यन्त सूक्ष्म) उन-उन विशेषों को जानता है ॥ -१८४, १८५- ॥

जौहरी क्षणिक परिमित प्रकाश में भी बहुत से रत्नों के अति सूक्ष्म परस्पर विशेषों को अन्य साधन के द्वारा विहित निश्चय के बिना भी केवल अनुभव की

स्यात् ॥ १८४ ॥

किं चात्र अनुभवातिशये निमित्तं येन विकल्पनैरपेक्ष्येणापि वस्तुनः सिद्धिः स्यात् ?—इत्याह—

नैर्मल्यं संविदश्चेदं पूर्वाभ्यासवशादथो ॥ १८५ ॥
अनियन्त्रेश्वरेच्छात इत्येतच्चर्चयिष्यते ।

पूर्वाभ्यासो जन्मान्तरीयः इति, अत एव चर्चयिष्यते त्रयोदशाह्निकादौ ॥ १८५ ॥

न केवलमस्य आवेशस्य त्रैविध्यमेव अस्ति, यावदवान्तरप्रकारत्वमपि—इत्याह—

पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता ॥ १८६ ॥
तत्त्वषट्त्रिंशकैतत्स्थस्फुटभेदाभिसन्धितः ।

वर्णिता इति--श्रीपूर्वशास्त्रे । यदुक्तं तत्र—

'रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥

अतिशयिता के आधार पर जान लेता है । '—यह छोटा है', '—यह बड़ा है' यह इससे भी बड़ा रत्न है—यह विवेक जौहरी को हो जाता है ॥ १८४ ॥

इस अनुभवातिशय का कारण क्या है जिससे विकल्प की अपेक्षा न रहने पर भी वस्तु की सिद्धि हो जाती है?—यह कहते हैं—

यह (= विशेष चयन) संविद् की निर्मलता ही है जो पूर्व (= जन्मान्तरीण) अभ्यास के कारण (उत्पन्न हो जाती है) इसके पीछे स्वतन्त्र ईश्वर की इच्छा कारण है—इसकी चर्चा आगे की जाएगी ॥ -१८५, १८६- ॥

पूर्वाभ्यास = जन्मान्तरीय (अभ्यास) । इसी कारण चर्चा की जायेगी—तेरहवें आह्निक इत्यादि में ॥ १८५ ॥

इस आवेश के तीन ही नहीं अपितु अवान्तर प्रकार भी हैं—यह कहते हैं—

३६ तत्त्व और उसमें वर्तमान स्फुट भेद के आधार पर इस समावेश के पचास भेद वर्णित हैं ॥ -१८६, १८७- ॥

वणित हैं—मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'हे वरानने ! रुद्रशक्ति का समावेश भूत, तत्त्व, आत्मा, मन्त्रेश और शक्ति भेद से पाँच प्रकार का कहा जाता है । उनमें भूत नामक (समावेश) पाँच प्रकार

पञ्चधा भूतसंज्ञोऽत्र त्रिंशद्धा तु तथापरः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधामन्त्रसंज्ञकः ॥
द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ॥' इति ।

अत्र च हेतुः—तत्त्व इति । तत्त्वषट्त्रिंशकं च एतत्स्थानि तत्त्वषट्त्रिंशन्मध्यपतितानि पुमादीनि पृथग्व्याख्यास्यमानानि तत्त्वानि च, तेषां यो वक्ष्यमाणप्रकारः स्फुटो भेदः, तस्य अनुसंधानम् ॥ १८६ ॥

तमेव भेदं निरूपयति—

एतत्तत्त्वान्तरे यत्पुंविद्याशक्त्यात्मकं त्रयम् ॥ १८७ ॥
अम्भोधिकाष्ठाज्वलनसंख्यैर्भेदैर्यतः क्रमात् ।

तद्भिन्नम् इत्यध्याहारः । अतस्तत्र पुमान्—

'आत्मा चतुर्विधो ह्येषः ।'

इत्याद्युक्त्या अम्भोधिभिः—सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलशुद्धलक्षणैः चतुर्भिः भेदैभिन्नः, तथा विद्या काष्ठाभिः—वर्णबिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनोन्मनात्मभिर्दशभिः भेदैर्भिन्ना, तथा शक्तिः ज्वलनैः—इच्छाज्ञानक्रियात्मभिः त्रिभिर्भेदैः ॥ १८७ ॥

का, अगला तीस प्रकार का, आत्मा नामक (समावेश) तीन प्रकार का, मन्त्र दश प्रकार का, और शक्ति समावेश दो प्रकार का जानना चाहिये । परमार्थतः यह समावेश ५० भेदों वाला है । इन ५० भेदों का कारण तत्त्व हैं। छत्तीस तत्त्वों के बीच पुरुष आदि हैं जिनकी व्याख्या की जायेगी । उनका जो वक्ष्यमाण प्रकार, वही है स्फुट भेद, उसका अभिसन्धि = अनुसन्धान ॥ १८६ ॥

उस भेद का निरूपण कर रहे हैं'—

इन तत्त्वों के बीच जो पुरुष शुद्धविद्या और शक्ति नामक तीन तत्त्व हैं वे अम्भोधि (= ४) काष्ठा (= १०) और ज्वलन (= ३) भेदों से भिन्न-भिन्न है (अर्थात् पुरुष चार प्रकार विद्या दश प्रकार और शक्ति तीन प्रकार की है) ॥ -१८७, १८८- ॥

'तद्भिन्न' इतना जोड़ना चाहिये । इनमें से पुरुष—

'यह आत्मा चार प्रकार का है ।'

इस उक्ति के अनुसार अम्भोधि = (चार) सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल और शुद्ध (= अकल) लक्षणों से चार प्रकार का है । उसी प्रकार विद्या-काष्ठा = वर्ण, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना नामक दश भेद वाली है । उसी प्रकार शक्ति—ज्वलन = (तीन) इच्छा, ज्ञान,

ननु किमिति इदमेव तत्त्वत्रयं भेदेन निर्दिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह—

पुंविद्याशक्तिसंज्ञं यत्तत्सर्वव्यापकं यतः ॥ १८८ ॥
अव्यापकेभ्यस्तेनेदं भेदेन गणितं किल ।

अव्यापकेभ्यः इति—व्याप्येभ्यतत्त्वान्तरेभ्यः—इत्यर्थः । मायान्तं हि आत्म-तत्त्वस्य, सदाशिवान्तं विद्यातत्त्वस्य, शिवान्तं च शक्तित्त्वस्य व्याप्तिः । यदुक्तम्—

'माया-सदाशिव-शिवप्रान्तव्यात्री ननु क्रमात् ।' इति ॥ १८८ ॥

न केवलमेतत् तत्त्वान्तरेभ्यो भिद्यते, यावदन्योन्यमपि—इत्याह—

अशुद्धिशुद्ध्यमानत्वशुद्धितस्तु मिथोऽपि तत् ॥ १८९ ॥

पुमान् अशुद्धो—भेदमयत्वात्, विद्या शुद्ध्यमाना भेदाभेदमयत्वात्, शुद्धा शक्तिः—अभेदमयत्वात् ॥ १८९ ॥

ननु अस्तु एवम्, भूतानां पुनः पृथक् निर्देशे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

क्रिया रूप तीन भेदों वाली है ॥ १८७ ॥

ये ही तीन तत्त्व क्यों भेदभिन्न हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि जो पुरुष विद्या और शक्ति नामक तत्त्व हैं वे सर्वव्यापक हैं इसलिए अव्यापक तत्त्वों की अपेक्षा इनकी भेदपूर्वक गणना की गयी है ॥ -१८८, १८९- ॥

अव्यापक (तत्त्वों) से = व्याप्य तत्त्वान्तरों से । पुरुष तत्त्व की (व्याप्ति) माया तत्त्व तक, विद्या तत्त्व की व्याप्ति सदाशिव और शक्तितत्त्व की शिवतत्त्व तक व्याप्ति है । जैसा कि कहा गया—

'(पुरुष विद्या और शक्ति) क्रमशः माया, सदाशिव और शिव तत्त्व तक व्याप्त है' ॥ १८८ ॥

ये केवल तत्त्वान्तरों से ही नहीं अपितु परस्पर भी भिन्न हैं—यह कहते हैं—

(वे तीनों तत्त्व पुनः) अशुद्धि शुद्ध्यमानत्व और शुद्धि वाले हैं ॥ १८९ ॥

पुरुष भेदमय होने से अशुद्ध है । विद्या भेदाभेदमय होने से शुध्यमान है और शक्ति अभेदमय होने से शुद्ध है ॥ १८९ ॥

प्रश्न है कि ऐसा ही हो । किन्तु भूतों के पृथक् निर्देश में क्या कारण है ? —यह शङ्का कर कहते हैं—

भूतान्यध्यक्षसिद्धानि कार्यहेत्वनुमेयतः ।
तत्त्ववर्गात्पृथग्भूतसमाख्यान्यत एव हि ॥ १९० ॥

भूतानि तावत् प्रत्यक्षसिद्धानि इति, तदेव एषां तत्त्वान्तरेभ्यो भेदेन उपादाने निमित्तम्, तानि हि नित्यानुमेयान्येव, तदाह—'कार्यहेत्वनुमेयतः तत्त्ववर्गात्' इति। तथा चात्र भूतानि कारणपूर्वकाणि आचैतन्ये सति अनेकसंख्यायोगित्वात् घटादिवत्—इत्यनुमानम् । यच्चैषां कारणं तानि—

'तन्मात्रेभ्यश्च भूतानि..................... ।'

इत्याद्युक्तेः तन्मात्राणि इति, स्वकार्येभ्यो भूतेभ्य एषाम् अनुमेयत्वम् । एवम् अनेनैव अनुमानेन मायान्तः सकलतत्त्ववर्गोऽनुमातव्यः । एतच्च तत्त्वाध्वनि भविष्यति इति नेहायस्तम् । अत एव इति—प्रत्यक्षसिद्धत्वात् ॥ १९० ॥

ननु भूतानां प्रत्यक्षसिद्धत्वम् अनुमेयात् तत्त्ववर्गात् पृथक्त्वेऽस्तु निमित्तं कथं पुनर्भूतत्वेऽपि तदेव ? इत्याशङ्क्याह—

सर्वप्रतीतिसद्भावगोचरं भूतमेव हि ।
विदुश्चतुष्टये चात्र सावकाशे तदास्थितिम् ॥ १९१ ॥

पञ्चमहाभूत प्रत्यक्ष सिद्ध हैं । इसीलिए कार्यरूपी हेतु के द्वारा अनुमेय तत्त्ववर्ग से पृथक् रूप में कहे गए हैं ॥ १९० ॥

भूत प्रत्यक्ष सिद्ध है । दूसरे तत्त्वों से भेद मानने में यही कारण है । वे नित्य अनुमेय हैं । वही कहा - कार्य हेतु... । इस विषय में अनुमान है—भूत, कारणपूर्वक हैं, क्योंकि ये समस्त चेतन वर्ग में और अनेक संख्या वाले हैं, जैसे घट आदि । जो इनके कारण हैं वे—

'तन्मात्राओं से भूत (उत्पन्न हुए) ।'

इत्यादि उक्ति से तन्मात्रायें हैं । अपने कार्यस्वरूप भूतों से इन (= तन्मात्राओं) का अनुमान होता है । इसी प्रकार अनुमान के द्वारा मायापर्यन्त समस्त तत्त्वसमूह का अनुमान करना चाहिये । यह 'तत्त्वाध्वा' (प्रकरण में स्पष्ट) होगा इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया गया । इसलिये = प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण ॥ १९० ॥

भूतों का प्रत्यक्ष सिद्ध होना (इनकी) अनुमेय तत्त्वसमूह से पृथक्ता का कारण है । भूतत्व में भी क्या वही है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि पञ्चभूत सभी (= पामरापामर उभय) की प्रतीति में सद्भाव के विषय हैं (अर्थात् पञ्चभूत की सत्ता सब मानते हैं) इसलिए विद्वान् लोग आकाश सहित चार तत्त्वों के विषय में उस (= भूतत्त्व) की स्थिति को मानते हैं ॥ १९१ ॥

सर्वेषां विदुषामविदुषां वा प्रतीतौ सता पारमार्थिकेन सत्ताया गोचरमेव हि भूतम् उच्यते । भूतं हि सत्यम्, तच्च सत्यम्, यत्र न कदाचिदपि कस्यचिदपि विप्रतिपत्तिः, अनुमेये पुनरविदुषंतावत् प्रतीतिर्नास्त्येव, विदुषां च प्रतीतावपि बहुप्रकारं परस्परं विप्रतिपत्तिः इति तत्र असत्यत्वसम्भावनापि भवेत्—इति भावः। चो हेतौ, अतश्च सर्व एवात्र अवकाशः तद्दातृत्वादाकाशः, तत्सहिते वाय्वन्ते चतुष्टये पृथिव्यादिभूतपञ्चके सर्वप्रतीतिसद्भावगोचरत्वात् तस्य भूतत्वस्य, आस्थितिम् अवस्थानं विदुः इति युक्तमुक्तं 'भूतसमाख्यान्यत एव' इति । एवं भौत आवेशः पञ्चधा आत्मावेशश्च त्रिधा । एकोऽपि पुंस्तत्त्वरूप आत्मभेदः तत्त्वमध्येऽवस्थाप्यः, अन्यथा हि तात्त्व आवेशः त्रिंशद्धा न स्यात् । विद्यायाश्च समनन्तरोक्तेन सामान्यात्मना मान्त्रेण रूपेण दशधावेशः । विशिष्टेन तु मन्त्र-मन्त्रेश-मन्त्रमहेशात्मना रूपेण अस्यास्तत्त्वमध्ये परिगणनम् । एवं शक्तेरपि एकं भेदं तत्त्वमध्ये व्यवस्थाप्य तदीय आवेशो द्विधा । शिवस्तु समावेश्य एव इति न तत्रावेशोऽस्ति, तस्य परमाद्वयस्वभावत्वात्, तदपेक्षया समावेश्य-समावेशकलक्षणभेदानुपपत्तेः । तद्युक्तमुक्तम् 'अस्य समावेशस्य पञ्चाशद्विधत्वम्' इति ॥ १९१ ॥

विद्वान् या अविद्वान् सबकी प्रतीति में पारमार्थिक रूप से सत्ता का विषय भी भूत कहा जाता है । भूत सत्य है । सत्य वह होता है जिसके विषय में कभी भी किसी को भी आपत्ति न हो । अनुमेय के विषय में अज्ञानियों को प्रतीति नहीं होती । विद्वानों को यद्यपि प्रतीति होती है तो भी उनमें अनेक प्रकार की परस्पर आपत्ति होती है । इसलिये उसमें (= अनुमान के विषय में) असत्य की सम्भावना रहती है । पूर्व श्लोक में 'च' का प्रयोग हेतु अर्थ में है इसलिये यहाँ सभी अवकाश वाले हैं । उस (अवकाश) का दाता होने से (व्योम) आकाश (कहलाता) है । उसके सहित वायु पर्यन्त चार को मिलाने से पृथिवी आदि पाँच भूत सबकी प्रतीति के विषय हैं इस कारण उसकी = भूत की , आस्थिति = अवस्थिति को (विद्वान्, अविद्वान् सब लोग) मानते हैं । इसलिये ठीक कहा—'इसीलिये इनका नाम भूत है ।' इस प्रकार भूतों का आवेश पाँच प्रकार का है । आत्मा (पुरुष) का आवेश तीन प्रकार का हैं । एक होने पर भी पुंस्तत्त्वरूप आत्मभेद तत्त्व के मध्य में रखना चाहिये । अन्यथा तत्त्व का आवेश तीस प्रकार का नहीं होगा । विद्या का आवेश समनन्तरोक्त सामान्यात्मक मान्त्ररूप से दश प्रकार का होता है । विशिष्ट रूप से मन्त्र—मन्त्रेश—मन्त्रमहेश्वररूप से इस (= विद्या) के (आवेश) की गणना तत्त्व के मध्य में होती है । इसी प्रकार शक्ति यद्यपि एक ही है तथापि तत्त्व के मध्य में व्यवस्थापित कर उसका आवेश दो प्रकार का हो जाता है । शिव तो समावेश्य ही हैं इसलिये उसमें आवेश नहीं होता । क्योंकि वे परमअद्वय स्वभाव वाले हैं । उनकी अपेक्षा समावेश्यसमावेशक लक्षण वाला भेद सम्भव नहीं है । इस प्रकार ठीक ही कहा गया—यह समावेश ५० प्रकार का है ॥ १९१ ॥

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे रुद्रशक्तिसमावेशस्य पञ्चधात्वचर्चनं प्रतिज्ञाय भूतादीनां स्वरूपनिरूपणं कृतम् ? इत्याह—

रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
कोऽवकाशो भवेत्तत्र भौतावेशादिवर्णने ॥ १९२ ॥
प्रसङ्गादेतदितिचेत्समाधिः सम्भवन्नयम् ।
नास्माकं मानसावर्जी लोको भिन्नरुचिर्यतः ॥ १९३ ॥

कोऽवकाश इति—भौतावेशादीनाम् अप्रस्तुतत्वात्, इदमेव हि तदप्रस्तुताभिधानं यदन्यदुपक्रम्य अन्यदभिधीयते इति अश्चोदितम् 'कोऽवकाशो भौतावेशादिवर्णने' इति । अथ रुद्रशक्तिसमावेशवर्णने प्रतिज्ञातेऽपि प्रसङ्गादेतदुक्तम्, इति पुनस्तदप्ययुक्तम्—इत्याह 'प्रसङ्गादेतत्' इति । निर्णीतप्राये प्रक्रान्तेऽर्थे यत्किंचिदनुषक्तत्वेन अप्रकृतम् अभिधीयते तत्रायं समाधिः 'प्रसङ्गादेतदुक्तम्' इति । इह तु उद्दिष्टेऽपि प्रकृते लक्षणपरीक्षादि अनुक्त्वैव भूतावेशादीनाम् आकस्मिकमेव अभिधानं कृतम् इति को नामायं प्रसङ्गः । एवं हि अप्राकरणिकानां प्रमेयाणामानन्त्यात् अनन्तान्तरङ्गप्रमेयप्रतिपादनप्रसङ्गः स्यात् ? इत्युक्तं 'नास्माकं

प्रश्न—मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में रुद्रशक्ति समावेश के पाँच प्रकार की चर्चा की प्रतिज्ञा कर भूत आदि का स्वरूप निर्वचन किया गया ? (ऐसा क्यों ?)—यह कहते हैं—

रुद्र शक्ति का समावेश पाँच प्रकार का कहा जाता है । तो (अप्रस्तुत होने के कारण) वहाँ भीत आवेश आदि के वर्णन का क्या अवसर है? यदि यह कहिए कि प्रसङ्गवश यह (= भूतों का वर्णन) किया गया? तो यह समाधान सम्भव होते हुए भी हम लोगों के मनको सन्तुष्ट करने वाला नहीं है क्योंकि समाज भिन्न-भिन्न रुचि वाला है ॥ १९२-१९३ ॥

कहाँ अवसर है—क्योंकि भूत आवेश आदि को प्रस्तुत नहीं किया गया । यही वह अप्रस्तुत का कथन है कि दूसरे की भूमिका प्रस्तुत कर दूसरा कह दिया जाता है । इसलिये कहा गया—'भौत आवेश आदि के वर्णन का अवसर कहाँ है ।' रुद्रशक्तिसमावेश के वर्णन की प्रतिज्ञा करके भी प्रसङ्गवश इसे कह दिया—यह भी अनुचित है, यह कहते हैं—प्रसङ्गात् एतत् । प्रस्तुत विषय के प्रायः निर्णीत हो जाने पर जो कुछ अनुषक्त (= सम्बद्ध) के रूप में अप्रस्तुत कहा गया उस विषय में यह समाधान है—'प्रसङ्गवश यह कहा गया।' यहाँ प्रस्तुत का उद्देश (= नामग्रहण) होने के बाद भी लक्षण परीक्षा आदि को बिना कहे भूतआवेश आदि का आकस्मिक ही कथन कर दिया गया—इसका यहाँ क्या प्रसङ्ग था । इस प्रकार अप्राकरणिक प्रमेयों के अनन्त होने के कारण अनन्त अन्तरङ्ग प्रमेयों के प्रतिपादन का प्रसङ्ग हो जाएगा । इसलिये कहा—'हमारे मन को प्रभावित करने

मानसावर्जी' इति ॥ १९२-१९३ ॥

यद्येवं तर्हि किं प्रतिपत्तव्यम् ?—इत्याह—

उच्यते द्वैतशास्त्रेषु परमेशाद्विभेदिता ।
भूतादीनां यथा सात्र न तथा द्वयवर्जिते ॥ १९४ ॥

अत्र इति—अद्वयशास्त्रे श्रीश्रीपूर्वे । सा इति—विभिन्नता । तन्निषेधे तु द्वयवर्जितत्वं हेतुः ॥ १९४ ॥

ततश्च किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

यावान्षट्त्रिंशकः सोऽयं यदन्यदपि किञ्चन ।
एतावती महादेवी रुद्रशक्तिरनर्गला ॥ १९५ ॥

अन्यत् इति—तद्भेदा एव भुवनाद्याः । अनर्गला इति—व्यापकत्वादप्रतिहता—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'त्वच्छक्तिचक्रात्मकमेव विश्वं
ग्राह्यग्रहीतृग्रहणात्मनैतत् ।
अन्तादिमध्येषु सदा विभाति
नात्यन्तभिन्नं भवतोऽस्ति किञ्चित् ॥' इति ॥ १९५ ॥

वाला नही है' ॥ १९२-१९३ ॥

यदि ऐसा है तो क्या समझना चाहिये ?—यह कहते हैं—

द्वैतशास्त्रों में जिस प्रकार पञ्चभूत आदि की परमेश्वर से भिन्नता का वर्णन किया जाता है । द्वैतरहित इस शास्त्र में वैसा नहीं है ॥ १९४॥

यहाँ = अद्वयशास्त्र मालिनीविजय में । वह = भिन्नता, उसके निषेध में द्वयवर्जित्व हेतु है ॥ १९४ ॥

उससे क्या होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो यह छत्तीस तत्त्वों (का समूह) है और इससे अतिरिक्त जो कुछ (भुवन आदि) हैं यह सब प्रतिबन्धरहित (= स्वतन्त्र) महादेवी रुद्रशक्ति ही हैं ॥ १९५ ॥

अन्य = भुवन आदि उसके भेद । अनर्गल = व्यापक होने के कारण अप्रतिहत । जैसा कि कहा गया—

(हे परमेश्वर) यह विश्व आपकी शक्तिपरम्परा ही है । ग्राह्य, ग्रहीता और ग्रहण के रूप में यह अन्त आदि और मध्य में सदा प्रकाशमान है । कोई भी वस्तु आपसे अत्यन्त भिन्न नहीं है ॥ १९५ ॥

एतच्च तत्रत्येनैव अर्थेन संवादयति—

तत एव द्वितीयेऽस्मिन्नधिकारे न्यरूप्यत।
धरादेर्विश्वरूपत्वं पाञ्चदश्यादिभेदतः ॥ १९६ ॥

तत एव इति—रुद्रशक्तेरेव तावत्स्फाररूपत्वात् । अस्मिन् इति—श्रीपूर्वशास्त्रे। यदुक्तं तत्रैव—

'शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥'

इत्यादि—

'..................शिवः साक्षान्न भिद्यते ।'

इत्यन्तम् । एतच्च तत्त्वभेदने भविष्यति, इति ग्रन्थविस्तरभयात् नेह आयस्तम् ॥ १९६ ॥

ननु यद्येवं तर्हि रुद्रशक्तावेवं-समावेशोऽभिधीयतां किं भूताद्यावेशेन इति स एव दोषः ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य, एतदेव उपसंहारभङ्ग्या दृष्टान्तं दर्शयन् उपपादयति—

तस्माद्यथा पुरस्थेऽर्थे गुणाद्यंशांशिकामुखात् ।

इसका वहीं (मालिनीविजय) के विषय से सम्वाद करते हैं—

(चूँकि यह सब रुद्रशक्ति का ही स्फार है) इसलिए (श्रीपूर्वशास्त्र के) दूसरे अधिकार में पाँच दश (५ + १० = १५) भेद से पृथ्वी आदि का विश्वरूपत्व वर्णित है ॥ १९६ ॥

इसी कारण = रुद्र शक्ति का ही स्फार होने के कारण । इसमें = मालिनीविजय में । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'शक्ति और शक्तिमान् के भेद से पृथ्वी तत्त्व भेदवान् होता है । अपने रूप के सहित वह पन्द्रह प्रकार का होता है ।'

इत्यादि से लेकर

'शिव साक्षात् भेदभिन्न नहीं होता ।'

यहाँ तक (कहा गया) । यह तत्त्वभेद प्रकरण में (उक्त) होगा इसलिये यहाँ नहीं कहा गया ॥ १९६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो रुद्रशक्ति में ही समावेश का कथन करना चाहिये । भूतादि आवेश की चर्चा से वही दोष आ जाता है?—इस शङ्का को मन में रखकर इसी को उपसंहार की दृष्टि से दृष्टान्त देते हुए बतलाते हैं—

निरंशभावसंबोधस्तथैवात्रापि बुध्यताम् ॥ १९७ ॥

यथा संनिहिते घटादौ अर्थे लौहित्याद्यंशाभासद्वारेण अनेकसामान्याभाससंमेलनात्मनो निरंशस्य—अखण्डस्य अर्थस्य सम्यक् स्वालक्षण्येन बोधो भवेत् तथैव अत्रापि भूताद्यंशमुखेन निखिलरुद्रशक्त्यवभासः इत्यधिगन्तव्यम् ॥ १९७ ॥

एवमपि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

अत एवाविकल्पत्वध्रौव्यप्राभववैभवैः ।
अन्यैर्वा शक्तिरूपत्वाद्धर्मैः स्वसमवायिभिः॥ १९८ ॥
सर्वशोऽप्यथ वांशेन तं विभुं परमेश्वरम् ।
उपासते विकल्पौघसंस्काराद्ये श्रुतोत्थितात्॥ १९९ ॥
ते तत्तत्स्वविकल्पान्तःस्फुरत्तद्धर्मपाटवात् ।
धर्मिणं पूर्णधर्मौघमभेदेनाधिशेरते ॥ २०० ॥

अत एव इति धर्ममात्रावगममुखेन धर्मिण्यवगमात् । ध्रुवस्य भावो ध्रौव्यं नित्यत्वम् । अन्यैः इति पूर्णत्वादिभिः, स्वसमवायिभिः इति शक्तिरूपत्वादभिन्नैः

इसलिए जैसे सामने वर्तमान (घट आदि पदार्थों के विषय में) गुण (संख्या परिमाण आकृति) आदि का आंशिक आभास होने के साथ निरंश (= एक अखण्ड घट व्यक्ति) का बोध होता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए ॥ १९७ ॥

जैसे सन्निहित घट आदि विषय में लौहित्य आदि अंश के आभास के द्वारा अनेक गुणों के आभास का सम्मिलित रूप निरवयव = अखण्ड विषय का सम्यक् = स्वलक्षण के रूप में, बोध होता है उसी प्रकार यहाँ भी भूत आदि अंश के द्वारा सम्पूर्ण रुद्रशक्ति का अवभास होता है—यह समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

इससे भी क्या होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसीलिए श्रुति से उत्पन्न विकल्पसमूह के संस्कार के कारण जो लोग अविकल्पत्व, नित्यत्व, प्रभुत्व, वैभव अथवा शक्ति रूप होने से अभिन्न अन्य (= पूर्णत्व आदि) धर्मों के द्वारा सर्वशः अथवा अंशतः उस व्यापक प्रभु की उपासना करते हैं वे उन स्वविकल्प के अन्दर स्फुरित होने वाले धर्म की पटुता (= प्रबोध) के कारण पूर्ण धर्मों के समूह उस धर्मी को प्राप्त करते हैं । (उस रूप में स्फुरित होते हैं) ॥ १९८-२०० ॥

अतएव = धर्म के ज्ञान के द्वारा धर्मी का ज्ञान होने से । ध्रुव का भाव ध्रौव्य = नित्यता । अन्यों के द्वारा = पूर्णत्व आदि के द्वारा । स्वसमवायि के द्वारा =

इत्यर्थः । ये केचन श्रुतचिन्ताद्युत्थिततत्तन्नियतधर्मविषयस्य विकल्पौघस्य संस्कारम् अवलम्ब्य परमेश्वरं समनन्तरोद्दिष्टाभिः सर्वाभिरेव शक्तिभिः एकयैव वा शक्त्या समाविशन्ति, ते समाविष्टाः सन्तः, ते ते ये विकल्पाः तेषाम् अन्तः स्वाकारतया स्फुरन्तः, ते नियता अनियता वा धर्माः शक्तयः, तेषां पाटवं प्रबोधः तदाश्रित्य पूर्णधर्मौघम् अनन्तशक्तिखचितत्वेन पूर्णस्वभावं धर्मिणम् शक्तिमन्तं परमेश्वरम् अभेदेन अधिशेरते तद्रूपतया स्फुरन्ति—इत्यर्थः ॥ १९८-२०० ॥

ननु एकस्यापि नानाविधधर्मयोगिनोऽर्थस्य आखण्ड्येनैव प्रतीतिगोचरीभावः सम्भवति न तु इतरथा इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्काशान्त्यर्थम् एतदेव संवादयति—

ऊचिवानत एव श्रीविद्याधिपतिरादरात् ।

तदेव पठति—

त्वत्स्वरूपमविकल्पमक्षजा
कल्पने न विषयीकरोति चेत् ।
अन्तरुल्लिखितचित्रसंविदो
नो भवेयुरनुभूतयः स्फुटाः ॥ २०१ ॥

यदि नाम ऐन्द्रियिकी निर्विकल्पप्रतीतिः अविकल्पम् अविभागमपि

शक्तिरूप होने के कारण अभिन्न । जो लोग श्रवण-मनन आदि के द्वारा उत्पन्न तत्तत् नियत धर्म वाले विकल्पसमूह के संस्कार के आधार पर पूर्वोक्त सभी शक्तियों या एक शक्ति के द्वारा परमेश्वर के समावेश को प्राप्त करते है वे समाविष्ट होकर उन-उन विकल्पों के भीतर अपने स्वरूप से स्फुरित होते हुए नियत अथवा अनियत शक्ति के प्रबोध के आधार पर पूर्णस्वभावरूप परशक्तिमान् परमेश्वर से अभिन्न होकर स्फुरित होते हैं ॥ १९८-२०० ॥

प्रश्न—नाना प्रकार के धर्म वाले एक ही अर्थ का अखण्ड रूप में भान सम्भव है दूसरे रूप में नहीं, फिर यह कैसे कहा ?—इस शङ्का को शान्त करने के लिये (दूसरे ग्रन्थ का) संवादन करते हैं—

इसीलिए श्री विद्यापति ने आदरपूर्वक कहा है—

उसी का पढ़ रहे हैं—

इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली (निर्विकल्पक प्रतीति) यदि आपके निर्विकल्पक (= विभागरहित) स्वरूप को कल्पना का विषय नहीं बनाती तो (स्वयं) स्फुट (= नियत एकधर्म के अवभास द्वारा धर्मी के स्वरूप के अवभास से युक्त) तथा अस्फुट रूप में भीतर-भीतर विचित्र ज्ञान का उल्लेख करने वाली अनुभूतियाँ नहीं होगी ॥ २०१ ॥

त्वत्स्वरूपम्, कल्पने नियततत्तद्धर्मविषयत्वेन भेदनमवलम्ब्य न विषयीकुर्यात् तत् स्फुटा नियतैकतरधर्मावभासमुखेन धर्मिस्वरूपावभासमय्यः, अन्तः अस्फुटाकारत्वेन, उल्लिखिताः चित्राः अवान्तरनानाधर्मविषयाः संविदो यासां ताः, एवंविधाः अनुभूतयः अनुभवाः, नो भवेयुः न उत्पद्येरन्—इत्यर्थः। यदि हि सर्वधर्माक्रान्त्या धर्मिणि सर्वे अनुभवाः स्युः तत् परिव्राडित्यादौ एकैकस्यापि तिस्रः कल्पना भवेयुः, तेन स्वेच्छावशात्, अर्थित्वानुरोधाद्वा, नैपुण्याद्वा प्रतिप्रमातृनियतधर्मावभासमुखेनैव धर्मिण्यवभासो भवेत् न तु इतरथा इति युक्तम्—एकतरशक्त्यवभासमुखेन अनन्तशक्तावपि परमेश्वरेऽवभासः इति ॥ २०१ ॥

एतच्च न केवलं युक्त्या सिद्धं यावदागमेनापि—इत्याह—

तदुक्तं श्रीमतङ्गादौ स्वशक्तिकिरणात्मकम् ।
अथ पत्युरधिष्ठानमित्याद्युक्तं विशेषणैः ॥ २०२ ॥
तस्यां दिवि सुदीप्तात्मा निष्कम्पोऽचलमूर्तिमान् ।
काष्ठा सैव परा सूक्ष्मा सर्वदिक्कामृतात्मिका ॥ २०३ ॥

यदि इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक प्रतीति कल्पना = पदार्थ, में रहने वाले निश्चित भिन्न-भिन्न धर्म के विषय के रूप में भेद, का अवलम्बन कर आपके निर्विकल्पक स्वरूप को विषय न बनाये तो अन्तः = अस्फुट आकार में उल्लसित, चित्र = अवान्तर अनेक धर्मों वाली, स्फुट = नियत एक धर्मी के अवभास वाली धर्मों के स्वरूप की अवभासक अनुभूतियाँ उत्पन्न ही नहीं होगी । यदि. सभी धर्मों का अतिक्रमण करने के साथ धर्मी में सारे अनुभव होंगे तो 'परिव्राट्' इत्यादि को एक विषय में एक-एक की तीन-तीन[1] कल्पनायें होंगी । इसलिये स्वेच्छा के कारण या अर्थित्व के अनुरोध वश अथवा निपुणता के कारण अलग-अलग प्रमाता के लिये धर्मी में अलग-अलग अवभास होता है । दूसरे प्रकार से नहीं । इसलिये एक-एक शक्ति के अवभास से अनन्त शक्ति वाले परमेश्वर में (पदार्थों का) अवभास होता है ॥ २०२ ॥

यह बात केवल तर्क से ही नहीं अपितु आगम से भी सिद्ध है—यह कहते हैं—

यही बात मतङ्ग आदि शास्त्रों में कही गई हैं—स्वशक्तिरूपी किरणों वाली जो वस्तु है वह 'पति का अधिष्ठान (= अभिव्यक्ति का आश्रय) इत्यादि विशेषणें के द्वारा कही गई है ॥ २०२ ॥

उस दीप्यमान (शक्ति) में महाप्रकाश शरीर वाला, कम्पनरहित तथा अचल मूर्त्ति वाला (शिव वर्तमान है, इस कारण) वही (= शक्ति ही)

---

१. परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः ॥

प्रध्वस्तावरणा शान्ता वस्तुमात्रातिलालसा ।
आद्यन्तोपरता साध्वी मूर्तित्वेनोपचर्यते ॥ २०४ ॥

स्वशक्तिकिरणात्मकं यद्वस्तु तत् 'पत्युरधिष्ठानम्' इत्यादिभिः विशेषणैः अर्थात् विशिष्टमुक्तम्—इति सम्बन्धः । 'अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकिरणात्मकम् ।' इत्येवं-पाठ ऐशः, ग्रन्थकृता पुनरेवं विध्यनुवादभावदर्शनार्थम् अन्यथा पाठः कृतः, तान्येव विशेषणानि दर्शयितुं 'तस्याम्' इत्यादि 'उपचर्यते' इत्यन्तमागमः पठितः । स्वाः अनन्यसाधारणा याः शक्तयः ता एव अभिन्नत्वप्रकाशत्वानन्त्यादिना किरणाः रश्मयः तदात्मकम्, पत्युः शक्तिमतः, अधिष्ठानम् अभिव्यक्तिस्थानम्—इत्यर्थः । शक्तिरेव तज्ज्ञप्तावुपायः, यदुक्तम्—

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ।।' इति ।

अत एव तस्याम् शक्तौ, दिवि द्योतमानायाम्, सोऽपि सुष्ठु दीप्तात्मा महाप्रकाशवपुः, अत एव निष्कम्पः स्वस्मिन्नेव रूपे अवस्थितः, तस्य हि प्रकाशात्मनः स्वरूपात्प्रच्यावे सर्वमिदम् अन्धं स्यात्, अत एव च अचलया

पराकाष्ठा (= अन्तिम विश्रान्तिधाम) है, वह सूक्ष्म, सभी दिशाओं में व्याप्त (अर्थात् जगत्स्वरूप) तथा अमृत (= नित्य) आवरणरहित शान्त, परमार्थिक स्वरूप की स्फुरत्ता वाली आदि एवं अन्त से रहित, साध्वी (शक्ति लक्षण के द्वारा परमेश्वर की) मूर्त्ति के रूप में मानी जाती है ।। २०३-२०४ ।।

परमेश्वर की शक्तिरूपी किरणस्वरूप जो वस्तु है वह 'पति का अधिष्ठान' इत्यादि विशेषणों के द्वारा अर्थात् विशिष्ट रूप से कही गयी है—ऐसा अन्वय है । आगम का पाठ—अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकिरणात्मकम् ।—इस प्रकार का है । ग्रन्थकार = अभिनवगुप्त ने पुनः विधि एवं अनुवाद भाव को दिखलाने के लिये पाठ के क्रम को बदल दिया । उन्हीं विशेषणों को दिखलाने के लिये 'तस्यां' से लेकर 'उपचर्यते' तक आगम का प्रतिपद पाठ किया । स्व = अनन्य साधारण जो शक्तियाँ, वे ही अभिन्नत्व प्रकाशत्व अंनन्तत्व आदि के द्वारा किरण = रश्मियाँ, हैं। पति = शक्तिमान् का अधिष्ठान = अभिव्यक्ति का स्थान तदात्मक है । परमेश्वर के ज्ञान का उपाय शक्ति ही है । जैसा कि कहा गया—

'जैसे प्रकाश के द्वारा दीपक का, किरणों के द्वारा सूर्य का दिक् विभाग आदि (= सूर्य या दीपक किस दिशा में है इत्यादि) जाना जाता हे उसी प्रकार हे प्रिये ! शक्ति के द्वारा शिव का ज्ञान होता है ।'

इसलिये उस द्योतमान शक्ति में ही वह सुदीप्तात्मा = महाप्रकाशस्वरूप इसलिये स्थिर अचल मूर्त्तिमान् (शिव) स्थित (और अनुभूत होते) हैं । यदि

महाप्रकाशमय्या प्रशस्यया मूर्त्या युक्तः, यतश्च तस्यामेवंविधायाम् अयमेवंविधः, ततः सैव परा काष्ठा लोकोत्तरा विश्रान्तिभूः, अत एव सूक्ष्मा परिच्छेत्तुम-शक्या—परप्रमात्रेकरूपत्वात्, अत एव वस्तुमात्रे पारमार्थिके रूपे अतिशयेन लालसा तत्स्फुरत्तात्मिका इति यावत् । एवं च प्रकर्षेण निःसंस्कारतया ध्वस्तानि बाह्यावरणानि यया सा प्रशान्तभेदा इत्यर्थः, अत एव शान्ता चिन्मात्ररूपा—इत्यर्थः । एवमपि सर्वदिक्का सर्वदिक्षु भवा स्थावरजङ्गमात्मकजगद्रूपत्वात् चित्रस्वभावा इति यावत्, तदपि अमृतात्मिका नित्या, अत एव आद्यन्तोपरता, अनित्ये हि आद्यन्तौ भवतः, अत एव साध्वी अनित्यत्वादिदोषकालुष्यरहिता—इत्यर्थः, एवंविधा च एषा शक्तिमतः परमेश्वरस्य मूर्तित्वेन उपचर्यते गौण्या वृत्त्या तद्रूपतया अभिधीयत—इत्यर्थः ॥ २०२-२०४ ॥

ननु उपचारे मुख्यार्थबाधादिना त्रितयेन अवश्यभाव्यं तच्चात्र किमस्ति न वा ? इत्याशङ्क्याह—

तथोपचारस्यात्रैतन्निमित्तं सप्रयोजनम् ।

निमित्तम् इति कारणम्, तद्वशादेव हि उपचारो भवेत्—इति भावः ।

प्रकाशस्वरूप वह अपने स्वरूप से च्युत हो जाँय तो यह सब कुछ अन्धकारमय हो जायेगा । इसीलिये वे अचल = महाप्रकाशमयी प्रशंसा के योग्य मूर्ति से युक्त है । चूँकि उस प्रकार की शक्ति में उस प्रकार के शिव हैं इसलिये वही (शक्ति) पराकाष्ठा = लोकोत्तर विश्रान्तिधाम, सूक्ष्म = परिसीमन से परे है क्योंकि वह परप्रमातास्वरूप है । वह पारमार्थिक रूप में स्फुरण करती रहती है । संस्कारसहित समस्त आवरणों का नाश करने से वह भेदरहित है । इसीलिये वह शान्त अर्थात् चिन्मात्रस्वरूप वाली है । ऐसा होने पर भी वह सर्वदिक्का = समस्त दिशाओं में रहने वाली स्थावर जङ्गम रूप जगत् के कारण विचित्र स्वभाव वाली है । तो भी वह अमृतरूपा अर्थात् नित्य है । आदि अन्त से रहित है । आदि और अन्त अनित्य वस्तुओं में होते हैं । इसलिये वह साध्वी = अनित्यत्व आदि मालिन्य से रहित है । इस प्रकार की वह शक्ति शक्तिमान् परमेश्वर की मूर्ति के रूप में उपचरित होती है । अर्थात् गौणी वृत्ति के द्वारा उसी (परमेश्वर) के रूप में कही जाती है ॥ २०२-२०४ ॥

प्रश्न—उपचार में मुख्यार्थबाध आदि तीन[१] होने चाहिये । वे यहाँ है या नही?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस लक्षण का प्रयोजनवान् यह निमित्त है ॥ २०५- ॥

निमित्त = कारण । उसी के कारण उपचार होता है । शक्ति जब शक्तिमान्

---

१. मुख्यार्थबाध, शक्यार्थयोग, रूढ़ि अथवा प्रयोजन ।

तत्र शक्तेः शक्तिमद्रूपत्वाभिधाने बाधितस्तावत् मुख्योऽर्थः, संबन्धश्च तयोरुपायोपेयभावः ॥

तदाह—

तन्मुखा स्फुटता धर्मिण्याशु तन्मयतास्थितिः ॥ २०५ ॥
त एव धर्माः शक्त्याख्यास्तैस्तैरुचितरूपकैः ।
आकारैः पर्युपास्यन्ते तन्मयीभावसिद्धये ॥ २०६ ॥

सा शक्तिः मुखम् उपायो यस्याः, स्फुटता नाम किमुच्यते—इत्युक्तम्—'आशु तन्मयतास्थितिः' इति, आसादितायां शक्तावासादित एव शिवः—इत्याशयः । एतदेव च मुख्यं प्रयोजनम् ॥ २०६ ॥

अत एवाह—

तत्र काचित्पुनः शक्तिरनन्ता वा मिताश्च वा ।
आक्षिपेद्धवतासत्त्वन्यायाद् दूरान्तिकत्वतः ॥ २०७ ॥

अनन्ता मिताश्च इत्यर्थाच्छक्तीः । धवतासत्त्वन्यायात[1] इति—धवता हि अधवव्यावृत्ताः स्वव्यक्तीरेव आक्षिपति इत्यस्याः परिमितवस्त्वाक्षेपित्वम्, सत्त्वं

का कथन करती है तो मुख्यार्थ का बाध होता है । मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का उपाय उपेय सम्बन्ध है । शक्ति उपाय है और शिव उपेय ॥ २०५ ॥

वही कहते हैं—

तन्मुखा (= शक्ति ही उपाय है जिसकी ऐसी) स्फुटता अर्थात् धर्मी (= शिव) में शीघ्र तन्मयता की स्थिति (ही प्रयोजन है) । शिवमयीभाव की सिद्धि के लिए, शक्ति नामक उन्हीं धर्मो की उन-उन उचित रूप वाले आकारों के द्वारा उपासना की जाती है ॥ -२०५-२०६ ॥

वह = शक्ति, मुख = उपाय, है जिसका । स्फुटता क्या है—इस विषय में कहते हैं—शीघ्र तन्मयता का होना । शक्ति के प्राप्त होने पर शिव प्राप्त हो ही जाते हैं—यह भाव है । और यही मुख्य प्रयोजन है ॥ २०६ ॥

इसीलिये कहते हैं—

उसमें कोई शक्ति, धवतासत्त्वन्याय से दूर और समीप होने से परिमित तथा अपरिमित वस्तुओं का आक्षेप करती है ॥ २०७ ॥

अनन्त और परिमित—यह शक्तियों का विशेषण है । धवतासत्त्वन्याय—धवता

---

१. एक ही वस्तु में दो परस्पर विरोधी धर्मो का समावेश धवता सत्त्व न्याय है । जैसे धव (= एक प्रकार का पुष्प) में धवता है लेकिन अधवता नहीं है और सत्त्व धवता और अधवता दोनों में है ।

पुनर्धवाधवात्मनि सर्वत्रैव अस्ति इत्यस्यानन्तवस्त्वाक्षेपित्वम् । अत एव च मितवस्त्वाक्षेपिण्यो दूराः, अव्यापकत्वेन सर्वत्र असन्निहितत्वात्, अनन्तवस्त्वाक्षेपिण्यस्तु आसन्नाः, व्यापकत्वात् सर्वत्रैव संनिहितत्वात् ॥ २०७ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति—

तेन पूर्णस्वभावत्वं प्रकाशत्वं चिदात्मता।
भैरवत्वं विश्वशक्तीराक्षिपेद्व्यापकत्वतः ॥ २०८ ॥
सदाशिवादयस्तूर्ध्वव्याप्त्यभावादधोजुषः ।
शक्तीः समाक्षिपेयुस्तदुपासान्तिकदूरतः ॥ २०९ ॥

अधोजुषः इति—ईश्वरादिकाः शक्तीः, तदिति पूर्णस्वभावत्वसदाशिवत्वादेः व्यापकत्वाव्यापकत्वस्वभावत्वाद्धेतोः । पूर्णस्वभावे हि रूपे उपासन्नाः पूर्णमेव भुक्तिमुक्तिलक्षणं फलम् आसादयन्ति, अपूर्णस्वभावे पुनरपूर्णत्वमेव इत्युक्तम् 'उपासान्तिकदूरतः' इति । अत एव च दर्शनभेदः ॥ २०८-२०९ ॥

ननु विकल्प एव तत्कल्पनाबलान्नियतः सामान्यात्मा धर्मोऽवभासते इति तत्र

कहने से अधवता का प्रत्याख्यान हो जाता है । इस प्रकार 'धवता' शब्द अपने वाच्य व्यक्तियों का ही आक्षेप करता है । इसलिये यह परिमित वस्तु का आक्षेपक है । इसके विपरीत 'सत्त्व' धवता और अधवता दोनों में रहता है इसलिये यह अनन्तवस्तु का आक्षेप करता है । परिमित वस्तु का आक्षेप करने वाली (शक्तियाँ) दूर होती हैं क्योंकि वे व्यापक न होने से सर्वत्र सन्निहित नहीं होती । अनन्त वस्तु का आक्षेप करने वालीं (शक्तियाँ) आसन्न हैं क्योंकि वे व्यापक होने से सर्वत्र सन्निहित रहती हैं ॥ २०७ ॥

इसी को प्रस्तुत से जोड़ते हैं—

इसलिए व्यापक होने के कारण (शिव) पूर्णस्वभावता, स्वप्रकाशता, चिदात्मता, भैरवत्व एवं सम्पूर्ण शक्ति का आक्षेप करते हैं । जबकि सदाशिव आदि ऊर्ध्व व्याप्ति के न होने से उस (= शिव) की उपासना के अन्तिक एवं दूर होने से निम्न स्तर पर वर्तमान (ईश्वर आदि) शक्तियों का आक्षेप करते हैं ॥ २०८-२०९ ॥

अधोजुषी नीचे रहने वाली—ईश्वर आदि शक्तियाँ । तत् = पूर्णस्वभावत्व सदाशिवत्व आदि के व्यापकत्व और अव्यापकत्व स्वभाव के कारण । पूर्णस्वभाव वाले रूप की उपासना करने वाले भोगमोक्षलक्षण वाले पूर्ण फल को प्राप्त करते हैं और अपूर्ण स्वभाववाले (के उपासक) अपूर्ण फल को, इसलिये कहा गया— 'उपासान्तिकदूरतः' । इसीलिये दर्शनों का भेद है ॥ २०८-२०९ ॥

प्रश्न—विकल्प में ही उसकी कल्पना के बल से निश्चित सामान्य धर्म भासित

तन्मुखेन धर्मिणि अवभासो भवेत् इत्ययं क्रमः शाक्तोपाये स्यात् न तु अखण्डवस्त्ववभासात्मनि निर्विकल्पकस्वभावे शाम्भवे इति कथमिहैतदुक्तम्? इत्याशङ्क्याह—

इत्थं-भावे च शाक्ताख्यो वैकल्पिकपथक्रमः ।
इह तूक्तो यतस्तस्मात् प्रतियोग्यविकल्पकम् ॥ २१० ॥

इह इति शाम्भवावसरे, तस्मात् इति—विकल्पात्, प्रतिपक्षे हि निरूपिते सुष्ठु पक्षनिरूपणं कृतं स्यात् इति—नैतदप्रस्तुतं किञ्चिदभिहितम्—इति भावः । विकल्पे हि क्रमेण अखण्डवस्त्ववभासो भवति अविकल्पे पुनरक्रमेण इति—प्राप्ताविकल्पस्थितिर्यत्र कुत्रचिदवधत्ते तत्रास्य तदैव शिवतापत्तिः स्यात् ॥ २१०॥

तदाह—

अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत् ।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत् ॥ २११ ॥

एतदेव उदाहरति—

निर्मले हृदये प्राग्र्यस्फुरद्भूम्यंशभासिनि ।

होता है । इसलिये उस (धर्म) के माध्यम से धर्मी में अवभास होता है । यह क्रम शाक्तोपाय में है । अखण्ड वस्तु के अवभासस्वरूप निर्विकल्पक स्वभाव वाले शाम्भवोपाय में यह सम्भव नहीं है फिर इसको यहाँ कैसे कह दिया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार की भावना में शाक्त नामक विकल्पयुक्त मार्ग का क्रम होता है । किन्तु यहाँ (= शाम्भव समापत्ति के प्रकरण में (उस विकल्प का) प्रतियोगी अविकल्प ही निरूपित है ॥ २१० ॥

यहाँ = शाम्भवोपाय के प्रकरण में । उससे = विकल्प से । प्रतिपक्ष का निरूपण करने पर ही पक्ष का निरूपण भलीभाँति होता है । इसलिये कुछ भी अप्रासंगिक नहीं कहा गया—यह तात्पर्य है । विकल्प में अखण्डवस्तु का अवभास क्रम से होता है और अविकल्प में अक्रमपूर्वक । इसलिये अविकल्प की स्थिति प्राप्त करने वाला (साधक) जहाँ कहीं भी ध्यान लगाता है वहीं उसका शिव के साथ तादात्म्य हो जाता है ॥ २१० ॥

वही कहते हैं—

निर्विकल्पक मार्ग में आरूढ़ होने वाला व्यक्ति पृथ्वी से लेकर शिवपर्यन्त जिस-जिस मार्ग से समावेश का आधान करता है उसी-उसी मार्ग से शिवत्व को प्राप्त करता है ॥ २११ ॥

इसी को उदाहरण से सिद्ध कर रहे हैं—

प्रकाशे तन्मुखेनैव संवित्परशिवात्मता ॥ २१२ ॥

इह खलु निर्मले हृदये पूर्णाहंविमर्शात्मनि, अत एव प्राग्र्यम्—आखण्ड्येन प्रकृष्टम् कृत्वा, स्फुरद्भूमिलक्षणः तत्त्वान्तरापेक्षया अंशः षट्त्रिंशो भागः, तदाभासात्मनि प्रकाशे तद्भूम्यंशात्मनैव उपायेन संवित्परशिवात्मता तदावेशः स्यात्—इत्यर्थः ॥ २१२ ॥

एतदेव उपसंहरति—

एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विदुः ।
शाम्भवाख्यं समावेशं सुमत्यन्तेनिवासिनः ॥ २१३ ॥

परा भट्टारिकारूपा च असौ इच्छाशक्तिः, तदात्मकश्च असौ अंशः

'..................परं त्विच्छात्मकं मतम् ।'

इत्याद्युक्तेः शाक्ताद्यपेक्षया साक्षादुपायत्वात् संश्चासौ उपायः तम्, सुमत्यन्तेनिवासिनः इति—श्रीसोमदेवादयः । श्रीसुमतिनाथस्य श्रीसोमदेवः शिष्यः, तस्य श्रीशम्भुनाथः इति हि आयातिक्रमविदः । यद्वक्ष्यति—

'श्रीसोमतः सकलवित्किल शम्भुनाथः... ।' इति ।

निर्मल हृदय में अखण्ड रूप से प्रकृष्ट, स्फुरत् भूमि के आंशिक आभास से युक्त प्रकाश होने पर उसी के द्वारा संवित् आवेश (= शाम्भव समावेश) होता है ॥ २१२ ॥

निर्मल हृदय = पूर्णअहंविमर्श वाला (हृदय) । इसलिये प्राग्र्य = अखण्ड रूप में स्फुरित होने वाला, पृथ्वी का अवभास अन्य तत्त्वों की अपेक्षा ३६वाँ है । उसके आभास वाले प्रकाश में उस भूमि अंश वाले ही उपाय से संवित् परशिवात्मता अर्थात् शिवावेश हो जाता है ॥ २१२ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सुमतिनाथ के शिष्य (= सोमदेव) पराभट्टारिकारूप इस इच्छा शक्ति के अंशभूत इस उपाय को शाम्भव समावेश मानते हैं ॥ २१३ ॥

परेच्छा = परभट्टारिका रूपा इच्छाशक्ति और उसका अंश ।

'...पर इच्छा रूप माना गया है ।

इत्यादि उक्ति के अनुसार (शाम्भवोपाय) शाक्तोपाय की अपेक्षा साक्षात् उपाय होने से सदुपाय है । सुमति के अन्तेनिवासी = सोमदेव आदि । श्रीसुमतिनाथ के शिष्य श्री सोमदेव उनके श्री शम्भुनाथ ऐसा आगमक्रम के विद्वान् मानते हैं । जैसा कि कहेंगे—

यत्तु—

'कश्चिद्दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान्विभुर्भैरवः
पञ्चस्त्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः ।
लोकेऽभूत्सुमतिस्ततः समुदभूत्तस्यैव शिष्याग्रणीः
श्रीमाञ्छम्भुरिति प्रसिद्धिमगमज्जालन्धरात्पीठतः ॥'

इत्यन्यत्रोक्तं तत्परमगुर्वभिप्रायेणैव योज्यम् । यद्वा—

'इति श्रीसुमतिप्रज्ञाचन्द्रिकापास्ततामसः ।
श्रीशम्भुनाथः सद्भावं जाग्रदादौ न्यरूपयत् ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् ॥ २१३ ॥

इदानीं शाम्भवमुपायं प्रतिपाद्य, शाक्तमप्याह—

शाक्तोऽथ भण्यते चेतोधीमनोहंकृतिः स्फुटम् ।
सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुतः ॥ २१४ ॥

'श्री सोमदेव से समस्त शास्त्रों के ज्ञाता शम्भुनाथ...'

और जो कि—

'दक्षिण भारतभूमि के पीठ में रहने वाले कोई श्रीमान् समर्थ भैरव (नामक गुरु थे) जिन्होंने पञ्चस्रोतस् सिद्धान्त के अतिशय व्यापक शास्त्र का प्रवर्त्तन किया । संसार में उनके शिष्य सुमतिनाथ और उनसे शिष्यों में अग्रणी श्री शम्भुनाथ हुए जो जालन्धर पीठ से प्रसिद्धि को प्राप्त किये ।'

ऐसा अन्यत्र कहा गया वह परमगुरु के अभिप्राय से (उक्त) समझना चाहिये ।

अथवा

'जहाँ तक इस गुरु (की शिष्यपरम्परा) का विस्तार होता है वहाँ तक एक ही गुरु माना जाता है ।'

इत्यादि वक्ष्यमाण नीति के आधार पर इसकी व्याख्या करनी चाहिए ऐसा ही—

श्रीसुमतिनाथ की प्रतिभारूपी चन्द्रिका से समस्त (अज्ञानरूपी) अन्धकार नष्ट हो गया जिनका, ऐसे श्री शम्भुनाथ ने जाग्रत आदि अवस्थाओं में सद्भाव का निरूपण किया ।' इत्यादि (के विषय) में भी जानना चाहिये ॥ २१३ ॥

शाम्भव उपाय का प्रतिपादन कर अब शाक्त (उपाय) को कहते हैं—

अब शाक्तोपाय का वर्णन किया जाता है । यह चित, बुद्धि मन एवं अहङ्कार रूप है । सविकल्पक होने के कारण यह मायामय है किन्तु वास्तविक रूप में यह इच्छा आदि (= ज्ञान, क्रिया)

एतच्चात्र न मनोमात्रम्—इत्याह—धीमनोऽहंकृति इति । अत एव स्फुटम्—साक्षादभिव्यक्तस्वरूपम्—इत्यर्थः । ततश्च—

'सर्वो विकल्पः संसारः.................. ।'

इत्यादिनीत्या भेदप्रथारूपम् इत्युक्तम्—'सविकल्पतया मायामयम्' इति । एवमपि परमार्थतो यथायोगम् एतदिच्छाज्ञानक्रियात्मकम्—इत्युक्तम्—'इच्छादि-वस्तुतः' इति । यथा खलु पतिरिच्छाद्याभिः शक्तिभिर्विश्वं निर्मिमीते तथैव विकल्पाद्यपि बुद्ध्याद्यन्तःकरणत्रयेण पशुः—इत्याशयः विकल्पादौ हि प्रायः क्षेत्रज्ञस्यैव स्वातन्त्र्यम्, तन्निर्माणं च एतत्त्रयाधीनमेव इत्येवमुक्तम् ॥ २१४ ॥

अत आह—

अभिमानेन सङ्कल्पाध्यवसायक्रमेण यः ।
शाक्तः स मायोपायोऽपि तदन्ते निर्विकल्पकः ॥ २१५ ॥

इह हि स्वात्मनि अहङ्कारग्रहेण कर्तृत्वमभिमन्य बाह्यमेषणीयादि तदतद्रूपतया

ही है ॥ २१४ ॥

यह केवल मनोमात्र नहीं है इसलिये कहा—बुद्धि, मन और अहङ्कारमय । इसीलिये यह स्फुट है अर्थात् इसका स्वरूप साक्षात् अभिव्यक्त होता है । इसलिये—

'समस्त विकल्प ही (समस्त) संसार है ।'

इत्यादि नीति के अनुसार (यह उपाय) भेदप्रथारूप है । यही कहा गया—सविकल्पक होने से मायामय है ।'

ऐसा होने पर भी परमार्थतः योग के अनुसार यह इच्छाज्ञानक्रियात्मक है—यह कहा गया—इच्छादि वस्तुतः । जिस प्रकार परमेश्वर इच्छा आदि शक्तियों के द्वारा विश्व का निर्माण करते हैं उसी प्रकार पशु भी बुद्धि आदि अन्तः करणों से विकल्प आदि का निर्माण करता है । विकल्प आदि के विषय में क्षेत्रज्ञ (= जीव) स्वतन्त्र है और उस (क्षेत्र या संसार) का निर्माण इन तीन (बुद्धि आदि) के अधीन हैं ॥ २१४ ॥

इसलिये कहते हैं—

(अपने अन्दर कर्तव्य के) अभिमान के द्वारा सङ्कल्प एवं निश्चय के क्रम से जो शाक्त समावेश होता है वह मायोपाय (= भेदोपाय) होते हुए भी अन्त में निर्विकल्पक (अर्थात् अभेदोपाय = शाम्भवोपाय) हो जाता है ॥ २१५ ॥

आत्मा में अहङ्कार के अभिमान से कर्तृत्व का अभिमान कर बाह्य एषणीय

सङ्कल्प्य तदेव च अन्यापोहेन निश्चित्य 'अहमेव सर्वत्र स्थितः' 'सर्वं वा मय्येव स्थितम्' इत्येवमात्मा यः शाक्तो वैकल्पिकः प्रत्यय उदेति स यद्यपि विकल्पानां भेदनिष्ठत्वात् मायात्मक उपायः तथापि तेषां विकल्पानाम् अभ्यासबलेन यथायथं सातिशयविकल्पजननात् अन्ते स्फुटतमार्थसाक्षात्कारात्मा निर्विकल्पकः शाम्भवः समावेशः स्यात्—इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे ।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥'

इत्याद्युपक्रम्य—

'ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥' इति ।

अत एव हि शाक्तोपायस्य उपायोपायत्वमुक्तम् ॥ २१५ ॥

ननु अस्मदादेः सर्वस्यैव अयत्नोपनतः स्वारसिको निर्विकल्पकः प्रत्ययः स्थितः इति किं नाम तत्र शाम्भवावेशरूपत्वमुक्तम्, यदपि उपेयतया उपदिश्यते ? इत्याशङ्क्याह—

पशोर्वै याविकल्पा भूर्दशा सा शाम्भवी परम् ।

(पदार्थों) की तत्तद् रूप में कल्पना कर उस (पदार्थ) का भिन्न पदार्थों के परित्याग के द्वारा निश्चय कर 'मैं ही सर्वत्र स्थित हूँ' अथवा 'सब कुछ मुझ में स्थित है' इस प्रकार का जो शाक्त वैकल्पिक प्रत्यय उत्पन्न होता है वह यद्यपि मायात्मक उपाय है क्योंकि विकल्प भेद में होते हैं, तथापि अभ्यास के बल से उन विकल्पों में क्रमिक अतिशयता के उत्पन्न होने से अन्त में स्फुटतम अर्थ के साक्षात्कार वाला निर्विकल्पक शाम्भव समावेश हो जाता है । जैसा कि आगे कहेंगे—

'पूर्व आह्निक में उक्त इस परमेश्वर स्वभाव में प्रवेश का इच्छुक साधक विकल्पों का तत्काल संस्कार करे ।'

यहाँ से प्रारम्भ कर—

'इसके बाद (वह साधक) स्फुटतम, उदार एवं तद्रूपता से संवर्धित निर्मल विकल्परहित संवित् को प्राप्त करता है ।'

यहाँ तक (विषय का वर्णन करते हैं) ।

इसीलिये शाक्तोपाय को उपायोपाय भी कहते हैं ॥ २१५ ॥

प्रश्न—हम सभी लोगों को बिना प्रयत्न के स्वाभाविक निर्विकल्पक प्रत्यय होता है फिर इसको शाम्भव समावेश क्यों कहते हैं और वह भी उपेय के रूप में उपदिष्ट होता है ?—यह शंका कर कहते हैं—

अपूर्णा मातृदौरात्म्यात्तदपाये विकस्वरा ॥ २१६ ॥

सा इति अविकल्पा भूः । यदुक्तम्—

'तस्यां दशायामैश्वरो भावः पशोरपि ।' इति ।

यद्येवं तर्हि अत्र किमुपदेशादियत्नेन ? इत्याह परमपूर्णा इति संकुचितस्य हि मातुः संकुचिते एव ज्ञानक्रिये भवतः, इति कथं तत्रास्य दुरात्मनः साक्षात् शाम्भवत्वं भवेत्—इति भावः, अत एव तस्य मातृदौरात्म्यस्य अपाये पूर्णतोल्लासे सा शाम्भवी दशा विकस्वरा पूर्णज्ञत्वकर्तृत्वादिशालिनी भवेत्— इत्यर्थः, तेन संकुचितज्ञत्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनपुरःसरं स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थम् अवश्योपादेयोऽयम् उपदेशादियत्नः इति सिद्धम् ॥ २१६ ॥

तदेव प्रकृते योजयति—

एवं वैकल्पिकी भूमिः शाक्ते कर्तृत्ववेदने ।
यस्यां स्फुटे परं त्वस्यां सङ्कोचः पूर्वनीतितः ॥ २१७ ॥
तथा सङ्कोचसम्भारविलायनपरस्य तु ।
सा यथेष्टान्तराभासकारिणी शक्तिरुज्ज्वला ॥ २१८ ॥

(अपने अन्दर) प्रमाता का अभिमान करने के कारण पशुप्रमाता की जो अपूर्ण विकल्पभूमि रहती है वह उस (मातृदौरात्म्य) का नाश होने पर विकस्वर (= पूर्णज्ञत्व आदि वाली निर्विकल्पक) परम शाम्भवी दशा हो जाती है ॥ २१६ ॥

वह = विकल्परहित भूमि । जैसा कि कहा गया—

"उस दशा में पशु का भी ईश्वरीय भाव हो जाता है ।"

यदि ऐसा है तो फिर उपदेश आदि प्रयत्न से क्या लाभ ?—इसके उत्तर में कहते हैं—परिपूर्णा... । संकुचित प्रमाता का ज्ञान और क्रिया भी संकुचित होती है फिर इस दुरात्मा (= संकुचित आत्मा वाले) को साक्षात् शाम्भव समावेश कैसे होगा ? इसलिये उसका = मातृदौरात्म्य का, नाश होने पर जब पूर्णता का उल्लास होता है तब विकस्वर = पूर्णज्ञत्व कर्तृत्व आदि वाली शाम्भवी दशा होती है । इसलिये संकुचित ज्ञत्व कर्तृत्व आदि के अपसारण के बाद आत्मप्रत्यभिज्ञा के लिये उपदेश आदि प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है ॥ २१६ ॥

उसी को प्रस्तुत में जोड़ते हैं—

वह विकल्पात्मक भूमि इस प्रकार की है जिसमें शाक्त ज्ञान और क्रिया स्फुट रहते हैं । किन्तु पूर्व नियम के अनुसार इसमें सङ्कोच रहता हैं पुनः सङ्कोच सम्भार का विलायन करने वाले के अन्दर वह उज्ज्वल शाक्त भूमि (विकसित) होती है जो

इह सविकल्पज्ञानात्मनि शाक्तोपाये यद्यपि निर्विकल्पापेक्षया स्फुटे ज्ञानक्रिये, तथापि मातृदौरात्म्यात् ते संकुचित एव, इति अत्रापि उपदेशादियत्नेन अवश्यं भाव्यं येन सर्वस्य तथा सङ्कोचविलायनपरतया सा शाक्ती भूः उज्ज्वला विकस्वरा, यदियम् उपेयत्वेन अभीप्सितम् अन्तः प्रमात्रैकात्म्यस्वभावम् आभासं करोति परप्रमात्रेकरूपतया स्फुरति—इत्यर्थः ॥ २१७-२१८ ॥

ननु शाक्तस्य शाम्भवाद्विकल्पाविकल्परूपत्वेन सिद्धो भेदः, विकल्पैक-रूपात् पुनराणवादस्य कथं भेदः स्यात् ? इत्याशङ्कां प्रदर्श्य, तयोरेव भेदमभिधत्ते—

ननु वैकल्पिकी किं धीराणवे नास्ति तत्र सा ।
अन्योपायात्र तूच्चाररहितत्वं न्यरूपयत् ॥ २१९ ॥

तत्र इत्यादिना समाधिः, अन्य इति उच्चारादयः । आणवे हि उच्चारादि बाह्यमेव अवलम्ब्य वैकल्पिकी बुद्धिरस्ति, अत्र शाक्ते पुनस्तद्रहितत्वेन इति

यथेष्ट आन्तरिक आभास (= परप्रमाता के साथ ऐकात्म्य का आभास) कराती है ॥ २१७-२१८ ॥

इस सविकल्पक ज्ञान वाले शाक्तोपाय में यद्यपि निर्विकल्प की अपेक्षा ज्ञान और क्रिया स्फुट रहती हैं तथापि प्रमाता के दौरात्म्य के कारण वे संकुचित ही है । इसलिये यहाँ भी उपदेश आदि प्रयत्न आवश्यक होता है, जिसके द्वारा सबकी उस प्रकार सङ्कोच के अपसारण के द्वारा वह शक्ति सम्बन्धी भूमि उज्ज्वल अर्थात् विकस्वर हो उठती है । फलतः यह उपेय के रूप में अभीप्सित अन्तप्रमाता के साथ ऐकात्म्य वाले आभास को करती है अर्थात् पर प्रमाता के साथ तादात्म्यतया स्फुरित होती है ॥ २१७-२१८ ॥

प्रश्न—शाक्त समावेश का शाम्भव समावेश के साथ भेद विकल्प एवं अविकल्प रूप से सिद्ध है किन्तु विकल्प रूप आणव समावेश से इस शाक्त समावेश का भेद कैसे सिद्ध होगा (क्योंकि दोनों विकल्पात्मक हैं)?—इस शङ्का को दिखलाकर दोनों का भेद बतलाते है—

क्या आणवोपाय में विकल्पता की बुद्धि नहीं हैं (जिससे इसका शाक्तोपाय से भेद सिद्ध होगा)? उत्तर है—(इस विषय में यह जानना चाहिए कि) वहाँ (= आणव उपाय में) वह अन्य (= उच्चार आदि बाह्य) उपाय वाली है । यहाँ (= शाक्तोपाय में) उच्चाररहितता है—ऐसा निरूपण किया गया है ॥ २१९ ॥

तत्र इत्यादि के द्वारा समाधान (प्रस्तुत करते हैं) । अन्य (उपाय) = उच्चार (करण) आदि । आणव समावेश में उच्चार आदि बाह्य पदार्थों को आधार मानकर

विशेषः, अत एव चेतसैव इति सावधारणं चिन्तनमात्रम् अत्रोक्तम् ॥ २१९ ॥

नन्वत्र किमुच्चारमात्रेणैव रहितत्वम्, उत करणादिभिरपि ?—इत्याह—

उच्चारशब्देनात्रोक्ता बह्वन्तेन तदादयः ।
शक्त्युपाये न सन्त्येते भेदाभेदौ हि शक्तिता ॥ २२० ॥

बह्वन्तेन इति बहुवचनादाद्यर्थो हि लभ्यते—इति भावः, तेन उच्चारैः रहितम् इति विग्रहो दर्शयितव्यः । एते इति उच्चारकरणादयः । न सन्ति इति भेदैकानिष्ठत्वादेषाम् । अत्र हि बाह्योच्चारादिरहितत्वात् अभेदस्य विकल्पात्मकत्वाच्च भेदस्यापि सम्भवः इत्युभयमयत्वम्, तदाह—'भेदाभेदौ हि शक्तिता' इति । आणवे पुनर्भेदस्यैव प्राधान्यम् ॥ २२० ॥

तदाह—

अणुर्नाम स्फुटो भेदस्तदुपाय इहाणवः ।
विकल्पनिश्चयात्मैव पर्यन्ते निर्विकल्पकः ॥ २२१ ॥

वैकल्पिकी बुद्धि होती है । यहाँ = शाक्त समावेश में उस (= उच्चार आदि) से रहित होती है—यह अन्तर है ।

इसलिये 'चेतसैव' इस पद में एवकार के साथ केवल चिन्तन को ही यहाँ कहा गया है ॥ २१९ ॥

क्या यहाँ उच्चारण ही नहीं रहता या करण आदि भी?—यह कहते हैं—

यहाँ (= उक्त श्लोक में) बहुवचनान्त (= उच्चारैः) होने के कारण उच्चार शब्द से उच्चार आदि समझना चाहिए । शाक्तोपाय में सब (उच्चार करण आदि) नहीं है । (वहाँ) भेदाभेद (का प्राधान्य) रहता है ॥ २२० ॥

बह्वन्तेन पद में बहु पद का कथन करने से आदि अर्थ प्राप्त हो जाता है । इससे उच्चारों (= उच्चार आदि) से रहित—ऐसा विग्रह समझना चाहिये । ये उच्चार करण आदि (शाक्तोपाय में) नहीं रहते क्योंकि ये भेद वाले (समावेश) में रहते हैं । इस (= शाक्तोपाय) में बाह्य उच्चार आदि का अभेद न रहने से तथा विकल्पात्मक होने से भेद की सम्भावना रहती है । इसलिये यह दोनों वाला है । वही कहा—भेद और अभेद दोनों ही शाक्तोपाय में रहते हैं । और आणव समावेशं में भेद की ही प्रधानता रहती है ॥ २२० ॥

वह कहते हैं—

अणु का अर्थ है—स्पष्ट भेद । वही जिस उपाय में हो वह आणवोपाय (कहलाता) है । यह विकल्पों का निश्चय रूप है और

पर्यन्ते निर्विकल्पक: इत्यनेन अस्यापि शाम्भव एव विश्रान्तिरिति दर्शितम् ॥ २२१ ॥

ननु—

'सदाशिवादयस्तूर्ध्वव्याप्त्यभावादधोजुष: ।
शक्ती: समाक्षिपेयु: .... ॥' २२१ ॥

इत्याद्युक्तयुक्त्या बुद्ध्यादीनां शिवे व्यापृतिरेव नास्ति इति कथमेषां तदवाप्तावुपायत्वमपि उक्तम् ?—इत्याह—

ननु धीमानसाहंकृत्पुमांसो व्याप्नुयु: शिवम् ।
नाधोवर्तितया तेन कथितं कथमीदृशम् ॥ २२२ ॥

एतदेव समाधत्ते—

उच्यते वस्तुतोऽस्माकं शिव एव तथाविध: ।
स्वरूपगोपनं कृत्वा स्वप्रकाश: पुनस्तथा ॥ २२३ ॥

अन्त में निर्विकल्पक हो जाता है (अर्थात् शाम्भवोपाय में विश्रान्त हो जाता है) ॥ २२१ ॥

'अन्त में निर्विकल्पक (हो जाता है)—इस कथन से इस (आणव समावेश) का भी अन्त शाम्भव में ही होता है'—यह सङ्केत किया गया ॥ २२१ ॥

प्रश्न—

सदाशिव आदि ऊर्ध्व व्याप्ति के अभाव के कारण निम्नस्तर को प्राप्त होते हैं इसलिये वे शक्तियों का आक्षेप करते हैं...॥'

इत्यादि उक्त युक्ति के द्वारा शिव में बुद्धि आदि की व्याप्ति ही नहीं है फिर ये (बुद्धि आदि) उस (= शाम्भव समावेश) में उपाय कैसे कहे गये ? —यह कहते हैं—

प्रश्न है कि बुद्धि और मन के वर्तमान अहङ्कार से युक्त पुरुषगण अधोवर्ती होने के कारण शिव को व्याप्त नहीं कर सकते फिर ऐसा (= बुद्धि आदि शिवसमावेश के उपाय हैं) कैसे कहा गया है ? ॥ २२२ ॥

इसी का समाधान करते हैं—

उत्तर है—हम अद्वैतवादियों के मत में वस्तुत: शिव ही (अपने स्वातन्त्र्यात्मक) विधान के अनुसार (पहले) स्वरूप का गोपन करके पुन: उसी प्रकार स्वयं प्रकाशित होते हैं ॥ २२३ ॥

वस्तुतो हि शिव एव अस्माकम्—अद्वैतवादिनां मते—

'शिव एव गृहीतपशुभावः ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यादात्मानं प्रच्छाद्य तथाविधः बुद्ध्यादिरूपः परिमितः प्रमाता स्यात्, स एव पुनः उद्वेष्टनयुक्त्या बुद्ध्याद्यपायासादनक्रमेणैव तथा शिव एव स्वप्रकाशो भवति इति शिवेऽपि बुद्ध्यादयो व्याप्रियेरन् नो वा इति न कश्चिद्दोषः ॥ २२३ ॥

न केवलमेतदद्वैतशास्त्रेषु उक्तं यावत् द्वैतशास्त्रेष्वपि—इत्याह—

द्वैतशास्त्रे मतङ्गादौ चाप्येतत्सुनिरूपितम् ।
अधोव्याप्तुः शिवस्यैव स प्रकाशो व्यवस्थितः ॥ २२४ ॥
येन बुद्धिमनोभूमावपि भाति परं पदम् ॥ २२५ ॥

यदुक्तं तत्र—

'इत्थं गुणवतस्तस्मात्तत्त्वात्तत्त्वमनिन्दितम् ।
स्फुरद्रश्मिसहस्राढ्यमधस्ताद् व्यापकं महत् ॥' इति ।

एतदेव निगमयति 'अधोव्याप्तुः' इत्यादिना । स इति बुद्ध्यादिरूपः, येन

'शिव ही पशुभाव ग्रहण कर...' हम अद्वैत वादियों के मत में इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार शिव ही अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से अपना गोपन कर उस प्रकार बुद्धि आदि वाला परिमित प्रमाता बन जाते हैं । और वही फिर उद्वेष्टन युक्ति से बुद्धि आदि उपाय की प्राप्ति के क्रम से उसी प्रकार स्वप्रकाश शिव बन जाते हैं । इसलिये बुद्धि आदि शिव में व्याप्त रहें या नहीं—कोई दोष नहीं होता ॥ २२४ ॥

यह केवल अद्वैत शास्त्र में ही नहीं अपितु द्वैत शास्त्र में भी कहा गया है—यह कहते हैं—

मतङ्ग आदि द्वैतशास्त्र में भी यह बात अच्छी तरह निरूपित की गयी है । अधोव्यापी शिव का ही यह (= बुद्धि आदि) प्रकाश व्यवस्थित है जिससे बुद्धि और मन की भूमियों में भी परमपद का आभास होता है ॥ २२४-२२५ ॥

जैसा कि वहाँ कहा गया—

इस प्रकार के गुणवान् उस तत्त्व से निष्कलङ्क तत्त्व (उत्पन्न होता है) । स्फुरण होने वाली असंख्य रश्मियों से सम्पन्न वह महत् तत्त्व नीचे से (ऊपर की ओर) व्यापक है ।'

इसे ही 'अधोव्याप्तः' इत्यादि के द्वारा सिद्ध करते हैं । वह = बुद्धि

इति बुद्ध्यादीनां शिवप्रकाशैकरूपत्वेन हेतुना ॥ २२४-२२५ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

द्वावप्येतौ समावेशौ निर्विकल्पार्णवं प्रति ।
प्रयात एव तद्रूढिं विना नैव हि किञ्चन ॥ २२६ ॥

प्रति:—आभिमुख्ये, तेन एतदुभयमपि परप्रकाशात्मनि शाम्भवावेशे एव विश्रान्तम्—इत्यर्थ: । यद्धि तत्र न विश्रान्तं तदप्रकाशमानत्वात् न किञ्चित् स्यात् इत्युक्तम्—'तद्रूढिं विना नैव हि किञ्चन' इति । एवं च निर्विकल्पात्मा पर: प्रकाश एव सर्वेषामेषामुपाय: इत्युक्तं स्यात् ॥ २२६ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

संवित्तिफलभिच्चात्र न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत् ।
कल्पनायाश्च मुख्यत्वमत्रैव किल सूचितम् ॥ २२७ ॥

अत: इति—एकस्यामेव निर्विकल्पात्मिकायां संवित्तौ अनुप्रवेशात् । तदुक्तम्—

आदि रूपों वाला । जिससे = बुद्धि आदि के केवल शिवप्रकाश रूप होने के कारण ॥ २२५-२२६ ॥

प्रसङ्गत: इसका कथन कर अब प्रस्तुत को कहते हैं—

ये दोनों ही (= आणव और शाक्त) समावेश निर्विकल्पक अर्णव (= शाम्भव समावेश) को प्राप्त होते हैं । क्योंकि वहाँ तक पहुँचे बिना कुछ भी नहीं है ॥ २२६ ॥

'प्रति' शब्द का प्रयोग आभिमुख्य अर्थ में है । इससे (यह अर्थ निकलता है कि) ये दोनों ही परप्रकाशरूप शाम्भव समावेश के ही विश्राम को प्राप्त होते हैं । जो उसमें विश्रान्त नहीं है वह अप्रकाशमान होने से कुछ नहीं है—उस में रूढ़ि के बिना कुछ नहीं है'—से यही कहा गया । इस प्रकार निर्विकल्पस्वरूप परप्रकाश ही इन सब का उपाय है—यह कहा गया ॥ २२६ ॥

इसे हमने अपने मन से नहीं कहा—यह कहते हैं—

इसलिए (किसी मनीषी ने) कहा—कि यहाँ संवित् के फल के भेद की कल्पना नहीं करनी चाहिए । यहाँ पर कल्पना की मुख्यता ही सूचित की गयी है ॥ २२७ ॥

इस कारण = एक ही निर्विकल्पकरूप संविद् में अनुप्रवेश करने के कारण । वही कहा गया—

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।' इति ।

अत्र च उपायानां नानात्वात् प्राप्तं तावत्फलभेदकल्पनम्, अन्यथा हि निषेधस्य प्राप्तिपूर्वत्वात् स एवात्र न स्यात् इति 'न प्रकल्प्या' इत्युक्त्या एतदाक्षिप्तम्—इत्याह—कल्पनाया इति । मुख्यत्वम् इति अभिधेयत्वम् । सूचितम् इति—न तु साक्षादभिहितम्—इति भावः ॥ २२७ ॥

न केवलमिह निर्विकल्पके विश्रान्तिसतत्त्वं यावदितो बाह्यानां मतेऽपि—इत्याह—

विकल्पापेक्षया योऽपि प्रामाण्यं प्राह तन्मते ।
तद्विकल्पक्रमोपात्तनिर्विकल्पप्रमाणता ॥ २२८ ॥

तस्य विकल्पापेक्षनिर्विकल्पप्रामाण्यवादिनो वैभाषिकादेः मतेऽपि, ते च ते विकल्पाः, तेषां यः क्रमः परम्परा, तया उपात्ता जनिता, निर्विकल्पस्यैव प्रमाणता—विकल्पोपारोहेण निर्विकल्प एव विश्रान्तिः—इत्यर्थः ॥ २२८ ॥

एतदेव उदाहरति—

रत्नतत्त्वमविद्वान्प्राङ्निश्चयोपायचर्चनात् ।

'विद्वान् लोग इस (भूमि) पर संवित्ति के फल में भेद की कल्पना न करें।'

उपायों के अनेक होने से फलभेद की कल्पना प्राप्त होती है । अन्यथा निषेध के प्राप्ति पूर्वक होने से वह (निषेध) ही यहाँ नहीं होता । इस प्रकार—'न प्रकल्प्या' कथन से इस (= भेदप्राप्ति) का आक्षेप होता है—यह कहते हैं—कल्पनाया । मुख्यत्व = अभिधेयत्व । सूचित है न कि साक्षात् (उक्त) ॥ २२७ ॥

इस निर्विकल्प में ही विश्रान्ति नहीं है वरन् इससे भिन्न मतवादियों के यहाँ भी यह है—यह कहते हैं—

जो भी विकल्प की अपेक्षा रखकर (निर्विकल्पक ज्ञान की) प्रमाणता को मानता है उस (वैभाषिक आदि) के मत में उन विकल्पों के क्रम द्वारा प्राप्त (= उत्पादित) निर्विकल्प का ही प्रामाण्य है ॥ २२८ ॥

उसके = विकल्प की अपेक्षा निर्विकल्प को प्रमाण मानने वाले वैभाषिक आदि के मत में भी । वे = विकल्प । उनका जो क्रम = परम्परा, उससे उपात्त = उत्पन्न हुई, निर्विकल्पक की ही प्रमाणता = विकल्प के माध्यम से निर्विकल्प में ही विश्रान्ति होती है ॥ २२८ ॥

इसी को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

(जैसे रत्नतत्त्व को न जानने वाला पूर्वनिश्चयोपाय की चर्चा के

अनुपायाविकल्पाप्तौ रत्नज्ञ इति भण्यते॥ २२९ ॥

यः कश्चन वैकटिकादिः आदौ अविकल्पवृत्या रत्नस्वरूपमजानानोऽपि 'किमेवमस्य तत्त्वं न वा' इत्यादिकल्पनामुखेन विचारमवलम्ब्य, अनुपायस्य स्वारसिकस्य अविकल्पस्य उत्थाने रत्नज्ञः तद्विषयतत्त्वं निर्विकल्पं जानानः इत्युच्यते—इति वाक्यार्थः । एवमाणवाद्यभिज्ञेऽपि वाच्यम् ॥ २२९ ॥

इह खलु भेदभेदाभेदाभेदात्मना त्रिधा ज्ञानं यदुक्तम्—

'वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ॥'

इति, तत्र आणवं भेदप्रधानमुक्तम्, शाक्तं च भेदाभेदप्रधानं शाम्भवं पुनः किं प्रधानम् ? इत्याशङ्क्याह—

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते ।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम् ॥ २३० ॥

ननु—

द्वारा उपायरहित (= स्वाभाविक) निर्विकल्पक ज्ञान की प्राप्ति होने पर रत्नज्ञ कहा जाता है (उसी प्रकार आणवोपाय आदि के ज्ञाता के विषय में भी जानना चाहिए) ॥ २२९ ॥

जो कोई जौहरी आदि पहले निर्विकल्पक वृत्ति के अनुसार रत्न के स्वरूप को न जानते हुए भी 'यह इसका यथार्थ रूप है या नहीं'—इत्यादि कल्पना के द्वारा विचार कर बाद में अनुपाय अर्थात् स्वाभाविक निर्विकल्प की उत्पत्ति होने पर रत्नज्ञ कहा जाता है क्योंकि उस (रत्न) के तत्त्व निर्विकल्प को वह जान लेता है । इसी प्रकार आणव समावेश आदि के ज्ञाता के बारे में भी कहना चाहिये । (अर्थात् वह अन्त में शाम्भव समावेश प्राप्त कर लेता है) ॥ २२९ ॥

भेद, भेदाभेद और अभेद रूप से ज्ञान तीन प्रकार का होता है । जैसा कि कहा गया—

'वस्तुतः भेद, भेदाभेद और अभेद रूप में ज्ञानसत्ता तीन ही रूप में उल्लसित होती है ।'

उनमें आणव भेदप्रधान और शाक्त भेदाभेदप्रधान कहा गया । शाम्भव ज्ञान में किसकी प्रधानता है—यह शङ्का कर कहते हैं—

(इस प्रकार) यहाँ अभेदोपाय को शाम्भव, भेदाभेदात्मक उपाय को शाक्त और भेदोपाय को आणवोपाय कहा जाता है ॥ २३० ॥

प्रश्न—

'....................मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।'

इत्याद्युक्तेः दीक्षादेः क्रियाया अपि मुक्त्युपायत्वमुक्तम् इति सा किमुपायान्तरमतिरिक्तम्, उत अत्रैव कुत्रचिदन्तर्भावमेति ? इत्याशङ्क्याह—

अन्ते ज्ञानेऽत्र सोपाये समस्तः कर्मविस्तरः ।
प्रस्फुटेनैव रूपेण भावी सोऽन्तर्भविष्यति ॥ २३१ ॥

सोपाये इति उच्चाराद्युपायसहभूते—इत्यर्थः । अत एव तत्र 'सोपाये' इति प्रागुक्तम् । समस्तः कर्मविस्तरः इति दीक्षादिर्विचित्रः क्रियाकलापः, भावी वक्ष्यमाणः । अन्तर्भविष्यति इत्यनेन—नैतदतिरिक्तम् उपायान्तरमस्ति—इत्यावेदितम् ॥ २३१ ॥

ननु सजातीये सजातीयस्य अन्तर्भावो न्याय्यो न तु इतरथा, इति कथं दीक्षादेः क्रियाया आणवज्ञानान्तर्भावः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

क्रिया हि नाम विज्ञानान्नान्यद्वस्तु क्रमात्मताम् ।
उपायवशतः प्राप्तं तत्क्रियेति पुरोदितम् ॥ २३२ ॥

तत् इति विज्ञानम्, पुरा इति—'यतो नान्या क्रिया नाम' इत्यादौ ॥२३२॥

'... मुक्ति शिवदीक्षा के द्वारा होती है ।'

इत्यादि कथन से दीक्षा आदि क्रिया भी मुक्ति का उपाय कही गयी है । वह (दीक्षा) क्या अतिरिक्त उपाय है । अथवा इन्हीं (= आणव आदि) किसी में (उसका) अन्तर्भाव है—यह शङ्का कर कहते हैं—

आगे वर्णित होने वाला समस्त दीक्षा आदि कर्मकलाप स्पष्ट रूप से (उच्चार आदि बाह्य) उपायों से युक्त अन्तिम ज्ञान (= आणवोपाय) में अर्न्तभूत हो जाता है ॥ २३१ ॥

सोपाये = जिसमें उच्चार आदि सहायक हों वह उपाय । इसीलिये वहाँ 'सोपाये' यह पहले कहा गया । समस्त कर्मविस्तार = दीक्षा आदि विचित्र कार्यसमूह जिसका वर्णन आगे किया जायगा । अन्तर्भूत होगा—इस कथन से यह कहा गया कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २३१ ॥

प्रश्न—सजातीय में सजातीय का अन्तर्भाव उचित है न कि अन्य प्रकार (विजातीय) का (अन्तर्भाव) । फिर दीक्षा आदि क्रिया का विजातीय आणव ज्ञान में अन्तर्भाव कैसे ? यह शङ्का कर कहते हैं—

क्रिया, विज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । कोई भी वस्तु उपायवश क्रम को प्राप्त होने पर क्रिया होती है—ऐसा पहले कहा गया है ॥ २३२ ॥

ननु 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' इत्यादिना 'ज्ञानान्मुक्तिः' इति तावत्प्रतिज्ञातं तत्किं स्वाधिकरणं मोचकम्, उत पराधिकरणम् ? स्वाधिकरणत्वे च तस्य किं दीक्षायां सत्यामसत्यां वा मोचकत्वम् ? असत्यां चेत्—

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञानाधिगमे एव अधिकारो नास्ति इति किं कस्य मोचकं स्यात्, सत्यां चेत् परापेक्षात्मनैव स्वात्मनि दीक्षाकरणानुपपत्तेः, पराधिकरणत्वे च कारणमन्यत्र कार्यं च अन्यत्र इति महान् दोषः ? इत्याशङ्क्याह—

सम्यग्ज्ञानं च मुक्त्येककारणं स्वपरस्थितम् ।
यतो हि कल्पनामात्रं स्वपरादिविभूतयः ॥ २३३ ॥

कल्पनामात्रम् इति, वस्तुतो हि एकैव संवित् तत्तत्स्वपराद्याभासतया प्रस्फुरति—इत्यभिप्रायः ॥ २३३ ॥

अत एवाह—

तुल्ये काल्पनिकत्वे च यदैक्यस्फुरणात्मकः ।
गुरुः स तावदेकात्मा सिद्धो मुक्तश्च भण्यते ॥ २३४ ॥

वह = विज्ञान । पहले—'यतो नान्या क्रिया नाम' इत्यादि में ॥ २३२ ॥

प्रश्न—'ज्ञान ही मोक्ष का कारण है' इत्यादि के द्वारा ज्ञान से मुक्ति होती है यह प्रतिज्ञा की गयी । तो क्या वह ज्ञान स्वयं मोक्ष देता है या दूसरे के आधार पर ? यदि वह स्वयं मोचक है तो फिर क्या दीक्षा के होने पर या न होने पर । यदि (दीक्षा के) न होने पर (मोचक) है तो

'दीक्षा के बिना शाङ्कर योग में अधिकार नहीं बनता ।'

इत्यादि उक्ति से ज्ञानप्राप्ति में (साधन का) अधिकार ही नहीं है तो फिर कौन किसका मोचक होगा । यदि (दीक्षा के) होने पर मोक्ष होता है तो पर दीक्षा के रूप में दीक्षा अपने आप में अनुपपन्न हो जायेगी । पराधिकरण होने पर कारण अन्यत्र, और कार्य अन्यत्र यह महान् दोष होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्व और पर में वर्तमान सम्यक् ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र कारण है । क्योंकि स्व पर आदि विभूतियाँ (उसी परासंवित् के स्वातन्त्र्यवश) कल्पनामात्र है ॥ २३३ ॥

'कल्पनामात्र' कहने का आशय यह है कि परमार्थतः = एक ही संवित् भिन्न-भिन्न स्व पर आदि आभास के रूप में उल्लसित होती है ॥ २३३ ॥

इसलिए कहते हैं—

(गुरु और अगुरु आदि की अपेक्षा रखकर स्व पर कल्पना) की

गुर्वगुर्वाद्यपेक्षया स्वपरकल्पनायाः साम्येऽपि येन शिष्येण गुरुणा वा यदैक्यम् एकीकारः तेन स्फुरणम् स्वपराद्याभासविभागाभावेन एकघनसंविद्रूपतया विमर्शनं तदात्मा यो गुरुः स तावान् ऐक्यस्फुरणावधिः एक आत्मा यस्य तथाभूतः सन् सिद्धो मुक्तश्च पारमैश्वर्यमात्रमुच्यते—इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यावदस्य हि स्वसंविदेकात्मत्वेन परामर्शः तावदयम् एक एव प्राप्तपरप्रकाशैकात्म्यः परिस्फुरति इति । तदुक्तम्—

'एवं व्याप्तिं तु यो वेत्ति परापरविभागतः ।
स भवेन्मोचकः साक्षाच्छिवः परमकारणम् ॥' इति ॥ २३४ ॥

अत एवाह—

यावानस्य हि संतानो गुरुस्तावत्स कीर्तितः ।
सम्यग्ज्ञानमयश्चेति स्वात्मना मुच्यते ततः ॥ २३५ ॥
तत एव स्वसंतानं ज्ञानी तारयतीत्यदः ।
युक्त्यागमाभ्यां संसिद्धं तावानेको यतो मुनिः ॥ २३६ ॥

संतानः शिष्यप्रशिष्यादिरूप इति, इति तावदात्मत्वेन एकस्यैवास्य

तुल्यता होने पर जो एकघनसंविद् रूप में विमर्श वाला गुरु है वही एकात्मा, सिद्ध और मुक्त कहा जाता है ॥ २३४ ॥

गुरु अगुरु आदि की अपेक्षा से स्व पर कल्पना के समान होने पर भी जिस शिष्य या गुरु के द्वारा जिसके साथ एकीकार होता है और उसके द्वारा स्फुरण अर्थात् स्व पर आदि का विभाग समाप्त होने से जो एकात्मता का उल्लास हो जाता है वही एकात्मा सिद्ध और मुक्त गुरु = परमेश्वर कहा जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि जब इस (गुरु) के अन्दर स्वसंविद् के साथ ऐकात्म्य रूप में परामर्श उत्पन्न होता है तब यह परप्रकाश के साथ ऐकात्म्य को प्राप्त कर उल्लसित होता है । वही कहा गया—

'इस प्रकार की परापरमयी व्याप्ति को जो जानता है वही मोचक है और साक्षात् परम कारण शिव है' ॥ २३४ ॥

इसीलिये कहते हैं—

जितनी दूर तक इस (= गुरु) का सन्तान होता है उतनी दूर तक (= उतनी शिष्यप्रशिष्यपरम्परा तक) वह गुरु कहा जाता है उसके बाद सम्यग् ज्ञान से युक्त होते हुए वह स्वयं मुक्त हो जाता है ॥ २३५ ॥

इसीलिए ज्ञानी अपनी परम्परा को मुक्त करा देता है । यह (बात) युक्ति और आगम से सिद्ध है क्योंकि उतनी दूर तक वह अकेला ही गुरु होता है ॥ २३६ ॥

स्फुरणात्। तत इति तावतः संतानात् । तावन्तं हि संतानमवलम्ब्य संविदैकात्म्यात् एक एवायं गुरुः इति यत् संतानिनो मुच्यन्ते, तत् स एव स्वात्मना मुच्यते इति स्वपरविभागस्य काल्पनिकत्वात् न कश्चिद्दोषः । अत एवाह—'तत एव' इत्यादि, तारयति इति । तदुक्तम्—

'आचार्यः स्वजनानां च कुलकोटिसहस्रशः ।
ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात्सर्वान्संतारयिष्यति ॥' इति ।

अत्र हेतुः 'तावानेको यतो मुनिः' मुनिः इति गुरुः ॥ २३५-२३६ ॥

एवं च सति अयत्नेन परोक्तदूषणोद्धारः सिद्धः—इत्याह—

तेनात्र ये चोदयन्ति ननु ज्ञानाद्विमुक्तता ।
दीक्षादिका क्रिया चेयं सा कथं मुक्तये भवेत् ॥ २३७ ॥
ज्ञानात्मा सेति चेज्ज्ञानं यत्रस्थं तं विमोचयेत् ।
अन्यस्य मोचने वापि भवेत्किं नासमञ्जसम् ।
इति ते मूलतः क्षिप्ता यत्त्वत्रान्यैः समर्थितम् ॥ २३८ ॥

सन्तान = शिष्यप्रशिष्यपरम्परा । इस कारण = उस रूप में एक ही इसके स्फुरण से । उससे = उस परम्परा से संविद् के साथ तादात्म्य के कारण उतनी परम्परा का आलम्बन कर एक ही गुरु उन सभी सन्तानियों को मुक्त कर देता है । तत् = वही अपने द्वारा मुक्त होता है । इस प्रकार स्वपर विभाग के काल्पनिक होने से कोई दोष नहीं है । इसलिये कहते हैं—इसी से इत्यादि, पार कर देता है वही कहा गया—

'आचार्य अपने सभी आदमियों के करोड़ों वंश को ज्ञान ज्ञेय के वास्तविक बोध के द्वारा (संसार से) पार कर देता है ।'

इसमें कारण है—क्योंकि वहाँ—तक वह एक ही मुनि अर्थात् गुरु होता है ॥ २३५-२३६ ॥

ऐसा होने पर बिना प्रयत्न के परोक्त दोष का उद्धार सिद्ध होता है । यह कहते हैं—

इसलिए जो लोग प्रश्न करते हैं कि यदि ज्ञान से मुक्ति होती है तो यह दीक्षादि क्रिया मुक्ति के लिए कैसे होगी? यदि वह (= दीक्षादि क्रिया) ज्ञान स्वरूप है तो जहाँ वह रहेगी उसी को मुक्त कराएगी । क्या अन्य (= दीक्षा रहित) की मुक्ति के विषय में वह समर्थ होगी ? इस प्रकार मूल रूप में उनके प्रति आक्षेप हुआ है । और जिसका दूसरे लोगों (= भेदेश्वरवादियों) के द्वारा समर्थन किया गया है ॥ २३७-२३८ ॥

ये इति भेदवादप्रकाराः, ते इति एवं चोद्यविधायिनः, क्षिप्ताः प्रतिक्षिप्ताः। यन्मूलत एव ज्ञानक्रिययोरैक्यमभ्युपगतं स्वपरविभागस्य च काल्पनिकत्वम् इति तदेव च अत्र प्रतिसमाधानं नान्यत् इत्याह—'यत्तु' इत्यादि। यदन्यैर्भेदेश्वर-वादिभिर्निरूपितं तत् पुरस्तात् निषेत्स्यामः—इति सम्बन्धः ॥ २३७-२३८ ॥

ननु यदि भेदवाद्युक्तं मलस्य द्रव्यरूपत्वं नाभ्युपेयते, तत्तस्य किं रूपम् ? इत्याशङ्क्याह—

मलो नाम किल द्रव्यं चक्षुःस्थपटलादिवत् ।
तद्विहन्त्री क्रिया दीक्षा त्वञ्जनादिककर्मवत् ॥ २३९ ॥
तत्पुरस्तान्निषेत्स्यामो युक्त्यागमविगर्हितम् ।
मलमायाकर्मणां च दर्शयिष्यामहे स्थितिम् ॥ २४० ॥

एतदेव अधिकावापेन उपसंहरति—

एवं शक्तित्रयोपायं यज्ज्ञानं तत्र पश्चिमम् ।
मूलं तदुत्तरं मध्यमुत्तरोत्तरमादिमम् ॥ २४१ ॥

पश्चिममिति आणवम्, मूलमिति, तस्यैव शाक्तक्रमेण शाम्भवे विश्रान्तिः ।

जो = भेदवाद के प्रकार । वे = इस प्रकार के नियम बनाने वाले । क्षिप्त = प्रक्षिप्त । जो मूलरूप में ज्ञान और क्रिया को एक माना गया और स्वपर विभाग को काल्पनिक कहा गया वही इस विषय में प्रतिसमाधान है अन्य नहीं । यह कहा—यत्तु इत्यादि । जो कि अन्य भेदेश्वरवादियों के द्वारा कहा गया उसका आगे चल कर निषेध करेंगे—ऐसा सम्बन्ध जोड़ना चाहिये ॥ २३७-२३८ ॥

प्रश्न—यदि मल की द्रव्यरूपता, जो कि भेदवादियों के द्वारा कही गयी है, को आप नहीं मानते तो उस (= मल) का क्या रूप है—यह शङ्का कर कहते हैं—

मल, चक्षु के ऊपर वर्तमान पर्दे के समान (एक) द्रव्य है । (उस पर्दे को हटाने के लिए आँख में) अञ्जन लगाने के समान दीक्षा उस मल को नष्ट करने वाली क्रिया है । युक्ति और आगम द्वारा निन्दित उस (मल) का हम आगे चल कर निषेध करेंगें । तथा मल, माया और कर्म की स्थिति को स्पष्ट करेंगें ॥ २३९-२४० ॥

इसको अधिक स्पष्ट करते हुए उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार तीन शक्तियों (इच्छा ज्ञान क्रिया) से युक्त उपाय वाला जो ज्ञान है उसमें पश्चिम (= आणवोपाय) मूल (= आदि उपाय) है । उसके बाद वाला (= शाक्तोपाय) मध्यम और उत्तरोत्तर (= शाम्भवोपाय) आदि है ॥ २४१ ॥

तदाह—तदुत्तरम् इति, तस्मात् आणवात्, उत्तरम् विश्रान्तिस्थानत्वादधिकं शाक्तम् उत्तरात् शाक्तादपि उत्तरं शाम्भवम् । यदुक्तम्—

'विभुशक्त्यणुसम्बन्धात्समावेशस्त्रिधा मतः ।
इच्छाज्ञानक्रियायोगादुत्तरोत्तरसम्भृतः ॥' इति ॥ २४१ ॥

न केवलमाणवादेः विश्रान्तिधामतया शाम्भवमेव ज्ञानमुत्कृष्टम्, यावदस्मादनुपायाख्यम् अन्यत्—इत्याह—

ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥ २४२ ॥

परमम् इति—उपेयैकरूपत्वात्, अत एवोक्तम्—'उपायादिविवर्जितम्' इति । अत एव च 'आनन्दशक्तिविश्रान्तम्'—इत्युक्तम् । इच्छादीनां हि एषणीयादिविषयावच्छेदेन बाह्योन्मुखत्वात् भेदसम्भावनापि स्यात्, आनन्दशक्तिः पुनः—

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् .... ।'

इत्याद्युक्त्या हि चितस्तत्स्वरूपमेव इति, नात्र उपायगन्धोऽस्ति—इति तात्पर्यम् ॥ २४२ ॥

पश्चिम अर्थात् आणवोपाय । उस आणव से उत्तर शाक्त समावेश है क्योंकि वह विश्रान्तिस्थान होने से अधिक है । उत्तर से अर्थात् शाक्त से उत्तर = शाम्भव समावेश है । जैसा कि कहा गया—

'विभु शक्ति और अणु के सम्बन्ध से समावेश तीन प्रकार का माना गया है । इच्छा, ज्ञान और क्रिया के योग से उत्तरोत्तर दृढ़ होता है ॥ २४१ ॥

विश्रान्तिस्थल होने के कारण शाम्भव ज्ञान है । आणव आदि की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं है अपितु अनुपाय नामक एक दूसरा भी ज्ञान है—यह कहते हैं—

उससे भी उत्कृष्ट (और अन्तिम एक) ज्ञान है जो उपाय आदि से रहित है । उसकी आनन्द शक्ति में विश्रान्ति है और वह अनुत्तर कहा जाता है ॥ २४२ ॥

परम है क्योंकि वह केवल उपेय है । इसीलिये 'उपायविवर्जितम्' कहा गया । और इसीलिये 'आनन्दशक्तिविश्रान्तम्' यह भी कहा गया । इच्छा आदि शक्तियों के एषणीय आदि विषयों से सम्बद्ध होने से बाह्योन्मुख होने के कारण (उनकी) भेदसम्भावना भी होती है किन्तु आनन्द शक्ति—

'आनन्द ब्रह्म का रूप है ।'

इत्यादि कथन के अनुसार चित् का अपना स्वरूप ही है । इसलिये यहाँ उपाय की रञ्चमात्र भी सम्भावना नहीं है—यह तात्पर्य है ॥ २४२ ॥

एतच्च न स्वोपज्ञम् अपि तु सर्वत्रैव आगमेषु उक्तम्—इत्याह—

तत्स्वप्रकाशं विज्ञानं विद्याविद्येश्वरादिभिः।
अपि दुर्लभसद्भावं श्रीसिद्धातन्त्र उच्यते ॥ २४३ ॥
मालिन्यां सूचितं चैतत्पटलेऽष्टादशे स्फुटम्।
न चैतदप्रसन्नेन शङ्करेणेति वाक्यतः ॥ २४४ ॥
इत्यनेनैव पाठेन मालिनीविजयोत्तरे ।

तत्र हि—

'अनायासमनारम्भमनुपायं महाफलम् ।
श्रोतुमिच्छामि योगेश योगं योगविदां वर ॥'

इति देव्या पृष्टे—

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगामृतमनुत्तमम् ।
यत्प्राप्य शिवतां मर्त्या लभन्त्यायासवर्जिताः ॥
न चैतदप्रसन्नेन शङ्करेणोपदिश्यते ।
कथंचिदुपलब्धेऽपि वासना न प्रजायते ॥'

इत्याद्युपक्रम्य—

'तस्मात्तदभ्यसेन्नित्यमविरक्तेन चेतसा ।

इसे (हमने) अपने मन से नहीं कहा बल्कि सभी आगमों में कहा गया है—यह कहते हैं—

वह प्रकाश विज्ञान जो विद्या और विद्येश्वर आदि के द्वारा भी दुर्लभ है, श्रीसिद्धातन्त्र में कहा गया है मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अट्ठारहवें पटल में 'यह अप्रसन्न शङ्कर के द्वारा उपदिष्ट नहीं होता इत्यादि वाक्यों से इसी पाठ के द्वारा स्पष्ट कहा गया है ॥ २४३-२४५- ॥

वहाँ—'हे योगेश्वर !, हे योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! मैं अनायास वाले, आरम्भ रहित महाफल वाले अनुपाय नामक योग को सुनना चाहती हूँ ।'

इस प्रकार देवी के द्वारा पूछे जाने पर—

'हे देवि ! सुनो, मैं (उस) सर्वोत्कृष्ट योगामृत को कहूँगा जिसको प्राप्त कर मनुष्य लोग बिना प्रयास के शिवत्व को प्राप्त कर लेते हैं । शङ्कर अप्रसन्न रह कर इसका उपदेश नहीं करते । यदि किसी प्रकार यह उपलब्ध हो भी गया तो वासना उत्पन्न नहीं होती ।'

इत्यादि से शुरू कर—

स विसर्गो महादेवि यत्र विश्रान्तिमर्हति ॥
गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते ।
तदेव सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिस्थानमुत्तमम् ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ २४३-२४४ ॥

अयमेव च शास्त्रार्थः—इत्याह—

इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम् ।
तन्मया तन्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने ॥ २४५ ॥

इतीति—तन्त्रालोके—तन्त्राणां पारमेश्वराणाम्, आलोक इव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा । इति—उक्तस्वरूपं यत् ज्ञानचतुष्कम्, किं भूतम् ? सिद्धिमुक्त्योर्महान् उदयः अस्मिन् इति कृत्वा महोदयम्, तत् अत्र तन्त्रालोके शासने तन्यते विस्तरेण प्रकाश्यते—इत्यर्थः ॥ २४५ ॥

अथ—

'तत्र नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीते प्रवर्तते ।
किं तु संशयिते न्यायस्तदङ्गं तेन संशयः ॥'

'इस कारण इसका अभ्यास निरन्तर और विरक्तिपूर्वक करना चाहिये । हे महादेवि ! यह विसर्ग (सृष्टि) यहाँ विश्राम लेता है ।'

इसी को गुरुवक्त्र कहा गया । यही शक्तिचक्र कहा जाता है । वही सब मन्त्रों का उत्तम उत्पत्तिस्थान है ।

इत्यादि (पर्यन्त) कहा गया है ॥ २४३-२४४ ॥

इस (शैव शास्त्र) का तात्पर्य भी यही है—यह कहते हैं—

ये चार ज्ञान, जो कि सिद्धि और मुक्ति देने के कारण महान् उदय वाले है वे मेरे द्वारा तन्त्रालोक नामक इस शास्त्र में विस्तारपूर्वक कहे जायेंगे ॥ २४५ ॥

तन्त्रालोक में—पारमेश्वर शास्त्र के लिये प्रकाश के समान इस आलोक में, अथवा उन = पारमेश्वर तन्त्रों को जो आलोकित अर्थात् प्रकाशित करता है उसमें । पूर्वोक्त रूप वाला जो (आणव आदि) चार प्रकार का ज्ञान, वह कैसा है ?—(उत्तर में कहते हैं वह)—महोदय है अर्थात् इसमें सिद्धि और मुक्ति का महान् उदय है । वह इस तन्त्रालोक शास्त्र में विस्तार से कहा जायेगा ॥ २४५ ॥

'अनुपलब्ध (जैसे आकाशकुसुम आदि) और निर्णीत (= प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध) विषय में शास्त्र प्रवृत्त नहीं होता किन्तु सन्दिग्ध विषय में (प्रवृत्त होता है)। इसलिये संशय उसका (= शास्त्रप्रवर्त्तन का अङ्ग बन जाता है) ।'

इत्याद्युक्त्या प्राय: संशयिते एव अर्थे निर्णयात्मन: शास्त्रस्य प्रणयनमुक्तम् इति संशयस्य तदङ्गत्वात् प्रथमं तत्स्वरूपमेव निरूपयितुम् उपक्रमते—

तत्रेह यद्यदन्तर्वा बहिर्वा परिमृश्यते ।
अनुद्घाटितरूपं तत्पूर्वमेव प्रकाशते ॥ २४६ ॥

अन्त: मानसविज्ञानादौ, अनुद्घाटितरूपमिति अनुल्लिखितविशेषम्, सामान्य-धर्मात्मकम्—इत्यर्थ: ॥ २४६ ॥

अयमेव च प्राय: 'संशय:' इत्युच्यते—इत्याह—

तथानुद्घाटिताकारा निर्वाच्येनात्मना प्रथा ।
संशय: कुत्रचिद्रूपे निश्चिते सति नान्यथा ॥ २४७ ॥

तथा—प्राथमिकत्वेन अनुद्घाटित: करचरणादिविशेषधर्मानवगमात् अनुन्मुद्रितो योऽसौ ऊर्ध्वतादि: सामान्यधर्मा आकार: तेन अनिर्वाच्येन अन्यतरधर्मिविशेष-निश्चयाभावात् उभयांशावलम्बित्वेन नियतरूपतया वक्तुमशक्येन आत्मना स्वरूपेण विशिष्टा या प्रथा प्रतीति: सा संशय:, स हि ऊर्ध्वतादे: सामान्यात्मनो धर्मस्य अधिगमे वक्त्रकोटरत्वादीनां विशेषधर्माणां च अनधिगमे सति उदियात् । तदाह

इत्यादि उक्ति के अनुसार प्राय: सन्दिग्ध अर्थ में ही निर्णयस्वरूप शास्त्र की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार संशय के उसका अङ्ग होने से उस (= संशय) के स्वरूप का निरूपण करने के लिये उपक्रम करते हैं—

जिस-जिस (पदार्थ) का अन्त:करण में या बाह्य रूप में परामर्श होता है, (विशेषतया) अनुद्घाटित रूपों वाला वह (पदार्थ सामान्य रूप में) पहले से ही (मन में) प्रकाशित हो जाता है ॥ २४६ ॥

अन्दर = मानसविज्ञान आदि में । अनुद्घाटित रूप = अनुल्लिखित विशेष वाला अर्थात् सामान्य धर्म वाला ॥ २४६ ॥

यही प्राय: संशय कहा जाता है—यह कहते हैं—

जिसमें आकार का (विशेषरूप में) उद्घाटन नहीं हुआ है ऐसी अनिर्वाच्य स्वरूप से (युक्त) प्रतीति ही संशय (कहलाती है) । (यह संशय) (धर्मी के) कुछ रूप में निश्चित होने पर (उत्पन्न होता है) अन्यथा (= पूर्णतया निश्चय होने पर) नहीं ॥ २४७ ॥

उस प्रकार = पहले पहल । अनुद्घाटित = कर चरण आदि विशेष धर्मों का ज्ञान न होने से अस्पष्टतया प्रतीयमान ऊर्ध्वता आदि समान्य धर्म वाले आकार के कारण अनिवार्च्य अर्थात् किसी धर्म विशेष का निश्चय न होने से दोनों पक्षों को आधार बनाने के कारण निश्चित रूप से न कहे जा सकने वाला जो स्वरूप उसकी प्रतीति ही संशय है । वह प्रतीति ऊर्ध्वता आदि सामान्य धर्मों का ज्ञान होने से

'कुत्रचित्' इत्यादि—कस्मिंश्चित् सामान्यधर्मावच्छेदिनि धर्मिणि—इत्यर्थः । नान्यथा इति—सर्वात्मना निश्चिते धर्मिणि अनिश्चिते वा इति यावत् ॥ २४७ ॥

एतदेव विभज्य दर्शयति—

एतत्किमिति मुख्येऽस्मिन्नेतदंशः सुनिश्चितः ।
संशयोऽस्तित्वनास्त्यादिधर्मानुद्घाटितात्मकः ॥ २४८ ॥

एतत्किमिति—परामर्शात्मा संशयः, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि-परामर्शान्तरापेक्षया सर्वेषामेव विशेषधर्माणाम् अनुद्घाटितत्वात् मुख्यः, तत्र च किम् इत्यंशापेक्षया य एतदंशः स धर्मिमात्रग्रहणात् सुष्ठु निश्चितः । ननु—

'नियतोभयांशावलम्बी विमर्शः संशयः ।'

इति संशयस्य लक्षणम्, तत्र चेत् एकः कश्चिदंशो निश्चितः तत्कृतं तेन, इत्याह 'संशयः' इत्यादि । अस्तित्वं च नास्तित्वं च तत् अस्तित्व-नास्तित्वमादिर्येषां विशेषधर्माणां तैः अनुद्घाटितः अनुन्मुद्रितः, आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा, यत्र हि सत्त्वासत्त्वाख्ययोरपि धर्मयोरनिश्चितत्वात् उद्घाटनं न वृत्तं तत्र का वार्ता अन्येषां धर्माणाम् ? इति सर्वेषामेव धर्माणाम् अनुल्लिखिता-

---

और मुख अथवा कोटर आदि विशेष धर्मों का ज्ञान न होने से (यह स्थाणु = ठूँठा वृक्ष है या पुरुष) इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है । वही कहते हैं—'कहीं पर' इत्यादि । अर्थात् किसी सामान्य धर्म से अवच्छिन्न (= युक्त, सीमित) धर्मी में। अन्यथा = सब प्रकार से निश्चित या अनिश्चित धर्मी में यह (संशयात्मक प्रतीति) नहीं होती ॥ २४७ ॥

इसी को विभाजन कर प्रदर्शित करते हैं—

'यह क्या है?' इस मुख्य (= संशययुक्त स्थल) में 'यह' अंश सुनिश्चित है । अस्तित्त्व और नास्तित्त्व आदि (विशेष) धर्मों का जहाँ उद्घाटन नहीं हुआ है वहीं संशय होता है ॥ २४८ ॥

यह क्या है ?—इस प्रकार का परामर्श ही संशय है । 'यह स्थाणु है या पुरुष' इत्यादि अन्य परामर्श की अपेक्षा सभी विशेष धर्मों के स्पष्ट न होने के कारण (एतत् अंश) मुख्य है । 'किम्' इसकी अपेक्षा यह 'एतत्' अंश केवल धर्मी का ज्ञान कराने के कारण सुनिश्चित है । प्रश्न है कि—

'नियत दोनों पक्षों का अवलम्बन करने वाला विमर्श संशय होता है ।'

यह संशय का लक्षण है । ऐसी स्थिति में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यहाँ एक अंश निश्चित हो गया तब संशय कहाँ रहा?—इसका समाधान कहते हैं—संशय है... । अस्तित्व और नस्तित्व रूप विशेष धर्मों के द्वारा जो अनुद्घाटित है—वही संशय है। जहाँ सत्त्व और असत्त्व इन दोनों धर्मों के अनिश्चित होने से (उनका) उद्घाटन

कारत्वात् नियतधर्मानवलम्बनात् अयं मुख्यः संशयः, किमित्यंशो हि अनुल्लिखितार्थाकाराभिधायक एव—इति भावः ॥ २४८ ॥

तदाह—

किमित्येतस्य शब्दस्य नाधिकोऽर्थः प्रकाशते ।

अधिकः इति—एतच्छब्दार्थात् ॥

तर्हि किमर्थमुपाधीयते ? इत्याशङ्क्याह—

किं त्वनुन्मुद्रिताकारं वस्त्वेवाभिदधात्ययम् ॥ २४९ ॥

अयम् इति—किं-शब्दः ॥ २४९ ॥

संशयस्य च मुख्यत्वं क्वचिदमुख्यत्वे सति युज्यत इत्यस्यामुख्यत्वमपि दर्शयितुमाह—

स्थाणुर्वा पुरुषो वेति न मुख्योऽस्त्येष संशयः ।
भूयःस्थधर्मजातेषु निश्चयोत्पाद एव हि ॥ २५० ॥

न मुख्यः इति—पूर्ववत् सर्वेषामेव धर्माणाम् अनुद्घाटितरूपत्वाभावात्, यतः

नहीं हुआ वहाँ अन्य धर्मों की क्या बात ? इसलिये सभी धर्मों के आकार का उल्लेख न होने से अर्थात् निश्चित धर्म का अवलम्बन न होने से यह (= एतत्) मुख्य संशय है । 'किम्' यह अंश अनुल्लिखित अर्थ के आकार का वाचक है । वही कहते हैं—

'क्या' इस शब्द का 'यह' शब्द (के अर्थ से) अधिक अर्थ नहीं प्रतीत होता ॥ २४९- ॥

अधिक का तात्पर्य है—'एतत्' शब्द से अधिक ॥ २४८ ॥

तो किस लिये यह कहा जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

किन्तु यह (= किम् शब्द) अनुद्घाटित आकार वाले पदार्थ का ही अभिधान करता है. ॥ -२४९ ॥

अयम् = किं शब्द ॥ २४९ ॥

संशय की मुख्यता किसी अमुख्य के रहने पर ही सङ्गत होती है, इसलिये इस (= संशय) की अमुख्यता भी दिखाने के लिये है—

'यह स्थाणु है या पुरुष?' इस प्रकार का संशय मुख्य नहीं है अपितु (यह प्रत्यय) बहुत अधिक धर्मसमूहों में से (कुछ धर्मों का) निश्चय कराने वाला है ॥ २५० ॥

स्थाण्वादिनियतपरामर्शान्यथानुपपत्त्या भूयसामस्थाण्वादिवर्तिनां धर्माणाम् एष निश्चयात्मा प्रत्ययः ॥ २५० ॥

ननु यद्येवं तर्हि अत्र वा अर्थसंभेदसम्भवात् नियतस्य च अनिश्चयात् उदितानुदितहोमन्यायेन विकल्प एव भवेत् ? इत्याशङ्क्याह—

आमर्शनीयद्वैरूप्यानुद्घाटनवशात्पुनः ।
संशयः स किमित्यंशे विकल्पस्त्वन्यथा स्फुटः ॥ २५१ ॥

आमर्शनीयम् स्थाणुपुरुषलक्षणं यत् द्वैरूप्यं, तस्य अनुद्घाटनम्—वक्त्रकोट-रत्वादिविशेषरूपतयानाविष्करणम् ततोऽयं प्रत्ययः किमित्यंशसंभेदात् संशय एव । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यत्र हि किं स्थाणुः किं पुरुषः इत्येव तात्त्विकः संशयार्थः, यदि परमेतत् किमिति केवले किमंशे सर्वेषामेव विशेषधर्माणाम् अनुद्घाटितरूपत्वात् मुख्यत्वम्, अत्र च नियतविशेषधर्मानवगमात् अमुख्यत्वम्—इति विशेषः । विकल्पे पुनर्व्रीहियवयोरुभयोरपि निश्चितत्वे सति नानुद्-

---

पूर्व की भाँति सभी धर्मों के अनुद्घाटित होने से ('स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशय) मुख्य· नहीं है । क्योंकि स्थाणु आदि नियत परामर्श की अन्यथा सिद्धि न होने से बहुत से अस्थाणु आदि में रहने वाले धर्मों का निश्चयात्मक ज्ञान होता है ॥ २५० ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो उक्त श्लोक में 'वा' से अर्थ की भिन्नता सम्भव होने से और नियत की अनिश्चितता के कारण उदित-अनुदित होम न्याय[१] से विकल्प ही सम्भव है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आमर्शनीय दो रूप (= स्थाणु और पुरुष) का उद्घाटन न होने के कारण 'किम्' इस अंश में वह संशय है । अन्यथा (= दोनो रूपों की स्पष्ट प्रतीति होने पर) स्पष्टरूप में (यह) विकल्प है ॥ २५१ ॥

जब स्थाणु और पुरुष दोनों का रूप आमर्शनीय है । उसका अस्पष्ट होना अर्थात् पुरुष का मुख आदि और स्थाणु का कोटर (= वृक्ष के तने में खोखला गड्ढा) विशेष रूप से स्पष्ट नहीं होता तो यह ज्ञान 'किम्' अंश के बँट जाने के कारण 'संशय' कहलाता है ।

(किम् =) क्या यह स्थाणु है ? या पुरुष ? यही संशय का तात्त्विक अर्थ है। 'एतत् किम्' इस स्थल में केवल 'किमंश' में ही सभी विशेष धर्मों का रूप अनुद्घाटित न होने से मुख्यत्व है और नियत विशेष धर्मों का ज्ञान न होने से अमुख्यत्व है । जहाँ विकल्प होता है वहाँ दोनों अंशों के निश्चित होने के कारण

---

१. वेद में 'उदिते जुहोति (= सूर्योदय होने पर हवन करना चाहिए) ओर 'अनुदिते जुहोति' (सूर्योदय के पहले हवन करना चाहिए) दोनों प्रकार का वाक्य मिलने से विकल्प उपस्थित होता है ।

घाटितरूपत्वम्, तदाह 'विकल्पस्त्वन्यथा स्फुटः' इति । अन्यथा इति—आमर्शनीययोर्द्वयोरपि व्रीहियवयोर्विशेषधर्मात्मना निश्चयात्, एवंविधश्चायं संशयः शास्त्रप्रवृत्तौ निमित्ततां भजते इत्युक्तप्रायम् । शास्त्रं हि निर्णयात्म, निर्णयश्च प्रायः संदिग्ध एवार्थे प्रवर्तते, नहि उपलब्ध एव संशयविषयता प्रतिपद्यते नानुपलब्धः, संशयस्य च प्रमातृधर्मत्वात् यद्यपि केनचित्संशयानेन संदिग्धोऽर्थः प्रतिपद्यते तदा तस्योपलम्भः स्यात्, तत्प्रतिपादनमेव च प्रश्नः इति सोऽपि स्वकारणवत् शास्त्रप्रवृत्तौ निमित्ततां यायात्, तन्निर्णयाय च प्रारभ्यमाणस्य शास्त्रस्य त्रिविधा प्रवृत्तिः—उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा च इति । नामधेयेन पदार्थाभिधानमात्रं चोद्देशः, तस्य च प्रथममवश्यमुपादानं कार्यम्, अनुद्दिष्टस्य लक्षणपरीक्षानुपपत्तेः, अतश्च उद्देशं विना लक्षणपरीक्षात्मशास्त्रस्य प्रणयनमेव न घटते—इत्यस्यापि तत्र अङ्गत्वम् ॥ २५१ ॥

ननु एकेनैव शास्त्रप्रणयनसिद्धेः किमर्थ त्रितयम् ? इति चेत्, न चैतत्—परस्परानुषक्ततयैव अत्र एषां निमित्तत्वाभिधानात् । संशयित एव हि अर्थः केनचिदभिधीयमानः शास्त्रेण उद्देशादिद्वारेण निर्णीयते इति, अत एव च स्वरूपभेदेऽपि एवं शास्त्रप्रवृत्तौ अनुद्घाटितात्मप्रथात्मकेन समानेन रूपेण

उनका रूप अनुद्घाटित नहीं रहता । जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' यहाँ पर व्रीहि और यव दोनों का रूप स्पष्ट है । वही कहा—विकल्प तो स्फुट रहता है । अन्यथा का तात्पर्य है—आमर्शनीय व्रीहि और यव दोनों का विशेषरूप से निश्चय होने से । इस प्रकार का यह संशय शास्त्र के प्रवर्त्तन का कारण बनता है ।

शास्त्र निर्णयात्मक होता है उपलब्ध (= प्राप्त, ज्ञात) और निर्णय प्रायः सन्दिग्ध अर्थ में ही प्रवृत्त होता है । पदार्थ के विषय में संशय कभी नहीं होता कि यह उपलब्ध नहीं है । संशय प्रमाता का धर्म है इस कारण यद्यपि कोई संशय करने वाला किसी सन्दिग्ध अर्थ का ज्ञान होता है तब उसको (उस अर्थ की) प्राप्ति हो जाती है उसका ज्ञान ही प्रश्न है । वही अपने कारण की भाँति शास्त्र के प्रवर्त्तन में कारण बनता है और उसके निर्णय के कारण प्रारभ्यमाण शास्त्र की तीन प्रकार से प्रवृत्ति होती है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा । नाम लेकर पदार्थ का कथन उद्देश है । इसको अवश्य पहले करना चाहिये । क्योंकि अनुद्दिष्ट की लक्षण और परीक्षा नहीं हो सकती । उद्देश के बिना लक्षण-परीक्षा रूप शास्त्र का प्रणयन ही नहीं होता—इसलिये यह (= उद्देश) भी उसमें (= शास्त्रप्रणयन में) अङ्ग है ॥ २५१ ॥

प्रश्न—एक ही (प्रवृत्ति) से शास्त्रप्रणयन की सिद्धि होने से तीन (प्रवृत्तियों) की क्या आवश्यकता ? परस्पर सम्बन्ध होने से ही यहाँ इनको निमित्त कहा गया है । संशय वाला ही विषय किसी के द्वारा उक्त होने पर शास्त्र के द्वारा उद्देश आदि के माध्यम से निश्चित किया जाता है । इसीलिये स्वरूप में भिन्नता होने पर

कारणत्वमस्ति इति प्रतिपादयितुमाह—

तेनानुद्घाटितात्मत्वभावप्रथनमेव यत् ।
प्रथमं स इहोद्देशः प्रश्नः संशय एव च॥ २५२ ॥

तेन पूर्वोक्तेन न्यायेन अनुद्घाटितात्मत्वेन भावस्य वस्तुमात्रस्य प्रथमं यत् प्रथनं स एव इहोद्देशः—प्रश्नः संशयश्च इति, तत्र संशयस्य तावदेवंरूपत्वं समनन्तरमेव उक्तम्, उद्देशे च अनुद्घाटितत्वेनैव वस्तुनः प्रथनं रूपम्—नामधेयमात्रेणैव पदार्थानामभिधानात् । प्रश्नेऽपि एवं वाच्यम्, अन्यथा हि निर्णयात्मत्वे प्रतिवचनादस्य विशेषो न स्यात् ॥ २५२ ॥

तत्र संशयितेऽर्थे प्रश्नः प्रवर्तते, इति तन्निर्णयानन्तरं निर्णेतव्यः प्रश्नः, इति प्राप्तावसरं तत्सतत्त्वमेव वक्तुमाह—

तथानुद्घाटिताकारभावप्रसरवर्त्मना ।
प्रसरन्ती स्वसंवित्तिः प्रष्ट्री शिष्यात्मतां गता ॥ २५३ ॥

इह अद्वयनये 'परमार्थसती संविदेव सर्वम्' इति प्रष्टृप्रतिवक्तृरूप-गुरुशिष्याद्यात्मनो भेदस्य तावदनुपपत्तिः इति । तथा पूर्वोक्तेन प्रकारेण

भी शास्त्र की प्रवृत्ति में ये तीनों समान रूप से कारण बनते हैं—यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

इसलिए जिसका स्वरूप स्पष्ट नहीं किया गया है उसकी जो (प्राथमिक) प्रतीति वही यहाँ उद्देश प्रश्न और संशय है ॥ २५२ ॥

तेन = पूर्वोक्त न्याय से, पदार्थ के स्वरूप का निर्वचन न करते हुए केवल वस्तु (के नाम) का कथन ही उद्देश है । यही प्रश्न है और संशय भी । उसमें से संशय का रूप अभी पहले कह दिया गया । उद्देश में वस्तु के रूप का उद्घाटन न करते हुए परिचय देते हैं क्योंकि पदार्थों का नाम लेकर ही कथन होता है । प्रश्न में भी ऐसा ही कथन होता है अन्यथा निर्णय में इस (प्रश्न) का प्रतिवचन (= उत्तर) देने से (प्रश्न और निर्णय में) कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा ॥ २५२ ॥

संशययुक्त अर्थ में प्रश्न होता है । उस (= संशय) के निर्णय के बाद प्रश्न का निर्णय होता है । इसलिये अवसर के अनुकूल प्रश्न को ही कह रहे हैं—

उक्त रीति के अनुसार (अपने) आकार का उद्घाटन न करने वाली जो पूर्ण संवित् उसके पश्यन्ती आदि के रूप में अवरोह क्रम से संकुचित होती हुई अपनी संविद् ही (प्रमाता रूप शिष्य की भूमिका का निर्वाह करती हुई) शिष्यरूपता को प्राप्त होती है ॥ २५३ ॥

इस अद्वय शास्त्र में परमार्थ संविद् ही सब कुछ है । इस लिये प्रष्टा एवं

अनुद्घाटिताकारः—सर्वभावनिर्भरत्वात् संविदेकरूपो योऽसौ भावः पारमार्थिकं पूर्णस्वभावं वस्तु, तस्य यः प्रसरः पश्यन्त्यादिदशाक्रमणेन अवरोहः, तदेव वर्त्म, तेन प्रसरन्ती वैखर्यादिरूपतामासादयन्ती, स्वसंविदेव, संकुचिता, प्रमात्रात्माशिष्य-भूमिकाम् अवभासयन्ती 'प्रष्ट्री' इत्युच्यते—इत्यर्थः ॥ २५३ ॥

कुत्र कथं चास्याः प्रष्टृत्वम् ? इत्याह—

तथान्तरपरामर्शनिश्चयात्मतिरोहितेः ।
प्रसरानन्तरोद्भूतसंहारोदयभागपि ॥ २५४ ॥
यावत्येव भवेद्बाह्यप्रसरे प्रस्फुटात्मनि ।
अनुन्मीलितरूपा सा प्रष्ट्री तावति भण्यते ॥ २५५ ॥

तथा—परमाद्वयमयत्वेन, आन्तरः—प्रमात्रैगकात्म्यरूपः, योऽसौ परामर्शः, तस्य निश्चयो—दार्ढ्यम्, तदात्मनस्तिरोहितेः—उत्तरोत्तरस्य रूपस्य पूर्वपूर्वत्रा-नवस्थितेः, प्रसरात्—बाह्यौन्मुख्यात्, अनन्तरमुद्भूतौ यौ संहारश्च—पराद्यात्मनो रूपस्य स्वात्मन्येव विश्रान्तिः, उदययश्च—पश्यन्त्याद्यात्मना रूपेण बहिरुद्भवः, तौ भजते, तद्रूपा हि सा संवित् यावति प्रस्फुटात्मनि—ग्राह्यग्राहक-युगलकाद्याभासस्वभावे बाह्यप्रसरे, अनुन्मीलितरूपा—संविद्रूपत्वेन अनव-भासमाना, भवेत् तावत्येव अनुद्घाटितात्मत्वेन प्रथनात् 'प्रष्ट्री' इत्युच्यते

उत्तरदाता रूप शिष्य और गुरु का भेद असिद्ध हो जाता है । इस प्रकार पूर्वोक्त रूप से अनुद्घाटित आकारवाला अर्थात् सर्वभावनिर्भर होने से मात्र संवित्स्वरूप जो भाव = परम पूर्णस्वभाव वाली वस्तु, उसका जो प्रसर = पश्यन्ती आदि दशा के क्रम से अवरोह, उस रास्ते से प्रसार करती हुई अर्थात् वैखरी आदि रूपों को धारण करती हुई स्वसंविद् ही संकुचित होकर शिष्य के रूप में प्रष्ट्री कही जाती है ॥ २५३ ॥

कहाँ और कैसे यह प्रष्ट्री बनती है—यह कहते हैं—

परम अद्वयमय होने के कारण आन्तरिक (= केवल प्रमाता रूप) परामर्श के निश्चय स्वरूप तिरोधान के कारण, प्रसर (= बाह्य उन्मुखता) के बाद होने वाले संहार तथा उदय वाली (संवित्) जब तक स्पष्ट बाह्य प्रसर में (स्व = संविद् रूप में) भासमान नहीं होती तब तक प्रष्ट्री (= शिष्य) कही जाती है ॥ २५४-२५५ ॥

परम अद्वयमय होने से प्रमातृरूप परामर्श की दृढ़ता जब तिरोहित होने लगती है और बहिरुन्मुखता के कारण संहार = परा आदि के रूप में स्वात्म में विश्रान्ति और उदय अर्थात् पश्यन्ती आदि के रूप में बाह्य विकास को संवित् जब प्राप्त करने लगती है तथा संविद् रूप में प्रकाशमान न होती हुई ग्राह्यग्राहक आदि युग्मक के रूप में प्रकाशित होने लगती है तब अपने पूर्ण स्वरूप को प्रकट न

—इत्यर्थः ॥ २५४-२५५ ॥

न केवलं संविदः प्रष्टृत्वमेव अस्ति, यावत् प्रश्नादिरूपत्वमपि—इत्याह—

स्वयमेवं विबोधश्च तथा प्रश्नोत्तरात्मकः ।
गुरुशिष्यपदेऽप्येष देहभेदो ह्यतात्त्विकः ॥ २५६ ॥

तदुक्तम्—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥' इति ।

तथा—

'प्रष्ट्री च प्रतिवक्त्री च स्वयं देवी व्यवस्थिता ।' इति ।

ननु गुरुशिष्ययोः परस्परं भेदः साक्षादुपलभ्यते इति किं नाम अनयोर्बोधरूपत्वम् ? इत्याह—एष इत्यादि । अतात्त्विकः इति—अवास्तवः । बोध एव हि स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मनि तत्तद्देहादिभावम् आभासयति—इति भावः ॥ २५६ ॥

तदाह—

बोधो हि बोधरूपत्वादन्तर्नानाकृतीः स्थिताः ।

करने के कारण वह प्रष्ट्री कही जाती है ॥ २५४-२५५ ॥

संविद् केवल प्रष्ट्री ही नहीं प्रश्न भी बनती है—यह कहते हैं—

उसी प्रकार गुरु और शिष्य के रूप में प्रश्न और स्वरूपज्ञान भी वही है । शरीर का भेद अयथार्थ है ॥ २५६ ॥

वही कहा गया—

गुरु-शिष्य के रूप में सदाशिव ने स्वयं पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष प्रस्तुत कर तन्त्र की अवतारणा की ।

तथा—

'देवी स्वयं प्रष्ट्री और उत्तरदात्री बनती है ।'

प्रश्न—गुरु और शिष्य का परस्पर भेद साक्षात् दिखलायी पड़ता है फिर ये दोनों संविद् कैसे हैं ?—यह कहते हैं—एष.........। अतात्त्विक = अवास्तविक । संविद् ही अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से अपने में तत्तत् देह आदि भाव को आभासित करती है ॥ २५६ ॥

वही कहते हैं—

बहिराभासयत्येव द्राक्सामान्यविशेषतः ॥ २५७ ॥

बोधात्मा परमेश्वरो हि बोधनक्रियाकर्तृत्वलक्षणात् बोधरूपत्वात् अन्तःस्थिता नानाकृतीः—तत्तद्भावजातम्, द्राक्—अनन्यापेक्षितया निर्विलम्बनमेव, सामान्यविशेषरूपत्वेन, बहिः—विच्छेदेन, अवभासयत्येव इति वाक्यार्थः ॥ २५७ ॥

तत्र सामान्यस्य किं नाम बहिरवभासनम् ?—इत्याह—

स्रक्ष्यमाणविशेषांशाकांक्षायोग्यस्य कस्यचित् ।
धर्मस्य सृष्टिः सामान्यसृष्टिः सा संशयात्मिका ॥ २५८ ॥

स्रक्ष्यमाणाः—स्वालक्षण्येन उल्लासयिष्यमाणा ये विशेषांशाः, तत्र—

'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तदविनाभावित्वेन आकांक्षा औन्मुख्यम्, तत्र योग्यस्य—तदौन्मुख्याभावेऽपि सर्वगतत्वात् तत्स्वरूपानपायात् अनुगुणस्य, कस्यचित् नियतस्य गोत्वादेः धर्मस्य, बहिरवभासनात्मा सृष्टिः सामान्या सृष्टिः, सा एव च अनुद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् 'संशयः' इति—विशेषाकांक्षानुगुणसामान्यप्रतीतिरेव

बोध रूप होने के कारण बोध द्राक् (= बिना किसी आधार के) (स्वयं) अपने अन्दर वर्तमान अनेक आकृतियों को सामान्य एवं विशेष रूप में बाहर आभासित करता है ॥ २५७ ॥

बोधस्वरूप परमेश्वर ही बोधन क्रिया का कर्त्तारूप बोध बनकर अपने अन्दर स्थित अनेक आकृतियों वाले तत्तद् पदार्थसमूह को बिना किसी की अपेक्षा और आधार के सामान्य विशेष रूप से आभासित करते हैं ॥ २५७ ॥

सामान्य का बाहर अवभास क्या है—यह कहते हैं—

भविष्य में रचे जाने वाले विशेषांश की आकांक्षा के योग्य किसी धर्म की सृष्टि सामान्य सृष्टि (कहलाती) है । वह संशयात्मिका होती है ॥ २५८ ॥

स्रक्ष्यमाण = स्वलक्षण के रूप में भविष्य में उल्लासित होने वाले, जो विशेषांश उसमें—

'विशेषरहित सामान्य खरगोश की सींग जैसा (= तुच्छ, असत्) होता है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार उसके साथ अवश्यंभावी रूप से जो उन्मुखता उसके अनुरूप किसी नियत गोत्व आदि धर्म की बाह्य अवभासन के रूप में जो सृष्टि होती है वह सामान्य सृष्टि होती है । वही जब आत्मस्वरूप का उद्घाटन नहीं करती तब संशय कहलाती है । इस प्रकार विशेष आकांक्षा के अनुकूल सामान्य

संशयप्रतीतिः—इत्यर्थः ॥ २५८ ॥

एवं विशेषसृष्टिरपि निश्चयप्रतीतिरूपा—इत्याह—

स्रक्ष्यमाणो विशेषांशो यदा तूपरमेत्तदा ।
निर्णयो मातृरुचितो नान्यथा कल्पकोटिभिः ॥ २५९ ॥

यदा पुनर्निश्चयोपयोगिना सर्वविशेषाणां सृष्टत्वात् स्रक्ष्यमाणो विशेषांश उपरमेत्—विशेषविषया सृष्टिः समाप्येत, तदा स एव उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् 'स्थाणुरेवायम्' इति प्रत्ययात्मा निश्चयः स्यात् । एतदुत्पादे च प्रमातुरिच्छैव निबन्धनम्—इत्युक्तम् 'मातृरुचितः' इति । प्रमाता हि यावदेव 'ज्ञातं मया' इति परितुष्येत्, तावदेव निश्चितं भवति—इति भावः, अन्यथा पुनः स कदाचिदपि न भवेत्, प्रमात्रिच्छायामेवाविश्रान्तेः । तदाह—'नान्यथा कल्पकोटिभिः' इति ॥ २५९ ॥

न केवलमस्य निश्चयमात्ररूपत्वमेवास्ति, यावल्लक्षणादिरूपत्वमपि—इत्याह—

तस्याथ वस्तुनः स्वात्मवीर्याक्रमणपाटवात् ।
उन्मुद्रणं तयाकृत्या लक्षणोत्तरनिर्णयाः ॥ २६० ॥

की प्रतीति ही संशय की प्रतीति मानी जाती है ॥ २५८ ॥

इस प्रकार विशेष की सृष्टि भी निश्चय प्रतीति रूपा होती है—यह कहते हैं—

जब स्रक्ष्यमाण विशेषांश समाप्त हो जाता है तब प्रमाता के द्वारा ईप्सित निर्णय होता है । अन्यथा (= जब तक प्रमाता की इच्छा परितुष्ट नहीं होती तब तक) करोड़ो कल्पों से भी (निश्चय नहीं होता) ॥ २५९ ॥

जब निश्चयोपयोगी (बोध प्रमाता) के द्वारा सब विशेषों की सृष्टि होने पर स्रक्ष्यमाण विशेषांश रुक जाता है अर्थात् विशेष विषयिणी सृष्टि समाप्त हो जाती है तब वही (बोध) अपने स्वरूप को स्पष्ट करने के कारण यह 'स्थाणु ही है'—इस प्रकार का ज्ञान निश्चय (कहलाता) है । इसकी उत्पत्ति में प्रमाता की इच्छा ही कारण है । यही बात 'प्रमाता की रूचि के कारण' वाक्य से कही गयी है । प्रमाता जब 'मैने जान लिया' इस प्रकार (ज्ञान कर) सन्तुष्ट हो जाता है तब (तत्पदार्थ विषयक ज्ञान) निश्चित हो जाता है । अन्यथा फिर वह (= निश्चय) कभी भी नहीं होगा, क्योंकि (इस प्रकार के ज्ञान की) प्रमाता की इच्छा में विश्रान्ति नहीं हो रही है । वही कहा—अन्यथा करोंड़ो कल्पों के द्वारा भी (निर्णय नहीं हो सकता) ॥ २५९ ॥

इसकी केवल निश्चयरूपता ही नहीं अपितु लक्षणादिरूपता भी है—यह कहते हैं—

तस्य—विशेषात्मनो वस्तुनो यत् स्वात्मनो वीर्यम्—तदितरपरावृत्तत्वम्, तस्य आक्रमणम्—स्वात्मना विषयीकरणम्, तत्र पाटवम्—नैराकांक्ष्यात्तीव्रत्वम्, ततो यत् तेनैव आकारेण उन्मुद्रणम्—प्रतिनियतस्वस्वरूपाविष्करणम्, तत् उद्घाटितात्मप्रथामयत्वस्य अविशेषात् 'लक्षणम्' इति 'उत्तरम्' इति 'निर्णयः' इति चोच्यते। तत्र—असाधारणस्तत्त्वावबोधको धर्मो लक्षणम्, तत्त्वावबोधोपकरणं दूषणोद्धरणमुत्तरम्, तत्त्वावबोधो निर्णयः ॥ २६० ॥

ननु तत्त्वावबोधसारत्वस्य अविशेषात्, परीक्षापि लक्षणेनैव निर्णयवत् कथं न संगृहीता ? इत्याशङ्क्याह—

निर्णीततावद्धर्मांशपृष्ठपातितया पुनः ।
भूयो भूयः समुद्देशलक्षणात्मपरीक्षणम् ॥ २६१ ॥

निर्णीतः—निर्णयविषयीकृतः, तावान्—नियतलक्षणलक्ष्यः, योऽसौ धर्मांशः—तद्विषयतया पौनःपुन्येन यः समुद्देशः, यच्च लक्षणम्—साधारणासाधारणधर्मनिरूपणम्, तदात्मकं पुनः परितः—सर्वतो निःशेषप्रतिपक्षप्रतिक्षेपेण

उस (= विशेषात्म्क) वस्तु का अपने इतरव्यावृत्तत्व के विषय बनाने की तीव्र निराकांक्षा के कारण जो उसी आकार के रूप में निश्चित रूप का बन जाना वही लक्षण, उत्तर या निर्णय कहलाता है ॥ २६० ॥

उस विशिष्ट वस्तु के इतरव्यवर्त्तन का जो आक्रमण अर्थात् स्वयं के द्वारा स्व को विषय बनाना उसमें वर्त्तमान तीव्रता के द्वरा उसी अपने आकार से उन्मुद्रण अर्थात् अपने निश्चित स्वरूप का प्रकटीकरण लक्षण या उत्तर या निर्णय कहा जाता है । अर्थात् असाधारण तत्त्व को बतलाने वाला जो धर्म है वही लक्षण है । तत्त्वावबोध का साधन और दोष का उद्धार उत्तर है तथा तत्त्वावबोध निर्णय है ॥ २६० ॥

प्रश्न—(लक्षण और परीक्षा में) तत्त्वावबोधसार के समान होने से परीक्षा भी निर्णय की भाँति लक्षण से क्यों संगृहीत नहीं की गयी ? यह शङ्का कर कहते हैं—

निर्णीत निश्चित लक्षण के द्वारा ज्ञाप्य धर्मांश को विषय बनाकर बार-बार होने वाला जो समुद्देश एवं लक्षण तदात्मक, (सम्पूर्ण प्रतिपक्ष का खण्डन करते हुए ईक्षण को) परीक्षा (कहा जाता है) ॥ २६१ ॥

निर्णीत = निर्णय का विषय किया गया निश्चित लक्षणलक्ष्य वाला जो धर्मांश = उसको विषय मान कर पुनः पुनः जो समुद्देश और जो साधारण और असाधारण धर्म का निरूपणस्वरूप लक्षण उसका सब प्रकार से पक्ष-प्रतिपक्ष के

ईक्षणम्—परीक्षा—इति वाक्यार्थः ॥ २६१ ॥

एतच्च उद्देशादित्रयं सर्वत्रैवास्ति—इत्याह—

दृष्टानुमानौपम्याप्तवचनादिषु सर्वतः ।
उद्देशलक्षणावेक्षात्रितयं प्राणिनां स्फुरेत् ॥ २६२ ॥

एतदेव क्रमेण दर्शयति—

निर्विकल्पितमुद्देशो विकल्पो लक्षणं पुनः ।
परीक्षणं तथाध्यक्षे विकल्पानां परम्परा ॥ २६३ ॥
नगोऽयमिति चोद्देशो धूमित्वादग्निमानिति ।
लक्ष्यं व्याप्त्यादिविज्ञानजालं त्वत्र परीक्षणम् ॥ २६४ ॥
उद्देशोऽयमिति प्राच्यो गोतुल्यो गवयाभिधः ।
इति वा लक्षणं शेषः परीक्षोपमितौ भवेत् ॥ २६५ ॥
स्वःकाम ईदृगुद्देशो यजेतेत्यस्य लक्षणम् ।
अग्निष्टोमादिनेत्येषा परीक्षा शेषवर्तिनी ॥ २६६ ॥

उद्देशः इति—आलोचनमात्रस्य अनुद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् । लक्षणम्

प्रतिक्षेपपूर्वक ईक्षण ही परीक्षा कहलाता है ॥ २६१ ॥

यह उद्देश आदि तीन सर्वत्र ही रहते हैं—यह कहते हैं—

प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द आदि में सर्वत्र उद्देश लक्षण एवं परीक्षा ये तीनों (सभी) प्राणियों में स्फुरित होती हैं ॥ २६२ ॥

इसी को क्रम से दिखलाते हैं—

प्रत्यक्ष में विकल्पहीन (ज्ञान) उद्देश हैं विकल्प (ज्ञान) लक्षण हैं तथा विकल्पों की परम्परा परीक्षण है ॥ २६३ ॥

(अनुमान स्थल में) 'यह पर्वत'—उद्देश है । 'धूमयुक्त होने के कारण अग्निमान् है'—लक्ष्य है । इस विषय में व्याप्ति आदि समूह परीक्षा है ॥ २६४ ॥

उपमान में प्राच्य (= धर्मिविशेषानवाच्छिन्न) 'अयम्' (= यह) उद्देश है। गोतुल्य गवयनाम वाला है यह लक्षण है । बाकी (= दूध देने वाली इत्यादि) परीक्षा है ॥ २६५ ॥

'यजेत स्वर्गकामः' स्वर्गकामः—यह उद्देश्य है, यज्ञ करे यह लक्षण है। अग्निष्टोम आदि के द्वारा—यह शेषवर्त्तिनी (= अर्थवाद व्यापार वाली) परीक्षा है ॥ २६६ ॥

इति—नीलमिति, विकल्पेन निर्विकल्पस्यैव उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् । विकल्पानाम् इति—अर्थक्रियाज्ञानपूर्वापरभाविनाम्, तत एव च अर्थतथात्व- निश्चयोत्पादः इत्येषां परीक्षात्वम् । उद्देशः इति—नगोऽयम् इति धर्मिमात्रस्यैव अनुद्घाटितसाध्यधर्मात्मत्वेन प्रथनात् । लक्ष्यमिति—साध्यधर्मविशिष्टतया उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् । व्याप्तिः—अन्वयव्यतिरेकौ, तद्वशादेव हि साध्यसाधनयोरविनाभावनिश्चयोत्पादः इत्यस्याः परीक्षात्मत्वम् । अयमिति—पुरोवर्तिनः पिण्डमात्रस्य अनुद्घाटितात्मत्वेन प्रथनात् । प्राच्यः इति—प्रथमो धर्मिविशेषानवच्छिन्नः इति यावत् । गोतुल्योऽयम् इति—प्रमाणदशायाम्, गवयशब्दवाच्योऽयम् इति—फलदशायां च विशेषावच्छेदस्य भावित्वात् । वा-शब्दः समुच्चये, तेन प्रमाणदशायाः फलदशायाश्च उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् लक्षणत्वम् । शेषः इति—सास्नादिमद्वाहदोहादिकारी इत्यादिः परामर्शः । ईदृक् इति—स्वःकामः इत्येव । अस्य इति—स्वःकामस्य । लक्षणम् इति—अधिकारानुबन्धस्य विषयानुबन्धमन्तरेणानिर्णयात् । शेषवर्तिनी इति—

'शेषः परमार्थत्वात् ।'

इति वचनात् सा अर्थवादव्यापारात्मा इतिकर्तव्यता—इत्यर्थः । इत्युक्तम्, न

उद्देश में वस्तु का स्वरूप अनुद्घाटित रहता है । वह केवल आलोचन रूप होता है । 'नीलम्' (कहने) से निर्विकल्पक (वस्तु) का ही स्वरूप उद्घाटित होता है । विकल्प अर्थक्रियाज्ञान का पूर्वापरभावी होता है । इसीलिए वस्तु की वास्तविकता के निश्चय की उत्पत्ति ही इन (विकल्पों) की परीक्षा है । 'यह पर्वत है'—यह उद्देश है क्योंकि इस साध्यधर्म का अनुद्घाटन है, केवल धर्मी का ही कथन है । साध्यधर्म विशिष्ट के रूप में अपने स्वरूप का उद्घाटन करने से 'अग्निमान् धूमात्' यह लक्ष्य है । व्याप्ति अन्वय और व्यतिरेक (भेद से दो प्रकार की) है । उसी के बल पर हेतु और साध्य के अविनाभाव के निश्चय की उत्पत्ति होती है—यह इस (= व्याप्ति) की परीक्षात्मता है । ('अयं गवयपदवाच्यः' इस वाक्य में) अयं पद पुरोवर्त्ती पिण्डमात्र के अनुद्घाटित स्वरूप को बतलाता है । 'प्राच्य' का अर्थ है—प्रथम अर्थात् धर्मविशेष से अनवच्छिन्न । 'अयं' गोतुल्यः इस प्रमाणदशा में और 'अयं गवयशब्दवाच्यः' इस फलदशा में विशेषावच्छेद है । 'वा' शब्द का प्रयोग समुच्चय अर्थ में है । इसलिये प्रमाणदशा और फलदशा दोनों के उद्घाटित आत्मप्रथारूप होने से ये लक्षण हैं । शेष का तात्पर्य सास्नादिमान् वाहन, दोहन आदि करने वाला है । ईदृक् = स्वर्गकामना वाला । इसका = स्वर्ग चाहने वाले का । लक्षण इसलिये कि अधिकारानुबन्ध का निर्णय विषयानुबन्ध के बिना नहीं हो सकता ।

'शेष परमार्थ होने के कारण' इस वचन से अर्थव्यापाररूपा वह (परीक्षा) इतिकर्त्तव्यता है। उद्देश और लक्षण के द्वारा ज्ञापित स्वर्गकामी के अधिकार को प्रकट करने के कारण (इतिकर्त्तव्यता) परीक्षा है ।। २६२-२६६ ।।

च विशेषस्य आकांक्षणीयत्वमुचितम्—तदानीं तस्य भविष्यत्तया वार्तामात्रस्यापि अभावात् ? इत्याशङ्कां सोपस्कारप्रागुक्तलक्षणानुवादपुरःसरं प्रतिक्षिपति ।

विकल्पस्त्रक्ष्यमाणान्यरुचितांशसहिष्णुनः ।
वस्तुनो या तथात्वेन सृष्टिः सोद्देशसंज्ञिता ॥ २६७ ॥
तदैव संविच्चिनुते यावतः स्त्रक्ष्यमाणता ।

विकल्पेन—तत्प्रधानेन प्रमात्रा सामान्यस्य सृष्टत्वात्, तदपेक्षया स्त्रक्ष्यमाणाः—लक्षणात् उल्लासयिष्यमाणाः, अत एव अन्ये—ये सामान्यव्यतिरिक्ताः प्रमातुः संतोषादायकत्वाच्च, रुचिताः—इष्टाः, ये अंशाः—विशेषाः, तान्—अर्थात् व्याप्यत्वेन सहते तच्छीलं यत् तस्यैवंविधस्य सामान्यात्मनो वस्तुनः, तथात्वेन—स्त्रक्ष्यमाणत्वादिविशेषणविशिष्टविशेषसहिष्णुत्वेन, या सृष्टिः, तस्या उद्देश्यः—अभिधानं, तत्र यावतः आकांक्षणीयस्य विशेषस्य स्त्रक्ष्यमाणता तावत्, तदव—उद्देशावसरे, संवित् चिनुते—अनुसंधत्ते—इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

तत्र हेतुः—

यतो ह्यकालकलिता संधत्ते सार्वकालिकम् ॥ २६८ ॥

प्रश्न—स्त्रक्ष्यमाण विशेष की आकांक्षा के अनुरूप सामान्य की सृष्टि उद्देश कहलाती है—यह कहा गया । किन्तु विशेष का आकांक्षणीय होना उचित नहीं है क्योंकि उस समय उस (विशेष) के भविष्यत्कालीन होने से (उसकी) बात भी नहीं होती ?—यह शङ्का कर और अधिक प्रशस्त रूप से पूर्वोक्त लक्षण का अनुवाद करते हुए समाधान करते हैं—

विकल्प के द्वारा भविष्य में रची जाने वाली और इसी कारण अन्य (= सामान्य से भिन्न इष्टविशेष) को स्वीकार करने वाली (सामान्यात्मक) वस्तु की जो उसी रूप में सृष्टि वह उद्देश कही गई है । उसी समय (= उद्देश के समय जितने (पदार्थों) की भविष्य में रचना होने वाली होती है संवित् उतने का चयन कर लेती है ॥ २६७-२६८- ॥

विकल्पप्रधान प्रमाता सामान्य की सृष्टि करता है । उसकी अपेक्षा स्त्रक्ष्यमाण = लक्षण के कारण उल्लासित किये जाने वाले जो सामान्य से भिन्न इष्टविशेष उनको सहन करने की शीलता वाले सामान्य पदार्थ की सृष्टि का कथन ही उद्देश है । उसमें जितने आकांक्षणीय विशेष हैं संविद् उनकी स्त्रक्ष्यमाणता का ही अनुसंधान करती है ॥ २६७ ॥

उसमें कारण है—

क्योंकि अकालकलित (संवित्) सभी काल में वर्तमान (पदार्थो का)

हि-शब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ २६८ ॥

ननु उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वे सति लक्षणस्य सामान्यविशेषयोर्द्वयोरपि प्रथनात् किं लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम् ? इत्यत्र विवेकाभावादनियमः स्यात्—इत्याशङ्कयाह—

स्रक्ष्यमाणस्य या सृष्टिः प्राक्सृष्टांशस्य संहृतिः ।
अनूद्यमाने धर्मे सा संविल्लक्षणमुच्यते ॥ २६९ ॥

इह विशेषसामान्यविषयसृष्टिसंहृतिमयी संवित् लक्षणम्—व्यवहरणबीजम—इति । तत्र सृज्यमानस्य विशेषांशस्य विधेयतया लक्षणत्वं वाच्यम् संह्रियमाणस्य च सामान्यांशस्य अनूद्यमानतया लक्ष्यत्वम् इत्यस्त्येव विवेकः ॥ २६९ ॥

ननु—

'भूयो भूयः समुद्देशलक्षणात्म परीक्षणम् ।'

इत्युक्तम् तत्र च विरामनिमित्ताभावात् परीक्षाया अविश्रान्तिरेव स्यात् ? इत्याशङ्कामनुवादगर्भां प्रतिक्षिपति—

सन्धान करती है ॥ -२६८ ॥

श्लोक में 'हि' शब्द केवल वाक्यालङ्कार अर्थ में है ॥ २६८ ॥

प्रश्न—आत्मप्रथा रूप के उद्घाटित होने पर लक्षण के सामान्य और विशेष दोनों रूपों के स्फुटीकरण से क्या लक्ष्य है और क्या लक्षण इसका भेद न होने से अव्यवस्था हो जायगी ? यहा शङ्का कर कहते हैं—

जिसकी भविष्य में रचना होने वाली थी वर्तमान में उसकी रचना, तथा पहले जिसकी रचना हो चुकी थी उसका संहार, इस प्रकार (संह्रियमाण) सामान्य धर्म का अनुवाद होने पर (जो होती है) वह संवित् लक्षण कहलाती है ॥ २६९ ॥

विशेष और सामान्य दोनों विषयों वाली सृष्टि की संहाररूपा संवित् लक्षण अर्थात् व्यवहार का कारण बनती है । उनमें से सृज्यमान विशेषांश विधेय होने के कारण लक्षण कहा जाता है और संह्रियमाण सामान्यांश अनूद्यमान होने के कारण लक्ष्य होता है—यह भेद है ॥ २६९ ॥

प्रश्न—

'उद्देश और लक्षण का बार-बार सब प्रकार से = समस्त प्रतिपक्ष का खण्डन ही परीक्षा है ।' (त. आ. १.२६२)

यह कहा गया । उसमें विराम का कारण न होने से परीक्षा की विश्रान्ति ही नहीं होगी—अनुवादसहित इस शङ्का का समाधान करते हैं—

तत्पृष्ठपातिभूयोंशसृष्टिसंहारविभ्रमाः ।
परीक्षा कथ्यते मातृरुचिता कल्पितावधिः ॥ २७० ॥

ननु तत्र तत्र प्रत्यक्षादौ क्रमेण पश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपतया स्वात्म-चमत्कारमयी विमर्शशक्तिरेव विजृम्भते इत्युक्तम्, तत्कथमिह उद्देशाद्यात्मना स्वसिद्धान्ताप्रसिद्धं क्रमान्तरमासूत्रितम् ? इत्याशङ्क्याह—

प्राक्पश्यन्त्यथ मध्यान्या वैखरी चेति ता इमाः ।
परा परापरा देवी चरमा त्वपरात्मिका ॥ २७१ ॥

ननु संख्यासाम्यमात्रादेव उद्देशादित्रयस्य पश्यन्त्यादिरूपत्वम्, इति किमिदम् ? इत्याशङ्क्याह—

इच्छादि शक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते ।

पूर्वेण संबन्धः ।

एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते ॥ २७२ ॥

सकलः खलु अयं शुद्धाशुद्धात्मा व्यवहारः संविद्भित्तावेव अवभासते इति भावः । तदुक्तम्—

'इत्थमत्यर्थभिन्नार्थावभासखचिते विभौ ।

उस (= उद्‌देश्य एवं लक्षण) के बाद होने वाले अधिकांश की सृष्टि तथा संहार का विभ्रम, जो प्रमाता को इष्ट है और जिसकी सीमा कल्पित है, परीक्षा कही जाती है ॥ २७० ॥

प्रश्न—स्वात्मचमत्कारमयी विमर्शशक्ति ही प्रत्यक्ष आदि में क्रमशः पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूप में समुल्लसित होती है—यह कहा गया । तो फिर यहाँ उद्‌देश आदि रूप में दूसरे क्रम जो कि अपने (= शैव) सिद्धान्त में अप्रसिद्ध है, का आसूत्रण क्यों किया गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो पहले पश्यन्ती फिर मध्यमा और वैखरी (कही गयी) हैं (वे क्रमशः) परा, परापरा देवी है और अन्तिम (= वैखरी) तो अपरा है ॥ २७१ ॥

प्रश्न—केवल संख्या समान होने से उद्‌देश आदि तीन को पश्यन्ती आदि के समान निरूपित किया गया—यह क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वहीं इच्छा आदि तीन शक्तियाँ कही जाती हैं । और इन्हीं से अनुप्राणित होकर यह (लोक) व्यवहार चलता है ॥ २७२ ॥

समस्त यह शुद्ध-अशुद्ध व्यवहार संविद् भित्ति में ही अवभासित होता है—यह तात्पर्य है । वही कहा गया—

समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते ॥' इति ॥ २७२ ॥

न केवलमेषाम् एवंरूपत्वं यावत्—

'परो महानन्तरालो दिव्यो मिश्रस्त्वदिव्यकः ।
संबन्धः षड्विधस्तन्त्रे .... ॥'

इत्यादिना उक्तस्य संबन्धस्यापि—इत्याह—

एतत्प्रश्नोत्तरात्मत्वे पारमेश्वरशासने ।
परसंबन्धरूपत्वमभिसंबन्धपञ्चके ॥ २७३ ॥

एते समनन्तरोक्ततत्त्वे ये प्रश्नोत्तरे ते आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मिन्सति—इत्यर्थः । प्रष्टृतद्वक्त्रोरेव संबन्धो भवति—इति भावः । संबन्धपञ्चके इति महदादिके । षष्ठो हि परः संबन्धः सर्वेषामेव एषाम् अनुप्राणकत्वेन अनुवर्तते, इति पृथगिह नोक्तः ॥ २७३ ॥

एतच्च स्वोपज्ञमस्माभिर्नोक्तम्—इत्याह—

यथोक्तं रत्नमालायां सर्वः परकलात्मकः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽन्योऽन्यस्तु पञ्चमः ॥ २७४ ॥

'इस प्रकार अत्यन्त भिन्न विश्वावभास से चित्रित सर्वसमर्थ परमात्मा में ही निर्मल तथा मलिन व्यवहार उल्लसित होता है' ॥ २७३ ॥

इनका केवल यही रूप नहीं है बल्कि—

'पर, महान्, अन्तराल, दिव्य, मिश्र (= दिव्यादिव्य) और अदिव्य ये छः प्रकार के सम्बन्ध तन्त्र में (प्रवृत्ति के कारण है) ।'

इत्यादि के द्वारा उक्त सम्बन्ध की भी (चर्चा) है—यह कहते हैं—

प्रश्नोत्तर रूप पाँच सम्बन्ध (महान् अन्तराल) दिव्य दिव्यादिव्य और अदिव्य वाले शिवद्वयशास्त्र में परसम्बन्धरूपता है (अर्थात् ये पाँचों सम्बन्ध पर सम्बन्ध से अनुप्राणित हैं) ॥ २७३ ॥

ये पूर्वोक्त तत्त्व वाले जो प्रश्नोत्तर वे आत्मा अर्थात् स्वरूप हैं जिसकी उसके रहने पर—यह अर्थ है । सम्बन्ध प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता में ही होता है—यह भाव है । सम्बन्ध पञ्चक अर्थात् महत् (अन्तराल) आदि । छठाँ जो पर सम्बन्ध है वह इन पाँचों के अनुप्राणक के रूप में सबमें रहता है इसलिए यहाँ पृथक् रूप से नहीं कहा गया ॥ २७३ ॥

इसको हमने अपनी बुद्धि से नहीं कहा है—यह कहते हैं—

जैसा कि कुलरत्नमाला में कहा गया है कि महान्, अवान्तर,

रत्नमालायाम् इति—श्रीकुलरत्नमालायाम्, उक्तम् इति—अर्थतो न तु शब्दत: । तत्र—

'अदृष्टं निर्गुणं यच्च हेयोपादेयवर्जितम् ।
तत्तत्त्वं सर्वतत्त्वानां प्रधानं परिपठ्यते ॥
अदृष्टविग्रहश्चैव स शान्त इति गीयते ।
तस्येच्छा निर्गता शक्तिस्तद्धर्मगुणसंयुता ॥'

इत्यादिना पारमेश्वरी परा शक्तिरेव तत्तत्संबन्धात्मना प्रसृता इति सर्वस्यैव महदादे: संबन्धस्य परकलात्मकत्वमुक्तम् । अत एव च एतदेव—

'सृष्टिमार्गानुसारेण आयातश्चावनीतले ।
कथितो देवि षष्ठस्तु यथावेशस्वरूपत: ॥'

इत्यनेन उपसंहृतम् । मिश्र:—दिव्यादिव्य: । अन्योऽन्य: इति—दिव्यापेक्षया अन्यो मिश्र:, तस्मादन्योऽपि अदिव्य: इति । दिव्यदिव्यादिव्यअदिव्यात्मना त्रिधैव हि सम्भवति विकल्प: । अत एवायमत्र इतरेतरशब्देन उक्त: । तदुक्तम्—

'महानवान्तरो दिव्यो दिव्यादिव्यश्चतुर्थक: ।

दिव्य, मिश्र और अन्य (= अदिव्य) जो कि पाँचवाँ है, सब परकलात्मक हैं ॥ २७४ ॥

रत्नमाला... कुलरत्नमाला । कहा गया है—अर्थ से न कि शब्द से ।

वहाँ—

'जो अदृष्ट, निर्गुण तथा हेयोपादेयतारहित है वही तत्त्व तब तत्त्वों में प्रधान कहा जाता है । जिसका शरीर इष्ट नहीं है वह शान्त कहा जाता है । उसकी इच्छा ही उससे निर्गत शक्ति है जो कि उसके गुण एवं धर्म से युक्त है ।'

इत्यादि कथन के द्वारा परमेश्वर की पराशक्ति ही तत्तत् सम्बन्ध के रूप में सर्वत्र फैली हुई है । इसलिये महत् आदि समस्त सम्बन्धों को परकलात्मक कहा गया । और इसीलिये इसी का—

'हे देवि ! सृष्टि के मार्ग से पृथ्वीतल पर आया हुआ यह तत्त्व आदेश और स्वरूप के अनुसार छठाँ तत्त्व कहा गया है ।'

इसके द्वारा उपसंहार किया गया है ।

अन्योऽन्य = दिव्य की अपेक्षा, अन्य = मिश्र । उससे अन्य अदिव्य । दिव्य, दिव्यादिव्य और अदिव्य रूप से तीन ही प्रकार का विकल्प सम्भव है। इसीलिये यहाँ 'इतरेतर' शब्द से कहा गया । वही कहा गया—

'महान्' अवान्तर, दिव्य, दिव्यादिव्य और इतरेतर सम्बन्धों के माध्यम में

इतरेतरमार्गेण पञ्चधा भिन्नलक्षणः ॥' इति ।

एतच्च सम्बन्धपञ्चकं शिवात् सदाशिवस्य, तस्मात् अनन्तनाथस्य, तस्मात् श्रीकण्ठनन्दिकुमारादीनाम्, तेभ्योऽपि सनत्कुमारादीनामृषीणाम्, तेभ्योऽपि मनुष्यादीनां क्रमेण अवगन्तव्यम् । यदुक्तं तत्रैव—

'शिवस्य परिपूर्णस्य परस्यामिततेजसः ।
तच्छक्तिश्चैव सादाख्या स्वेच्छाकर्तृत्वगोचरा ॥
सत्त्वं तेन च सम्प्राप्तं संबन्धं प्रथमं विदुः ।
अवान्तरश्च योगेन सादाख्यात्क्रमशः पुनः ॥
प्राप्तोऽनन्तेशदेवेन द्वितीयस्तेन कीर्तितः ।
तृतीयस्तु पुनर्देवि श्रीकण्ठो नन्दिना सह ॥
द्वाभ्यां देवात्तु मत्वैवं तेन दिव्यः प्रकीर्तितः ।
व्याख्यानक्रमयोगेन विद्यापीठप्रपूजने ॥
शिष्याचार्यस्वरूपेण पञ्चमस्त्वितरेतरः ।
इति पञ्चप्रकारोऽयं संबन्धः परिकीर्तितः ॥' इति ॥ २७४ ॥

परकलात्मत्वमेव व्याचष्टे—

भिन्नयोः प्रष्टृतद्वक्त्रोश्चैकात्म्यं यत्स उच्यते ।

विविधरूपों में (यह) पाँच प्रकार से अभिव्यक्त है''

यह सम्बन्ध शिव से सदाशिव, सदाशिव से अनन्तनाथ, उससे श्री कण्ठ नन्दिकुमार आदि, उनसे भी सनत्कुमार आदि ऋषियों, उनसे भी मनुष्यों में क्रम से आया । जैसा कि वहीं कहा गया—

'परात्पर, परिपूर्ण, परतेजस्वी शिव की शक्ति ही सदाशिव है । इसमें स्वेच्छाकर्तृत्व है । उस सदाशिव के द्वारा जो सत्त्व प्राप्त हुआ उसको (विद्वान् लोग) प्रथम सम्बन्ध मानते हैं । इसके योग से अवान्तर (सम्बन्ध) बने । पुनः सदाशिव से क्रमशः अनन्तनाथ ने प्राप्त किया । इस कारण यह द्वितीय (सम्बन्ध) कहा गया । हे देवि ! तीसरा (सम्बन्ध) श्रीकण्ठ और नंदी इन दो देवों के साथ हुआ । देव से सम्बद्ध होने के कारण यह दिव्य कहा गया । नन्दी ने संक्षेप में ऋषियों को बतलाया । इसलिये भगवान् ने इसे दिव्यादिव्य चौथा सम्बन्ध कहा । विद्यापीठ के पूजन में व्याख्यानक्रम के योग से शिष्य-आचार्य के रूप में यह पाँचवाँ सम्बन्ध इतरेतर रूप में (वर्णित) हुआ । इस प्रकार सम्बन्ध पाँच प्रकार का कहा गया' ॥ २७४ ॥

पर कलात्मक का सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं—

प्रष्टा और उस (= प्रश्न) का उत्तर देने वाले दोनों भिन्न (व्यक्तियों) का जो तादात्म्य वही (परसम्बन्ध) कहलाता है ॥ २७५- ॥

प्रष्टा यथा सदाशिवः, वक्ता यथा शिवः, तच्छब्देन प्रश्नक्रियापरामर्शः, तयोर्भिन्नत्वेऽपि तावत्यर्थे संविद्दार्ढ्यैकात्म्यात् संबन्धः, तस्य भेदाभेदरूपत्वात्, ऐकात्म्यभावे यदा भेदगन्धस्यापि विगलनात् सर्वात्मतालक्षणा पूर्णता स्यात् तदा परः संबन्धः ॥

तदाह—

संबन्धः परता चास्य पूर्णैकात्म्यप्रथामयी ॥ २७५ ॥

परता हि पूर्णैकात्म्यप्रथालक्षणा । पूर्णे हि सर्वमस्ति, सर्वत्र च पूर्णमस्ति इत्येतत् पञ्चस्वपि संबन्धेषु अस्ति इति युक्तमुक्तम्—'सर्वः परकलात्मकः' इति । तदुक्तम्—

'संबन्धः परमेशानि सर्वः परकलामयः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽदिव्यश्च तत्परः ॥' इति ॥ २७५ ॥

संबन्धान्तरेष्वपि एतदेवातिदिशति—

अनेनैव नयेन स्यात्संबन्धान्तरमप्यलम् ।
शास्त्रवाच्यं फलादीनां परिपूर्णत्वयोगतः॥ २७६ ॥

एतदेव सङ्कलयति—

प्रष्टा = जैसे कि सदाशिव । उत्तर देने वाला = जैसे कि शिव । तत् शब्द से प्रश्नक्रिया का परामर्श होता है । उन दोनों (= सदाशिव और शिव) के भिन्न होने पर भी उतने अर्थों (= प्रश्नोत्तर के विषय) में संविद् के साथ तादात्म्य के दृढ़ होने से सम्बन्ध बनता है क्योंकि वह (= सम्बन्ध) भेदाभेद रूप होता है । ऐकात्म्य होने पर जब भेद की गन्धमात्र भी नष्ट होने से सर्वात्मतारूप पूर्णता होती है तब जो सम्बन्ध होता है वह पर होता है । वही कहते हैं—

पूर्ण ऐकात्म्यमय होना ही इस (= परसम्बन्ध) की परता है ॥ -२७५ ॥

परता = पूर्ण ऐकात्म्य प्रसरण वाली । पूर्ण में सब कुछ है और सर्वत्र पूर्ण है और यह सब सम्बन्धों में है । इसलिये ठीक ही कहा गया कि 'सब परकलात्मक है ।' वही कहा गया—

'हे परमेश्वरी ! महान्, अवान्तर, दिव्य, दिव्यादिव्य और अदिव्य सब सम्बन्ध परकलात्मक होता है' ॥ २७५ ॥

दूसरे सम्बन्धों में भी इसी का अतिदेश करते हैं—

इसी नियम के अनुसार फल आदि की परिपूर्णता होने के कारण दूसरे सम्बन्ध भी शास्त्रों द्वारा कहे जाते हैं ॥ २७६ ॥

इत्थं संविदियं देवी स्वभावादेव सर्वदा ।
उद्देशादित्रयप्राणा सर्वशास्त्रस्वरूपिणी ॥ २७७ ॥

इत्थम्—उक्तेन प्रकारेण, सर्वदा संविदेव इयं भगवती स्वस्वातन्त्र्यात् उद्देशादित्रयप्राणेन सर्वात्मना शास्त्रेण स्वरूपिणी । शास्त्रात्मना संविदेव अवभासते—इत्यर्थः ॥ २७७ ॥

तत्र उद्देशस्वरूपमेव तावदाह—

तत्रोच्यते पुरोद्देशः पूर्वजानुजभेदवान् ।
विज्ञानभिद्गतोपायः परोपायस्तृतीयकः ॥ २७८ ॥

शाक्तोपायो नरोपायः कालोपायोऽथ सप्तमः ।
चक्रोदयोऽथ देशाध्वा तत्त्वाध्वा तत्त्वभेदनम् ॥ २७९ ॥

कलाद्यध्वाध्वोपयोगः शक्तिपाततिरोहिती ।
दीक्षोपक्रमणं दीक्षा समयी पौत्रिके विधौ ॥ २८० ॥

प्रमेयप्रक्रिया सूक्ष्मा दीक्षा सद्यःसमुत्क्रमः ।
तुलादीक्षाथ पारोक्षी लिङ्गोद्धारोऽभिषेचनम् ॥ २८१ ॥

अन्त्येष्टिः श्राद्धक्लृप्तिश्च शेषवृत्तिनिरूपणम् ।
लिङ्गार्चा बहुभित्पर्वपवित्रादि निमित्तजम् ॥ २८२ ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह संवित् देवी सर्वदा स्वभाव के कारण उद्देश आदि तीन तत्त्वों वाली समस्त शास्त्र के रूप मे (भासित होती है) ॥२७७॥

इत्थम् = उक्त प्रकार से । यह भगवती संविद् ही सर्वदा अपने स्वातन्त्र्य के कारण उद्देश आदि तीन वाले शास्त्र के द्वारा अवभासित है ॥ २७७ ॥

उसमें उद्देश के स्वरूप को बतलाते हैं—

उन (= उद्देश, लक्षण परीक्षा) में से पूर्वज और अनुज भेद वाले उद्देश का कथन किया जाता है । विज्ञानभेदक (= शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय, आणवोपाय), गतोपाय (= अनुपाय) तीसरा परोपाय (= शास्त्रोपाय), शाक्तोपाय, नरोपाय, (= आणवोपाय) कालोपाय सातवाँ, चक्रोदय, देशाध्वा, तत्त्वाध्वा, तत्त्वभेदन, कालाध्वा, देशाध्वा, शक्तिपात, तिरोधान, दीक्षोपक्रमण, पौत्रिकविधि में समयी दीक्षा, प्रमेय-प्रक्रिया, सूक्ष्मा दीक्षा, सद्यः समुत्क्रमण दीक्षा, तुलादीक्षा, परोक्ष दीक्षा, लिङ्गोद्धार, अभिषेक, अन्त्येष्टि, श्राद्धकल्पना, शेषवृत्तिनिरूपण, लिङ्गार्चा, निमित्तज, बहुभित् पर्वपवित्रादि, रहस्यचर्या, मन्त्रौघ, मण्डल,

रहस्यचर्या मन्त्रौघो मण्डलं मुद्रिकाविधिः ।
एकीकारः स्वस्वरूपे प्रवेशः शास्त्रमेलनम् ॥ २८३ ॥
आयातिकथनं शास्त्रोपादेयत्वनिरूपणम् ।

सामान्यसंज्ञया कीर्तनं पूर्वज उद्देशः, विशेषसंज्ञया कीर्तनम् अनुज उद्देशः, स एव च विभागः इत्यन्यत्र उक्तः । तत्र पूर्वजमुद्देशमाह—विज्ञानभित् इत्यादिना निरूपणम् इत्यन्तम्, विज्ञानानि शाम्भवादीनि भिद्यन्ते यत्र इति । गतोपायः इति—अनुपायः । पौत्रिके विधौ इति पौत्रिकं विधिमाश्रित्य । दीक्षा इति पूर्वेण संबन्धः । प्रमेयप्रक्रिया इत्यर्थात् पौत्रिके विधौ इति योज्यम् । यद्वक्ष्यति—

'तदाह्निकानुजोद्देशे कथितं पौत्रिके विधौ ।'

इति ॥ २७८-२८३ ॥

किमेवमियता ग्रन्थेन उपनिबद्धेन ? इत्याशङ्क्याह—

इति सप्ताधिकामेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः ॥ २८४ ॥
आह्निकानां समभ्यस्येत् स साक्षाद्भैरवो भवेत् ।
सप्तत्रिंशत्सु सम्पूर्णबोधो यद्भैरवो भवेत् ॥ २८५ ॥
किं चित्रमणवोऽप्यस्य दृशा भैरवतामियुः ।

मुद्रिकाविधि, एकीकार, स्वस्वरूप में प्रवेश, शास्त्रमेलन, आयातिकथन, शास्त्रोपादेयत्वनिरूपण—(इतने विषयों की चर्चा इस ग्रन्थ में होगी है) ॥ २७८-२८४- ॥

सामान्य नाम का कथन पूर्वज उद्देश है । विशेष नाम का कथन अनुजोद्देश है । वही विभाग कहलाता है—यह अन्यत्र कहा गया है इनमें से 'विज्ञानाभेद्...' से लेकर 'निरूपणम्' पर्यन्त पूर्वज उद्देश को कहते हैं । विज्ञानभिद् का अर्थ है—जिसमें शाम्भव आदि विज्ञानों का भेदकथन होता है । गतोपाय = अनुपाय । पौत्रिक विधि में = पौत्रिक विधि को आधार मानकर । प्रमेयप्रक्रिया पौत्रिक विधि में कही गयी है । जैसा कि कहेंगे—

'अनुजोद्देश के आह्निक के पौत्रिकविधि प्रकरण में वह (= प्रमेयप्रक्रिया) कही गयी है' ॥ २७८-२८३ ॥

इतने बड़े ग्रन्थ की रचना से क्या लाभ?—यह शङ्का...

जो विद्वान् इन सैंतीस आह्निकों का सम्यक् अभ्यास करता है वह साक्षात् भैरव हो जाता है ॥ -२८४, २८५- ॥

सैंतीस आह्निकों के विषय में पूर्णज्ञान रखने वाला यदि भैरव हो जाता है तो इसमें आश्चर्य क्या? अणु भी इसके ज्ञान के द्वारा भैरवत्व

इत्येष पूर्वजोद्देशः कथ्यते त्वनुजोऽधुना ॥ २८६ ॥
विज्ञानभित्प्रकरणे सर्वस्योद्देशनं क्रमात् ।
द्वितीयस्मिन्प्रकरणे गतोपायत्वभेदिता ॥ २८७ ॥
विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वं परामर्शोदयक्रमः ।
मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वं परोपाये विविच्यते ॥ २८८ ॥
विकल्पसंस्क्रिया तर्कतत्त्वं गुरुसतत्त्वकम् ।
योगाङ्गानुपयोगित्वं कल्पितार्चाद्यनादरः ॥ २८९ ॥
संविच्चक्रोदयो मन्त्रवीर्यं जप्यादि वास्तवम् ।
निषेधविधितुल्यत्वं शाक्तोपायेऽत्र चर्च्यते ॥ २९० ॥
बुद्धिध्यानं प्राणतत्त्वसमुच्चारश्चिदात्मता ।
उच्चारः परतत्त्वान्तःप्रवेशपथलक्षणम् ॥ २९१ ॥
करणं वर्णतत्त्वं चेत्याणवे तु निरूप्यते ।
चारमानमहोरात्रसंक्रान्त्यादिविकल्पनम् ॥ २९२ ॥
संहारचित्रता वर्णोदयः कालाध्वकल्पने ।
चक्रभिन्मन्त्रविद्याभिदेतच्चक्रोदये भवेत् ॥ २९३ ॥

को प्राप्त हुए ॥ -२८५, २८६- ॥

यह पूर्वज उद्देश (= सामान्यात्मना कथन) है । अब अनुजोद्देश का कथन किया जाता है ॥ -२८६ ॥

विज्ञानभित् प्रकरण में सब (विषयों) का क्रमिक नामोच्चारण है । दूसरे प्रकरण में गतोपाय का भेद वार्णित है ॥ २८७ ॥

परोपाय में विश्व की चित्प्रतिबिम्बता, परामर्शोदय, क्रममन्त्र आदि की (परासंवित् से) अभिन्नरूपता का विवेचन किया जाएगा ॥ २८८ ॥

शाक्तोपाय में विकल्पों के संस्कार, तर्कतत्त्व, गुरुतत्त्व योगाङ्गों की अनुपयोगिता, कल्पित अर्चादि का अनादर, संवित्चक्र का उदय, मन्त्रवीर्य, वास्तविक जप्य आदि, निषेध और विधि की तुल्यता की चर्चा होगी ॥ २८९-२९० ॥

आणवोपाय (नामक आह्निक) में बुद्धि, ध्यान, प्राणतत्त्व का समुच्चार, चिदात्मता, उच्चार, परतत्त्वान्तः प्रवेशपथलक्षण, करण और वर्णतत्त्व का निरूपण किया जाएगा ॥ २९१, २९२- ॥

कालाध्व प्रकरण में चारमान, अहोरात्रसंक्रान्ति आदि की कल्पना, संहारचित्रता और वर्णोदय (का निर्वचन होगा) ॥ -२९२, २९३- ॥

परिमाणं पुराणां च संग्रहस्तत्त्वयोजनम् ।
एतद्देशाध्वनिर्देशे द्वयं तत्त्वाध्वनिर्णये ॥ २९४ ॥

कार्यकारणभावश्च तत्त्वक्रमनिरूपणम् ।
वस्तुधर्मस्तत्त्वविधिर्जाग्रदादिनिरूपणम् ॥ २९५ ॥

प्रमातृभेद इत्येतत् तत्त्वभेदे विचार्यते ।
कलास्वरूपमेकत्रिपञ्चाद्यैस्तत्त्वकल्पनम् ॥ २९६ ॥

वर्णभेदक्रमः सर्वाधारशक्तिनिरूपणम् ।
कलाद्यध्वविचारान्तरेतावत्प्रविविच्यते ॥ २९७ ॥

अभेदभावनाकम्पह्रासौ त्वध्वोपयोजने ।
संख्याधिक्यं मलादीनां तत्त्वं शक्तिविचित्रता ॥ २९८ ॥

अनपेक्षित्वसिद्धिश्च तिरोभावविचित्रता ।
शक्तिपातपरीक्षायामेतावान्वाच्यसंग्रहः ॥ २९९ ॥

तिरोभावव्यपगमो ज्ञानेन परिपूर्णता ।
उत्क्रान्त्यनुपयोगित्वं दीक्षोपक्रमणे स्थितम् ॥ ३०० ॥

शिष्यौचित्यपरीक्षादौ स्थानभित्स्थानकल्पनम् ।

चक्रभेद, मन्त्रविद्याभेद—ये (विषय) चक्रोदय में (वर्णित) होंगे ॥ -२९३ ॥

पुरों का परिमाण, संग्रह, तत्त्वयोजन ये देशाध्वनिर्णय में विवेचित होंगे ।

तत्त्वाध्वनिर्णय में कार्यकारण भाव, तत्त्वक्रमनिरूपण इन दो का निरूपण होगा । वस्तुधर्म, तत्त्वविधि, जाग्रत् आदि का निरूपण, प्रमातृभेद इन (सबका) विचार होगा ॥ २९४, २९६- ॥

कलाद्यध्वविचार में कलास्वरूप, एक तीन, पाँच आदि (भेदों से) तत्त्व की कल्पना, वर्णभेदक्रम, सर्वाधारशक्ति, के निरूपण का विवेचन होगा ॥ -२९६, २९७ ॥

अध्वोयपयोग में अभेदभावना तथा कम्पह्रास का तथा शक्तिपात-परीक्षा में मल आदि का संख्याधिक्य, तत्त्वशक्तिविचित्रता, अनपेक्षित्व-सिद्ध, तिरोभावविचित्रता (इन विषयों का संग्रह है) ॥ २९८-२९९ ॥

तिरोभाव का अपगम, ज्ञान के द्वारा परिपूर्णता, उत्क्रान्ति की अनुपयोगिता ये विषय दीक्षोपक्रम (नामक आह्निक) में स्थित है ॥ ३०० ॥

सामान्यन्यासभेदोऽर्घपात्रं चैतत्प्रयोजनम् ॥ ३०१ ॥
द्रव्ययोग्यत्वमर्चा च बहिर्द्वारार्चनं क्रमात् ।
प्रवेशो दिक्स्वरूपं च देहप्राणादिशोधनम् ॥ ३०२ ॥
विशेषन्यासवैचित्र्यं सविशेषार्घभाजनम् ।
देहपूजा प्राणबुद्धिचित्स्वध्वन्यासपूजने ॥ ३०३ ॥
अन्यशास्त्रगणोत्कर्षः पूजा चक्रस्य सर्वतः ।
क्षेत्रग्रहः पञ्चगव्यं पूजनं भूगणेशयोः ॥ ३०४ ॥
अस्त्रार्चा वह्निकार्यं चाप्यधिवासनमग्निगम् ।
तर्पणं चरुसंसिद्धिर्दन्तकाष्ठान्तसंस्क्रिया ॥ ३०५ ॥
शिवहस्तविधिश्चापि शय्याक्लृप्तिविचारणम् ।
स्वप्नस्य सामयं कर्म समयाश्चेति संग्रहः ॥ ३०६ ॥
समयित्वविधावस्मिन्स्यात्पञ्चदश आह्निके ।
मण्डलात्मानुसन्धानं निवेद्यपशुविस्तरः ॥ ३०७ ॥
अग्नितृप्तिः स्वस्वभावदीपनं शिष्यदेहगः ।
अध्वन्यासविधिः शोध्यशोधकादिविचित्रता ॥ ३०८ ॥
दीक्षाभेदः परो न्यासो मन्त्रसत्ताप्रयोजनम् ।
भेदो योजनिकादेश्च षोडशे स्यादिहाह्निके ॥ ३०९ ॥
सूत्रक्लृप्तिस्तत्त्वशुद्धिः पाशदाहोऽथ योजनम् ।

शिष्यौचित्यपरीक्षा आदि में स्थानभेद, स्थानकल्पना, सामान्य न्यासभेद, अर्घपात्र और उसका प्रयोजन, द्रव्ययोग्यता, अर्चा, बहिर्द्वारार्चन क्रमशः मण्डपप्रवेश, दिक्स्वरूप, देहप्राण आदि का शोधन, विशेषन्यासवैचित्र्य, सविशेष अर्घपात्र, देहपूजा, प्राण बुद्धि चित् में अध्वन्यास तथा पूजन, अन्य शास्त्रसमूह का उत्कर्ष, चक्रपूजा, क्षेत्रग्रह, पञ्चगव्य, भूमि और गणेश का पूजन, अस्त्रपूजन, वह्निकार्य, अग्निसम्बन्धी अधिवासन, तर्पण, चरुसिद्धि, दन्तकाष्ठ, अन्तसंस्कार, शिवहस्तविधि, स्वप्नशय्याक्लृप्तिविचार, समयी कर्म, और समय ये पन्द्रहवें आह्निक में समयीविधि में (वर्णित) होंगे ॥ ३०१-३०७- ॥

सोलहवें आह्निक में मण्डलात्मानुसन्धान, निवेद्यपशु का विस्तार, अग्नितृप्ति, स्वस्वभावदीपन, शिष्यदेह में वर्तमान् अध्वन्यास की विधि, शोध्य शोधक आदि की विचित्रता, दीक्षाभेद, परन्यास, मन्त्रसत्ताप्रयोजन भेद और योजनिका दीक्षा आदि का भेद वर्णित होगा ॥ -३०७-३०९॥

पौत्रिक विधि में सूत्रक्लृप्ति, तत्त्वशुद्धि, पाशदाह, योजन और

अध्वभेदस्तथेत्येवं कथितं पौत्रिके विधौ ॥ ३१० ॥
जननादिविहीनत्वं मन्त्रभेदोऽथ सुस्फुटः ।
इति संक्षिप्तदीक्षाख्ये स्यादष्टादश आह्निके ॥ ३११ ॥
कलावेक्षा कृपाण्यादिन्यासश्चारः शरीरगः ।
ब्रह्मविद्याविधिश्चैवमुक्तं सद्यःसमुत्क्रमे ॥ ३१२ ॥
अधिकारपरीक्षान्तःसंस्कारोऽथ तुलाविधिः ।
इत्येतद्वाच्यसर्वस्वं स्याद्विंशतितमाह्निके ॥ ३१३ ॥
मृतजीवद्विधिर्जालोपदेशः संस्क्रियागणः ।
बलाबलविचारश्चेत्येकविंशाह्निके विधिः ॥ ३१४ ॥
श्रवणं चाभ्यनुज्ञानं शोधनं पातकच्युतिः ।
शङ्काच्छेद इति स्पष्टं वाच्यं लिङ्गोद्धृतिक्रमे ॥ ३१५ ॥
परीक्षाचार्यकरणं तद्व्रतं हरणं मतेः ।
तद्विभागः साधकत्वमभिषेकविधौ त्वियत् ॥ ३१६ ॥
अधिकार्यथ संस्कारस्तत्प्रयोजनमित्यदः ।
चतुर्विंशेऽन्त्ययागाख्ये वक्तव्यं परिचर्च्यते ॥ ३१७ ॥

अध्वभेद, कहा गया है ॥ ३१० ॥

संक्षिप्त दीक्षा नामक अट्ठारहवें आह्निक में जननादिहीनता और स्फुट मन्त्रभेद (कहे गए हैं) ॥ ३११ ॥

सद्यः समुत्क्रमण में कलावेक्षा, कृपाण आदि न्यास शरीराचार और ब्रम्हविद्या विधि कही गई है ॥ ३१२ ॥

बीसवें आह्निक में आधिकारपरीक्षा, अन्तःसंस्कार, तुलाविधि ये प्रतिपाद्य हैं ॥ ३१३ ॥

इक्कीसवें आह्निक में मृतजीवद्विधि, जालोपदेश, संस्कारसमूह, बलाबल विचार विधि है ॥ ३१४ ॥

लिङ्गोद्वारक्रम में, श्रवण, अभ्यनुज्ञा, शोधन, पातकच्युति, शङ्काच्छेद ये स्पष्टतया वाच्य हैं ॥ ३१५ ॥

अभिषेकविधि में परीक्षा, आचार्यकरण, उसका व्रत, मतिहरण और उसका विभागसाधकत्व (विषय वर्णित है) ॥ ३१६ ॥

अन्त्ययाग नामक चौबीसवें आह्निक में अधिकारी, संस्कार और संस्कार का प्रयोजन कथनीय है ॥ ३१७ ॥

प्रयोजनं भोगमोक्षदानेनात्र विधिः स्फुटः ।
पञ्चविंशाह्निके श्राद्धप्रकाशे वस्तुसंग्रहः ॥ ३१८ ॥
प्रयोजनं शेषवृत्तेर्नित्यार्चा स्थण्डिले परा ।
लिङ्गस्वरूपं बहुधा चाक्षसूत्रनिरूपणम् ॥ ३१९ ॥
पूजाभेद इति वाच्यं लिङ्गार्चासम्प्रकाशने ।
नैमित्तिकविभागस्तत्प्रयोजनविधिस्ततः ॥ ३२० ॥
पर्वभेदास्तद्विशेषश्चक्रचर्चा तदर्चनम् ।
गुर्वाद्यन्तदिनाद्यर्चाप्रयोजननिरूपणम् ॥ ३२१ ॥
मृतेः परीक्षा योगीशीमेलकादिविधिस्तथा ।
व्याख्याविधिः श्रुतविधिर्गुरुपूजाविधिस्त्वियत् ॥ ३२२ ॥
नैमित्तिकप्रकाशाख्येऽप्यष्टाविंशाह्निके स्थितम् ।
अधिकार्यात्मनो भेदः सिद्धपत्नीकुलक्रमः ॥ ३२३ ॥
अर्चाविधिर्दौतविधी रहस्योपनिषत्क्रमः ।
दीक्षाभिषेकौ बोधश्चेत्येकोनत्रिंश आह्निके ॥ ३२४ ॥
मन्त्रस्वरूपं तद्वीर्यमिति त्रिंशे निरूपितम् ।
शूलाब्जभेदो व्योमेशस्वस्तिकादिनिरूपणम् ॥ ३२५ ॥

श्राद्धप्रकाश नाम पचीसवें आह्निक में भोग मोक्ष दान और प्रयोजन विषयों का संग्रह है ॥ ३१८ ॥

शेषवर्तन का प्रयोजन नित्यविधि स्थण्डिल परा पूजा (वर्णित है) तथा लिङ्गार्चा प्रकाशन में लिङ्गस्वरूप, अक्षसूत्रनिरूपण और पूजाभेद वाच्य है ॥ ३१९ ॥

पर्वभेद, उससे सम्बद्ध चक्रचर्चा, उस (= चक्र) का अर्चन, गुरु आदि की अन्तिम दिन आदि की पूजा के प्रयोजन का निरूपण, मृत्युपरीक्षा, योगीशीमेलक आदि विधि, व्याख्याविधि, श्रुतविधि, गुरूपूजा विधि इतना नैमित्तिक प्रकाश नाम अट्ठाईसवें आह्निक में स्थित है ॥ ३२०-३२३- ॥

अधिकारी, भेद, सिद्धपत्नी, कुलक्रम, अर्चाविधि, दौतविधि, रहस्योपनिषत्चर्चा, दीक्षा, अभिषेक और बोध—ये विषय उन्तीसवें आह्निक में है ॥ -३२३, ३२४ ॥

मन्त्रस्वरूप और उसका वीर्य तीसवें में निरूपित है ॥ -३२४ ॥

शूलाब्जभेद, व्योमेश, स्वस्तिक आदि निरूपण का विस्तार पूर्वक

विस्तरेणाभिधातव्यमित्येकत्रिंश आह्निके ।
गुणप्रधानताभेदाः स्वरूपं वीर्यचर्चनम् ॥ ३२६ ॥
कलाभेद इति प्रोक्तं मुद्राणां सम्प्रकाशने ।

इत्यादि न केवलमेवं यावत् अन्यदपि अस्य माहात्म्यं स्यात्—इत्याह 'इति सप्ताधिकां, सम्प्रकाशने' इत्यन्तम् । इह ग्रन्थकृता तत्त्वतः समस्तव्यस्तत्वेन सप्तत्रिंशदाह्निकानि उपनिबद्धानि इति । यथा पृथ्वीतत्त्वे भेदस्य प्राधान्यात् स्थूलेन रूपेण सर्वमस्ति, तथा इहापि वक्ष्यमाणम्—इत्युक्तम्—'सर्वस्योद्देशनं क्रमात्' इति । परोपाये इति—शाम्भवोपाये, अस्य च अविकल्पकमेव रूपम् इत्युक्तप्रायं तच्च भेदाभावे सति भवेत्, स च वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य संविदेकरूपत्वे सति स्यात्, तत्र वाच्यात्मनो विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वेन सामान्यविशेषात्मतया द्विविधस्य, वाचकात्मनो विश्वस्य च परामर्शोदयक्रममन्त्राद्यभिन्नरूपत्वाभ्यां संविदनतिरेकात् तदेकरूपत्वमुच्यते इत्यत्र एतत्प्रमेयत्रयोपक्षेपः । शाक्तस्य च विकल्पकमेव रूपम् इति प्रथमं विकल्पस्यैव संस्कार उक्तः, स च हेयाद्यालोचनद्वारेण तर्केण अभिधीयते इति तदनन्तरं तत्तत्त्वम् । अन्यच्च शुद्धविद्यात्मनस्तर्कस्यैव विस्फूर्जितं यत् तद्वशादेव सद्गुरुप्राप्तिर्भवेत् इति तत्सतत्त्वमुक्तम् । तर्क एव च साक्षाद्योगस्याङ्गम् इति अन्येषां योगाङ्गानामनुप-

---

इकतीसवें आह्निक में कथन होगा ॥ -३२५, ३२६- ॥

गुणप्रधानताभेद, उनके स्वरूप वीर्य की चर्चा, कलाभेद—ये मुद्राप्रकाश (= मुद्रिकाविधि) में कहे गए हैं ॥ -३२६, ३२७- ॥

केवल इतना ही नहीं इसका अन्य भी महत्त्व है—इस बात को 'इति सप्ताधिकां... से लेकर संप्रकाशने' यहाँ तक कहा है । यहाँ ग्रन्थकार ने यथार्थतः समस्त व्यस्त रूप से ३७ आह्निकों का उपनिबन्धन किया है । जैसे पृथ्वीतत्त्व में भेद के प्राधान्य के कारण सब स्थूल रूप से है । उसी प्रकार यहाँ भी वक्ष्यमाण है । इसलिये कहा गया—सब का क्रम से उद्देशन है । परोपाय में = शाम्भवोपाय में । (परोपाय) वाच्यवाचक स्वरूप इस विश्व की संविद् के साथ एकरूपता होने पर होता है । इसमें वाच्यरूप विश्व के चित् में प्रतिबिम्बित होने पर सामान्य एवं विशेष इन दो रूपों वाले तथा वाचकात्मक विश्व का परामर्शोदय क्रम एवं मन्त्र आदि से अभिन्न रूप होने से संविद् से अभिन्न होने के कारण उस (= संविद्) के साथ एकरूपता कही जाती है । यहाँ तीनों प्रमेयों (= सामान्य एवं विशेषरूप वाच्य तथा वाचक) का उपक्षेप होता है । शाक्तोपाय का रूप विकल्पक होता है । इसलिये पहले विकल्प का ही संस्कार कहा गया और वह (= संस्कार) हेय आदि के आलोचन वाले तर्क के द्वारा कहा जाता है । इसलिये उसके (= संस्कार के) बाद तर्क का कथन है । और भी शुद्धविद्यारूप सत्तर्क का ही यह चमत्कार है कि उसके कारण सद्गुरु की प्राप्ति होती है । इसलिये उस (=

योगित्वम् तर्कस्य च शुद्धविद्यात्मतया भेदभावकमायीयविकल्पप्रतिघातित्वात् कल्पितस्य अर्चादेरनादरः तत एवाविकल्पसंस्कारस्य दार्ढ्यात् संविच्चक्रोदयः, तदुदय एव च मन्त्राणां परं वीर्यम्, तथामर्श एव च वास्तवं जप्यादि, अत एव च संविदि भेदाभावात् निषेधविधितुल्यत्वम् इत्येतन्नवसंख्याकं प्रमेयमुपक्षिप्तम् । एवमाणवादावपि बुद्धिध्यानादेः साक्षात्तदौपयिकत्वम् इत्येतदस्माभिः स्पष्टत्वात् ग्रन्थविस्तरभयात् अग्रे च निर्णेष्यमाणत्वात् न प्रातिपद्येन व्याख्यातम् इति स्वयमेव अवधार्यम् ॥ २८४-३२६ ॥

ननु एकीकाराह्निकादौ किमिति न अनुजोद्देशः कृतः ? इत्याशङ्क्याह—

द्वात्रिंशतत्त्वादीशाख्यात्प्रभृति प्रस्फुटो यतः ॥ ३२७ ॥

न भेदोऽस्ति ततो नोक्तमुद्देशान्तरमत्र तत् ।

द्वात्रिंशं तत्त्वं स्वरूपं यस्य तन्मुद्राह्निकं तस्मात् द्वात्रिंशसंख्यादनन्तरं यत् ईशाख्यं त्रयस्त्रिंशमेकीकाराह्निकं तत आरभ्य भेदस्य प्राधान्याभावात् अनुज उद्देशो न कृतः—इत्यर्थः ॥ ३२७ ॥

सद्गुरु) का निर्वचन हुआ। तर्क ही साक्षात् योग का अङ्ग है । इसलिये अन्य योगाङ्ग अनुपयोगी है । तर्क शुद्धविद्यास्वरूप है इसलिये भेद को उत्पन्न करने वाले मायीय विकल्पों का प्रतिघातक होने से कल्पित अर्चा आदि का आदर नहीं है । इस कारण निर्विकल्पक संस्कार के दृढ़ होने से संवित् चक्रों का उदय होता है । उसका उदय होने पर ही मन्त्रों का परमवीर्य (स्फुरित होता) है । उस प्रकार (वीर्य-सम्पन्न मन्त्रों का) आमर्श ही वास्तविक जप है । इसीलिये संविद् में भेदाभाव होने के कारण निषेध एवं विधि की तुल्यता रूप नव संख्या वाला प्रमेय कहा गया । इसी प्रकार आणवोपाय आदि में भी बुद्धि ध्यान आदि साक्षात् उसके उपाय है—यह बात स्पष्ट होने से, ग्रन्थ के विस्तार के भय से तथा आगे चलकर निर्णय होने से हमने इसका प्रतिपद व्याख्यान नहीं किया । इसे स्वयं समझ लेना चाहिये ॥ २८४-३२६ ॥

एकीकार आह्निक आदि में अनुजोद्देश क्यों नहीं किया गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि बत्तीस तत्त्वों वाले ईश (= एकीकार) नामक तैतीसवें आह्निक से लेकर स्पष्टतया कोई भेद नहीं है, इसलिए यहाँ (तैतीसवें आह्निक में) अनुजोद्देश नहीं किया गया है ॥ -३२७, ३२८- ॥

बत्तीसवाँ तत्त्व = स्वरूप है जिसका वह मुद्रा आह्निक है । इस कारण बत्तीस संख्या के अनन्तर जो ईश नामक तैंतीसवाँ एकीकार आह्निक है वहाँ से लेकर भेद का प्राधान्य न होने से अनुजोद्देश नहीं किया गया ॥ ३२७ ॥

ननु यद्यतः प्रभृति भेदो नास्ति तत्किमिति आह्निकान्तरपरिगणनमेव कृतम्? इत्याशङ्क्याह—

मुख्यत्वेन च वेद्यत्वादधिकारान्तरक्रमः ॥ ३२८ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

इत्युद्देशविधिः प्रोक्तः सुखसंग्रहहेतवे ।
अथास्य लक्षणावेक्षे निरूप्येते यथाक्रमम् ॥ ३२९ ॥

अस्य इति—उद्दिष्टस्य प्रमेयजातस्य ॥ ३२९ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव संचिनोति—

आत्मा संवित्प्रकाशस्थितिरनवयवा संविदित्यात्तशक्ति-
व्रातं तस्य स्वरूपं स च निजमहसश्छादनाद् बद्धरूपः ।
आत्मज्योतिःस्वभावप्रकटनविधिना तस्य मोक्षः स चायं
चित्राकारस्य चित्रः प्रकटित इह यत्संग्रहेणार्थ एषः ॥ ३३० ॥

इह आत्मनस्तावत् धामत्रयीबाह्यप्रकाशविलक्षणः संविद्रूप एव प्रकाशः

यदि इसके बाद भेद नहीं है तो दूसरे आह्निकों की गणना ही क्यों की गयी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि अग्रिम आह्निकों के विषय मुख्यरूप से वेद्य हैं इसलिए आह्निक-भेद किए गए ॥ -३२८ ॥

इसका उपसंहार का दूसरे की प्रस्तावना करते हैं—

इस प्रकार सुखसंग्रह के लिए उद्‌देश विधि कही गई, इसके बाद लक्षण और परीक्षा क्रमशः निरूपित किए जाएँगें ॥ ३२९ ॥

इसका = उद्दिष्ट प्रमेयसमूह का ॥ ३२९ ॥

अब सम्पूर्ण आह्निक का संक्षेप बतलाते हैं—

आत्मा संविद् प्रकाश स्वरूप हैं । संवित् निरवयव अखण्ड है । क्रोडीकृत अनन्तशक्तियों का समूह उस (= आत्मा) का स्वरूप है और वह अपने महस् (= स्वरूप, तेज) का गोपन करने के कारण बद्ध है। अपने ज्योतिःस्वभाव के प्रकटनविधि के द्वारा उसका मोक्ष होता है और वह (= मोक्ष चित्राकार = विचित्रस्वभाव) वाले का विचित्र प्राकट्य है । इसलिए यहाँ (= इस आह्निक में) संक्षेप में यह विषय प्रकटित किया गया है ॥ ३३० ॥

तीन धाम (= ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा इच्छा ज्ञान क्रिया) वाला, बाह्य प्रकाश

स्वरूपम्, संविच्च निरवयवा इति एक एव अखण्डप्रकाशरूपः इति यावत् । अत एव च—

'शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम् ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तस्य आत्मनः क्रोडीकृतानन्तशक्तिकं स्वरूपम्, एवमद्वयात्मत्वेऽपि स एव अतिदुर्घटकारित्वलक्षणात् स्वस्वातन्त्र्यात्, निजस्य — अनन्यसाधारणस्य ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्य, महसो गोपनात् ग्राह्यग्राहकात्मकं द्वन्द्वमाभासयन् ।

'......................शिव एव गृहीतपशुभावः ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'बद्धः' इत्युच्यते, एवमपि तस्य आत्मनः प्रत्यावृत्त्या

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संवित् .... ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्य स्वमहस एव प्रथनं मोक्षः, यदर्थमेव च तत्तदनन्तशास्त्रात्मक इयान् परिकरः । तदाह 'स चायम्' इत्यादि, स चायं मोक्षः—तत्तद्गृहीताधरदर्शनभूमिकस्य अस्य—

'रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तः शून्योऽहं कर्तृतोज्झितः ।'

से विलक्षण संविद् रूप प्रकाश ही आत्मा का स्वरूप है । और संवित् निरवयवा होने के कारण एक एवं अखण्डप्रकाशरूप है इसीलिये—

'भाव का प्रमाता के द्वारा कल्पित अपना रूप ही शक्ति है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार उस = आत्मा का स्वरूप अपने भीतर अनन्त शक्ति छिपाये रखता है । अद्वयरूप होने पर भी वह अतिदुर्घटकारित्वरूप अपने स्वातन्त्र्यवश अपने = अनन्य साधारण, सत्वकर्तृत्वलक्षण वाले तेज को छिपाकर ग्राह्यग्राहक रूप द्वन्द्व को आभासित करता है ।

'...शिव ही पशुभाव का ग्रहण कर (बद्ध होता है) ।'

इत्यादि उक्त युक्ति से बद्ध कहा जाता है । इस प्रकार उस आत्मा की प्रत्यावृत्ति के द्वारा—

'मोक्ष कोई दूसरी चीज नहीं है । वह स्वरूप का विस्तार है । और स्वरूप अपनी संवित् ही है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति से ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षण अपने तेज का विस्तार ही मोक्ष है। इसी के लिये भिन्न-भिन्न अनन्त शास्त्रों का इतना बड़ा समूह है । 'स चायम्' इत्यादि से वही कहते हैं । वह यह = मोक्ष । नीचे की तत्तद् दर्शन भूमियों का ग्रहण करने वाले इसको अर्थात्

इत्याद्युक्तयुक्त्या चित्रस्वभावस्य, यद्वा—

'तेनाजडस्य भागस्य पुद्गलाण्वादिसंज्ञिनः ।
अनावरणभागांशे वैचित्र्यं बहुधा स्थितम् ॥'

इत्यादिनीत्या चित्राकारस्य—

'अतः कंचित्प्रमातारं प्रति प्रथयते प्रभुः ।
पूर्णमेव निजं रूपं कंचिदंशांशिकाक्रमात् ॥'

इत्याद्युक्त्या चित्रः—शाम्भवाद्यावेशात्मा प्रकटितः, इह इति—अस्मिन्नाह्निके । ययोः—बन्धमोक्षयोः संग्रहेण—संक्षेपेण एषोऽर्थः प्रकटितः इत्यनेनैव सम्बन्धः ॥ ३३० ॥

ननु आत्मनः स्वरूपप्रथनमेव 'मोक्षः' इत्युक्तम्, आत्मा चैक एव अखण्डः इति तत्प्रथात्मनो मोक्षस्यापि वैचित्र्यं कुतस्त्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

मिथ्याज्ञानं तिमिरमसमान् दृष्टिदोषान्प्रसूते
तत्सद्भावाद्विमलमपि तद्भाति मालिन्यधाम ।
यत्तु प्रेक्ष्यं दृशि परिगतं तैमिरीं दोषमुद्रां
दूरं रुन्ध्येत्प्रभवतु कथं तत्र मालिन्यशङ्का ॥ ३३१ ॥

'राग आदि कलुष से रहित कर्त्तृता का त्याग करने वाला मैं भीतर से शून्य हो गया हूँ ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के अनुसार विचित्र स्वभाव वाले को, अथवा 'अतः पुद्गल अणु आदि नाम वाले अजड़ भाग के अनावरण भागवाले अंश में वैचित्र्य अनेक प्रकार से स्थित है ।'

इत्यादि नीति से विचित्र आकार वाले को,

'इसलिये किसी प्रमाता के प्रति भगवान् अपने पूर्ण स्वरूप को प्रकट करते हैं, किसी के प्रति अंशांशिका के क्रम से ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा चित्र = शाम्भव आदि आवेश वाला रूप प्रकट करते है। यहाँ = इस आह्निक में । जिन दोनों का = बन्ध और मोक्ष का, संग्रहेण = संक्षेप में यह अर्थ प्रकट किया गया ॥ ३३० ॥

आत्मा के स्वरूप का विस्तार ही मोक्ष है—यह कहा गया । आत्मा एक और अखण्ड है फिर उसके विस्तार रूप मोक्ष का वैचित्र्य कहाँ से आ गया ? यह शङ्का.........

मिथ्याज्ञान रूप अन्धकार भेदरूपी दृष्टिदोष को उत्पन्न करता है । उसके रहने से निर्मल पूर्ण भी वह (= आत्मा) मलिनता (=

तिमिरम्—आणवमलमेव मिथ्याज्ञानम् भेदप्रथात्मकम् अपूर्णं वेदनम्, दृष्टेः पूर्णायाः संवित्तेः, असमान्—आत्मनि अनात्माभिमानादिरूपान् दोषान् जनयति इति मिथ्याज्ञानसद्भावात् विमलम् पूर्णमपि तत् ज्ञानं मालिन्यधाम भाति—स्वस्वातन्त्र्यादपूर्णेन आत्मना परिस्फुरति इत्येतावानर्थः इति व्यवह्रियते यत् पुनरुपेयत्वेन प्रेक्षणीयम्—अवश्यज्ञातव्यं परप्रमात्रेकात्म पूर्ण ज्ञानं

नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहं
नाहं बुद्धिर्नाहमहङ्कारधियौ च ।
योऽत्र ज्ञांशः सोऽस्म्यहमेव........
.... ॥'

इत्यादिनीत्या उद्वेष्टनक्रमेण विमर्शपदवीमारूढं सत् मिथ्याज्ञानसमुत्थाम् अनात्मनि आत्माभिमानरूपां दोषमुद्रां दूरं रुन्ध्येत्—आत्मन्येव आत्माभिमानेन तिरस्कुर्यात्, तत्र का नाम मालिन्यशङ्का तत्र सम्भावनापि न भवेत् इति वस्तुवृत्तेन बन्धो मोक्षो वापि न नाम कश्चिदस्ति इति का नाम तत्र वैचित्र्यसम्भावना स्यात् । अनेन चाभिप्रायेण—

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का ।
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ॥

अपूर्णता) का आस्पद भासित होता है । यदि प्रेक्ष्य (= अवश्यज्ञातव्य पूर्ण ज्ञान, को प्राप्त करने के लिए विमर्श का आश्रय लिया जाय तथा) नेत्र में वर्तमान रात्र्यन्धतारूपी दोषमुद्रा को भलीभाँति हटा दिया जाय तो वहाँ मलिनता की आशङ्का कैसे हो सकती है ॥ ३३१ ॥

तिमिर = आणव मल । मिथ्याज्ञान = भेदप्रथा वाला, अर्थात् अपूर्ण ज्ञान । दृष्टि = पूर्ण संवित् । असमान = अनात्माभिमान आदि रूपों वाले दोषों को । उत्पन्न करती है = मिथ्याज्ञान के होने से निर्मल पूर्ण भी वह ज्ञान मलिनता का घर मालुम पड़ता है । अपने स्वातन्त्र्यवश अपूर्ण रूप से स्फुरित होता है । और जो उपेय के रूप में अर्थात् अवश्य ज्ञातव्य पर प्रमाता रूप मे पूर्ण ज्ञान प्रेक्षणीय है =

'मैं प्राण, शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार, महत् भी नहीं हूँ । इनमें जो 'ज्ञ' का अंश है वही मैं हूँ ।'

इत्यादि नीति से उद्वेष्टनक्रम से विमर्श का विषय होता हुआ मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अनात्मा में आत्माभिमानरूपा दोषमुद्रा को दूर ही रोक देता है अर्थात् तिरस्कृत कर देता है उसमें मालिन्य की शङ्का कहाँ ? अर्थात् वहाँ सम्भावना भी नहीं है । बन्ध और मोक्ष वस्तु के रूप में कुछ नहीं है फिर उसमें वैचित्र्य की सम्भावना कैसे होगी इसी अभिप्राय से—

मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो ।
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थित:।।'

इत्यादि अन्यत्र उक्तम् । अथ च तिमिरेण—नेत्ररोगविशेषेण दृष्टौ अन्यथाज्ञानात्मदोषजातमुत्पादितं प्रेक्ष्येण अञ्जनादिस्थानीयेन रोध्यते इति तत्र मालिन्यशङ्कापि न भवति इति औपम्यं ध्वनितम् ।। ३३१ ।।

इदानीमस्य शास्त्रस्य परं गाम्भीर्यं मन्यमानो ग्रन्थकृत्, एतदर्थसतत्त्व-मजानानैरपि अन्यैरन्यथाबोधेन यत्किंचित् उत्तानमेव अन्यथा उच्यते, तान्प्रति अप्रस्तुतप्रशंसया उपहसितुमाह—

भावव्रात ? हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे ।
यस्त्वामाह जडं जडः सहृदयंमन्यत्वदु:शिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ।। ३३२ ।।

हे भावव्रात—नीलाद्यर्थ ? आत्मनो हृदयं तेन आत्मतथ्यम् रूपं गोपयित्वा

'शरीरधारियों के लिये संसार वस्तुत: नहीं है फिर बन्धन की बात ही कहाँ ? जिसका बन्धन नहीं उसकी मुक्तिप्रक्रिया भी व्यर्थ है । रस्सी में साँप के समान अथवा छाया में पिशाच के समान यह (संसार) मिथ्यामोह के द्वारा उत्पादित भ्रम है इसलिये न कुछ लो न कुछ छोड़ो । जैसे हो वैसे ही अपने में रहकर आनन्द उठाओ ।'

इत्यादि अन्यत्र कहा गया । तिमिर = नेत्र का रोग—रात्र्यन्धता, के द्वारा दृष्टि में अन्यथा ज्ञानरूप दोष उत्पन्न होने पर अञ्जनरूप प्रेक्ष्य के द्वारा वह रोक दिया जाता है फिर उसमें मालिन्य की शंका भी नहीं हो सकती । यह उपमा ध्वनित है ।। ३३१ ।।

अब इस शास्त्र को परम गम्भीर मानते हुए ग्रन्थकार, इस ग्रन्थ के तात्पर्य को न जानने वाले अन्य लोगों के द्वारा विपरीत ज्ञान के कारण जो कुछ बिना सुरताल के अन्यथा कह देते हैं, उनके प्रति अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा उपहास करने के लिये कहते हैं—

हे पदार्थ समूह! (तुम) अपने चैतन्यस्वरूप का गोपन कर बलपूर्वक लोगों के हृदय पर आक्रमण कर अनेक भंगियों के द्वारा जो क्रीड़ा कर रहे हो (इसलिए) जो तुमको जड कहता है वह (असहृदय) अपने को सहृदय मानने के कारण दूषित शिक्षा वाला (स्वयं) जड है। (मैं) समझता हूँ कि तुम्हारी समानता की सम्भावना के कारण उसकी जडता भी स्तुति का स्थान है ।। ३३२ ।।

हे भाव समूह = घट आदि पदार्थ, अपने वास्तविक रूप को छिपाकर सभी

जनस्य—सर्वस्यैव वादिनो हृदयानि—आशयान् बलात्कारेण आक्रम्य—

'अद्यास्मानसतः करिष्यति सतः किं नु द्विधा वाप्ययं
किं स्थास्नूनुत नश्वरानुत मिथोभिन्नानभिन्नानुत ।
इत्थं सद्वदनावलोकनपरैर्भावैर्जगद्वर्तिभिर्मन्ये
मौननिरुद्ध्यमानहृदयैर्दुःखेन तैः स्थीयते ॥'

इत्यादिस्थित्या विविधाभिर्भङ्गीभिः नर्तयन् यत् संक्रीडसे—नटवत् अतात्त्विकेन रूपेण समुल्लससि, अतः सः—सर्वो वादी असहृदयमपि आत्मानं सहृदयत्वेन मन्यमानोऽत एव दुःशिक्षितो मिथ्याभिमानात् अकिञ्चिज्ज्ञः, त्वाम् भावव्रातम्, जडम्—अचेतनम् आह, अतोऽस्माभिरुत्प्रेक्ष्यते—यत् अमुष्य वादिनो वस्तुतश्चैतन्यस्वभावेन भवता यत् साम्यं तस्य सम्भावनात् भाववत्त्वमेव जडात्मा इति यद्युच्यते सा अस्य निन्दास्थाने स्तुतिः । भावानां हि तेषां न किञ्चिद्रूपं स्यात्, अतस्तदेव ये न जानते ते जडेभ्योऽपि जडाः इति कथं च तेषां चेतनात्मकैर्भावैः निन्दापर्यवसायि साम्यं स्यात्—इति भावः । एवं प्रकृतेऽपि अस्य ग्रन्थस्य यस्तत्त्वं न जानाति मा ज्ञासीत्, प्रत्युत अन्यथापि यत्किञ्चन वक्ति इत्यसावेव जडो न पुनरस्य ग्रन्थस्य कश्चिद्दोषः—इत्यर्थः ॥ ३३२ ॥

ननु यद्येवं तर्हि एतच्छास्त्राधिगमाय केषाञ्चन परेषां विदुषामभ्यर्थना क्रियतां

वादी लोगों के हृदय अर्थात् आशय को बलात् आक्रान्त कर 'आज यह (मूर्ख) हमको असत् सिद्ध करेगा या सत् अथवा दोनों, क्या (यह हमें) अनश्वर अथवा नाशवान्, परस्पर भिन्न अथवा अभिन्न (सिद्ध करेगा) ।' इस प्रकार सुन्दर मुख को देखने में लगे हुए तथा मौन के द्वारा निरुद्ध हृदय वाले वे संसार के पदार्थ, प्रतीत होता है कि बड़े दुःख के साथ रह रहे हैं ।'

इत्यादि स्थिति के द्वारा अनेक भंगिमाओं के साथ नृत्य करने हुए जो क्रीड़ा कर रहे हो अर्थात् जादूगर की भाँति मिथ्या समुल्लसित हो रहे हो, इसलिये वह वादी असहृदय भी .अपने को सहृदय मानते हुए मिथ्याभिमाने के कारण सर्वज्ञ समझता है और तुमको अर्थात् पदार्थसमूह को अचेतन कहता है तो हम समझते हैं कि यह वादी चैतन्यस्वभाव वाले आपके साथ जो साम्य रखता है अर्थात् आपको जड़ समझना है वह निन्दा के स्थान पर स्तुति ही है ।

पदार्थों का रूप वस्तुतः चेतन ही है । यदि वे चेतन नहीं हैं तो फिर उनका कोई रूप ही नहीं होगा । इस बात को जो लोग नहीं जानते वे जड़ से भी जड़ हैं । इसलिये उनका चेतन पदार्थों के साथ निन्दापर्यवसायी साम्य कैसे हो सकता है? इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में भी जो इस ग्रन्थ का तत्त्व नहीं जानता, मत जाने, किन्तु जो उल्टा-पुल्टा बोलता है वह जड़ है । इस विषय में ग्रन्थ का कोई दोष नहीं है ॥ ३३२ ॥

यदत्र यथावस्त्वेव बुद्ध्वा द्वेषो मा कार्यः ? इत्याशङ्क्याह—

इह गलितमलाः परावरज्ञाः
शिवसद्भावमया अधिक्रियन्ते ।
गुरवः प्रविचारणे यतस्तद्
विफलाद्वेषकलङ्कहानियाच्ञा ॥ ३३३ ॥

इह द्वये पुरुषाः सन्ति—अनायातशक्तिपाता आयातशक्तिपाताश्च । तत्र पूर्वेषां शतशोऽभ्यर्थितानाम् एतदधिगमाय मनोऽपि न प्रसरति । इत्यत्र अवधातव्यम्, द्वेषो माकार्यः इत्यभ्यर्थनाया असामर्थ्यम् । अपरे च अनभ्यर्थिता अपि स्वयमेव एतदधिगमाय प्रवर्तन्ते इति तत्रापि एवमभ्यर्थनाया वैयर्थ्यम् । तदाह— 'द्वेषकलङ्कहानियाच्ञा' इति । आयातशक्तिपाताश्च कीदृशाः ? इत्याह—गलितमलाः इति, गलितं मलम्—अज्ञानं येषां ते तथाविधाः, अत एव च परम् आदिमम् अनुत्तरम् अवरम् अन्त्यम् विसर्गं च ये जानते ते पराहंपरामर्शात्मकमन्त्रवीर्यज्ञाः—इत्यर्थः अत एव शिवसद्भावमयाः—परप्रमात्रेकात्मज्ञानशालिनः इति

यदि ऐसा है तो इस शास्त्र के ज्ञान के लिये किन्हीं दूसरे विद्वानों की प्रार्थना की जानी चाहिये, जिससे कि इसके विषय में यथार्थ ज्ञान कर द्वेष न करें । यह शङ्का कर कहते हैं—

इस (शास्त्र के) विचार-विमर्श में, विगलितमल वाले, पर (= प्रकाश अनुत्तर) और अवर (= विमर्श या सृष्टि) को जानने वाले (फलतः) शिव सद्भावमय गुरुजन ही अधिकारी हैं (क्योंकि उनके उपर शक्तिपात हो चुका है) । (जो शक्तिपात रहित हैं) चूँकि वे उस (सन्दर्भ = गलितमलत्व परावरज्ञत्व आदि) के विषय में विफल हैं (अतः उनसे इस ग्रन्थ के अध्ययन के लिए अभ्यर्थना करना) द्वेष कलङ्क और हानि की याचना (करने के समान है) ॥ ३३३ ॥

इस संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं—अनायात शक्तिपात वाले और आयात शक्तिपात वाले । इनमें से पहली श्रेणी वाले व्यक्तियों की सैकड़ों बार प्रार्थना करने पर भी इस शास्त्र को जानने के लिये मन नहीं फैलता । यहाँ यह समझना चाहिये कि द्वेष न करने के लिये अभ्यर्थना समर्थ नहीं है (अर्थात् अभ्यर्थना व्यर्थ है) । दूसरी श्रेणी के वे लोग हैं जो बिना प्रार्थना के भी स्वयं इस शास्त्र को जानने के लिये प्रवृत्त होते हैं । इसलिये वहाँ भी प्रार्थना व्यर्थ ही है । वही कहते हैं—द्वेष, कलङ्क और हानि देने वाली याच्या (व्यर्थ) है । आयातशक्तिपात (साधक) कैसे हैं ?—यह कहते हैं—गलितमलाः । गलित (= नष्ट) हो गया है मल = अज्ञान जिनका वे लोग । इसलिये वे पर = आदिम, अनुत्तर = अवर और अन्त्य = विसर्ग को जानते हैं । अर्थात् वे पर अहं परामर्शरूप मन्त्र के वीर्य को जानने वाले होते हैं । ये ही लोग शिवसद्भावमय अर्थात् परप्रमाता के साथ ऐकात्म्य भाव

यावत्, अत एव च गुरवः—तात्त्विकार्थोपदेशिनः इति—एतदधिगमाय त एव परमाधिकारिणः इत्युक्तं यतः प्रविचारणेऽधिक्रियन्ते इति, यद्वक्ष्यति—

'गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः ॥' इति ॥ ३३३ ॥

इह आह्निकादाह्निकान्तरस्य सञ्चयन्यायेन परस्परमनुस्यूततां दर्शयितुम् एकेनैव श्लोकेन तत्पर्यन्तप्रारम्भयोरुपसंहारोपक्रमौ करोति, इति अस्य ग्रन्थकारस्य शैली—इति श्लोकस्य प्रथमार्धेन आह्निकार्थमुपसंहरति—

तन्त्रालोकेऽभिनवरचितेऽमुत्र विज्ञानसत्ता-
भेदोद्वारप्रकटनपटावाह्निकेऽस्मिन्समाप्तिः ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके विज्ञानभेदप्रकाशनं नाम प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

पटौ इति पाक्षिकः पुंवद्भावः । इति शिवम् ॥

को जानने वाले होते हैं । इसीलिये ये गुरु = तात्त्विक अर्थ के उपदेष्टा हैं । इस को जानने के लिये वे ही परम अधिकारी हैं । यही कहा गया कि—जिस कारण वे विचार के लिये अधिकृत होते हैं । जैसा कि कहेंगे—

'गुरु का यही लक्षण है कि वह (शिष्य को) आदिम और अन्तिम तत्त्व का ज्ञान कराये । वही ज्ञानी भैरव और देवतात्मक है तथा हमारी भाँति पूज्य है' ॥ ३३३ ॥

यहाँ पर सञ्चयन्याय से एक आह्निक की दूसरे आह्निक से परस्पर सम्बन्द्धता दिखलाने के लिये एक ही श्लोक से (प्रथम आह्निक का) अन्त तथा (द्वितीय आह्निक का) प्रारम्भ का उपसंहार और उपक्रम करते हैं—यह इस ग्रन्थकार की शैली है । इसलिये श्लोक के पूर्वार्द्ध से इस आह्निक के वक्तव्य का उपसंहार करते हैं—

अभिनवगुप्तरचित इस तन्त्रालोक में विज्ञानसत्ताभेदोद्वार को प्रकट करने में पटु इस आह्निक की समाप्ति की गयी है ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के प्रथम आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १ ॥

'पटौ' इस पद में वैकल्पिक पुंवद् भाव है ।

श्रीशृङ्गाररथादवाप्य कृतिनो जन्मानवद्यक्रमं
श्रीमच्छङ्कधरात्परं परिचयं विद्यासु सर्वास्वपि।
श्रीकल्याणतनोः शिवादधिगमं सर्वागमानामपि
व्याख्यातं प्रथमाह्निकं जयरथेनात्रावधेयं बुधैः ।।

।। इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते विज्ञानभेद प्रकाशनं नाम प्रथममाह्निकं समाप्तम् ।। १ ।।

।। श्रीशिवार्पणमस्तु ।।

पुण्यवान् श्री शृङ्गाररथ से अनिन्द्य क्रम वाले जन्म को प्राप्त कर, श्री मान् शङ्कधर से समस्त विद्याओं का परिचय प्राप्त कर, शिवस्वरूप श्री कल्याणतनु से समस्त आगमों का अधिगम कर जयरथ ने प्रथम आह्निक की व्याख्या की । विद्वान् लोग इस पर ध्यान दें ।

श्रीमन् महामाहेश्वर आचार्यवर्य श्रीमान् अभिनवगुप्त द्वारा रचित तथा राजानक जयरथकृत विवेक नामक व्याख्या से युक्त तन्त्रालोक में विज्ञान भेद प्रकाशन नामक प्रथम आह्निक समाप्त हो गया ।

।। इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के प्रथम आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ।। १ ।।
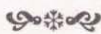
द्वितीयमाह्निकम्
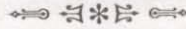
*** विवेक ***

जयतान्नतजनजयकृत्सजयो रुद्रो विनाभ्युपायं यः ।
पूरयति कं न कामं कामं कामेश्वरत्वेन ॥

इदानीम्—

'यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते ।'

इतिस्थित्या आणवादीनां यथायथमुत्कर्षादिह पूर्वपूर्वमेवाभिधानमिष्यते इत्युपेयैकरूपत्वेन शांभवादप्यनुपायस्योत्कृष्टत्वम्, इति प्रथमं तत्स्वरूपमेवाभिधातुमाह्निकान्तरारम्भं द्वितीयार्धेन प्रतिजानीते—

यत्तत्राद्यं पदमविरतानुत्तरज्ञप्तिरूपं ।
तन्निर्णेतुं प्रकरणमिदमारभेऽहं द्वितीयम् ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

प्रणत लोगों को विजय देने वाले जय से युक्त रुद्र सबसे बढ़कर हों, जो कामेश्वर होने के कारण विना उपाय के भी किस कामना को स्वेच्छया पूरी नहीं करते? ॥ १ ॥

अब—

'जो जिसकी अपेक्षा गुणों में उत्कृष्ट है वह उससे ऊँचा कहा जाता है ।'

इस स्थिति से आणव आदि का क्रमशः उत्कर्ष होने से यहाँ पूर्व-पूर्व कथन वाञ्छित है । इसलिए उपेय रूप होने से शांभवोपाय की अपेक्षा भी अनुपाय उत्कृष्ट है इस कारण पहले उसी का स्वरूप बतलाने के लिये दूसरे आह्निक के आरम्भ की (श्लोक के) उत्तरार्द्ध से प्रतिज्ञा करते हैं—

जो वहाँ निरन्तर अनुत्तर ज्ञान रूप प्रथम पद है उसका निर्णय करने के लिय मैं दूसरे प्रकरण का प्रारम्भ करता हूँ ॥ १ ॥

तन्निर्णयमेवाह—

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै ।
सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते ॥ २ ॥

'वै'शब्दोऽवधारणे, तेन नैव कश्चिदर्थः—इत्यर्थः । अत्रैव समाधत्ते—'सकृत्स्यात्' इत्यादिना, देशना इत्युपलक्षणम्—तेन सिद्धदर्शनाद्यपि ग्राह्यम्, यदुक्तम्—

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम् ।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम् ॥
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने ।' इति ॥

सकृदिति—न पुनरुपायानुभवः पौनःपुन्येन—इत्यर्थः ।

अत एवाह—'पश्चादनुपायत्वमुच्यते' इति, आणवादौ असकृद्भाव्यमानो हि देशनादि उपेयप्राप्तिं विदधाति इति तत्र तथात्वमुक्तम्, इह तु न तथा इत्यनुपायत्वम्, पर्युदासस्य 'अनुदरा कन्या' इति वदल्पार्थत्वेऽपि भावात् अल्पोपायत्वमित्यर्थः । प्राप्तव्ये हि प्राप्ते किं नाम निरर्थकैरायासकारिभिर्भावनादिभिः इति भावः, यदुक्तम्—

उसका निर्णय ही कहते हैं—

अनुपाय जिस रूप वाला है उसमें देशना का कोई प्रयोजन नहीं होता । एक बार उपदेश हो जाता है और वही बाद में अनुपाय कहलाता है ॥ २ ॥

वै शब्द निश्चय अर्थ में (प्रयुक्त) है । इसलिए 'कोई प्रयोजन नहीं है'—यह अर्थ हैं । यहीं पर 'एक बार होती है'—इत्यादि के द्वारा समाधान करते हैं । देशना—यह उपलक्षण है इसलिए सिद्ध का दर्शन आदि भी (कारण) मान लेना चाहिये । जैसा कि कहा गया है—

'हे वरानने! सिद्धों और योगिनियों का दर्शन, चरु का भोजन, कथन, शास्त्र में प्रवृत्ति, साधना, गुरु की सेवा इत्यादि यह अनुपाय का सङ्क्षेप है ।'

एक बार अर्थात् बार-बार उपाय का अनुभव नहीं होता । इसीलिए कहते है—'बाद में अनुपायत्व कहा जाता है ।' आणव आदि (उपायों) में उनकी बार भावना की जाने वाली देशना आदि उपेय की प्राप्ति कराती है इसलिए वहाँ वैसा कहा गया । यहाँ वैसा नहीं है इसलिए अनुपायता (कही गई है) । पर्युदास (नञ्) के 'अनुदरा कन्या' इस (प्रयोग के समान अल्प अर्थ में भी होने से अल्प उपाय—यह अर्थ है—प्राप्तव्य के प्राप्त होने पर निरर्थक एवं आयासकारी भावना आदि से क्या (लाभ) ?—यह तात्पर्य है । जैसा कि कहा गया है—

'उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः ॥
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिताः ।
विना भूयोऽनुसंधानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः ॥' इति ॥ २ ॥

नन्वत्र प्रसज्यप्रतिषेधपक्षावलम्बनेनाविद्यमानोपायत्वमेव, इति मुख्योऽर्थः कस्मान्न व्याख्यातः?—इत्याशङ्क्याह—

अनुपायमिदं तत्त्वमित्युपायं विना कुतः ।
स्वयं तु तेषां तत्तादृक् किं ब्रूमः किल तान्प्रति ॥ ३ ॥

'इदमनुपायं तत्त्वम्' इत्याद्युपदेशादिना केनचिदुपायेनावश्यं भाव्यम्, अन्यथा लक्षणमुपायमन्तरेण कथं सिद्ध्येत्, इत्युक्तम् 'इत्युपायं विना कुतः' तेन सकृदुपदेशादिना केनचिदुपायेनावश्यं भाव्यम्, अन्यथा ह्यनुपायपरतत्त्वज्ञप्तिरेव न स्यात् । ननु स्वविमर्शबलात्स्वयमेव प्राप्तप्राप्तव्या अपि केचिद् दृश्यन्ते, इति किं सकृदुपदेशाद्यात्मना स्वल्पेनाव्युत्पन्नेन ?—इत्याशङ्क्याह—'स्वयमित्यादिना' तदित्यनुपायं परप्रकाशात्मकं रूपम्, किं ब्रूम इति—नहि तदधिकारेण शास्त्रस्यैव

'उपायों के द्वारा शिव का साक्षात्कार नहीं होता (प्रत्युत) वे उसकी कृपा से दृष्ट होते हैं । वही स्वप्रकाश विश्वरूपवाला मैं भासित हो रहा हूँ । गुरु के इस वाक्य को एक बार सुनकर निश्चित (तत्त्व) वाले कोई पुनः अनुसन्धान के विना भी संविन्मय (रूप में) स्थित होकर आभासित होते हैं' ॥ २ ॥

प्रश्न—यहाँ पर (नञ् के) प्रसज्य प्रतिषेध पक्ष के अवलम्बन के द्वारा अविद्यमान उपायता—यही मुख्य अर्थ क्यों नही व्याख्यात हुआ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनुपाय नामक तत्त्व (भी शिवत्व प्राप्ति का एक प्रकार का उपाय ही है) वह उपाय के विना कैसे सम्भव है । कुछ लोगों को वह उसी प्रकार (= विना उपाय के) प्राप्त हो जाता है । (हम) उनके विषय में क्या कहें ? ॥ ३ ॥

'यह अनुपाय तत्त्व हैं' इत्यादि उपदेश आदि के कारण कोई उपाय अवश्य होना चाहिये अन्यथा उपाय के विना लक्षण कैसे सिद्ध होगा? इसलिए कहा गया—'उपाय के विना कैसे' ? इसलिए एक बार उपदेश आदि कोई उपाय अवश्य होना चाहिये । अन्यथा अनुपाय के द्वारा परतत्त्व का ज्ञान ही नहीं होगा । प्रश्न—अपने विमर्श के बल से स्वयं ही प्राप्तव्य को प्राप्त किये हुए कुछ लोग देखे जाते हैं—फिर एक बार उपदेश आदि रूप स्वल्प अव्युत्पन्न से क्या (लाभ) ? —यह शङ्का कर कहते हैं—

'स्वयम् इत्यादि के द्वारा । तत् = परप्रकाशत्मकरूप अनुपाय । क्या कहें—

प्रवृत्तिर्भवेत्—इति भावः, तदुक्तम्—

'तत्त्वज्ञस्य तृणं शास्त्रं...................... । इति ॥

यदभिप्रायेणैव—

'संसाराम्बुनिधिं यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः
नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्खः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिरवान् ।'

इत्यादावत्यन्ततज्ज्ञस्य शास्त्रे नाधिकार उक्तः, तेन वयमर्वाग्दर्शिनोऽप्यदृष्टेऽर्थे शास्त्रैकदिव्यचक्षुष आरुरुक्षुनायातशक्तिपातान्प्रत्येव किञ्चन ब्रूमः—तेषां ह्येवमुपायमन्तरेण न कदाचिदप्युपेयप्राप्तिर्भवेत् इत्येवमुक्तम्, यद्वक्ष्यति—

'नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ।' इति ॥ ३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि अल्प एव कश्चिदुपायांशः समुपदिश्यतां येनोपदेश्यजनस्य सुखमेव उपेयप्राप्तिः स्यात्, किं बह्वायासदायिभिरन्यैरुपायैः ? इत्याशङ्क्याह—

यच्चतुर्धोदितं रूपं विज्ञानस्य विभोरसौ ।
स्वभाव एव मन्तव्यः स हि नित्योदितो विभुः ॥ ४ ॥

उस पर अधिकार होने से शास्त्र की ही प्रवृत्ति नहीं होगी—यह भाव है। वही कहा गया है—

'तत्त्वज्ञानी के लिये शास्त्र तृण (के समान) है ।'

इसी अभिप्राय से—

'जो कोई उत्तम (पुरुष) संसारसागर को पार करना चाहता है (वह यदि) अत्यन्त उस (तत्त्व) का ज्ञानी नहीं है और न मूर्ख है, वह इस शास्त्र में अधिकारी है ।'

इत्यादि में अत्यन्त उसके ज्ञानी का शास्त्र में अधिकार नहीं कहा गया है। इसलिए हम लौकिक चक्षु वाले भी अदृष्ट तत्त्व के विषय में शास्त्रैकदिव्य चक्षु वाले (इस मोक्ष मार्ग पर) आरोहण करने की इच्छा वाले शक्तिपातयुक्त लोगों के प्रति ही कुछ कहते हैं । इस प्रकार के उपाय के बिना उनको कभी भी उपेय की प्राप्ति नहीं होती इसलिए ऐसा कहा गया । जैसा कि कहेंगे—

'मलिन चित्त वाले पुरुष के लिये अनुपाय वाला अनुग्रह नहीं है ॥ ३ ॥'

प्रश्न—यदि ऐसा है तो कोई छोटे उपायांश का ही उपदेश कीजिये जिससे उपदेश्य व्यक्ति को सुखपूर्वक उपेय की प्राप्ति हो जाय फिर बहुत परिश्रम देने वाले अन्य उपायों से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विज्ञान का यह जो चार प्रकार का रूप कहा गया उसे व्यापक (परमेश्वर) का स्वभाव ही मानना चाहिये । क्योंकि वह व्यापक (परमात्मा)

यच्चतुर्धा—अनुपायादिभेदेन विज्ञानस्य रूपमुक्तं तद्विभोः परमेशवरस्यैव स्वातन्त्र्यं ज्ञेयम्, स एव हि स्वस्वातन्त्र्यादतिनिर्ह्रासतारतम्यादियोगाद्विचित्रेणोपदेश्यजनात्मना प्रस्फुरन् तदनुसारमेव तत्तदुपायवैचित्र्यमप्याभासयेत् । नन्वेक एव विचित्रेण रूपेण च स्फुरति, इति किमेतत्? इत्याशङ्क्याह—'स हीत्यादि' नित्योदित इति—अप्रच्युतप्राच्यस्वरूपः अत एव 'विभुः' व्यापकः—तत्तद्वैचित्र्यग्रहणकालेऽप्यनुगत एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अत एवाह—

एतावद्भिरसंख्यातैः स्वभावैर्यत्प्रकाशते ।
केऽप्यंशांशिकया तेन विशन्त्यन्ये निरंशतः ॥ ५ ॥

एतावद्भिरिति—चतुर्भिः, असंख्यातैरिति—तत्तदवान्तरभेदात् तेनेति—अनेकेन स्वभावेन प्रकाशनात् ॥ ५ ॥

न केवलमत्रेयदेव वैचित्र्यं यावदन्यदप्यस्ति—इत्याह—

तत्रापि चाभ्युपायादिसापेक्षान्यत्वयोगतः ।
उपायस्यापि नो वार्या तदन्यत्वाद्विचित्रता ॥ ६ ॥

नित्योदित है ॥ ४ ॥

जो अनुपाय आदि भेद से विज्ञान का चार प्रकार का रूप कहा गया वह विभु परमेश्वर का ही स्वातन्त्र्य समझना चाहिये । वही अपने स्वातन्त्र्य से अतिनिर्ह्रास क्रम के योग से विचित्र उपदेश्य व्यक्ति के रूप में स्फुरित होता हुआ उसके अनुसार ही भिन्न-भिन्न विचित्र उपायों को भी आभासित करता है। प्रश्न—एक ही विचित्र रूप से स्फुरित होता है यह क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—'वह' इत्यादि । नित्योदित = जिसका पूर्व रूप च्युत न हुआ हो । इसलिए विभु = व्यापक = उन-उन वैचित्र्य के ग्रहणकाल में भी अनुगत—यह तात्पर्य है ॥ ४ ॥

इसीलिए कहते हैं—

जो (विज्ञान रूप आत्मतत्त्व) इन असंख्य स्वभावों के रूप में प्रकाशित है उसमें कुछ लोग अंश-अंश करके और कुछ लोग अखण्ड रूप से प्रविष्ट होते हैं ॥ ५ ॥

इतने के द्वारा = चार के द्वारा । असंख्यात = उन-उन अवान्तर भेद के कारण । उस के द्वारा = अनेक स्वभाव से प्रकाशित होने से ॥ ५ ॥

यहाँ केवल इतना ही वैचित्र्य नहीं है बल्कि और भी है—यह कहते हैं—

उसमें भी उपाय की अपेक्षा रखकर या अन्य किसी प्रकार (प्रकाश में प्रवेश सम्भव है) । उससे भिन्न होने के कारण भी उपाय की विचित्रता का

उपायस्यापीति—अपिशब्दो भिन्नक्रमः, तेन नो वार्या तदन्यत्वादपि, इति व्याख्येयम्, एतच्च प्रथमाह्निक एव वितत्य निर्णीतम् इति—नेह पुनरायस्तम् ॥ ६ ॥

एवमेतत् प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह—

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयं स्वसंविदम् ।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते ॥ ७ ॥

ये केचन तीव्रतीव्रशक्तिपातानुविद्धा विकल्पकलङ्कान्मुक्ताः ,भैरवीयां पूर्णम् अत एवानुपायाम्—अनपेक्षाम्, आत्मसंविदम्, आविष्टाः, तेषां विधिः—पूर्णासंविदावेशक्रमात्मा प्रकारः, प्रकर्षेण निगद्यते—युक्तियुक्तत्वेन भण्यते—इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तदेवाह—

तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।

उपायः खलु करणे प्रसृते, अतश्च पूर्णेन भाव्यमेव, इति सर्वेषामविवादः, न चात्रैवम्—क्रियादयो हि संवेद्यमानत्वात्संविन्निष्ठा एव, इति संविच्छक्तिं विना

निवारण सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥

उपायस्यापि, यहाँ 'अपि' शब्द का क्रम भिन्न है । इसलिए 'उससे अन्य होने पर भी वार्य नहीं है'—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । और इसका प्रथम आह्निक में ही विस्तारपूर्वक निर्णय हो गया है इसलिए ये यहाँ पुनः विस्तार नहीं किया गया ॥ ६ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को ही कहते हैं—

उनमें से जो निर्मल स्वभाव वाले (साधक) अनुपाय भैरवीय आत्म-संवित् को प्राप्त कर चुके हैं उन (अनुपाय वालों) की विधि (यहाँ) बतलायी जा रही है ॥ ७ ॥

जो कोई तीव्र-तीव्र शक्तिपात से अनुविद्ध, विकल्प कलङ्क से मुक्त, भैरवीय अर्थात् पूर्ण इसीलिए अनुपाय अर्थात् निरपेक्ष आत्मसंविद् में आविष्ट हैं उनकी विधि अर्थात् पूर्ण संविदावेशक्रमरूप प्रकार, प्रकर्ष के साथ कहा जा रहा है अर्थात् युक्तियुक्त रूप में कथित हो रहा है ॥ ७ ॥

वही कहते हैं—

उस (= संविदावेश के विषय) में क्रिया योग उपाय नहीं बन सकता ॥ ८- ॥

करण के प्रसरण के बाद ही उपाय होता है । इसलिए पूर्ण होता है । इस

अप्रसिद्धत्वात् कथं तत्रोपायतामासादयेयुः, अतः प्रत्युत क्रियादीनां बहिराभासने संविदुपायः, इति युक्तम् ।। अत एवाह—

स हि तस्मात्समुद्भूतः प्रत्युत प्रविभाव्यते ॥ ८ ॥

तस्मादित्यनुपायात्संवित्तत्त्वात् ।। ८ ।।

अथ यद्यस्य क्रियादि न कारकम् अपि तु ज्ञापकम् इति उच्यते, तदपि न युज्यते, इत्याह—

ज्ञप्तावुपाय एव स्यादिति चेज्ज्ञप्तिरुच्यते ।
प्रकाशत्वं स्वप्रकाशे तच्च तत्रान्यतः कथम् ॥ ९ ॥

इह जडस्तावत् स्वयमप्रकाशात्मा स्वात्मनो न प्रकाशते, अपि तु परस्य, इति—पर एवास्य प्रकाशः, अजडस्तु स्वयं प्रकाशात्मा स्वात्मन एव प्रकाशते, न परस्य, इति—न परोऽस्य प्रकाशोऽपितु स्व एव अस्य प्रकाशः, तस्यापि परप्रकाशत्वे ह्यप्रकाशांत्मत्वात् जाड्यं स्यात्, अत एवाह—'स्वप्रकाशे तच्च तत्रान्यतः कथम्' इति प्रकाशत्वम्, एवं चान्योऽपि स्वप्रकाशो वा स्यात् अन्यथा

विषय में सबका एकमत है । यहाँ ऐसा नहीं है । क्रिया आदि संवेद्यमान होने के कारण संविद् में ही रहती है । इसलिए संवित्शक्ति के बिना अप्रसिद्ध होने से वहाँ कैसे उपायत्व को प्राप्त होगी । इसलिए क्रिया आदि के बाह्याभास में संविद् उपाय है—यह ठीक है । इसलिए कहते हैं—

बल्कि वह (= क्रियायोग) उससे उत्पन्न होकर अनुभूत हो जाता है ।। -८ ।।

उससे—अनुपाय संवित्तत्त्व से ।। ८ ।।

यदि ऐसा कहा जाय कि क्रिया आदि इसके कारक नहीं है बल्कि ज्ञापक है तो यह भी ठीक नहीं हैं—यह कहते हैं—

उपाय ही ज्ञप्ति के विषय में समर्थ है इसलिए ज्ञान ही प्रकाश है । वह (= चेतन) स्वप्रकाश है, उस विषय में दूसरे से क्यों (सहायता ली जाय) ।। ९ ।।

जड़ स्वयं अप्रकाशरूप है अपने द्वारा प्रकाशित नहीं होता बल्कि पर के द्वारा। इसलिए पर ही इसका प्रकाशक है । किन्तु अजड़ स्वयं प्रकाशात्मा स्वयं प्रकाशित होता है न कि दूसरे के द्वारा । पर इसका प्रकाशक नहीं है बल्कि (यह) स्वयं ही इसका प्रकाश है । उसके (= संवित् के) भी परप्रकाश्य होने पर अप्रकाशरूप होने के कारण (उसमें) जड़ता आ जायगी । इसीलिए कहते हैं—'उसके स्वप्रकाश होने पर उसमें दूसरे से कैसे वह (प्रकाश आयेगा) ।' इस प्रकार (उसमें) प्रकाशकता है । इसी प्रकार दूसरा भी या तो स्वप्रकाश होगा या नहीं ।

वा, स्वप्रकाशत्वे प्रथमस्यैव तथाभाव उच्यताम्, अनेनापि कोऽर्थः, अन्यथात्वे तस्यापि जाड्यापत्तिः, इति प्रकाशत्वात्तत्प्रकाशनाय प्रमात्रन्तरापेक्षायामनवस्थापत्तिः, इति सर्वेषामेव अप्रकाशात्मत्वान्न किञ्चिदपि प्रकाशेत, इति—सर्वमिदमन्धं स्यात् ॥ ९ ॥

तदाह—

संवित्तत्त्वं स्वप्रकाशमित्यस्मिन्किं नु युक्तिभिः ।
तदभावे भवेद्विश्वं जडत्वादप्रकाशकम् ॥ १० ॥

किं नु युक्तिभिरिति—बह्वीभिर्युक्तिभिर्न किञ्चित्प्रयोजनम्—इत्याह, एकैव हि युक्तिरियं सर्वातिशायिनी यत्संविदः स्वप्रकाशत्वं यदि न स्यात्, न किञ्चिदपि प्रकाशेत इति ॥ १० ॥

ननु यदि नाम अत्र न बाह्यः क्रियादिः प्रगल्भते तदा गुरुज्ञानादि उपायतां भजताम् ? इत्याशङ्क्याह—

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन ।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक्कथम् ॥ ११ ॥

स्वप्रकाश होने पर पहले का ही उस प्रकार का अस्तित्व कहिये । इससे (= दूसरे से) भी क्या तात्पर्य । अन्यथा होने पर वह भी जड़ होने लगेगा । इस प्रकार प्रकाश होने के कारण उसके प्रकाशन के लिये दूसरे प्रमाता की अपेक्षा होने पर अनवस्था की आपत्ति होने लगेगी । इस प्रकार सभी के अप्रकाशरूप होने से कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा । इस प्रकार यह सब अन्धा हो जायगा ॥ ९ ॥

वह कहते हैं—

संवित् तत्त्व स्वप्रकाश है इस विषय में तर्क देने से क्या लाभ ? उस संविद् के स्वप्रकाश के अभाव में जड होने से विश्व अप्रकाश अर्थात् अन्धा हो जायगा ॥ १० ॥

युक्तियों से क्या ? = बहुत सी युक्तियों से कोई प्रयोजन नहीं है इसलिए कहते हैं = एक ही यह युक्ति सबसे बढ़कर है कि यदि संविद् की स्वप्रकाशता नहीं होती तो कुछ भी प्रकाशित नही होता ॥ १० ॥

प्रश्न—यदि इस विषय में बाह्य क्रिया आदि समर्थ नहीं होते तो गुरु ज्ञान आदि उपाय हो जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जितने भी बाहरी या आन्तरिक उपाय हैं वे सब उस (= संवित् शक्ति) के मुखापेक्षी हैं इसलिए वह (= संवित्) उपाय का भागी कैसे हो सकती है ? ॥ ११ ॥

यावानिति—नानाशास्त्रोपदिष्टः, सर्व इति—बाह्य आन्तरो वा, तन्मुखप्रक्षीति—संविदधीनसिद्धिरित्यर्थः, यदपेक्ष्य हि यस्य सिद्धिरेवं भवति स कथं तस्य उपायतां यायादिति भावः ॥ ११ ॥

अत एवाह—

त्यजावधानानि ननु क्व नाम
धत्सेऽवधानं विचिनु स्वयं तत् ।
पूर्णेऽवधानं न हि नाम युक्तं
नापूर्णमभ्येति च सत्यभावम् ॥ १२ ॥

इह उपदिश्यमानेन स्वयमेव तावदवधातव्यम् इति परामर्शनीयम्, किं पूर्णे रूपे उतापूर्णे ? तत्र तावत्पूर्णे रूपेऽवधानं न युक्तम्, अवधानं खलु—प्रतिनियतावधेयविषयनिष्ठम् ऐकाग्र्यम्, अतश्च भेदप्रधानं न किञ्चित्फलमादातुं समर्थम् ॥ १२ ॥

तस्मादसामर्थ्यवैयर्थ्योपहतत्वादवधानस्यापि यत्र नास्ति उपायभावस्तत्र का वार्ता तदनुप्राणितस्य भावनादेः ? इत्याह—

तेनावधानप्राणस्य भावनादेः परे पथि ।

जितना = अनेक शास्त्रों में उपदिष्ट । सब = बाहरी अथवा भीतरी । उसके मुख को देखनेवाला = संविद् के अधीन सिद्धि वाला । जिसकी अपेक्षा जिसकी सिद्धि इस प्रकार होती है वह उसका उपाय कैसे होगा—यह तात्पर्य है ॥ ११ ॥

इसीलिए कहते हैं—

अवधान को छोड़ो । कहाँ अवधान कर रहे हो ? उस (संवित् रूप आत्मतत्त्व) का स्वयं चिन्तन करो । पूर्ण के विषय में अवधान करना ठीक नहीं और अपूर्ण कभी सत्यभाव (= पूर्ण अखण्ड भाव) को प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

उपदिश्यमान स्वयं ही ध्यान दे—ऐसा परामर्श करे । (वह ध्यान) पूर्ण के विषय में करे अथवा अपूर्ण के । पूर्ण के विषय में अवधान ठीक नहीं है । अवधान (का अर्थ है)—निश्चित अवधेय के विषय में रहने वाली एकाग्रता । इसलिए जो भेदयुक्त हैं वह किसी फल को प्राप्त करने समर्थ नहीं हैं ॥ १२ ॥

इसलिए असामर्थ्यरूप व्यर्थता के उपहत होने के कारण अवधान भी जहाँ उपाय नहीं हो सकता वहाँ उससे अनुप्राणित भावना आदि की क्या बात ? यह कहते हैं—

इसलिए अवधान से अनुप्राणित भावना आदि परम भैरवीय मार्ग के

भैरवीये कथङ्कारं भवेत्साक्षादुपायता ॥ १३ ॥

भैरवीये इति—पूर्णे ॥ १३ ॥

ये पुनरनेनापि उपायेनानुपायं परं तत्त्वमनुसरन्ति तान्प्रति किमुच्यते? इत्याह—

येऽपि साक्षादुपायेन तद्रूपं प्रविविक्षते ।
नूंन ते सूर्यसंवित्त्यै खद्योताधित्सवो जडाः ॥ १४ ॥

तदुक्तम्—

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥' इति ॥ १४ ॥

अत्रैव निमित्तान्तरमप्याह—

किं च यावदिदं बाह्यमान्तरोपायसंमतम् ।
तत्प्रकाशात्मतामात्रं शिवस्यैव निजं वपुः ॥ १५ ॥

इह खलु यत्किञ्चन उपायत्वेनाभीष्टं तदप्रकाशमानं प्रकाशमानं वा? अप्रकाशमानं चेत् तस्य न किञ्चिदपि रूपं स्यात्, इति किं नाम उपायतां

विषय में उपाय कैसे बन सकते हैं ? ॥ १३ ॥

भैरवीय = पूर्ण ॥ १३ ॥

जो इस उपाय के द्वारा अनुपाय रूप परतत्त्व का अनुसरण करते हैं उनके प्रति क्या कहा जाता है ?—यह कहते है—

जो लोग साक्षात् उपाय के द्वारा उस (भैरवीय) रूप को प्राप्त करना चाहते हैं निश्चित ही सूर्य को जानने (= देखने) के लिये जुगनू को पाने की इच्छा वाले वे जड़ ही हैं ॥ १४ ॥

वही कहा गया है—

'प्रत्यक्ष आप रूप अद्वैत तत्त्व के सब ओर से प्रकट रूप में स्थित होने पर भी जो लोग उपाय का आश्रय लेते हैं, निश्चित रूप से वे आपको नहीं जानते' ॥ १४ ॥

इसी विषय में कारणान्तर को भी बतला रहे हैं—

और भी जो कुछ बाह्य और आन्तर उपाय से सम्मत पदार्थ है वह शिव का ही प्रकाशस्वरूप अपना शरीर है ॥ १५ ॥

जो कुछ उपाय के रूप में इष्ट है वह क्या अप्रकाशमान है या प्रकाशमान ? यदि अप्रकाशमान है तो उसका कोई रूप नहीं होगा इसलिए कौन उपाय बने ।

भजताम्, प्रकाशमानं चेत् प्रकाशात्मा शिव एवावस्थितः, नहि तदतिरिक्त-मन्यत्किञ्चिदुपपद्यते, इति—कस्योपायभावः, उपायेन हि उपेयाद्व्यतिरिक्तेन भाव्यम्, तच्चात्र न युक्तम्, इति को नाम उपायोपेयभावार्थः ॥ १५ ॥

न केवलं भावनाद्येव उपायत्वेनाभीष्टमेवम्, यादवन्यदपि—इत्याह—

नीलं पीतं सुखमिति प्रकाशः केवलः शिवः ।
अमुष्मिन्परमाद्वैते प्रकाशात्मनि कोऽपरः ॥ १६ ॥
उपायोपेयभावः स्यात्प्रकाशः केवलं हि सः ॥ १७ ॥

भावनादेः सुप्रसिद्धेऽपि उपायत्वे निरस्ते अन्यस्य कस्यचित्सम्भावना-मात्रमपि मा भूत्, इत्येवमुक्तम् 'कोऽपर' इति, यत्र उपायत्वसम्भावनापि स्यात् ॥ १७ ॥

ननु यद्येवं तर्हि सर्वत्र प्रसिद्धोऽयं द्वैतव्यवहारः कथमपह्नूयते? इत्याशङ्क्याह—

इदं द्वैतमऽयं भेद इदमद्वैतमित्यपि ।
प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः ॥ १८ ॥

द्वैतव्यवहारोऽपि प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मैवेत्यभिप्रायः, एतच्च बहूनां वादिनां

यदि प्रकाशमान है तो प्रकाशात्मा शिव ही स्थित हैं । उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं तो कौन उपाय होगा । उपाय को उपेय से भिन्न होना चाहिये और वह यहाँ ठीक नहीं है इसलिए उपाय उपेय सम्बन्ध का तात्पर्य क्या है ? ॥ १५ ॥

केवल भावना आदि ही ऐसे उपाय के रूप में अभीष्ट नहीं हैं दूसरा भी है—यह कहते हैं—

नील पीत सुख यह सब प्रकाशस्वरूप शिव ही हैं । इस प्रकाश स्वरूप परमाद्वैत के विषय में कौन सा उपाय उपेय सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि वह केवल प्रकाश ही है ॥ १६-१७ ॥

भावना आदि के सुप्रसिद्ध उपाय होने पर भी निरस्त होने पर अन्य किसी की सम्भावना भी नहीं हो, इसलिये कहा गया—'कौन दूसरा' जिसको उपाय (मानने) की सम्भावना भी हो ॥ १६-१७ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो सर्वत्र प्रसिद्ध इस द्वैतव्यवहार को कैसे अस्वीकार किया जायगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह द्वैतमय है और यह अद्वैतमय—इस भेदरूप में भी प्रकाशरूप परमेश्वर ही भासित होता है ॥ १८ ॥

द्वैत व्यवहार भी प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशरूप ही है—यह तात्पर्य है ।

मतम्—इति द्योतयितुम् 'अयं भेद' इति पुनरुपादानमम्, यथा चाद्वैत- प्रतिभासे प्रकाशात्मा परमेश्वर एक एव प्रतिभासते तथा द्वैतप्रतिभासेऽपि, इत्यर्थमौपम्यं कटाक्षयितुम् 'इदमद्वैतमित्यपि' इत्युपात्तम् ॥ १८ ॥

ननु बाह्योऽर्थः प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मैव इत्यास्ताम्, अन्योन्यं पुनरस्य भेदे किमायातम्, इत्यापतितमेव द्वैतम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च ॥ १९ ॥

अस्यां भूमाविति—परमाद्वयदशायाम्—इत्यर्थः, 'एकार्थाः' इति—एकः प्रकाश एवार्थोऽभिधेयो येषां ते तथा, सुखदुःखादीनां हि प्रकाशातिरेकेण प्रातिस्विकं नियतं किञ्चन रूपं यदि स्यात् तदैवं सम्भावनापि भवेत्—इति भावः, अत एव—

'घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना ।'

इत्यादिरन्यैरुक्तम् । ननु यद्येवं तर्हि तदभिधायकत्वशब्दाभिप्रायेणापि द्वैतं स्यात् ? इत्याह—'शब्दास्तेऽप्येकमेव च' इति, एकमिति—संवेद्यमानत्वात् संवेदनमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

और यह बहुत से सैद्धान्तिकों का मत है—यह दिखलाने के लिये 'यह भेद' ऐसा पुनः पाठ किया गया । जिस प्रकार अद्वैत प्रतिभास में प्रकाशरूप परमेश्वर एक ही प्रतिभासित होता है उसी प्रकार द्वैत प्रतिभास में भी, इस उपमेय अर्थ को व्यक्त करने हेतु 'यह अद्वैत भी'—ऐसा कहा गया ॥ १८ ॥

प्रश्न—बाह्य अर्थ प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशरूप है तो रहे—इसका एक दूसरे से भेद होने पर क्या आया—अर्थात् द्वैत ही आ पड़ा—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस भूमि पर सुख दुःख, बन्ध मोक्ष, जड़ चेतन एक ही अर्थ को बताने वाले शब्द हैं जैसे घट और कुम्भ एक ही (अर्थ) को बतलाते हैं ॥ १९ ॥

इस भूमि में = परम अद्वय दशा में । एक अर्थ वाले = एक = प्रकाश ही अर्थ = अभिधेय है जिनका वे वैसे । सुख दुःख आदि का प्रकाश से भिन्न अपना यदि कोई निश्चितरूप होता तब ऐसी सम्भावना भी होती—यह भाव है। इसलिए—

'घट मेरे रूप में जानता है और मैं घट के रूप में जानता हूँ ।'

इत्यादि दूसरों (आचार्य सोमानन्द) के द्वारा कहा गया है । प्रश्न—यदि ऐसा है तो उसके अभिधायक शब्द के अभिप्राय से भी द्वैत हो जायगा—यह कहते हैं—'शब्द वे भी एक ही हैं' एक = संवेद्यमान होने के कारण संवेदन

ननु यदि नीलसुखादि प्रकाशमानत्वात्प्रकाश एव तर्हि तत्केन रूपेण प्रकाशते ? इत्याशङ्क्याह

प्रकाशे ह्यप्रकाशांशः कथं नाम प्रकाशताम् ।
प्रकाशमाने तस्मिन्वा तद्द्वैतास्तस्य लोपिताः ॥ २० ॥
अप्रकाशेऽथ तस्मिन्वा वस्तुता कथमुच्यते ।
न प्रकाशविशेषत्वमत एवोपपद्यते ॥ २१ ॥

अप्रकाशांश इति—सुखादिजडोऽर्थः, कथंनामेति—केन रूपेणेत्यर्थः, तत्र यदि प्रकाशात्मनैव प्रकाशते तत्तस्य नीलसुखादेः स्वभावस्य दोषः स्यात्—नियतेन नीलत्वादिना बाह्येन रूपेण न भायात्प्रकाश एव शिष्येत इति यावत्, अथ अप्रकाशात्मना नियतेनैव रूपेण प्रकाशते तत्तस्य सत्तानिश्चय एव न भवेत्, नहि प्रकाशमन्तरेण नीलादीनां कदाचिदपि स्वरूपं दृष्टम् 'अप्रकाशात्मना रूपेण प्रकाशते' इति वाचोयुक्तिश्च रिक्ता स्यात्, तदाह 'अप्रकाश' इत्यादि । प्रकाशः पुनर्नीलादिपरिहारेणानीलादावपि प्रकाशते, नीलादिर्हि उपाधिः, स च स्वस्वातन्त्र्यविजृम्भामात्ररूपत्वान्न वास्तवः, इत्यखण्ड एक एव प्रकाश उज्जृम्भते, यन्महिम्नैव इदं तत्तन्नीलाद्याभासात्म विश्वं स्फुरेत्, अत एवाह—'न

ही है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यदि नील सुख आदि प्रकाशमान होने के कारण प्रकाश ही है तो वह किस रूप में प्रकाशित होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रकाश में अप्रकाशांश किस तरह प्रकाशित हो सकते हैं । यदि वह (= प्रकाश) प्रकाशित होता है तो उसके द्वैत तो लुप्त हो जायेंगे । और यदि वह अप्रकाश है तो वह सत्य कैसे कहा जायगा । इसलिए क्या (उसका) प्रकाशविशेषत्व सिद्ध नहीं होता ॥ २०-२१ ॥

अप्रकाशांश = सुख आदि जड अर्थ । कैसे = किस रूप से । ऐसे में यदि (सुख आदि) प्रकाश रूप में प्रकाशित होते हैं तो उस नील सुख आदि के स्वभाव का दोष हो जायगा । निश्चित नीलत्व आदि बाह्य रूप में उसका भान नहीं होगा अर्थात् प्रकाश ही बचेगा । यदि अप्रकाशरूप निश्चित रूप से प्रकाशित होता है तो उसकी सत्ता का निश्चय ही नहीं होगा । क्योंकि प्रकाश के बिना नील आदि का कभी भी अपना रूप नहीं देखा गया । तथा 'अप्रकाशात्मक रूप से प्रकाशित होता है' यह वाग्युक्ति रिक्त हो जायगी । वही कहते हैं—अप्रकाश इत्यादि । प्रकाश नील आदि को छोड़कर अनील आदि में भी प्रकाशित होता है । नील आदि उपाधि है और वह स्वातन्त्र्य की जृम्भा (जँभाई) मात्र होने के कारण वास्तविक नहीं है । इसलिए अखण्ड एक ही प्रकाश प्रस्फुरित होता है जिसकी महिमा से ही यह भिन्न-भिन्न नील आदि आभास रूप विश्व, स्फुरित होता है । इसीलिए कहते है—

प्रकाशविशेषत्वमुपपद्यते' इति, अत इति—एकस्यैव अखण्डस्य प्रकाशस्य तत्तदाभासात्मना स्फुरणात् । ननु 'नीलप्रकाशोऽन्यः, पीतप्रकाशश्चान्य' इत्यादिरस्त्येव एषां भेदः, इति किमुक्तं 'न प्रकाशविशेषत्वमुपपद्यते' इति ? नैतत्—औपाधिको ह्ययं भेदः, स च न वास्तवः—इत्युपपादितं बहुशः, नीलादयो हि प्रकाशत्वात्प्रकाशात्मका एव इति किं केन भेद्यम्, नहि स्वात्मनैव स्वात्मा भिद्यते इत्येतदुक्तम्—'न च प्रकाशैकरूपायां संविदि संविदन्तरमस्ति' एवं हि स्वरूपभेदकृते भेदव्यवहारे क्रियमाणे एकभेदप्रकाशरूपत्वमेवोक्तं भवेत् इति गजस्नानतुल्यत्वं स्यात्, ततश्च पुनरपि 'एकैवाखण्डवित्' इत्येव पर्यवस्येत्, एवं च देशकालावपि प्रकाशदशामेवाधिशयानौ प्रकाश्यत्वात्प्रकाशैकात्म्यमेवावगाहमानौ कथङ्कारं प्रकाशस्य भेदाधायकौ स्याताम्, प्रकाशातिरेकाभ्युपगमे वा अनयोरत्र नित्यत्वव्यापकत्वाभ्या भेदाधानेऽसामर्थ्यम्, इत्येक एवाखण्डः प्रकाशः, इति—मतान्तरसिद्धिभिवाञ्छन्तः परे परं निरस्ताः ॥ २०-२१ ॥

तदाह—

अत एकप्रकाशोऽयमिति वादेऽत्र सुस्थिते ।
दूरादावारिताः सत्यं विभिन्नज्ञानवादिनः ॥ २२ ॥

'प्रकाशविशेष सिद्ध नहीं होता ।' इस कारण = एक ही अखण्ड प्रकाश के भिन्न-भिन्न आभास रूप में स्फुरित होने के कारण । प्रश्न—'नीलप्रकाश भिन्न है और पीतप्रकाश भिन्न है' इत्यादि इनका भेद है ही इसलिए कैसे कहा गया कि 'प्रकाशविशेष की सिद्धि नहीं होती?' ऐसा नहीं है—ये भेद औपाधिक है और वह वास्तविक नहीं है—ऐसा कई बार कहा गया हैं । नील आदि प्रकाशित होने के कारण प्रकाशरूप ही हैं इसलिए किसका किससे भेद किया जाय । अपने से अपना भेद नहीं किया जाता, इसलिए कहा गया—प्रकाशरूपा संविद् के रहते हुए दूसरी संविद् नहीं है इस प्रकार स्वरूपभेद के कारण भेदव्यवहार के किये जाने पर एकभेदप्रकाशयरूपता ही कथित होती है इस प्रकार यह हाथी के स्नान के समान (= नहीं के बराबर) हैं । इसलिए पुनः एक ही अखण्ड संविद् है यही अन्तिम निर्णय है । इस प्रकार देशकाल भी प्रकाशदशा में ही पड़े रहते हुए प्रकाश्य होने के कारण प्रकाशैकात्मता का अवगाहन करते हुए प्रकाश के भेदक कैसे हो जायेंगे या प्रकाश से भिन्न मानने पर इन दोनों का यहाँ नित्यत्व और व्यापकत्व के द्वारा भेद करने में सामर्थ्य नहीं है । इसलिए एक ही अखण्ड प्रकाश है । इस प्रकार मतान्तर की सिद्धि चाहने वाले दूसरे लोग भलीभाँति निरस्त हो गये ॥ २०-२१॥

वही कहते हैं—

इस प्रकार यह एक ही प्रकाश है इस सिद्धान्त के निश्चित होने पर विभिन्न ज्ञानवादी वस्तुतः दूर से ही निवारित हो जाते हैं ॥ २२ ॥

ननु यदि ज्ञानानि विभिन्नानि न सम्भवन्ति, तत् एकशब्द किमपोहनायात्र प्रयुक्तः? इत्याशङ्क्याह—

प्रकाशमात्रमुदितमप्रकाशनिषेधनात् ।
एकशब्दस्य न त्वर्थः संख्या चिद्व्यक्तिभेदभाक् ॥ २३॥

अप्रकाशः—प्रकाश्यो नीलादिर्बाह्योऽर्थस्तावन्निषिद्धः, अतः 'प्रकाशः केवलोऽस्ति' इत्येकशब्दस्यात्रासहायाद्वृत्तिः, तदुक्तं—'एकशब्दस्यार्थः प्रकाशमात्रमुदितम्' इति, न पुनः प्रकाशभेदभाक् इत्येकद्वित्र्यादिलक्षणः संख्यार्थो, येन—मतान्तराण्यप्यपोह्यतया सम्भवनीयानि स्युः ॥ २३ ॥

अत एवात्र भेदागूरकं व्यवहारमात्रमपि न ज्ञायते, इत्याह—

नैष शक्तिर्महादेवी न परत्राश्रितो यतः ।
न चैष शक्तिमान्देवो न कस्याप्याश्रयो यतः ॥ २४ ॥
नैष ध्येयो ध्यात्रभावान्न ध्याता ध्येयवर्जनात् ।
न पूज्यः पूजकाभावात्पूज्याभावान्न पूजकः ॥ २५ ॥

प्रश्न—यदि ज्ञान विभिन्न (रूप में) सम्भव नहीं है तो यहाँ एक शब्द किसे हटाने (या छिपाने) के लिये प्रयुक्त हुआ है ?—यह शंका कर कहते हैं—

अप्रकाश का निषेध होने से वह प्रकाशमात्र कहा गया है । (पूर्व श्लोक में) एक शब्द संख्यावाची नहीं है जिससे वह चिद् व्यक्ति का भेद बताये ॥ २३ ॥

अप्रकाश—प्रकाश्य नील आदि बाह्य अर्थ निषिद्ध है अतः 'प्रकाश केवल है' ऐसा 'एक' शब्द का असहाय तात्पर्य है । वही कहा गया है—'एक शब्द का' अर्थ प्रकाशमात्र कहा गया है' न कि प्रकाश का भेद बतलाने वाला एक, दो, तीन आदि लक्षणों वाला संख्या अर्थ है । जिससे दूसरे मत भी अपोह्य के रूप में सम्भावित हों ॥ २३ ॥

इसलिए यहाँ भेद को बतलाने वाला व्यवहारमात्र भी नहीं ज्ञात होता—यह कहते हैं—

यह (= महेश्वर) महादेवी शक्ति नहीं है क्योंकि वे परत्र (= किसी दूसरे पर) आश्रित नहीं हैं । यह महादेव शक्तिमान् भी नहीं है क्योंकि वह किसी (= शक्ति आदि) का आश्रय नहीं है । यह ध्येय भी नहीं है क्योंकि (उनसे अतिरिक्त कोई) ध्याता नहीं है । वे ध्याता भी नहीं है क्योंकि (उनके अतिरिक्त कोई दूसरा) ध्येय नहीं है । (इसी प्रकार) पूजक के न होने से वे पूज्य नहीं हैं और पूज्य के न होने से वे पूजक नहीं हैं ।

न मन्त्रो न च मन्त्र्योऽसौ न च मन्त्रयिता प्रभुः ।
न दीक्षा दीक्षको वापि न दीक्षावान्महेश्वरः ॥ २६ ॥

एष इति—व्याख्यातस्वरूपः परः प्रकाशः, शक्तिशक्तिमदादयो हि शब्दाः संबन्धिशब्दत्वान्नित्यसापेक्षाः इत्यन्यागूरणमन्तरेण स्वार्थ एव विश्रान्तिं लभन्ते, इति तैः क्रियमाणो व्यवहारो भेदनिष्ठ एव स्यात्, न चात्र परप्रमात्रेकात्मनि प्रकाशे भेदः कश्चिदस्ति, इत्येवं—व्यवहारमात्रतां कदाचिदपि स न यायात्, अतश्च नायं शक्तिः, सा हि परं शक्तिमन्तमाश्रित्यैव वर्तते इत्यनपेक्षत्वाद्भेदाविर्भावे प्रकाश एवैकः, इति प्रतिज्ञाया हानिः स्यात्, एवं शक्तिमच्छब्दव्यवहारोऽपि नायम्, सोऽपि हि परं शक्तिलक्षणमर्थमुररीकृत्यैव वर्तते, इति भेद एवापतेत्, एवं ध्येयादावपि ज्ञेयम्, मन्त्र इति । मन्त्रस्य प्रणवादेर्वाच्यः मन्त्रयिता मन्त्रणां पाठकः, न दीक्षेति कर्तृकर्मापेक्षित्वात्, अत्र च माहेश्वर्ये प्रभुत्वं हेतुः ॥ २४-२६ ॥

अत एव यत्किंचन भेदाधायकं तदत्र नास्ति, इत्याह—

स्थानासननिरोधार्घसंधानावाहनादिकम् ।

वे न मन्त्र हैं न मन्त्र से अभिमन्त्रण के योग्य (कोई वस्तु) हैं और न मन्त्रपाठ के स्वामी हैं । वे महेश्वर न दीक्षा है न दीक्षक और न दीक्षा के कर्म हैं ॥ २४-२६ ॥

यह = जिसका स्वरूप व्याख्यात हो चुका है वह पर प्रकाश । शक्ति शक्तिमत् आदि शब्द सम्बन्धीशब्द होने के कारण नित्य सापेक्ष हैं । इसलिए दूसरे को बतलाने के बदले स्वार्थ में ही विश्राम करते हैं । इसलिए उनके द्वारा किया जाने वाला व्यवहार भेद में ही होगा । किन्तु इस पर केवल प्रमातारूप प्रकाश में कोई भेद नहीं है । इस प्रकार वह कभी भी व्यवहार को नहीं प्राप्त हो सकता । इसलिए यह शक्ति नहीं है । वह (शक्ति) पर शक्तिमान् को आश्रित करके वर्त्तमान है । इसलिए निरपेक्ष होने के कारण भेद का आविर्भाव होने पर 'एक प्रकाश ही है' यह प्रतिज्ञा समाप्त हो जायगी । इस प्रकार यह शक्तिमत् शब्द का व्यवहार भी नहीं है। वह भी पर शक्ति लक्षण वाले अर्थ को मान कर ही चलता है इस प्रकार भेद ही आ जाता है। इसी प्रकार ध्येय आदि के विषय में भी जानना चाहिये । मन्त्र (का अर्थ है) प्रणव आदि का वाच्य । मन्त्रयिता = मन्त्रों का पाठ करने वाला। दीक्षा नहीं—कर्त्ता और कर्म का अपेक्षी होने के कारण । इस माहेश्वर्य में कारण है—प्रभुता ॥ २४-२६ ॥

इसीलिए जो कुछ भेद को उत्पन्न करने वाला है वह यहाँ नहीं है—यह कहते हैं—

कर्त्ता कर्म क्रिया से रहित इस (= परमेश्वर) में स्थान, आसन,

विसर्जनान्तं नास्तयत्र कर्तृकर्मक्रियोज्झिते ॥ २७ ॥

स्थानम्—स्थापनमुद्रया भगवतोऽवस्थानम्, आसनम्—संनिधानमुद्रया पूजां प्रति औन्मुख्यम्, निरोधः—तत्रैवाविचलत्त्वेनास्थानम्, अर्धोऽष्टाङ्गः, संधानं मन्त्रादिविषयम्, आवाहनम्—अनभिमुखस्याभिमुखीकरणम्, विसर्जनम्—अभिमुखीभूतस्यानभिमुखीकरणम्, एषामावाहनादिविसर्जनान्तनामसत्त्वे हेतुगर्भं विशेषणम्—कर्तृ इत्यादि' कर्त्रादीनां हि विकल्पैकपरमार्थत्वात्, प्रकाशस्य च परप्रमात्रेकात्मकत्वेनाविकल्प्यत्वात् न केनचिदपि व्यपदेशेन व्यपदेष्टुं शक्यते, इति 'नैष शक्तिः इत्याद्युक्तम् ॥ २७ ॥

न चैतद्युक्तिमात्रशरणम् अपि त्वागमेनापि सिद्धम् इति श्रीभर्गशिखां सवादयति—

न सन्न चासत्सदसन्न च तन्नोभयोज्झितम् ।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम् ॥ २८ ॥
अयमित्यवभासो हि यो भावोऽवच्छिदात्मकः ।
स एव घटवल्लोके संस्तथा नैष भैरवः ॥ २९ ॥

लोके हि सजातीयव्यावृत्तौ यः कश्चिदर्थः 'अयमिति' पुरोवर्तित्वेनावभासते

निरोध, अर्घ, सन्धान और आवाहन से लेकर विसर्जन तक कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

स्थान = स्थापनपुद्रा के द्वारा भगवान की स्थिति । आसन = संनिधान मुद्रा के द्वारा पूजा के प्रति उन्मुखता । निरोध = उसी स्थिति में अवचिल रूप से रहना । अर्घ = अष्टाङ्ग । सन्धान—यह मन्त्र आदि के विषय में होता है । आवाहन = अनभिमुख को अभिमुख करना । इन आवाहन से लेकर विसर्जन तक के बारे में हेतु गर्भित विशेषण है—कर्त्तृ इत्यादि । कर्त्ता आदि के विकल्पमात्र परमार्थ होने से तथा प्रकाश के केवल परप्रमातृरूप होने के विकल्प न होने के कारण (वह) किसी भी व्यवहार से व्यवहृत नहीं किया जा सकता—इसे बतलाने के लिये 'यह शक्ति नहीं'—इत्यादि कहा गया ॥ २७ ॥

इसके पक्ष में केवल में केवल युक्ति नहीं है बल्कि (यह) आगम से भी सिद्ध है इसे भर्गशिखा से संवादित करते हैं—

वे न सत् न असत् न सदसत् और न सदसत् से रहित हैं । वह अवस्था दुर्विज्ञेय हैं । यह अनुत्तर (भगवान्) विलक्षण तत्त्व हैं । 'अयम्' इस प्रकार का अवभास वाला जो पदार्थ है वह अवच्छेदात्मक (= इतर से व्यावृत्त अतएव सीमित) है । वही लोक व्यवहार में घट आदि के समान व्यवहृत होता है । यह 'सत्' भैरव वैसे नही हैं ॥ २८-२९ ॥

भावः, स एव 'सत्' इत्यभिधीयते, यथा—घट इति, समनन्तरव्याख्यात-स्वरूपः प्रकाशः पुनरनन्तभावनिर्भरो न तथा—महासत्तात्मत्वेनानवच्छिन्नत्वात् नैवंरूपः—सच्छब्दव्यवहार्यो न भवति, इति यावत् ॥ २८-२९ ॥

एवं तर्ह्यसच्छब्दव्यवहार्यो भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

असत्त्वं चाप्रकाशत्वं न कुत्राप्युपयोगिता ।

प्रकाश एव सर्वभावानां परा सत्ता इत्यसत्त्वं नामअप्रकाशत्वम् अकिञ्चिद्रूपत्वमुच्यते, यथा—शशविषाणादेः, अत एव च तत्र कुत्रापि कस्याञ्चिदपि अर्थक्रियायामुपयुक्तम्—न काञ्चिदप्यर्थक्रियां करोति, इति यावत् ।

प्रकाशः पुनर्न तथा—इत्याह—

विश्वस्य जीवितं सत्यं प्रकाशैकात्मकश्च सः ॥ ३० ॥

विश्वस्य—चेतनाचेतनात्मनः सर्वस्य, पारमार्थिकं जीवितम्—स्फुरत्तात्मकत्वेन अनुप्राणकम्, नहि तेन विना किञ्चिदपीदं प्रकाशते इत्युक्तम् 'प्रकाशैकात्मकश्च' इति, एवमनेकरूपत्वादसच्छब्दव्यवहार्योऽपि, न भवेत इति भावः ॥ ३० ॥

लोक में सजातीय (पदार्थ) की व्यावृत्ति होने पर जो कोई पदार्थ 'यह है' इस प्रकार सामने स्थित अवभासित होता है वही 'सत्' कहा जाता है । जैसे 'घट' । जिसके स्वरूप की पीछे व्याख्या की गई है वह अनन्तभावनिर्भर प्रकाश वैसा नहीं है। अर्थात् महासत्ता रूप होने से अवच्छिन्न न होने के कारण ऐसा नहीं है । अर्थात् सत् शब्द से व्यवहार्य नहीं होता ॥ २८-२९ ॥

तो असत् शब्द से व्यवहार्य हो जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'असत्' होने का अर्थ है—प्रकाशहीन होना । और इसका कहीं भी उपयोग नहीं है ॥ ३०- ॥

प्रकाश ही सभी भांवों की अन्तिम सत्ता है इसलिए असत्त्व अर्थात् अप्रकाशत्व (अर्थात्) अकिंचिद्रूपता कही जाती है । जैसे कि शशशृङ्ग आदि की । और इसीलिए वह कहीं भी किसी भी अर्थक्रिया में उपयुक्त नहीं है अर्थात् कोई भी अर्थक्रिया नही करता ।

प्रकाश वैसा नहीं है—यह कहते हैं—

सत्य विश्व का जीवन है और वह (= सत्य) केवल प्रकाश स्वरूप है ॥ -३० ॥

विश्व का = चेतन अचेतन रूप सबका, पारमार्थिक जीवन = स्फुरत्ता के रूप में प्राण देने वाला । क्योंकि उसके बिना यह कुछ भी प्रकाशित नहीं होता । इसलिए कहा गया—(वह) 'एकमात्र प्रकाशरूप' है । इस प्रकार अनेक रूपवाला

अत एव सदसदात्मापि न—इत्याह—

आभ्यामेव तु हेतुभ्यां न द्व्यात्मा न द्वयोज्झितः ।
सर्वात्मना हि भात्येष केन रूपेण मन्त्र्यताम् ॥ ३१ ॥

आभ्याम्—समनन्तरोक्ताभ्यामनवच्छिन्नत्वप्रकाशमानत्वलक्षणभ्याम्, ननु यद्येवं तर्हि सदसदात्मकरूपद्वयोत्तीर्णः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—'न द्वयेत्यादि' भावाभावावभासकालेऽपि स एव हि परमवभासते, इति कथं सदसद्भ्यामप्युज्झितः स्यात् ? अत आह 'सर्वात्मना हि भात्येषः' इति—एवमेतत्परप्रमात्रेकात्म भवत्येव अन्यथा ह्यनवच्छिन्नरूपत्वात्कदाचिदपि विकल्पतां न यायात् इति—तात्पर्यार्थः, यदुक्तम्—

'सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं विभो ।
त्वं चासतः सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः ॥' इति ।

तथा—

'न शान्तमुदितं वापि तव रूपं न मध्यमम् ।
रूपं रूपं तव हरे यन्न केनचिदुच्यते ॥' इति ।

अतश्च केन तावत्कल्पितेन रूपेण एतदुच्यते इति न जानीमः, इयं हि दशा

होने से असत्शब्द का व्यवहार्य भी नहीं होगा—यह भाव है ॥ ३० ॥

इसलिए (वह) सदसद्रूप भी नहीं है—यह कहते हैं—

इन्हीं देनों कारणों से वह न दो रूपों वाला है और न दो रूपों से रहित है । वह (परमेश्वर) समस्त रूपों से भासित हो रहा है तो किस रूप से उसको समझा जाय ॥ ३१ ॥

इन दोनों के द्वारा = अव्यवहितपूर्ण कहे गये अनवच्छिन्नत्व प्रकाशमानत्व लक्षणों के द्वारा । प्रश्न—यदि ऐसा है तो वह सत् असत् दोनों रूपों से परे हो जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—(वह) 'दो रूप भी नहीं है' इत्यादि । भाव और अभाव के अवभास काल में भी वह पररूप में भासित होता है । इसलिए कैसे सद् असत् से रहित होगा ?—इसलिए कहते हैं—यह 'सब रूप में भासित होता है ।' इस प्रकार यह परप्रमातारूप होता ही है अन्यथा अनवच्छिन्न रूप होने से कभी भी विकल्प नहीं बनेगा—यह तात्पर्यार्थ है जैसा कि कहा गया है—

'हे विभु (= व्यापक) ! सत् के अवश्य परमसत्, उससे भी परेसत् है । और आप सत् तथा असत् से भिन्न है इसलिए सदसन्मय है ।' तथा—

'हे हरे ! आपका रूप न अन्त न आदि और न मध्यम है । हर रूप तुम्हारा है जो किसी के द्वारा नहीं कहा जाता है ।'

इसलिए किस कल्पित रूप से यह कहा जाता है—यह (हम लोग) नहीं

विकल्पोपहतबुद्धीनां मायाप्रमातृणां दुर्विज्ञेया—यथोक्तयुक्त्या ज्ञातुमशक्यैव—इत्यर्थः, साक्षात्कृतपरमात्मतत्त्वानामविकल्पवृत्तीनां पुनरेतत् स्वानुभूतिमात्ररूप-परानन्दचमत्कारघनत्वेन सर्वातिशायि भासते एव, इत्युक्तम् 'किमप्येमदनुत्तरम्' इति ॥ ३१ ॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि—इत्याह—

श्रीमत्त्रिशिरसि प्रोक्तं परज्ञानस्वरूपकम् ।
शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या शक्तिगर्भं परं पदम् ॥ ३२ ॥

'परं ज्ञानं कथं देव' इति देवीप्रश्ननिर्णयार्थं ह्येतदत्र परज्ञानरूपं भगवतोक्तम्—इत्याशयः, तदेव पठति—'शक्त्या' इत्यादि, यदेतत्परं पदं तच्छक्तिगर्भम्, शक्तिरेव स्वातन्त्र्यविमर्शादिपदाभिधेया गर्भः सारं यस्य तत्, सा च न तदतिरेकिणी—इत्याह—'शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या' इति, यतस्तयैव स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या गर्भोऽन्तरं प्रमात्रैकात्म्यं तस्यान्तः परा काष्ठा तेन वर्तते तच्छीला—तया स्वस्वभावरूपयोपलक्षितम—इत्यर्थः, अन्यथा ह्यस्य परत्वमेव न स्यात, यदुक्तम्—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।

जानते । यह दशा विकल्पों से आहत बुद्धि वाले मायाप्रमाताओं के लिये दुर्ज्ञेय है अर्थात् उक्त युक्ति से जानने में असम्भव है । परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वालों, विकल्पहीन वृत्ति वालों को यह (तत्त्व) स्वानुभूतिमात्ररूप परानन्द चमत्कारघन के रूप में सर्वातिशायी होकर भासित होता ही है इसलिए कहा गया—'यह कोई अनुत्तर है ॥ ३१ ॥'

यह केवल यहीं नहीं बल्कि अन्यत्र भी कहा गया है—यह कहते हैं—

श्रीमत्त्रिशिरोभैरव शास्त्र में (उसे) पर ज्ञानस्वरूप कहा गया है । (उसके) गर्भ के अन्दर रहने वाली शक्ति के कारण वह परम पद शक्तिगर्भ हैं ॥ ३२ ॥

'हे देव ! परम ज्ञान कैसे (होता है)' देवी के इस प्रश्न के निर्णय के लिये यहाँ परमेश्वर के द्वारा यह पर ज्ञानरूप कहा गया—यह आशय है । उसी को पढ़ते हैं—'शक्ति के द्वारा' इत्यादि । जो यह परमपद है शक्ति उसके गर्भ में है । स्वातन्त्र्य विमर्श आदि पदों की व्याच्य शक्ति ही गर्भ = सार है जिसकी—वह । और वह (शक्ति) उससे अतिरिक्त नहीं है—यह कहते हैं—गर्भान्तर्वर्तिनी शक्ति के द्वारा । क्योंकि उसी स्वातन्त्र्य नामक शक्ति के द्वारा गर्भ = अन्तर = प्रमाता के साथ ऐकात्म्य, उसका अन्त = परा सीमा, उसके साथ है, उस शील वाली अर्थात् उस स्वस्वभावरूपा के द्वारा उपलक्षित, अन्यथा यह पर ही नहीं होगा । जैसा कि कहा गया—

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥' इति ।

अत एव शक्तौ स्वातन्त्र्यात्मनि स्वभाव एव तिष्ठति—सदैव ताद्रूप्येण वर्तते इत्यर्थः, अत एव शक्तिगर्भ—स्वातन्त्र्यशक्तिमन्तरेण नास्यान्याः शक्तयो विद्यन्ते इत्यर्थः, सैव हि तत्तदेषणीयाद्यर्थोपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियते—इति भावः । यदुक्तम्—

'तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।
बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ॥' इति ।

तेन 'स्वतन्त्रो बोधः परमार्थः, इत्याद्युक्तनीत्यानवच्छिन्नस्वरूपः स्वातन्त्र्यशाल्यविकल्पकः प्रकाश एव परं तत्त्वम्—इति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

अत एव च नियतव्यवच्छेदासहिष्णुत्वादेतद्विकल्प्यतां नैति—इत्याह—

न भावो नाप्यभावो न द्वयं वाचामगोचरात् ।
अकथ्यपदवीरूढं शक्तिस्थं शक्तिवर्जितम् ॥ ३३ ॥

अगोचरादिति भावप्रधानो निर्देशः, तेन वाचामगोचरत्वादकथ्यपदवीरूढम्—इत्यर्थः । एतच्च सर्वमसकृत्त्वेनैव व्याख्यातम्, इति न पुनरायस्तम् ॥ ३३ ॥

'अवभास का स्वभाव ही विमर्श माना गया है । अन्यथा अर्थ से उपरक्त प्रकाश भी स्फटिक आदि जड़ (पदार्थों) के समान है ।'

इसलिए स्वातन्त्र्यरूप शक्ति में स्वभाव ही रहता है अर्थात् सदैव उस रूप में वर्त्तमान रहता है । इसीलिए शक्तिगर्भ—अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति के बिना इसकी दूसरी शक्तियाँ नहीं है । वही (शक्ति) भिन्न-भिन्न एषणीय आदि अर्थरूप उपाधि के कारण अनेक रूप में व्यवहृत होती हैं—यह भाव है । जैसा कि कहा गया है—

'इसलिये (वह परमेश्वर) स्वातन्त्र्यशक्ति से ही युक्त है यह सरल विधि है। इसकी बहुशक्तिता भी उस (स्वातन्त्र्य) शक्ति से अवियुक्त होना ही है ।'

इस कारण 'स्वतन्त्रबोध ही परमार्थ है' इत्यादि उक्त नीति के द्वारा अनवच्छिन्नस्वरूप, स्वातन्त्र्यशाली, विकल्परहित प्रकाश ही परमतत्त्व है—यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

और इसलिए निश्चित व्यवच्छेद को न सह सकने के कारण यह विकल्प नहीं बनता—यह कहते हैं—

वह (तत्त्व) न भाव है न अभाव और न दोनों (= भावाभाव) । क्योंकि वह वाणी का विषय नहीं है । अनिर्वचनीय पदवी पर आरूढ़ वह शक्ति में रहते हुए भी शक्ति से रहित है ॥ ३३ ॥

'अगोचरात्' यह भावप्रधान निर्देश है । इसलिए वाणी का विषय न होने से

ये चातोऽवहितास्त एव परं कृतकृत्याः—इत्याह—

इति ये रूढसंवित्तिपरमार्थपवित्रिताः ।
अनुत्तरपथे रूढास्तेऽभ्युपायानियन्त्रिताः ॥ ३४ ॥

इति—उक्तेन गुरूपदेशादिना, रूढा—तदैकात्म्यलाभादापादितप्ररोहा, या संवित्तिः, तस्या यः परमार्थः—सर्वसर्वात्मत्वेन स्फुरणम्, तेन पवित्रिताः—भेद-विकारकालुष्यापनयनेन परमाद्वयपात्रतामापादिताः, अत एव ते व्यतिरिक्तेन बाह्ये-नाभ्यन्तरेण वाऽभ्युपायेन अनियन्त्रिताः—तन्निरपेक्षाः सन्तः, अनुत्तरपथे—पूर्णानन्दचमत्कारघनतया सर्वातिशायिनि चिद्विकासात्मवृत्तिमार्गे विश्रान्ताः—स्वरसा-वस्थानेनैव लब्धतत्सामरस्याः—इत्यर्थः, तदुक्तम्—,

'यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम् ।
केवलं चिद्विकासेन विकारनिकराञ्जहि ॥' इति ।

तथा—

'आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत् ।' इति ।

तथा—

'उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते ।

अकथ्य पदवी को प्राप्त है—यह तात्पर्य है । इस सबका कई बार व्याख्यान हो चुका है इसलिए पुनः व्याख्या नहीं की गई ॥ ३३ ॥

जो इससे अवहित हैं वे ही परम कृतकृत्य हैं—यह कहते हैं—

इस प्रकार जो रूढ़संवित् के परमार्थ से पवित्र हो चुके हैं फलतः अनुत्तर पथ पर आरूढ़ हैं वे उपायों से नियन्त्रित नहीं होते ॥ ३४ ॥

इस = उक्त गुरूपदेश आदि के द्वारा । रूढ—उसके साथ एकात्मका प्राप्त होने से प्ररोह (= उत्कर्ष) को प्राप्त जो संवित्ति उसका जो परमार्थ = सर्व सर्वात्मक रूप में स्फुरण, उसके द्वारा पवित्रित = भेदविकारकालुष्य के हटाने से परम अद्वय पात्रता को प्राप्त, इसीलिए वे अतिरिक्त बाह्य या आभ्यन्तर उपाय के द्वारा अनियन्त्रित = उससे निरपेक्ष होते हुए, अनुत्तर पथ पर = पूर्णानन्द चमत्कार घन होने के कारण सर्वातिशायी चिद्विकास वाली आत्मवृत्ति के मार्ग पर विश्राम करने वाले = स्वरस अवस्थिति के द्वारा ही उसके सामरस्य को प्राप्त । वही कहा गया है—

'जैसे स्थित हो वैसे ही रहो, बाहर या भीतर मत जाओ । केवल चिद्विकास के द्वारा विकारसमूहों को हटाओ ।' तथा—

'आनन्दशक्ति में विश्राम करने वाला योगी समरस हो जाता है ।' तथा

'अपनी सत्ता के ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है । उसी का

तामेवानुसरन्योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत् ॥' इति ॥ ३४ ॥

ततश्च किम् ? इत्याह—

तेषामिदं समाभाति सर्वतो भावमण्डलम् ।
पुरःस्थमेव संवित्तिभैरवाग्निविलापितम् ॥ ३५ ॥

तेषाम्—अनुपायसमावेशशालिनाम्, देहाद्यपेक्षया पुरोऽवभासमानमपि इदं सर्वं भावमण्डलम्—

'मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं च ....॥'

इत्यादिनीत्या पूर्णसंविन्मयतयैवावभासते—इत्यर्थः, यदुक्तम्—

'यथा रुमायां पतिताः काष्ठपर्णोपलादयः ।
लवणत्वाय कल्पन्ते तथा भावाश्चिदात्मनि ॥' इति ॥ ३५ ॥

अत एवाह—

एतेषां सुखदुःखांशशंकातङ्कविकल्पनाः ।
निर्विकल्पपरावेशमात्रशेषत्वमागताः ॥ ३६ ॥

अनुसरण करने वाला योगी आत्मस्थ होता है वह सुखी होता है ' ॥ ३४ ॥

उससे क्या होगा ?—यह कहते हैं—

उनको यह भावमण्डल सम्पूर्णरूप से सामने ही स्थित तथा संविद्रूपी भैरवाग्नि से प्रकाशित अनुभूत होता है ॥ ३५ ॥

उनका = अनुपाय समावेश वालों का । देह आदि की अपेक्षा सामने भासित होने वाला भी यह सब पदार्थसमूह

'मुझसे ही यह निकला है, मुझ में ही प्रतिबिम्बित है और मुझसे अभिन्न है.........।'

इत्यादि नीति के द्वारा पूर्ण संविद्मय रूप में ही आभासित होता है—यह अर्थ है । जैसा कि कहा गया है—'जिस प्रकार रुमा (नमक की झील या गड्ढा) में गिरे हुए काष्ठ, पत्ता और पत्थर आदि नमक बन जाते है उसी प्रकार पदार्थ चिदात्मा में (पड़कर तद्रूप हो जाते हैं)' ॥ ३५ ॥

इसीलिए कहते है—

ऐसे लोगों के लिये सुख दुःख के अंश मात्र के आतङ्क की भावना निर्विकल्पक परआवेश रूप में शेष रह जाती है ॥ ३६ ॥

एषां न मन्त्रो न ध्यानं न पूजा नापि कल्पना ।
न समय्यादिकाचार्य पर्यन्तः कोऽपि विभ्रमः ॥ ३७ ॥

न केवलमेषामविकल्पकावेशमयत्वापत्तेः लौकिक्य एव कल्पनाः न किञ्चित्, यावदलौकिक्योऽपि—इत्याह—'एषामित्यादि' कल्पना—स्थानादिका ॥ ३६-३७॥

ननु यद्येवं तर्ह्यस्य शेषवृत्तिः कथं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटङ्कधर्मिणः ।
नानुग्रहात्परं किञ्चिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥ ३८ ॥

समस्ताः—निखिलाः शास्त्रोक्ता यन्त्रणा—इदं कार्यम् इदं न' इत्यादयो नियमाः, ता एव तन्यमानत्वात्तन्त्रम्—पटाद्यारम्भकं तन्तुजालम्, तस्य त्रोटनायां विच्छेदे, टङ्कधर्मिणः शस्त्रकल्पस्य—इत्यर्थः, यथा हि टङ्कस्तन्त्रं छिनत्ति, तथायमपि अनुपायसमाविष्टः शास्त्रीया यन्त्रणाः—नहि आरूढस्यास्य ततः कश्चित्सङ्कोचः—इति भावः, शास्त्रं हि आरुरुक्षूनुपदेश्यान्प्रत्येव नियामकम्, इति समनन्तरमेवोक्तम्, अत एव चास्य स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात्परानुग्रहार्थमेव

ऐसे लोगों के लिये न मन्त्र, न ध्यान, न पूजा, न कल्पना और न समयी साधना से लेकर आचार्य पर्यन्त (नियमों के पालन का) विभ्रम रह जाता है ॥ ३७ ॥

इनके अविकल्पक आवेशमय होने के कारण केवल लौकिक कल्पनाएँ नहीं होती, इतना ही नहीं है, अलौकिकी भी (कल्पनाएँ नहीं होतीं)—यह कहते हैं—इनके इत्यादि । कल्पना—स्थान आदि की ॥ ३६-३७ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो इसकी शेषवृत्ति कैसे होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

समस्त यन्त्रणा के बन्धन को काटने में छीनी के समान (उस साधक) के लिये लोकानुग्रह के अतिरिक्त शेषवृत्ति में कुछ भी करणीय नहीं रहता ॥ ३८ ॥

समस्त = सभी शास्त्रोक्त, मन्त्रणायें = यह करणीय है यह नहीं—इत्यादि नियम । वे ही विस्तृत किये जाने के कारण तन्त्र = पट आदि के आरम्भक तन्तुजाल, उसको तोड़ने में = विच्छेद में टङ्कधर्मी = शस्त्र (छीनी) सदृश—यह अर्थ है । जिस प्रकार छीनी तन्तुजाल को काटती है उसी प्रकार यह अनुपायसमाविष्ट शास्त्रीय यन्त्रणायें भी हैं । आरूढ़ इस (योगी) का उससे कोई सङ्कोच नहीं है यह तात्पर्य है । शास्त्र आरोह के इच्छुक शिष्यों के लिये ही नियामक होता है—यह अव्यवहित पूर्व में कहा गया है । और इसीलिए अपने में कृतकृत्य होने के कारण (उसका) वर्त्तन दूसरे पर अनुग्रह करने के लिये ही

वर्तनम्—इत्याह—नानुग्रहादिति'. किंचिदिति—समयपरिपालनादि ॥ ३८ ॥

तदाह—

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्नान्नो
पारार्थ्यं प्रति घटयते काञ्चन स्वप्रवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥ ३९ ॥

एषः—लोकः, संकुचितः—प्रमातृवर्गः तावत्

'.................अभिलाषो मलोऽत्र तु ।'

इत्यादिनीत्या लौकिकाणवमलयोगादात्मन्यपूर्णम्मन्यतया 'किमपि' इति सामान्येन निर्देशात्सर्वमात्मीयं कर्तव्यम्, यत्नतः—आकांक्षणीयत्वेन, कलयन्

'तदसिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ।'

इत्यादिनीत्या यस्य स्वार्थ एव न सिद्धः स कथं परार्थं प्रत्यपि काञ्चन स्वल्पामपि स्वप्रवृत्तिं घटयते, घटितापि वा तत्प्रवृत्तिर्न किञ्चित्कुर्यात्—इति भावः, यः पुनरनुपायसमाविष्टत्वादेव खिलीकृतनिखिलबन्धः, अत एव भैरवीभावेन

है—यह कहते हैं—'अनुग्रह के अतिरिक्त नहीं' । कुछ—नियम का पालन आदि ॥ ३८ ॥

वह कहते हैं—

यह संसार 'यह अपना कर्त्तव्य है' ऐसा मानकर प्रयत्न करता है । किन्तु दूसरे के लिये स्वयं कोई भी कार्य नहीं करता । किन्तु जो समस्त सांसारिक मलों को नष्ट कर भैरवी भाव से पूर्ण है उसका कर्त्तव्य स्पष्ट रूप से लोकानुग्रह मात्र है ॥ ३९ ॥

यह लोक = संकुचित प्रमातृवर्ग ।

'यहाँ अभिलाष ही मल है ।'

इत्यादि नीति के द्वारा लौकिक आणवमल के संसर्ग से अपने को अपूर्ण माने के कारण 'कुछ भी' इस सामान्य रूप में निर्देश होने से सब आत्मीय कर्त्तव्य है, प्रयत्नपूर्वक = आकाङ्क्षणीय रूप में, बनाता हुआ—

'जो असिद्ध के द्वारा सिद्ध किया जाता है वह असिद्ध होता है ।'

इत्यादि नीति के द्वारा जिसका स्वार्थ ही सिद्ध नहीं है वह पदार्थ के प्रति भी किसी छोटी भी अपनी प्रवृत्ति को कैसे घटित करेगा अथवा की गयी भी वह प्रवृत्ति कुछ नही कर पायेगी—यह भाव है । और जो अनुपाय में समाविष्ट होने के कारण

भगवदद्वयज्ञानापत्त्या स्वात्मनि कृतकृत्यत्वेन आकांक्षणीयस्यैवाभावात्, पूर्णः—अनन्योन्मुखतया स्वात्मन्येव विश्रान्तः, तस्येयता निखिलस्य लोकस्य ग्रन्थ-कर्तव्यमवश्यं कार्यं स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनम्, तन्मात्रमेवेदं स्फुटम्—अपरिम्लानां कृत्यम्—लोकानुग्रह एवास्य कर्तव्यः—इत्यर्थः, नहि अस्यात्मनि प्राप्तप्राप्तव्य-त्वात्किञ्चित्करणीयमस्ति—इति भावः, यद्गीतं भगवता—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥' इति ।
'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥'

इति च ॥ ३९ ॥

द्विविधाश्च परानुग्रहाः—निर्मलसंविदोऽनिर्मलसंविदश्च, तत्र निर्मलसंविदः प्रति तावन्निरुपकरणमेवास्यानुग्रहकारित्वम्—इत्याह—

तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता ॥ ४० ॥

ही समस्त बन्धनों को नष्ट किया हुआ, इसीलिए भैरवीभाव = भगवत् अद्वयज्ञान की प्राप्ति के कारण अपने में कृतकृत्य होने के कारण आकाङ्क्षणीय का ही अभाव होने से पूर्ण = अन्य के प्रति उन्मुख न होने के कारण अपने में ही विश्रान्त, उसका इतने = समस्त लोक का अन्य कर्त्तव्य = अवश्य कार्य = स्वात्मप्रत्यभिज्ञापन, उतना ही यह स्फुट = अपरिम्लान, कृत्य = लोकानुग्रह ही इसका कर्त्तव्य है—यह तात्पर्य है । अपने विषय में प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेने के कारण इसके लिये कुछ भी करणीय नहीं है—यह तात्पर्य है । जैसा कि भगवान ने गीता में कहा है—

'जो मुनष्य आत्मरति और आत्मतृप्त है और अपने में सन्तुष्ट है, उसके लिये कुछ भी करणीय नहीं है ।'

तथा,

'हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरे लिये कुछ भी करणीय नहीं है और न अप्राप्तव्य या प्राप्तव्य है (फिर भी मैं) कर्म करता हूँ' ॥ ३९ ॥

परानुग्रह दो प्रकार का है—निर्मल संविद् का और अनिर्मल संविद् का । उनमें निर्मल संविदों के प्रति इसका अनुग्रहकारित्व उपकरणरहित होता है—यह कहते हैं—

निर्मल संविद् वाले जो लोग उसको उस रूप में देखते हैं वे भी वैसे ही हो जाते हैं और उनकी अनुग्रहात्मता भी उतनी ही रहती है ॥ ४० ॥

ये पूर्वाभ्यासादिना निर्मलसंविदः, तीव्रतीव्रशक्तिपातभाजो वा, तम्—समनन्तरोक्तस्वरूपम्, ताद्रूप्यक्रमेण पश्यन्ति 'निरुपायसमावेशभागयम्' इति ज्ञानपूर्वं साक्षात्कुर्वन्ति, अतस्ते परदर्शनमात्रेणैव तत्संवित्संक्रमात्

'....................दीपाद्दीपमिवोदितम् ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या निरुपायसमावेशभाक्त्वेन तत्सदृक्षा एव भवन्ति इति शेषः, एवंरूपं सिद्धादिदर्शनं च निरुपायसमावेशे निमित्तम्, इति प्रागेव संवादितम्

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनम्..........।'

इत्यादि, अत एव तावती दर्शनमात्ररूपैवास्य अनुग्रहात्मता, न तु वक्ष्यमाणोपायादिसव्यपेक्षा—इत्यर्थः ॥ ४० ॥

ननु सर्वत्र दीक्षायाः

'....................मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।'

इत्याद्युक्त्या मुक्तावुपायत्वमुक्तम्, इति कथमत्र दीक्षां विनापि दर्शनमात्रादेव तदवाप्तिरुक्ता ?—इत्याशङ्क्याह—

एतत्तत्त्वपरिज्ञानं मुख्यं यागादि कथ्यते ।

जो पूर्वाभ्यास आदि के द्वारा निर्मल संविद् वाले लोग अथवा तीव्र-तीव्र शक्तिपात के भागी लोग, उस = पीछे कहे गये स्वरूप वाले को ताद्रूप्यक्रम से देखते हैं—'यह निरुपाय समावेश का भागी है' ऐसा ज्ञानपूर्वक साक्षात्कार करते हैं इसलिए वे परदर्शनमात्र से ही उस संवित् के संक्रमण से 'दीप से जले हुए दीप के समान' इस वक्ष्यमाण नीति के द्वारा निरुपायसमावेश के भागी के रूप में उसके समान ही हो जाते हैं—यह शेष है । और इस प्रकार का सिद्ध आदि का दर्शन निरुपायसमावेश में कारण होता है—यह 'सिद्धों और योगिनियों का दर्शन...' के द्वारा पहले ही कह दिया गया है ।

इसलिए उतनी दर्शनमात्ररूपा ही इसकी अनुग्रहात्मता है न कि वक्ष्यमाण उपायादि सापेक्ष—यह अर्थ है ॥ ४० ॥

प्रश्न—

'मुक्ति शिवदीक्षा से होती है'

इत्यादि उक्ति के द्वारा सर्वत्र दीक्षा को—मुक्ति के विषय में उपाय कहा गया है । फिर यहाँ दीक्षा के बिना भी दर्शनमात्र से ही उसकी प्राप्ति कैसे की गई ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस तत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान ही याग से लेकर दीक्षापर्यन्त मुख्य

दीक्षान्तं विभुना श्रीमत्सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ४१ ॥

एतस्य समनन्तरोक्तस्य निरुपायात्मनस्तत्त्वस्य परिज्ञानमेव मुख्यया वृत्त्या 'यागहोमादि' श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतादौ—सर्वत्रैवागमे विभुना' कथ्यते इति संबन्धः, अत एव च बाह्यं यागादि गौणम्—इत्यर्थसिद्धम्, अन्यथा ह्यस्य मुख्यत्वमेव न स्यात्, यदभिप्रायेणैव चर्याक्रमेऽप्येतन्निषिद्धम्, यदुक्तम्—

'नास्य मण्डलकुण्डादि किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
न च न्यासादिकं पूर्वं स्नानादि च यथेच्छया ॥' इति ॥ ४१ ॥

तदेव पठति—

स्थण्डिलादुत्तरं तूरं तूरादुत्तरतः पटः ।
पटाद्ध्यानं ततो ध्येयं ततः स्याद्धारणोत्तरा ॥ ४२ ॥
ततोऽपि योगजं रूपं ततोऽपि ज्ञानमुत्तरम् ।
ज्ञानेन हि महासिद्धो भवेद्योगीश्वरस्त्विति ॥ ४३ ॥

स्थण्डिलम्—यागार्थं गृहीतो भूप्रदेशः, तूरम्—पात्रादावुत्कीर्ण आकार-विशेषः । ज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टत्वे हेतुमाह—'ज्ञानेन' इति, ज्ञानेन हि योगिनामपीश्वरः स्यात्—इत्यर्थः, अत एव तदुपोद्बलनार्थं महच्छब्देश्वरशब्दयोरपि प्रयोगः ॥ ४२-४३ ॥

(अनुष्ठान) है—ऐसा परमेश्वर ने सिद्ध योगीश्वरी तन्त्र में कहा है ॥ ४१ ॥

इस पीछे कहे गये निरुपायात्मक तत्त्व का परिज्ञान ही मुख्य वृत्ति के द्वारा 'याग होम आदि' सिद्धयोगीश्वरी मत आदि—सर्वत्र आगम में व्यापक (परमेश्वर) के द्वारा कहा जाता है—यह सम्बन्ध है । इसीलिए बाह्य याग आदि गौण है—यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है । अन्यथा यह मुख्य न होता । जिस अभिप्राय से ही चर्याक्रम में भी यह निषिद्ध है । जैसा कि कहा गया है—

'इसके लिये मण्डल कुण्ड आदि किसी का भी उपयोग नहीं है और न पूर्वन्यास आदि का । और स्नान आदि इच्छानुसार होता है' ॥ ४१ ॥

वही पढ़ते हैं—

स्थण्डिल से बढ़कर तूर, तूर से अधिक पट, पट से बढ़कर ध्यान, उससे बढ़कर ध्येय, उससे उत्कृष्ट धारणा, उससे भी अधिक योगरूढ़ता और उससे उत्कृष्ट ज्ञान है । ज्ञान के द्वारा महासिद्ध (पुरुष) योगीश्वर हो जाता है ॥ ४२-४३ ॥

स्थण्डिल = याग के लिये ली गयी भूमि । तूर = पात्र आदि में उत्कीर्ण आकारविशेष । ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता में कारण बतलाते हैं—ज्ञान के द्वारा (साधक) योगियों का भी ईश्वर हो जाता है—यह अर्थ है । इसलिए उसे बढ़ाने के लिये

अनिर्मलसंविदः प्रति पुनरस्य सोपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्—इत्याह—

सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥ ४४ ॥

स्वातन्त्र्यधाम्ना, न पुनः शास्त्रीययन्त्रणया—तत्रोटनायाः समनन्तरमेवोक्तत्वत् ॥ ४४ ॥

भावी च विधिः कीदृक् ?—इत्याह—

अनुग्राह्यानुसारेण विचित्रः स च कथ्यते ।
परापराद्युपायौघसङ्कीर्णत्वविभेदतः ॥ ४५ ॥

'परापर' इत्येकशेषः, तेन—परः शाम्भवः, अपरः आणवः, परापरः शाक्तः, सङ्कीर्णत्वम्—उपायान्तरसाहित्यात् ॥ ४५ ॥

न केवलमस्य परानुग्रहार्थं भाविविध्याश्रयणमुपयुक्तम्, यावत्तदभिधायकं शास्त्राद्यपि—इत्याह—

तदर्थमेव चास्यापि परमेश्वररूपिणः ।

'महत्' शब्द और 'ईश्वर' शब्द का भी प्रयोग किया गया ॥ ४२-४३ ॥

जो निर्मलसंविद् वाले नहीं हैं उनके प्रति इसका अनुग्रहकारित्व सोपकरण है—यह कहते हैं—

वह (= योगीश्वर) भी अपने स्वातन्त्र्यवश यदि अनिर्मल संविद् वालों के ऊपर अनुग्रह करना चाहता है तो (उसे शिष्य के लिये) उचित विधि का आश्रयण करना चाहिये ॥ ४४ ॥

स्वातन्त्र्य धाम के द्वारा न कि शास्त्रीय यन्त्रणा के द्वारा, क्योंकि उसका तोड़ना पीछे कहा गया ॥ ४४ ॥

भावी विधि क़ैसी है? यह कहते हैं—

अनुग्राह्य (= शिष्य) के (स्तर के) अनुसार वह (= विधि) पर अपर आदि उपायसमूह अथवा सङ्कीर्ण (उपाय के भेद से) अनेक प्रकार की कही जाती है ॥ ४५ ॥

'परापर' यह पद एकशेष है । इससे पर = शाम्भव, अपर = आणव और परापर = शाक्त । सङ्कीर्णता दूसरे उपायों के साथ रहने से होती है ॥ ४५ ॥

केवल दूसरे के प्रति अनुग्रह करने के लिये इस भावी विधि का आश्रयण ही उपयुक्त नहीं है बल्कि उसको बतलाने वाला शास्त्र आदि भी—यह कहते हैं—

इसीलिए परमेश्वररूपी इस (= योगीश्वर गुरु) का भी उसके ज्ञान के

तदाभ्युपायशास्त्रादिश्रवणाध्ययनादरः ॥ ४६ ॥

न केवलमारुरुक्षूणामेव शास्त्रमुपादेयं यावदस्यापि, इति अपिशब्दार्थः, यदुक्तम्—

'शङ्काशून्योऽपि तत्त्वज्ञो मुमुक्षुप्रक्रियां प्रति ।
न त्यजेच्छास्त्रमर्यादामित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥' इति ॥ ४६ ॥

नन्वेवमुपायमुखप्रेक्षित्वादस्य स्वातन्त्र्यहानिः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।
नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ॥ ४७ ॥

नहि अस्य आरुरुक्षुवदात्मन्युपायापेक्षा येन स्वातन्त्र्यखण्डना स्यात्, किं तु स्वात्मनि कृतकृत्यत्वादत्परार्थमस्य तत्स्वीकारः ।

यतः परेषामनिर्मलचित्त्वादुपायमन्तरेण न अनुग्रहः सेत्स्यति, इति—भाविविध्याश्रयणाद्यप्युक्तम्, यद्गीतम्—

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥' इति ॥ ४७ ॥

उपाय भूत शास्त्रों की श्रवण एवं अध्ययन में श्रद्धा होती है ॥ ४६ ॥

केवल (मोक्षमार्ग के ऊपर) आरोह की इच्छा रखने वालों के लिये ही शास्त्र उपादेय नहीं है बल्कि इसके लिये भी—यह अपि शब्द का अर्थ है । जैसा कि कहा गया है—

'शङ्का रहित भी तत्त्वज्ञानी मुमुक्षुप्रकिया के प्रति शास्त्रमर्यादा को न छोड़े—यह परमेश्वर की आज्ञा है' ॥ ४६ ॥

प्रश्न—उपाय की अपेक्षा रखने के कारण इसके स्वातन्त्र्य की हानि हो जायगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस स्वतन्त्र (= परमेश्वर) का कहीं खण्डन नहीं है और दूषित चित्त वाले पुरुष के लिये अनुग्रह उपायरहित है—ऐसा नहीं है ॥ ४७ ॥

आरुरुक्ष के समान इसको अपने लिये उपाय की अपेक्षा नहीं होती जिससे स्वातन्त्र्य की हानि होगी । किन्तु अपने विषय में कृतकृत्य होने के कारण इसका उसे स्वीकार करना परार्थ होता है ।

जिस कारण अनिर्मलचित्त वाला होने के कारण दूसरों के लिये, उपाय के बिना अनुग्रह सिद्ध नहीं होगा। इसलिए भावी विधि आदि का आश्रयण आदि भी कहा गया है । जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

हे भारत ! कर्म के विषय में अज्ञानी (पुरुष) आसक्त होकर जैसा करते हैं

न चैतत्स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तम्, अपि तु भगवता, पूर्वाचार्यैश्च सर्वत्रैवोक्तम्, इति—निखिलस्य आह्निकार्थस्याविगीततां दर्शयितुमाह—

श्रीमदूर्मिमहाशास्त्रे सिद्धसंतानरूपके ।
इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदैशिकैः ॥ ४८ ॥

ऊर्मिमहाशास्त्र इति—श्रीमदूर्मिकौलसिद्धसंतानरूपके, इत्यनेन पादोवल्ल्यां पारम्पर्येऽप्यम्लानत्वं दर्शितम् ।

तत्र हि—

'शून्यं न किञ्चित्तच्छून्यं त्वशून्यं शून्यता नहि ।
यदकिञ्चित्कथं तद्धि न किञ्चिच्छेत्तुमर्हति ॥'

इति भगवत्या पृष्टो भगवान्

'आत्मा शून्य इह ज्ञेयः शिवधर्मैर्विनाकृतः ।
शिवः शून्योऽधिगन्तव्यो विमलोऽमूर्तविग्रहः ॥'

इत्याद्युपक्रम्य—

'नास्त्यस्ति नास्ति नास्तीति कोटयो न स्पृशन्ति हि ।

लोकसंग्रह करने की इच्छा वाला विद्वान् वैसा ही करे ॥ ४७ ॥

हमने इसे अपने मन से ही नहीं कहा है बल्कि पूर्व आचार्यों के द्वारा सर्वत्र ही ऐसा कहा गया है, इस प्रकार सम्पूर्ण आह्निक की अविरुद्धता को दिखाने के लिये कहते हैं—

सिद्धसन्तान श्रीमद्दूर्मिमहाशास्त्र में तथा सोमानन्द आदि आचार्यों के द्वारा यह कहा गया है ॥ ४८ ॥

ऊर्मिमहाशास्त्र में = ऊर्मिकौलसिद्धसन्तानरूप में । इसके द्वारा पादोवल्ली में परम्परा होने पर भी मलिनता का अभाव दिखलाया गया । वहाँ

'शून्य कुछ नहीं है, वह शून्य ही है, जो शून्यता है वह अशून्य नहीं हो सकती । जो कुछ नहीं है वह कैसे किंचित् को नहीं काट सकता ।'

इस प्रकार भगवती के द्वारा पूछे गये भगवान्

'शिवधर्मों से रहित आत्मा को शून्य समझना चाहिये । शिव को विमल, अमूर्त्तविग्रह और शून्य समझना चाहिये ।'

इत्यादि (रूप में) प्रारम्भ कर—

'नहीं है, है, है और नहीं है, नहीं नहीं है, इन कोटियों को जो (विचार) नहीं

वाचामगोचरं यस्मात्तत्त्वमिह कथ्यते ॥
यदभावि न तद्भावि यद्भाविन तदन्यथा ।
एवं विचिन्त्य मतिमान्विकल्पं न समाश्रयेत् ॥
तच्च सर्वगतं सूक्ष्ममुपाधिपरिवर्जितम् ।'

इत्यादिपर्यन्तं बहूक्तवान् । श्रीमत्सोमानन्दादिदैशिकैः उक्तमिति—श्रीशिवदृष्ट्यादौ, यदुक्तं तत्र—

'भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः । इति ।
'सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत् ।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ॥
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ॥'

इति च ॥ ४८ ॥

तदेव सर्वत्रावधातव्यम्—इत्याह—

गुरोर्वाक्याद्युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात्
समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुदिताद्वापि कथितात् ।
विलीने शङ्काभ्रे हृदयगगनोद्भासिमहसः
प्रभोः सूर्यस्येव स्पृशत चरणान्ध्वान्तजयिनः ॥ ४९ ॥

छूते । इस कारण वह तत्त्व वाणी का अविषय कहा जाता है । जो नहीं होने वाला है वह नहीं होता, जो होने वाला है वह अन्यथा (अभावी) नहीं होता—ऐसा सोचकर बुद्धिमान् विकल्प का आश्रय न करे । वह (तत्त्व) सर्वत्र व्यापी सूक्ष्म और उपाधि से रहित है ।'

इत्यादिपर्यन्त बहुत कहा है । श्री सोमानन्द आदि आचार्यों ने भी शिवदृष्टि आदि में कहा है । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'शिव के निरन्तर उदित होने से भावना और करण की क्या आवश्यकता ।'

'सुवर्ण के एक बार ज्ञात होने पर क्या भावना करण बनती है । प्रमाण, शास्त्र अथवा गुरुवाक्य के द्वारा एक बार दृढ़ प्रतिपत्ति के द्वारा सर्वस्थ शिवता के ज्ञात होने पर न तो कहीं करण की आवश्यकता होती है और न भावना की ॥ ४८ ॥

उसी को सर्वत्र जानना चाहिये—यह कहते हैं—

गुरु के उपदेश के प्रभाव से, युक्तिप्रचय वाले शास्त्रों के अध्ययन से, शास्त्रों में विश्वास करने से, अथवा उक्त सभी उपायों के द्वारा शङ्कारूपी

गुरोरित्यादिवाक्यात्सकृदुपदेशाद्यात्मनः 'आत्मैवेश्वरः सर्वज्ञः सर्वकर्ता च' इत्यादिकानां युक्तीनां प्रचयस्य या रचना—परपक्षबाधनस्वपक्षसाधनाधायिका शास्त्रपरिपाटी, तया उन्मार्जनम्—बौद्धाज्ञानोत्पुंसनम्, तद्वशात्—बौद्धज्ञानोदयेन स्वपरामर्शदार्ढ्यात्—इत्यर्थः ।

शास्त्रम्—प्रभुसंमितमद्वैतागमं प्रति समाश्वासात् प्रत्यायादिति, व्यस्तात्—गुरुतः शास्त्रः स्वतः तीव्रतीव्रशक्तिभाजाम्, यद्वा समुदितात्—समस्तात्कथितात् एतस्मात्त्रयादपि तीव्रमध्यादिशक्तिपातभाजाम्, शङ्काविकल्प एवावारकत्वादभ्रम्, तस्मिन्विलीने सति, हृदयम्—विमर्श एव अनवच्छिन्नत्वाद्गगनं तत्रोच्चैर्भासनशीलम्—ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणं महः तेजो यस्य, अत एव ध्वान्तस्यस्वात्मप्रच्छादनेनोपाश्रितस्य द्वैतप्रथात्मकस्य अज्ञानस्य, जयिनः प्रभोः—विश्वात्मकत्वेन प्रभवनशीलस्य परमात्मनः, चरणान्—चरेर्गत्यर्थत्वादाणवादीनि ज्ञानानि, यूयम्—समनन्तरोद्दिष्टाः तीव्रतीव्रादिशक्तिपात भाजः, स्पृशत—यथोत्तरं स्वात्ममयतयैव भावयध्वम्—इत्यर्थः, अत एव चास्य सूर्येणौपम्यमुक्तम्, तस्यापि हि अभ्रे गलिते गगनोद्भासित्वेन अन्धकारं निराकुर्वतः पादस्पर्शः उचितः ॥ ४९ ॥

बादल के विलीन होने पर हृदय आकाश में उद्भासित तेज वाले सूर्य के समान प्रभु (= परमेश्वर) के अन्धकार दूर करने वाले, चरणों को स्पर्श करो ॥ ४९ ॥

सकृत् उपदेश आदि वाले गुरु आदि के वाक्य से 'आत्मा ही ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता है' इत्यादि युक्तियों के समूह की जो रचना = दूसरे पक्ष का खण्डन एवं अपने पक्ष को सिद्ध करने वाली शास्त्रपरिपाटी, उसके द्वारा उन्मार्जन = बौद्ध अज्ञान का नाश, तद्वशात् = बौद्ध ज्ञान के उदय के द्वारा स्वपरामर्श के दृढ़ होने से ।

शास्त्र—प्रभुसम्मित अद्वैत आगम के प्रति, समाश्वास से—विश्वास के कारण, व्यस्त—तीव्र-तीव्र शक्तिवालों को गुरु से या शास्त्र से या स्वतः, अथवा समुदित—समस्त कथित इन तीनों से तीव्र मध्य आदि शक्ति के भागीजनों का, शङ्काविकल्प ही आवरक होने के कारण बादल, उसके विलीन होने पर, हृदय—विमर्श ही अनवच्छिन्न होने के कारण गगन, उसमें अत्यधिक भासनशील—ज्ञत्वकर्त्तृत्वलक्षण वाला, महः—तेज है जिसका, इसलिए ध्वान्त का—आत्मप्रच्छादन के द्वारा उपाश्रित द्वैतप्रथा रूप अज्ञान के जयी प्रभु के— विश्वरूप में उत्पन्न होने वाले परमात्मा के चरणों को—'चर' धातु के गमनार्थक होने के कारण आणव आदि ज्ञान को, आप लोग—पीछे कहे गये तीव्र-तीव्र आदि शक्तिपात वाले, छुओ—उत्तरोत्तर आत्ममय रूप में समझो—यह अर्थ है । और इसीलिए इसकी उपमा सूर्य से दी गई है । क्योंकि बादल के हटने पर आकाश का उद्भासक होने के कारण अन्धकार को दूर करने वाले उस (सूर्य) का भी पादस्पर्श (= किरणस्पर्श) उचित है ॥ ४९ ॥

इदानीमाह्निकार्थं श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति—

इदमनुत्तरधामविवेचकं विगलितौपयिकं कृतमाह्निकम् ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके अनुपायप्रकाशनं नाम द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

उपाय एवौपयिकमिति शिवम् ॥

तत्तद्ग्रन्थाधिगमोपायशतान्वेषणप्रसक्तेन ।
अनुपायाह्निकमेतद् व्याख्यातं जयरथेनाशु ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते अनुपाय-प्रकाशनं नाम द्वितीयमाह्निकं समाप्तम् ॥ २ ॥
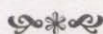
अब आह्निक के विषय को श्लोक के पूर्वार्द्ध से समाप्त करते है—

अनुत्तर धाम की विवेचना करने वाले, उपायों से रहित यह (अनुपायविज्ञान नामक द्वितीय) आह्निक समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के द्वितीय आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २ ॥

उपाय ही औपायिक है ।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के अध्ययन रूप सैकड़ों उपायों के अन्वेषण में तल्लीन जयरथ के द्वारा अनुपाय नामक द्वितीय आह्निक की व्याख्या की गयी ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के द्वितीय आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ २ ॥
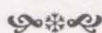
तृतीयमाह्निकम्
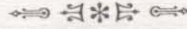
* विवेकः *

स्वात्मत्वेऽपि विचित्रं निखिलमिदं वाच्यवाचकात्म जगत् ।
दर्पणनगरवदात्मनि विभासयन्विजयते विजयः ॥ १ ॥

इदानीमनुपायानन्तर्येण क्रमप्राप्तं शाम्भवोपायं द्वितीयार्धेन प्रणिगदितुं प्रतिजानीते—

अथ परौपयिकं प्रणिगद्यते पदमनुत्तरमेव महेशितुः ॥

ननु यदि नाम परोपायस्यापि अनुत्तरमेव रूपं तत्पूर्वेणैव गतार्थत्वात् किमर्थमिदमाह्निकान्तरमारभ्यते ? इत्याह—

प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तं भैरवीयं परं महः ।
तत्र स्वतन्त्रतामात्रमधिकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

---

* ज्ञानवती *

शून्यरूप होने पर भी वाच्यवाचक रूप इस विचित्र संसार को अपने अन्दर दर्पणनगर की भाँति भासित करने वाले विजय सबसे उत्कृष्ट हैं ।

अब अनुपाय के बाद क्रमप्राप्त शाम्भवोपाय का द्वितीयार्द्ध के द्वारा कथन करने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—

अब परमेश्वर के अनुत्तरपद, जो कि श्रेष्ठ उपाय है, का वर्णन किया जा रहा है ।

प्रश्न—यदि परोपाय का भी रूप अनुत्तर ही है तो पूर्व (आह्निक) के द्वारा ही गतार्थ होने के कारण इस आह्निक का आरम्भ क्यों किया जाता है ?—यह कहते हैं—

भैरव का परम तेज जो प्रकाशमात्र कहा गया था उसमें उसके स्वतन्त्रतामात्र अधिक (गुण) का विवेचन किया जा रहा है ॥ १ ॥

प्रकाशमात्रमिति प्राधान्यात्, नहि निर्विमर्शः प्रकाशः समस्ति उपपद्यते वा, प्रोक्तमित्यनुपायाह्निके, अधिकमिति कल्पनामात्रेण, नहि वस्तुतो वस्तुनः स्वभावोऽ—तिरिच्यते—तथात्वे वा स स्वभाव एव न स्यात्, स्वतन्त्रतेति प्रकाशनक्रिया-कर्तृत्वम्, तस्य चेयत्तत्वं यत् स्वभित्तावेव स्वेच्छया सर्वं प्रकाशयतीति ॥ १ ॥

तदेवाह—

यः प्रकाशः स सर्वस्य प्रकाशत्वं प्रयच्छति ।

यः खलु प्रकाशनक्रियायां कर्ता परप्रमात्रात्माऽनुत्तरशब्दाभिधेयः प्रकाशः स सर्वस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य प्रकाशत्वम् = प्रकाशमानतां प्रयच्छति = स्वात्मैकात्म्येन अवभासयति—इत्यर्थः । नहि विश्वं नाम प्रकाशमानत्वात्तदतिरिक्तं किञ्चित्सम्भवति, तदतिरेकाभ्युपगमे ह्यस्य प्रकाशमानत्वायोगाद्भानमेव न स्यात् इति ॥

तदाह—

न च तद्व्यतिरेक्यस्ति विश्वं सद्वावभासते ॥ २ ॥

वा शब्दोऽभ्युपगमे ॥ २ ॥

प्रकाशमात्र यह (कथन) प्रधानता (की दृष्टि) से है । विमर्शरहित प्रकाश सम्भव या सिद्ध नहीं होता । कहा गया—अनुपाय आह्निक में । अधिक—कल्पनामात्र से। क्योंकि वास्तविक रूप में वस्तु का स्वभाव वस्तु से भिन्न नहीं होता । क्योंकि वैसा होने पर वह स्वभाव ही नहीं होगा। स्वतन्त्रता = प्रकाशनक्रिया का कर्त्तृत्व। उसका यही तत्त्व है कि अपनी भित्ति पर ही अपनी इच्छा से सबको प्रकाशित करता है ॥ १ ॥

वही कहते हैं—

जो (स्वयं) प्रकाश है वह सबको प्रकाश प्रदान करता है ॥ १ ॥

जो प्रकाशन क्रिया का कर्त्ता है, परप्रमाता रूप, अनुत्तर शब्दाभिधेय प्रकाश, वह समस्त प्रमातृप्रमेय रूप विश्व के प्रकाशत्व = प्रकाशमानता को देता है = अपने से अभिन्न रूप में अवभासित करता है । प्रकाशमान होने के कारण विश्व उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है । उससे भिन्न मानने पर उसके प्रकाशमान न होने से भान ही नहीं होगा ।

वह कहते हैं—

उसका कोई व्यतिरेकी (= अप्रकाश) नहीं है । यह विश्व सद्रूप में भासित हो रहा है ॥ २ ॥

वा शब्द स्वीकृति (अर्थ) में है ॥ २ ॥

ननु यद्येवं तर्हि प्रकाश एव प्रकाशते इति विश्वस्य अवभास एव न स्यात्, अथ च भासते विश्वमिति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह—

अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः ।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रदर्शकः ॥ ३ ॥

अत इति—प्रकाशातिरिक्तस्य विश्वस्य भानायोगात् । परमेश्वरो हि अनर्गलत्वलक्षणस्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मभित्तावेव अनतिरिक्तमप्यतिरिक्तायमानम् इयद्विश्ववैचित्र्यं प्रदर्शयति इति । इत्येवं विश्ववैचित्र्योल्लासेऽपि प्रकाशमात्रस्वभावे स्वात्मनि अस्य नाधिकं किञ्चित् जातम्—इति कटाक्षयितुमत्र व्योम्ना निरूपणं कृतम्, अत एव चानेन विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वम्—इत्यनुजोद्दे शोद्दिष्टस्य प्रतिबिम्बवादस्य अवकाशो दत्तः । यथा हि दर्पणादौ परस्परव्यवृत्तात्मानः प्रतिबिम्बिता आकारविशेषाः ततोऽनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्ता इव भासन्ते तद्वदिहापीति ॥ ३ ॥

तदाह—

निर्मले मकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥ ४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो प्रकाश ही प्रकाशित होता है इसलिए विश्व का भासन ही नहीं होगा । फिर भी विश्व भासता है—यह क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिए यह परमेश्वर स्वात्माकाश में बिना प्रतिबन्ध के विराजमान है । इसलिए वह सृष्टिसंहार के आडम्बर का प्रदर्शक है ॥ ३ ॥

इस कारण—प्रकाश से भिन्न विश्व का भान न होने से, परमेश्वर अनर्गलत्व लक्षण अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से आत्मभित्ति के ऊपर ही अभिन्न होते हुए भी भिन्न जैसे प्रतीयमान होने वाले इतने बड़े विश्ववैचित्र्य को दिखलाते हैं । इस प्रकार विश्ववैचित्र्य का उल्लास होने पर भी प्रकाशमात्र स्वभाव वाले अपनी आत्मा में इसका कुछ अधिक उत्पन्न नहीं होता—यह सङ्केत करने के लिये यहाँ आकाश से तुलना की गयी है । और इसीलिए इसके द्वारा विश्व की चित्प्रतिबिम्बता है—इस प्रकार अनुजोद्देश में कथित प्रतिबिम्बवाद को अवकाश दिया गया । जिस प्रकार दर्पण आदि में परस्पर व्यावृत्तरूप प्रतिबिम्बित आकार विशेष उस (दर्पण) से अभिन्न होते हुए भी भिन्न जैसे भासते हैं उसी प्रकार यहाँ भी है ॥ ३ ॥

वह कहते हैं—

जिस प्रकार निर्मल दर्पण में भूमि जल आदि अलग-अलग आभासित होते हैं उसी प्रकार एक चित्स्वरूप परमेश्वर में विश्व की वृत्तियाँ (= व्यवहार

सुबोधमञ्जर्याम्—

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।
गृह्यते पञ्चभिस्तच्च चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या पञ्चैव रूपादयस्तावत्सर्वमिति ॥ ४ ॥

तेषां प्रतिबिम्बेन व्यवस्थया विषयभागं दर्शयति—

सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु ।

सदृशमिति = सजातीयम्, अम्बरेति—अम्बरस्थं नातितीव्रं नातिमन्दं सौरं चान्द्रं वा तेजः, तत्र हि छायापुरुषोपदेशविद्भिः शरीरसंस्थानप्रतिबिम्बं दृश्यते । यदाहुः—

'नभस्थे च तेजसि रूपप्रतिबिम्बयोगः ।' इति ।

यद्वा विषयान्तरोपलक्षणपरतया शब्दप्रतिबिम्बविषयत्वेन व्याख्येयम्, तेन नभसि प्रतिश्रुत्का तथा परानुभूयमानस्य कटुतिक्तादे रसस्य स्त्र्यादिस्पर्शस्य गन्धस्य च दन्तोदके कन्दादौ स्पर्शक्षेत्रे त्वचि घ्राणे गन्धक्षेत्रे च क्रमेण प्रतिबिम्बनमिति ॥

अलग-अलग) भासित होती हैं ॥ ४ ॥

सुबोध मञ्जरी में—'यह रूप आदि पाँच का जो समूह है इतना ही विश्व है । और वह चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होता है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के द्वारा रूप आदि पाँच ही सब कुछ है ॥ ४ ॥

इनके प्रतिबिम्बात्मक व्यवस्था के द्वारा विषयविभाग दिखलाते हैं—

(वही चित् आदि) नेत्र, दर्पण, आकाश और जल में एक समान भासित होती है ॥ ५- ॥

सदृश = सजातीय, अम्बर = आकाशस्थ, न अति तीव्र न अतिमन्द सूर्य अथवा चन्द्रमा का तेज । उसमें छायापुरुष के उपदेश को जानने वालों के द्वारा शरीर संस्थान का प्रतिबिम्ब देखा जाता है । जैसा कि कहते हैं—

'और आकाशस्थ तेज में रूपप्रतिबिम्ब का योग रहता है ।'

अथवा विषयान्तर के उपलक्षणपरक होने के कारण शब्दप्रतिबिम्ब के विषय के रूप में व्याख्या करनी चाहिये । इससे आकाश में प्रतिध्वनि तथा दूसरे के द्वारा अनुभूयमान कटु तिक्त आदि रस का, स्त्री आदि के स्पर्श का और गन्ध का दन्तोदक में, कन्द आदि स्पर्शक्षेत्र में, त्वचा में, घ्राण आदि गन्ध क्षेत्र में क्रमशः प्रतिबिम्बन होता है ।

एतदेव दर्शयति—

तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते ॥ ५ ॥

इह पृथिव्यप्तेजसां त्रयाणामेव रूपवत्त्वमिति पार्थिवे दर्पणादौ, आप्ये स्तिमिते जलाशयादौ, तैजसे चक्षुरादौ च रूपाख्योऽस्ति स्वच्छो गुणः संनिवेशस्य संस्थानात्मा इति तत्प्रतिबिम्बनमेव तत्रावभासते न स्पर्शादिः, तत् खलु आनन्द-स्थानाद्यात्मकेषु कन्दाद्याधारादिषु स्पर्शादिः संभवात् प्रतिसंक्रामति, तेन य एव यत्र स्वच्छोऽस्ति गुणः स एव तत्र प्रतिसंक्रामति—इत्याशयः ॥ ५ ॥

न चैतदसम्बद्धम्—इत्यवधारयितुमत्र दृष्टान्तमाह—

प्रच्छन्नरागिणी कान्तप्रतिबिम्बितसुन्दरम् ।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्त्यति न तृप्यति ॥ ६ ॥

अत्र तावत्प्रच्छन्नरागिण्याः कान्ताया गुरुसंनिधानादेरन्तरायप्रायत्वात् साक्षात् दर्शनाद्यप्राप्तावपि दर्पणप्रतिबिम्बद्वारेणापि अनन्यसञ्चेत्यं 'दृष्टो मया कान्तः' इति सन्तोषाभिमानात् कान्तदर्शनं वृत्तम्, अत एव सुन्दरमित्यनेन दर्शनवशोन्मिषिता-ह्लादातिशयकारित्वाद्यपि सूचितम् । एवमन्यासंवेद्य एतत् स्पर्शोऽपि मे भूयादिति

इसी को दिखलाते हैं—

रूप के निर्मल हो जाने पर (ही) रूप का (प्रतिबिम्ब रूप) आभास होता है ॥ -५ ॥

पृथिवी, जल, तेज तीन का ही रूप होता है । पार्थिव दर्पण आदि में, जलीय शान्त जलाशय आदि में और तैजसचक्षु आदि में रूप नामक स्वच्छ गुण है । (यह) संनिवेश का संस्थानरूप है इसलिए उसका प्रतिबिम्बन ही वहाँ अवभासित होता है न कि स्पर्श आदि का । वह आनन्द के स्थान आदि रूप कन्द आदि आधारों में स्पर्श आदि के सम्भव होने के कारण संक्रान्त होता है । इसलिए जो स्वच्छ गुण जहाँ है वही वहाँ संक्रान्त होता है—यह आशय है ॥ ५ ॥

यह कथन असम्बद्ध नहीं है—यह निश्चय करने के लिय यहाँ दृष्टान्त बतलाते हैं—

प्रच्छन्न रूप से प्रेम करने वाली (नायिका) प्रियतम के प्रतिबिम्ब से सुन्दर दर्पण को बड़े स्तनों से छूने पर भी तृप्त नहीं होती है ॥ ६ ॥

प्रच्छन्न राग वाली कान्ता को, गुरुसन्निधान आदि विघ्न के होने से साक्षात् दर्शन आदि की प्राप्ति न होने पर भी दर्पणप्रतिबिम्ब के द्वारा भी दूसरे से अलक्षित 'मेरे द्वारा प्रियतम देखा गया' ऐसा सन्तोष होने से, प्रियतम का दर्शन हो गया। इसलिए 'सुन्दर' इस (पद) के द्वारा दर्शनवशात् उठने वाला अतिशय आह्लाद-कारित्व आदि सूचित किया गया । इसी प्रकार 'दूसरे से असंवेद्य इसका स्पर्श भी

तत्र कृतप्रयत्नापि सा दर्पणे स्पर्शाप्रतिसंक्रमात्तमलभमाना न तृप्यति न प्रीयते—इत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु यद्यत्र रूपं प्रतिबिम्बितं तत्तदव्यभिचरितस्वभावः स्पर्शोऽपि किं न प्रतिबिम्बितः? इत्याशङ्क्याह—

न हि स्पर्शोऽस्य विमलो रूपमेव तथा यतः।
नैर्मल्यं चातिनिविडसजातीयैकसङ्गतिः ॥ ७ ॥

अस्येति—दर्पणस्य, तथेति—विमलम्, स्वच्छमेव हि अस्वच्छस्य दर्पण इव मुखस्य प्रतिबिम्बं स्वीकरोति—इति भावः । नैर्मल्यं नाम च एतत्किमुच्यते ? इत्याह—नैर्मल्यं चेति । अतिशयेन निविडाः = विजातीयभावैरकलुषिता ये सजातीयाः, यथा दर्पणे रूपपरमाणवः, तेषां एका = विजातीयाभावादसहाया या सङ्गतिः = नैरन्तर्येणावस्थानात्स्थपुटत्वादिपरिहारेण श्लक्ष्णत्वात्म संहतत्त्वं (तदेव) नैर्मल्यम् । यदैव हि विजातीयैः सजातीयाभावैश्चाकलुषितं दर्पणादे रूपमुपलभ्यते तदा रूपप्रतिबिम्बयोगः । यदा तु विजातीयैर्बाष्परजोरूपादिभिः तत्कालुष्यमुपनीयते तदा न इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते, यद्यस्यैव प्रतिबिम्बार्पकापेक्षया विशिष्टः स्वच्छताख्यो गुणः स एव तत्प्रतिबिम्बं गृह्णाति इति, अत एव च 'रूप एव

मुझे हो जाय' इस प्रकार उस विषय में प्रयत्न करने वाली भी वह कान्ता दर्पण में स्पर्श का संक्रमण न होने से उस (स्पर्श) को प्राप्त न करती हुई तृप्त नहीं होती = प्रसन्न नहीं होती ॥ ६ ॥

प्रश्न—यदि यहाँ रूप प्रतिबिम्बित हुआ तो उसका अव्यभिचारी स्वभाव वाला स्पर्श भी क्यों नहीं प्रतिबिम्बित हुआ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि इस (= दर्पण) का स्पर्श उतना निर्मल नहीं है जितना रूप। क्योंकि निर्मलता अत्यन्त सघन सजातीयमात्र के साथ रहती है ॥ ७ ॥

इसका = दर्पण का, उस प्रकार = निर्मल । स्वच्छ ही अस्वच्छ का प्रतिबिम्ब स्वीकृत करता है जैसे दर्पण मुख का—यह भाव है । यह निर्मलता क्या कही जाती है—यह बतलाते हैं—और नैर्मल्य । अतिशय निविड = विजातीय भावों से अकलुषित जो सजातीय, जैसे कि दर्पण में रूपपरमाणु, उनकी एक = विजातीय के अभाव के कारण असहाय जो सङ्गति = निरन्तरता के साथ स्थित रहने के कारण स्थपुटत्व आदि के परिहार के द्वारा श्लक्ष्णत्वरूप संहत होना, वही नैर्मल्य है जभी विजातीय और सजातीय भाव से अकलुषित दर्पण आदि का रूप प्राप्त होता है तभी रूपप्रतिबिम्बयोग होता है । और जब वाष्प, धूलस्वरूप आदि विजातीयों के द्वारा वह मलिन कर दिया जाता है तब नहीं—इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा निश्चित किया जाता है कि प्रतिबिम्ब के अर्पक की अपेक्षा जिसमें विशिष्ट स्वच्छता नामक गुण होता है वही उसके प्रतिबिम्ब का ग्रहण करता है । और इसीलिए 'रूप

रूपमवभासते' इत्यादौ प्रतिज्ञातो दर्पणोऽपि मुख प्रतिबिम्बेत्—इत्याविशेषेण बिम्बप्रतिबिम्बभावो न भवति—इत्यप्यावेदितम् ॥ ७ ॥

एतदेव प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

स्वस्मिन्नभेदाद्भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या ।
अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरूदितम् ॥ ८ ॥

अत्यक्तप्रतिकबिम्बितेऽपि भावान्तरे तस्याविकल्पस्यैव निर्भासादतिरोहितः स्वप्रकाशो यस्य दर्पणादेः स्वात्मन्यभेदमवलम्ब्य यद्भिन्नस्य भिन्नदेशस्य प्रतिबिम्बार्पकस्य पर्वतादेर्दर्शनम् गर्भीकृतण्यर्थत्वात्प्रकटीकरणम् । नहि दर्पणदेशा-दणुमात्रेऽपि बाह्ये देशे प्रतिबिम्बं भवति—इति भावः । तत्र या क्षमता = कुड्यादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुता, तदेव नैर्मल्यम् । न चैतत्स्वोपज्ञ-मेवास्माभिरुक्तम्—इत्याह 'गुरूदितमिति' गुरुणा परमगुरुणा श्रीमदुत्पलदेवेन—

'अथार्थस्य यथारूपं ....।' इत्यादि ।

तथा—

'न च युक्तं जडस्यैवं ....।'

में ही रूपभासित होता है' इत्यादि में प्रतिज्ञात दर्पण भी मुख में प्रतिबिम्बित होता। इसलिए सामान्यतया बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव नहीं होता—यह भी कहा गया ॥ ७ ॥

इसी को प्रकारान्तर से भी कहते हैं—

स्वप्रकाश (रूप धर्म) को न छोड़ने वाले तथा अपने प्रति अभेदयुक्त होते हुए भी भिन्न के प्रदर्शन की जो क्षमता है वही गुरु के द्वारा नैर्मल्य कहा गया है ॥ ८ ॥

प्रतिबिम्ब का त्याग करने वाले भी दूसरे पदार्थ में उस निर्विकल्प का ही निर्भास होने से जिस दर्पण आदि का स्वप्रकाश तिरोहित नहीं हुआ है (उसका) अपने में अभेद मान कर जो भिन्न = भिन्न देश वाले प्रतिबिम्ब के अर्पक पर्वत आदि का दर्शन = अन्तर्भूतण्यर्थ होने के कारण प्रकटीकरण क्योंकि दर्पणप्रान्त से रञ्चमात्र भी वर्त्तमान बाहरी प्रदेश में प्रतिबिम्ब नहीं होता—यह तात्पर्य है । उसमें वर्त्तमान जो क्षमता = भित्ति आदि की विलक्षणता के कारण प्रतिबिम्बग्रहण की सहिष्णुता, वही नैर्मल्य है । इसको हमने अपनी ही बुद्धि से नहीं कहा है—यह कहते हैं—गुरु के द्वारा कहा गया । गुरु के द्वारा = परमगुरु उत्पलदेव के द्वारा—

'अब अर्थ का रूप के अनुसार...... इत्यादि ।'

तथा—

'जड के विषय में ऐसा समीचीन नहीं है...... ।'

इत्यादि श्रीप्रत्यभिज्ञाकारिकाद्वयटीकायामेतन्निखिलमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमुदितम् = उक्तम्—इत्यर्थः ॥ ८ ॥

तदेतन्नैर्मल्यं मुख्यामुख्यतया द्विप्रकारमिति दर्शयितुमाह—

नैर्मल्यं मुख्यमेकस्य संविन्नाथस्य सर्वतः।
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यद्विमलं तत्तदिच्छया ॥ ९ ॥

मुख्यमिति—सर्वस्यैव रूपाद्यात्मना विश्वस्य प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात्, अत उक्तम्—सर्वत इति । संवित्संलग्नमेव हि विश्वं संवेद्यते, अत एव अस्याः सर्वतः स्वच्छत्वम्, तथा क्वापि दर्पणादौ अंशांशिकातोरूपादिलक्षणमंशमंश-मवलम्ब्य अन्यत् = अमुख्यं नैर्मल्यम्, तद्धि क्वचिदेव किञ्चिन्निर्मलम्, अन्यथा 'सर्वत्र सर्वं भायात्' इति दर्पणेऽपि स्पर्शःप्रतिबिम्बं गृह्णीयात्, एवं च मुख्यादस्य भेदो न स्यात् । तन्नैर्मल्ये च तत्स्वातन्त्र्यमेव निमित्तम्—इत्याह—'विमलं तत्तदिच्छया' इति । तदितिरूपादि, अत एव स्पर्शादि, तत्र अविमलम् इत्यर्थ-सिद्धं तेन तच्छक्तिरेव तथा प्रसृता—इति भावः ॥ ९ ॥

अत आह—

इत्यादि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की दो कारिकाओं की टीका में यह सब प्रतिबिम्ब सत्त्व, उदित = कथित है ॥ ८ ॥

वह यह नैर्मल्य मुख्य और अमुख्य रूप से दो प्रकार का है इसे दिखलाने के लिये कहते हैं—

संविद् के एकमात्र स्वामी परमेश्वर का सर्वत्र नैर्मल्य मुख्य (नैर्मल्य) है। और उसकी इच्छा से अंशांशिक रूप में कहीं-कहीं अन्य (= अमुख्य) नैर्मल्य है ॥ ९ ॥

मुख्य—सभी रूपाद्यात्मक विश्व के प्रतिबिम्ब के ग्रहण में सहिष्णु होने के कारण । इसलिए कहा गया—सर्वतः । संवित् से संलग्न ही विश्व का ज्ञान होता है इसलिए यह (संवित्) सर्वतः स्वच्छ है । तथा कहीं = दर्पण आदि में अंश-अंशी रूप में = रूप आदि लक्षण वाले अंश—अंश को आधार मानकर दूसरा = अमुख्य नैर्मल्य है । वह कहीं ही कुछ ही निर्मल है । अन्यथा 'सब कुछ सब जगह प्रतीत होता' और इस प्रकार दर्पण में स्पर्श भी अपना प्रतिबिम्ब ग्रहण करता । फलतः मुख्य से इसका भेद नहीं होता । उस नैर्मल्य के विषय में उसका स्वातन्त्र्य ही कारण है—यह कहते हैं—वह उसकी इच्छा से निर्मल है । तद् = रूप आदि । इसीलिए स्पर्श आदि । वहाँ विभक्त नहीं है यह अर्थात् सिद्ध है । इससे उसकी शक्ति ही उस रूप में फैली हुई है—यह तात्पर्य है ॥ ९ ॥

इसलिए कहते हैं—

भावानां यत्प्रतीघातिवपुर्मायात्मकं हि तत् ।
तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं त्वप्रतिघातकम् ॥ १० ॥

प्रतीघाति इति, प्रतिहन्तृत्वादन्यानुप्रवेशासहम्—इत्यर्थः, तद्धि मायास्वरूप-गोपनाकारित्वात् 'येयं पारमेश्वरी क्रियाशक्तिः' तदात्मकम्, अत एव भेद-प्राधान्याद्वेद्यतायाः स्थौल्यात् तत्रास्वच्छत्वम् इति प्रतिबिम्बग्रहणासामर्थ्यम् । यत्पुनरप्रतीघाति भावानां वपुः तत्सद्विद्यामयं ज्ञानशक्तिस्वभावम्, अत एव तद-पेक्षया तत्स्वच्छम् इति तत्र प्रतिबिम्बग्रहसहिष्णुत्वम्, तेन पूर्वं प्रतिबिम्बात्मकम् इदं तु तद्ग्रहि—इति विशेषः । एवं परमेश्वर एव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात्तत्तद्बिम्ब-प्रतिबिम्बाद्याभासवैचित्र्येण अवभासते—इति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥

तदाह—

तदेवमुभयाकारमवभासं प्रकाशयन् ।
विभाति वरदो बिम्बप्रतिबिम्बदृशाखिले ॥ ११ ॥

उभयाकारिमितिप्रतीघात्यप्रतीघात्यात्मकम् आभासमात्रसारमेव एतत्, न तु तात्त्विकमित्युक्तम्—'अवभासं प्रकाशयन्' इति । उक्तं च—

जो भावों का प्रतिहन्ता शरीर है वह मायात्मक होता है । उनका ही शुद्धविद्यामय शरीर अप्रतिघाती होता है ॥ १० ॥

प्रतीघाति = प्रतिहन्ता होने के कारण दूसरे के अनुप्रवेश को न सहने वाला । मायास्वरूप का गोपन न करने से वह 'जो यह पारमेश्वरी क्रिया शक्ति है' उस रूप वाला है । इसीलिए भेद का प्राधान्य होने से स्थूलता के कारण मलिनता है इसलिए प्रतिबिम्ब ग्रहण का सामर्थ्य नहीं है । और जो पदार्थों का अप्रतिघाति शरीर है वह शुद्धविद्यामय = ज्ञानशक्तिस्वभाव वाला है । इसीलिए वह : की अपेक्षा स्वच्छ है इसलिए उसमें प्रतिबिम्बग्रहण की सहिष्णुता है । इससे पहले वाला प्रतिबिम्बात्मक है और यह उस (प्रतिबिम्ब) का ग्राहक है—यह अन्तर है । इस प्रकार परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से भिन्न-भिन्न बिम्ब-प्रतिबिम्ब के आभास की विचित्रता के साथ अवभासित होता है—यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

वह कहते हैं—

इस प्रकार दोनों स्वरूप वाले अवभासों को प्रकाशित करते हुए वरदानी परमेश्वर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से सर्वत्र आभासित हो रहे हैं ॥ ११ ॥

उभयाकार = प्रतीघाति अप्रतीघाति रूप आभासमात्रसार वाला ही यह है । न कि तत्त्व वाला है इसलिए कहा गया—अवभास को प्रकाशित करता हुआ । कहा भी गया है—

'तस्मादेको महादेवः स्वातन्त्र्योपहितस्थितिः' ।
द्वित्वेन भात्यसौ बिम्बप्रतिबिम्बोदयात्मना ॥ इति ॥ ११ ॥

एवं यथाप्रतीति प्रतिबिम्बसतत्त्वमुपपाद्य केषाञ्चन नैयायिकानां प्रत्यावृत्तैर्नयनरश्मिभिः स्वस्यैव मुखस्य ग्रहणेऽपि दर्पणमुखमिति भ्रान्तिरियम् न पुनः सत्यत्वभ्रान्तत्वव्यतिरेकेण तृतीयस्य राश्यन्तरस्य अभावात्प्रतिबिम्बं नाम किञ्चिदस्ति—इति मतं निराकर्तुमाह—

यस्त्वाह नेत्रतेजांसि स्वच्छात्प्रतिफलन्त्यलम् ।
विपर्यस्य स्वकं वक्त्रं गृह्णन्तीति स पृच्छयते ॥ १२ ॥

य इत्येकवचनेन सूत्रकारासूत्रितत्वात्सर्वेषां नैयायिकानां नैतन्मतम्—इति सूचितम्, कैश्चिदेव हि आग्रहप्रवृत्तैरेतदुक्तम्—इति भावः । अत एव वृत्तिकार-भूषणकारादिभिरेतन्नामापि न स्पृष्टम् । स्वच्छादिति—बाह्याद्दर्पणादेः, विपर्यस्य इति—परावृत्य—इत्यर्थः । अत्र च प्रतिफलन्तीति विशेषणद्वारेण हेतुः, अन्यथा हि स्वदेहसंमुखीभाव एव एषां न स्यात् इति कथं स्वमपि वक्त्रं गृह्णीयुः । पृच्छ्यते इति—एतदभ्युपगमे कस्तवाशय इति ॥ १२ ॥

तदेवाह—

'इस कारण एक ही यह महादेव स्वांतन्त्र्योपाधि में स्थित होकर बिम्ब प्रतिबिम्बोदयात्मक दो रूपों में भासित होता है' ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्रतीति के अनुसार प्रतिबिम्ब की वास्तविकता का वर्णन कर कुछ नैयायिकों के—(विषय प्रदेश से) लौटी हुई चक्षूरश्मियों के द्वारा अपने मुख का ही दर्शन होने पर भी दर्पण (स्थ) मुख है - यह भ्रान्ति है । सत्यत्व और भ्रान्तत्व को छोड़कर तीसरी राशि के न होने से प्रतिबिम्ब नाम की कोई वस्तु नहीं है—इस मत का निराकरण करने के लिये कहते हैं—

जो यह कहता है कि नेत्रों के तेज (= ज्योति) स्वच्छ होने के कारण (दर्पण में) प्रतिबिम्बित होते हैं और (वे ही तेज) लौट कर अपने (= द्रष्टा के) मुख का ग्रहण करते हैं उससे पूछा जा रहा है ॥ १२ ॥

'यः' इस एकवचन के द्वारा सूत्रकार की ओर सङ्केत करने से यह मत सभी नैयायिकों का नहीं है—यह सूचित किया गया । कुछ दुराग्रही प्रवृत्ति वालों के ही द्वारा यह कहा गया—यह तात्पर्य है । इसलिए वृत्तिकार भूषणकार आदि के द्वारा इसका नाम भी नहीं लिया गया । स्वच्छ से = बाह्य दर्पण आदि से । विपर्यस्त होकर = लौटकर । यहाँ 'प्रतिफलित होते हैं' यह विशेषण के द्वारा हेतु है । अन्यथा इनका स्वदेहसंमुखीभाव ही नहीं होगा '। फिर कैसे अपना भी मुख देखेंगे। पूछा जाता है—ऐसा मानने में आपका क्या तात्पर्य है ॥ १२ ॥

वही कहते हैं—

देहादन्यत्र यत्तेजस्तदधिष्ठातुरात्मनः ।
तेनैव तेजसा ज्ञत्वे कोऽर्थः स्याद्दर्पणेन तु ॥ १३ ॥

उद्घाटितचक्षुषः प्रमातुर्देहाद्बहिः प्रसृतं यन्नायनं तेजः तेनैव विपर्यस्तेन तेजसा स्वाधिष्ठायकस्यात्मनो यदि स्वमुखज्ञातृता जायेत तद्दर्पणेन पुनः कोऽर्थः? पुरः प्रतिफलनहेतूनामन्येषामपि कुड्यादीनां तत्र संभवात् । अथ दर्पणादय एव प्रतिफलनहेतवो न कुड्यादय इति चेत् ? स्वच्छन्दाभिधानमेतत्—यतः समानेऽपि प्रतिघातहेतुत्वे दर्पणादय एव तथा न कुड्यादय—इत्यत्र न किञ्चिन्निमित्तमुत्पश्यामः । अथात्राधिकः स्वच्छत्वाख्यो धर्मोऽस्ति निमित्तम् इति चेत्? नैतत्; स्वच्छत्वं हि न प्रतीघाते निमित्तम्, एवं ह्यालोकस्य स्वच्छत्वात् तस्मिन्सति नभसि न कस्यापि अवकाशः स्यात् प्रत्युत तत्प्रतिबिम्बग्रहणे निमित्तम्—इति विरुद्धत्वमेव हेतोरावहति, तेन प्रतीघाते मूर्तत्वाद्येव निमित्तम्, तच्चोभयत्रापि समानम्, यद्वा दर्पणेन प्रतिफलनस्य वृत्तत्वादिदानीं दर्पणं विनापि स्वमुखग्रहणं स्यात्—इति तेन किं प्रयोजनम् ॥ १३ ॥

एवं च प्रतिफलनबलात्प्रत्यावृत्ता यदि नायना रश्मयः स्वकमेव वक्त्रं गृह्णन्ति

देह से भिन्न (स्थलों) में जो (चाक्षुष) तेज है उस (= तेज) का अधिष्ठाता प्रमाता उसी (अपने ही) तेज से (मुख का) ज्ञान कर लेता है फिर दर्पण का क्या प्रयोजन ।। १३ ।।

खुले नेत्र वाले प्रमाता का देह के बाहर गया हुआ जो चाक्षुष तेज उसी लौटे हुए तेज के द्वारा अपने (= नेत्र के) अधिष्ठाता आत्मा को यदि अपने मुख का ज्ञान हो जाय तो दर्पण का क्या काम ? क्योंकि तब तो सामने प्रतिबिम्ब के हेतुभूत दीवाल आदि का भी (प्रतिबिम्ब) उसमें सम्भव होने लगेगा । यदि कहिये कि दर्पण आदि ही प्रतिबिम्बन के कारण हैं, न कि भित्ति आदि तो यह तो (आपका) स्वतन्त्र कथन है । क्योंकि समान भी प्रतिघातहेतु में दर्पण आदि ही वैसे हैं न कि भित्ति आदि—इसमें (हम) कोई कारण नहीं देखते । यदि कहें कि यहाँ (दर्पण में) स्वच्छता नामक धर्म कारण है ? तो ऐसा नहीं है । स्वच्छता प्रतिघात का कारण नहीं है । ऐसा होने पर प्रकाश के स्वच्छ होने के कारण उसके होने पर आकाश में किसी (अन्य पदार्थ) के लिये जगह ही नहीं रह जायगी, बल्कि (आलोक या स्वच्छता) उसके प्रतिबिम्बग्रहण में निमित्त है । इस प्रकार कारण की विरुद्धता ही आ जाती है । इसलिए प्रतिघात में मूर्त्तत्व आदि ही कारण है और वह दोनों जगह (= मुख और दर्पण मे) समान है । अथवा दर्पण के द्वारा प्रतिबिम्बन होने से अब दर्पण के बिना भी अपने मुख का ग्रहण हो जायगा फिर उससे क्या मतलब ? ।। १३ ।।

इस प्रकार प्रतिबिम्बन के बल से लौटी हुई नेत्रकिरणें यदि अपने ही मुख का

तन्निज एव देशे तन्याय्यं नान्यत्र दर्पणादेरन्तः—इत्याह—

विपर्यस्तैस्तु तेजोभिर्ग्राहकात्मत्वमागतैः ।
रूपं दृश्येत वदने निजे न मकुरान्तरे ॥ १४ ॥

रूपमिति, स्ववदनसंबन्धि—वदने निज इति—स्ववदनदेशे एव—इत्यर्थः, स्वदेशावस्थितमेव हि ग्राह्यं ग्राहको गृह्णाति—इति भावः । न हि नीलदेशं परिहृत्य नीलज्ञानं नीलं परिच्छिन्दत् क्वचिद् दृष्टम्, ग्राहकात्मत्वमिति ग्रहीतृसंबद्धमेव चैतज्ज्ञेयम्; आत्माधिष्ठितानामेव ह्येषां ग्राहकत्वव्यवहारः । किं च बहिःनिःसृतानां नयनतेजसामात्मनाधिष्ठानं किमशरीरेण सशरीरेण वा ? आद्ये पक्षेऽशरीरस्य भोगायतनत्वं न स्यात्—तेन विनापि बहिर्बुद्धिलक्षणस्य भोगस्य उल्लासात्, एवं च तस्य 'भोगायतनं शरीरम्' इति स्वसिद्धान्त-भङ्गो भवेत् ॥ १४ ॥

सशरीरेणाधिष्ठानेन च विबम्बवदेवास्य प्रतिपत्तिः स्यान्न त्वन्यथा—इत्याह—

स्वमुखे स्पर्शवच्चेतद्रूपं भायान्ममेत्यलम् ।
न त्वस्य स्पृश्यभिन्नस्य वेद्यैकान्तस्वरूपिणः ॥ १५ ॥

ग्रहण करें तो अपने ही देश में वह उचित है न कि दर्पण आदि के भीतर—यह कहते हैं—

ग्राहक बनने वाले प्रत्यावृत तेज के द्वारा अपने ही मुख में अपना रूप दिखाई देने लगता न कि दर्पण में ॥ १४ ॥

रूप—अपने मुख से सम्बद्ध । अपने वदन में अर्थात् अपने मुखप्रदेश में ही। क्योंकि ग्राहक अपने देश में स्थित ही ग्राह्य का ग्रहण करता है । नील ज्ञान, नील देश को छोड़कर नील का परिच्छेद करता हुआ कहीं नहीं देखा गया । ग्राहकात्मत्व—इसे ग्रहीता से सम्बद्ध ही समझना चाहिये । आत्माधिष्ठित ही इनको ग्राहक कहा जाता है । इसके अतिरिक्त बहिर्गत नायन तेजों का अधिष्ठान क्या सशरीर आत्मा के द्वारा होता है या अशरीर आत्मा के द्वारा ? प्रथम पक्ष में शरीर भोगायतन नहीं होगा क्योंकि उसके बिना भी बाह्य बुद्धिलक्षण वाले भोग का उल्लास होता है । और इस प्रकार उसका 'भोगायतन को शरीर कहते हैं' यह अपना सिद्धान्त खण्डित हो जायगा ॥ १४ ॥

सशरीर अधिष्ठान के द्वारा बिम्ब के समान ही इसका ज्ञान होगा न कि दूसरे प्रकार से—यह कहते हैं—

अपने मुख में 'यह मेरा रूप है' ऐसी प्रतीति स्पर्श वाली होनी चाहिये न कि स्पृश्य से भिन्न केवल वेद्यस्वरूप इस (= वेद्य) का रूप है (ऐसी प्रतीति होती चाहिये जैसी कि होती है) ॥ १५ ॥

यदीदं निजमुखाधिकरणत्वेनात्मनो रूपमवभासेत् तत् 'ममेदं रूपम्' इत्यहन्तास्पदत्वेन पर्यस्ता प्रतिपत्तिः स्यात्, न पुनर्वेद्यैकात्मनोऽस्येदं रूपम् इति इदन्तास्पदत्वेन, अत्र हि अव्युत्पन्नानां बालादीनामयमित्येवैकरसा प्रतिपत्तिः, व्युत्पन्नस्तु 'मन्मुखमवेदेमत्र प्रतिबिम्बितम्' इत्याभिमन्यतां नाम, को दोषः? बिम्बात्पुनरस्य प्रतिबिम्बत्वे भेदेन प्रतिपत्तिरस्त्येव—तत्र एवंरूपत्वस्य अपह्नोतुमशक्यत्वात् । किं च स्वमुख एव यद्यात्मनो रूपभानं स्यात् तत्स्पर्शोऽपि भायात्, रूपसंनिवेशौ हि कामं गुरुत्वगन्धवत्त्वादिरहितौ स्याताम्, न पुनस्तदव्यभिचरितस्वभावत्वात् स्पर्शहीनौ क्वचिद् दृष्टौ । रूपप्रतिबिम्बे तु स्पर्शाद्भिन्नमेव रूपं प्रतीयते । नह्यग्निप्रतिबिम्बभाजो मुकुरस्य क्वचिदुष्णत्वमुपलब्धम् । तद्रूपावभासे यथा तद्धर्मस्य संनिवेशस्य अवश्यं भानं तथा तदव्यभिचारिणः स्पर्शस्यापि स्यात्, यदि स्वमुंखमेव गृह्येत तस्मान्न युक्तमुक्तं 'स्वकस्यैव वक्त्रस्य ग्रहणम्' इति । ननु अत एव उक्तं 'भ्रान्तिरियम्' इति यत्स्वमुखमेव गृह्यमाणं भ्रान्त्याऽभिमन्यते—दर्पणे गृहीतमिति, यद्येवं तर्हि सैवास्तु किमसंवेद्यमानस्य सत्यमुखग्रहणस्याभ्युपगमेन, भ्रान्तौ हि आरोप्यमाणमेव परिस्फुरति न वस्तुतत्त्वमपि, शुक्तिकारजतनिर्भासे हि यदि शुक्तिकापि भयात्तत् कृतं रजतनिर्भासेन इति भ्रान्तिरेव न स्यात्, एवं सत्यमेव चेन्मुखं गृहीतं का नाम भ्रान्तिः, भ्रान्तावपि वा

यदि यह अपना रूप अपने मुख के आधार के रूप में भासित होता तो 'यह मेरा रूप है' इस प्रकार अहन्तास्पद के रूप में ज्ञान होता न कि वेद्य स्वरूप 'इसका यह रूप है' इस प्रकार इदन्तास्पद के रूप में । इस विषय में अव्युत्पन्न बाल आदि को 'यह' ऐसा ही एक प्रकार का ज्ञान होता है, किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति 'मेरा मुख ही इसमें प्रतिबिम्बित हुआ' ऐसा समझे, क्या दोष है ? इसको बिम्ब से प्रतिबिम्ब में भेदपूर्वक ज्ञान है ही—क्योंकि वहाँ इस रूपता को छिपाया नहीं जा सकता । इसके अतिरिक्त यदि अपने मुख में ही अपने रूप का भान होता तो उसको स्पर्श का भान होता, रूप और सन्निवेश भले ही गुरुत्व और गन्ध से रहित हो किन्तु उससे अव्यभिचरित स्वभाववाला होने के कारण कहीं पर स्पर्शहीन नहीं देखे गये । रूप प्रतिबिम्ब में तो रूप स्पर्श से भिन्न ही प्रतीत होता है । अग्नि के प्रतिबिम्ब को धारण करने वाला दर्पण कभी उष्ण नहीं देखा गया । उसके रूप का अवभास होने पर जैसे उसके धर्मसन्निवेश का अवश्य भान होता है उसी प्रकार उसके अव्यभिचारी स्पर्श का भी (भान) होता यदि अपने मुख का ही ग्रहण होता। इसलिए यह ठीक नहीं कहा कि अपने ही मुख का ग्रहण होता है । प्रश्न—इसीलिए कहा गया 'यह भ्रान्ति है' कि अपना मुख ही दृष्ट होता हुआ भ्रान्ति के कारण माना जाता है कि—दर्पण में दृष्ट हुआ ? यदि ऐसा है तो वही (= भ्रान्ति) हो, असंवेद्यमान सच्चे मुख के दर्शन को मानने से क्या लाभ? भ्रान्ति में आरोप्यमाण का ही स्फुरण होता है न कि वस्तु तत्त्व का भी । शुक्तिका जब रजत रूप में प्रतीत होती है तब यदि शुक्तिका का भी भान हो तब तो रजत का भान

किं दर्पण एव मुखत्वेन भाति उत स्वमुखं परमुखत्वेन ? न तावत् आद्यः पक्षो दर्पणस्याखण्डस्यैव निर्भासमानत्वात्, नहि रजतनिर्भासावसरे शुक्तिकाया अपि भानं भवेत्, नापि द्वितीयः—एवं हि औदासीन्यमवलम्बमानः सर्वो जनः स्वमुखे भूषणविन्यासप्रसाधनादौ अनादृतः स्यात्, तस्माद्भ्रान्त्यभावाद्बिम्बविलक्षणं प्रतिबिम्बाख्यं वस्त्वन्तरमेवैतदभ्युपगन्तव्यम् ॥ १५ ॥

अत आह—

रूपसंस्थानमात्रं तत्स्पर्शगन्धरसादिभिः ।
न्यग्भूतैरेव तद्युक्तं वस्तु तत्प्रतिबिम्बितम् ॥ १६ ॥

तत्—उक्तात् भ्रान्त्यभावादेर्हेतोः, स्पर्शादिशून्यत्वात् केवलं तद्रूपसंस्थानं तत्र दर्पणादौ प्रतिबिम्बितं सत् वस्त्वेव, न पुनरवस्तु, किं तु स्पर्शादिभिर्न्यग्भूतैरेव तद्युक्तम्, अन्यथा ह्यस्य बिम्बादविशेष एव स्यात्, तस्मादस्त्येव प्रतिबिम्बलक्षण-स्तृतीयो राशिः—इत्याशयः ॥ १६ ॥

किं नाम चेदं स्पर्शादीनां न्यग्भूतत्वम्?—इत्याह—

न्यग्भावो ग्राह्यताभावात्तदभावोऽप्रमाणतः ।

होगा ही नहीं और इस प्रकार भ्रम ही नहीं होगा । इसी प्रकार यदि सत्य मुख का दर्शन हुआ तो भ्रम किस बात का ? भ्रम होने पर भी क्या दर्पण ही मुख के रूप में आभासित होता है या अपना मुख दूसरे मुख के रूप में ? प्रथम पक्ष (उचित) नहीं—क्योंकि अखण्ड दर्पण ही भासित होता है । रजत प्रतीति के समय शुक्ति प्रतीत नहीं होती । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं । क्योंकि तब तो उदासीन होते हुए सब लोग अपने मुख में आभूषणधारण एवं अलङ्करण आदि में रूचि नहीं रखेंगे । इसलिए भ्रान्ति के अभाव के कारण इसे बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब नामक दूसरी वस्तु माननी चाहिये ॥ १५ ॥

इसलिए कहते हैं—

वह (= प्रतिबिम्ब) स्पर्श गन्ध रस आदि से शून्य केवल रूपसंस्थान ही है । इसलिए यह ठीक है कि वह प्रतिबिम्बित भी वस्तु ही है ॥ १६ ॥

तत् = उक्त भ्रान्ति के अभाव आदि हेतु के कारण, स्पर्श आदि से शून्य होने के कारण केवल उसका रूपसंस्थान, उस दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित सद्वस्तु ही है । न कि अवस्तु । किन्तु तिरोहित ही स्पर्श आदि से यह युक्त है । अन्यथा यह बिम्ब से अभिन्न ही होगी । इस कारण प्रतिबिम्बलक्षण वाली तीसरी वस्तु है—यह तात्पर्य है ॥ १६ ॥

यह स्पर्श आदि का तिरोहित होना क्या वस्तु है ?—यह कहते हैं—

(स्पर्श आदि का) तिरोभाव ग्राह्यता के अभाव के कारण है । और

स चार्थसङ्गमाभावात्सोऽप्यादर्शेऽनवस्थितेः ॥ १७ ॥

स इति = प्रमाणाभावः, अनवस्थितेरित्यर्थात्स्पर्शादीनाम्, यदि वा नामात्र हि स्पर्शादीनामवस्थानं स्यात् तत्तैः सह इन्द्रियाणि संयुज्येरन्, तत्संनिकर्षादेव चोत्पद्यमानं ज्ञानं तत्र प्रमाणतां यायात्—इति तत्प्रमीयमाणस्य स्पर्शादि-ग्राह्याभावो भवेत्—इति भावः ॥ १७ ॥

किं च

अत एव गुरुत्वादिर्धर्मो नैतस्य लक्ष्यते ।
नह्यादर्शे संस्थितोऽसौ तद्दृष्टौ स उपायकः॥ १८ ॥

अत इति—स्पर्शादीनामनवस्थितेः, यदि ह्येतस्य प्रतिबिम्बितस्य रूप-संस्थानमात्रस्य स्पर्शाद्यपि स्यात् तत्तद्धर्मो गुरुत्वादिरपि भायात्, तदभावे चास्य किं प्रमाणम् ?—इत्याह—'नह्यादर्शे संस्थितोऽसौ'—इति गुरुत्वादिर्धर्मः प्रतिबिम्बितस्य पर्वतादेः, असाविति—गुरुत्वादिधर्मसंभवे हि तद्योगात् दर्पणोऽप्य-चाल्यः स्यात्, न चैवम्, इति प्रतिबिम्बेऽपि तन्नास्तीत्युक्तम्—'गुरुत्वादिर्धर्मो

(= ग्राह्यता) का अभाव इसलिए है कि उस विषय में कोई प्रमाण नहीं है । और वह (= प्रमाणाभाव) अर्थ का (इन्द्रियों के साथ) सम्बन्ध न होने के कारण और वह भी दर्पण में (स्पर्श आदि की) स्थिति न होने से है ॥ १७ ॥

वह = प्रमाण भाव । अनवस्थिति के कारण—अर्थात् स्पर्श आदि की । अथवा यदि यहाँ स्पर्श आदि रहते तो उनके साथ इन्द्रियाँ संयुक्त होतीं और उनके सन्निकर्ष से उत्पद्यमान ज्ञान वहाँ प्रमाण होता । इस प्रकार उसके द्वारा प्रमीयमाण स्पर्श आदि ग्राह्य का अभाव होता—यह तात्पर्य है ॥ १७ ॥

और भी—

इसीलिए इस (= प्रतिबिम्ब) का गुरुत्व आदि धर्म भी अनुभूत नहीं होता । वह दर्पण में नहीं रहता । उस (= रूप संस्थान) के दर्शन में वह (= दर्पण) उपाय है ॥ १८ ॥

अतः = स्पर्श आदि के स्थित न होने के कारण । यदि इस प्रतिबिम्बित रूपसंस्थान मात्र का स्पर्श आदि भी होता तो उसका गुरुत्व आदि धर्म भी भासित होता । इसका उसके अभाव में क्या प्रमाण है—यह कहते हैं—यह दर्पण में स्थित नहीं है' । यह = गुरुत्व आदि धर्म । प्रतिबिम्बित पर्वत आदि के अन्दर गुरुत्व आदि धर्म होने पर उस (गुरुत्व आदि) के योग से दर्पण भी अचाल्य हो जाता किन्तु ऐसा नहीं है—इसलिए प्रतिबिम्ब में भी वह (गुरुत्व आदि धर्म) नहीं है—यह कहा गया—'इसका गुरुत्व आदि धर्म लक्षित नहीं होता ।' प्रश्न—रूप सर्वत्र स्पर्श

नैतस्य लक्ष्यते' इति । ननु रूपं तावत्स्पर्शाव्यभिचारि सर्वत्रैव दृष्टं बिम्बे चैवमिति दर्पणे रूपमेव केवलं किमिति प्रतिसंक्रान्तम्?—इत्याशङ्क्याह—'तद्दृष्टौ स उपायकः' इति, तद्दृष्टाविति—तस्य = रूपसंस्थानमात्रस्य, दृष्टौ = अभासने—इत्यर्थः, दर्पणे हि पूर्वोक्तयुक्त्या रूपमेव स्वच्छमस्तीति तदवभासन एवास्य साधनत्वं न स्पर्शादेरपि—इति भावः । उपाय एव उपायकः इति, स्वार्थे कन् ॥ १८ ॥

ननु यथा दर्पणस्तद्दृष्टावुपायस्तथान्येऽप्यालोकादयः, इत्युपायत्वाविशेषेऽप्येष एव कस्मादस्याधार उच्यते ? इत्याशङ्क्याह—

तस्मात्तु नैष भेदेन यद्भाति तत उच्यते ।
आधारस्तत्र तूपाया दीपदृक्संविदः क्रमात्॥ १९ ॥

यतः पुनस्तस्मात् = आदर्शादेषः = प्रतिबिम्बो भेदेन = पृथक्तया न भाति ततो हेतोस्तिलेषु तैलमितिवदभिव्यापकतयाऽस्य एष आधार उच्यते, अत्र पुनरुत्पन्नस्य सतः प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्तावालोकादय उपाया, इति—तेभ्योऽस्य विशेषः, तदाह—तत्र त्विति, क्रमादिति दर्पणाभेदेन उत्पत्त्यवभासात्, उत्तरकालं संनिहितेऽपि दर्पणे जातेऽपि प्रतिबिम्बे दीपं विना कस्तद्व्यवहारः, को हि वेद

का सहचारी देखा गया है, बिम्ब में भी ऐसा है, फिर दर्पण में केवल रूप ही कैसे संक्रान्त होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—उसके दर्शन में वह उपाय है। तद् दृष्टि में—उस = रूप संस्थानमात्र, की दृष्टि में = अवभासन में—यह अर्थ है। दर्पण में पूर्वोक्त युक्ति से रूप ही स्वच्छ है इसलिए उसी के अवभासन में यह साधन है न कि स्पर्श आदि के भी—यह तात्पर्य है । उपाय ही उपायक है । स्वार्थ में कन् (प्रत्यय) है ॥ १८ ॥

प्रश्न—जैसे दर्पण उसके (मुख के या बिम्ब के) दर्शन के विषय में उपाय है उसी प्रकार दूसरे प्रकाश आदि भी हैं फिर उपायों के समान होने पर भी यही क्यों इसका आधार कहा जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो यह (= दर्पण प्रतिबिम्ब से) भिन्न रूप में भासित नहीं होता इस कारण यह आधार कहा जाता है । दीप, नेत्र एवं संविद् उस (= आभास) के क्रमिक उपाय हैं ॥ १९ ॥

चूँकि यह प्रतिबिम्ब उस दर्पण से भेदपूर्वक अलग भासित नहीं होता इसलिए तिल में तेल की भाँति व्यापक रूप में यह इसका आधार कहा जाता है फिर यहाँ उत्पन्न होने वाले सत् प्रतिबिम्ब के ज्ञान में आलोक आदि उपाय हैं यही इसकी उनसे विशेषता है यह कहते हैं—वहाँ तो... । क्रम से = दर्पण से अभिन्न रूप में उत्पत्ति का अवभास होने से । बाद में दर्पण के सन्निहित होने पर भी प्रतिबिम्ब के उत्पन्न होने पर भी दीपक के बिना उसका क्या व्यवहार होगा ? अन्धकार में कौन

अन्धतमसे दर्पणे मुखं संक्रान्तमिति, एवमन्धस्य संक्रान्तेऽपि मुखे सत्यपि आलोके न तद्व्यवहारः, अनन्धस्य तु सत्यामपि एवंसामग्र्यां केनापि वैगुण्येन यदीन्द्रियार्थसंनिकर्षाभावात् तज्ज्ञानं नोत्पन्नं तत्क एवं परिच्छिन्द्यात्— इत्येतज्ज्ञप्तावेषां समुदितानामुपायत्वम्, अवभासनमात्रसारमेव हि प्रतिबिम्बसतत्त्वम् —इत्येतदिह प्राधान्येनोक्तम् ॥ १९ ॥

ननूक्तयुक्त्या दर्पणात् दीपादीनामपि अविशिष्टमेव प्रतिबिम्बग्रहण-सहिष्णुत्वम्, इति किमिति न तेऽपि स्वात्माभेदेन तद्भासयेयुः? इत्याशङ्क्याह—

दीपचक्षुर्विबोधानां काठिन्याभावतः परम् ।
सर्वतश्चापि नैर्मल्यान्न विभादर्शवत्पृथक् ॥ २० ॥

सत्यमस्त्येव दीपादीनां स्वात्मनि प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वं किं तु प्रतिबिम्बस्य दर्पणे यथानतिरिक्तत्वेऽपि ततोऽतिरिक्तायमानत्वेन प्रकाशः, तथा नात्रेति अत आह—'न विभादर्शवत्पृथक्' इति, यतो दीपादीनां काठिन्यस्याभावः, कठिने कि दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तं मुखादि आधारस्य स्थैर्यात् पृथक्प्रतिभासते, दीपादितेजः पुनः काठिन्याभावात् एकवदिति, तत्रास्थैर्यात्तथा प्रकाशते यथा निर्मलेऽपि

जानता है कि दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित हुआ है । इसी प्रकार मुख के प्रतिबिम्बित होने पर भी प्रकाश के होने पर भी अन्धे के लिये उसका व्यवहार नहीं होता । जो अन्धा नहीं है उसको उस प्रकार की सामग्री होने पर भी किसी दुर्गुण के कारण यदि इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष न होने से उसका ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तो कौन इस प्रकार का ज्ञान करेगा । इस प्रकार इसके ज्ञान में ये सामूहिक रूप से उपाय बनते हैं । केवल अवभासन होना ही प्रतिबिम्ब का तत्त्व है—यही यहाँ प्रधानरूप से कहा गया है ॥ १९ ॥

प्रश्न—उक्त युक्ति से दीप आदि की भी प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुता दर्पण के समान ही है तो वे (दीप आदि) भी अपने से अभिन्नरूप में उसका अवभासन क्यों नहीं करते ? यह शङ्का कर कहते हैं—

दीपक चक्षुरिन्द्रिय और ज्ञान में काठिन्य नहीं हैं । और सब प्रकार से वे निर्मल हैं इसलिए आभास या प्रतिबिम्ब दर्पण के समान पृथक् नहीं (दिखाई देता) ॥ २० ॥

यह सत्य है कि दीप आदि अपने में प्रतिबिम्ब के ग्रहण की सहिष्णुता रखते हैं किन्तु जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब का प्रकाश अभिन्न होते हुए भी भिन्न जैसा प्रतीत होता है वैसा यहाँ नहीं है । इसलिए कहते हैं—प्रकाश दर्पण के समान पृथक् नहीं है । क्योंकि दीप आदि में कठिनता का अभाव है । कठोर दर्पण आदि में प्रतिसंक्रान्त मुख आदि आधार की स्थिरता के कारण अलग प्रतिभासित होते हैं। दीप आदि तेज काठिन्य के अभाव के कारण एक जैसे हैं इसलिए वहाँ स्थिरता न

जलाशयादावस्तिमितत्वात्प्रतिसंक्रान्तमपि मुखादि न लक्ष्यते तथेहापि—इति भावः। नन्वेवमप्स्वपि द्रवत्वात्काठिन्याभावात् स्तैमित्येऽपि प्रतिबिम्बस्य पृथक् प्रतिभासो न स्यात्? न; अस्त्येव हि अपां काठिन्यम्, नहि यथा नभसि भुजं परिभ्रमयतो न प्रतीघातस्तथात्रापीति अत एवात्र बाहुभ्यां तरतः पुंसो बाह्वोः परं तद्भेदने परिश्रमः किं तु तदापेक्षिकम्। नहि यथा पृथिव्यां काठिन्यमस्ति तथाप्सु, यथा चात्र तथा न तेजसि, नहि तेजसि काठिन्यं नास्तीत्युच्यते किं तु तदपेक्षयापि स्वल्पं प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशनायोग्यमिति, अन्यथा हि अमूर्तत्वादाकाशतुल्या एव दीपादयोऽपि भवेयुः, संविदि पुनरेतन्नास्त्येव—इत्यमूर्तत्वात्तत्र न प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशः। किं च दर्पणादि पुरत एव स्वच्छं, न पश्चादिति तत्र मलिनं पश्चाद्भागं भित्तिन्यायेनाश्रित्य स्वच्छे पुरोभागे प्रतिबिम्बं भासते, इह तु सर्वतः स्वच्छत्वात् एकेन भागेन प्रतिसंक्रान्तमपि मुखादि न लक्ष्यते भागान्तरेण अन्ततः आलोकादिना प्रतिसंक्रान्तेन तस्यावृतत्वात्। यद्वा यथा काचस्फटिकशकलादयः सर्वतः स्वच्छत्वात् तद्व्यवहितवस्तुदर्शनान्यथानुपपत्त्या नायनानां रश्मीनां न प्रतिघातकास्तथा दीपादयोऽपि, काठिन्याभावे सति सर्वतः स्वच्छत्वा-

---

होने के कारण वह उस प्रकार प्रकाशित नहीं होता। जैसे कि निर्मल भी जलाशय आदि में शान्त न होने के कारण प्रतिबिम्बित भी मुख आदि लक्षित नहीं होता उसी प्रकार यहाँ भी है—यह तात्पर्य हैं। प्रश्न—इस प्रकार जल में भी द्रवत्व होने के कारण काठिन्य न होने से शान्त होने पर भी प्रतिबिम्ब का पृथक् प्रतिभास नहीं होगा? ऐसा नहीं है। जल में कठिनता है ही। जैसे आकाश में हाथ घुमाने पर प्रतिघात नहीं होता वैसा यहाँ नहीं है। इसीलिए इस (जल) में भुजाओं से तैरने वाले पुरुष की भुजाओं में उस (जल) के भेदन में अधिक परिश्रम होता है किन्तु वह (काठिन्य) आपेक्षिक है। जैसा काठिन्य पृथिवी में है जल में वैसा नहीं है। जैसा यहाँ (जल में) है वैसा तेज में नही है। तेज में काठिन्य नहीं है ऐसा नहीं कहा जाता किन्तु उस (जल) की अपेक्षा भी थोड़ा (है जो) प्रतिबिम्ब के पृथक् प्रकाशन के योग्य नही है अन्यथा (तेज के) अमूर्त होने के कारण दीप आदि भी आकाश के तुल्य हो जायेंगे। संविद् में ऐसा नहीं है इसलिए अमूर्त होनेके कारण उसमें प्रतिबिम्ब का पृथक् प्रकाश नहीं होता। इसके अतिरिक्त दर्पण आदि सामने ही स्वच्छ हैं न कि पीछे। वहाँ पीछे के मलिन भाग के दीवाल की भाँति आश्रय मान कर स्वच्छ पुरोवर्त्ती भाग में प्रतिबिम्ब भासित होता है। यहाँ (संविद् में) तो सर्वतः स्वच्छ होने के कारण एक भाग से प्रतिबिम्बित भी मुख आदि भागान्तर से लक्षित नहीं होता। क्योंकि अन्तःआलोक आदि के द्वारा प्रतिबिम्बित होने से वह आवृत रहता है। अथवा जैसे काँच या स्फटिक के टुकड़े आदि सर्वतः स्वच्छ होने के कारण उस (काँच आदि) से व्यवहित वस्तु के दर्शन की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण चाक्षुष किरणों के प्रतिघातक नहीं होते उसी प्रकार दीप आदि भी काठिन्य न होने से सर्वतः स्वच्छ होने के कारण भागान्तर से निकलने वाले

द्भागान्तरेण निर्गच्छतः प्रतिबिम्बस्येति न तत्र तत्प्ररोहमेति, मलिनस्य तत्प्रतीघातकस्य भागान्तरस्याभावात्, संवित्पुनः सर्वतो नैर्मल्यात्स्वप्रकाशेति न तस्या वेद्यत्वगन्धोऽप्यस्तीति तत्र कथं प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशः, यत्पुनः प्रसरावसरे दीपे छायापुरुषज्ञाने वा नभस्थे तेजसि प्रतिबिम्बं लक्ष्यते तन्मन्त्रादि-माहात्म्याच्चक्षुष्यपि वा यत्प्रतिबिम्बं दृश्यते तत्र तैजसे चक्षुरिन्द्रिये—तस्य नित्यपरोक्षत्वात् किं तु आप्ये गोलके इति न कश्चिद्दोषः ॥ २० ॥

न चैतत्प्रतिबिम्बसतत्त्वमस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह—

एतच्च देवदेवेन दर्शितं बोधवृद्धये ।
मूढानां वस्तु भवति ततोऽप्यन्यत्र नाप्यलम् ॥ २१ ॥
प्रतीघाति स्वतन्त्रं नो न स्थाय्यस्थायि चापि न ।
स्वच्छस्यैवैष कस्यापि महिमेति कृपालुना ॥ २२ ॥

एतत्प्रतिबिम्बसतत्त्वं कृपालुना = देवदेवेन 'मूढानाम्' इति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण बोधवृद्धये दर्शितमिति सम्बन्धः । दर्शितमिति सामान्यनोक्तेः सर्वत्रैव—इति भावः, तदुक्तम्—

प्रतिबिम्ब के (प्रतिघातक नहीं होते) इसलिए वहाँ वह (= प्रतिबिम्ब) उत्पन्न नहीं होता । क्योंकि मलिन एवं उसका प्रतिघाती भागान्तर नहीं है । और संवित् तो सर्वतः निर्मल होने के कारण स्वप्रकाश है इसलिए उसमें वेद्यत्व का गन्ध मात्र भी नहीं है फलतः वहाँ प्रतिबिम्ब का पृथक् प्रकाश कैसे होगा ? और जो प्रसरण काल में दीपक में या छायापुरुष ज्ञान में आकाशस्थ तेज में प्रतिबिम्ब लक्षित होता है वह मन्त्र आदि की महिमा के कारण । आँख में भी जो प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है वह तैजस् चक्षुरिन्द्रिय में नहीं, क्योंकि वह नित्य परोक्ष है बल्कि जलीय गोलक में (दिखलाई पड़ता है) इसलिए कोई दोष नहीं है ॥ २० ॥

यह प्रतिबिम्ब तत्त्व हमने अपनी बुद्धि से नहीं कहा है—यह कहते हैं—

देवाधिदेव ने मूढों के बोध की वृद्धि के लिये इस (= बिम्बप्रतिबिम्ब भाव) को दिखाया । (यह प्रतिबिम्ब भी) वस्तु है । (यह दर्पणदेश से) अन्य स्थल में नहीं रहता (इतना ही) पर्याप्त नहीं है । यह (= प्रतिबिम्ब) प्रतिघाती नहीं है । स्वतन्त्र नहीं, स्थायी और अस्थायी भी नहीं हैं । यह किसी स्वच्छ (तत्त्व) की महिमा है—ऐसा कृपालु (देवाधिदेव) के द्वारा (कहा गया) ॥ २१-२२ ॥

यह प्रतिबिम्ब सतत्त्व कृपालु देवदेव के द्वारा 'मूर्खों के' इस कहे जाने वाले प्रकार से बोध की वृद्धि के लिये दिखलाया गया—ऐसा सम्बन्ध है । 'दिखलाया गया' इस सामान्य उक्ति से यह तात्पर्य है कि सर्वत्र ही (दिखाया गया है) । वही कहा गया है—

'पूजयेद्बिम्बवद्देवीः करणत्वेन दीधितीः ।' इति । तथा
'जलदर्पणवत्तेन सर्वव्याप्तं चराचरम् ।' इति । तथा
'सदसद्वस्तुनिर्भासी दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।' इति । तथा
'यथान्तर्निर्मलादर्शे भान्ति भावा विरोधिनः ।
अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ।।' इति । तथा
'प्रतिबिम्बन्ति यस्यार्थास्त्वन्तः स्वच्छमणेरिव ।' इति । तथा
'न मे बन्धो न मे मोक्षो जीवस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धिर्जलेष्विव विवस्वतः ।।' इति ।

तत्र तावदेवतत्प्रतिबिम्बं वस्तु भवति—प्रतिभासमानत्वात्, न च भातमभातं भवति इति हि सर्वेषामेवात्राविवादः, न चात्र कश्चिद्बाधकः प्रत्ययोऽस्ति, तस्योत्तरकालमनुदयात् । ननु यद्येवं तदेतेन प्रसिद्धतद्वस्तुजातीयेन भवितुं युक्तम्, अन्यथा हि अनियतं वस्तुत्वं भवेत्, तेन 'शशस्यारूपस्पर्शाद्यात्मकं विषाणं वस्तुभूतमस्ति' इत्यपि स्यात्, न चास्य प्रसिद्धवस्त्वन्तरजातीयत्वमस्तीति कथं वस्तुभूतत्वं स्यात्, बाह्यं खलु उत्पन्नं वस्तु देशाद्देशान्तरमपि व्रजेत, न चैवमेतत् ? तदाह—

'देवियों की बिम्ब के समान, किरणों की करण के रूप में पूजा करनी चाहिए ।' तथा,

'जल दर्पण के समान उसके द्वारा चर-अचर सब व्याप्त है ।' तथा

'दर्पण गत प्रतिबिम्ब के समान वह सत्-असत् वस्तु का निर्भास करने वाला है ।' तथा,

जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण के भीतर परस्पर विरोधी पदार्थ अलग—अलग प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार इस चित्नाथ में समस्त वृत्तियाँ (प्रतिफलित होती हैं)' तथा,

'जिसके भीतर पदार्थ स्वच्छमणि के भीतर की भाँति प्रतिबिम्बित होते हैं ।' तथा,

'न मेरा बन्धन है न मेरा मोक्ष । ये विभीषिकायें जीव की हैं । जल में सूर्य के (प्रतिबिम्ब के) समान यह बुद्धि का प्रतिबिम्ब है ।'

यह प्रतिबिम्ब वस्तु है क्योंकि प्रतिभासित होता है । जो प्रतिभात होता है, वह अप्रतिभात नहीं होता । इस विषय में सबका एकमत है । इसमें कोई बाधक प्रत्यय भी नहीं है क्योंकि उत्तर काल में उसका उदय नहीं होता । प्रश्न—यदि ऐसा है तो इसे प्रसिद्ध तद्वस्तु का सजातीय होना चाहिये अन्यथा वस्तुत्व अनियत हो जायगा । इससे 'खरगोश के पास बिना रूप और स्पर्शवाली सींग वस्तु है' यह भी होने लगेगा । किन्तु यह प्रसिद्ध वस्त्वन्तर जातीय नहीं है इसलिए यह वस्तु कैसे होगी । बाह्य उत्पन्न वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को भी जाती है यह

'ततोऽप्यन्यत्र न' इति । तत इति दर्पणदेशात्, अन्यत्रेति देशान्तरे । भवति— इति सर्वत्रैव सम्बन्धनीयम्, बाह्यं च रूपादि स्पर्शाद्यव्यभिचरितमेव भवति, नैवमेतदित्याह—'नाप्यलमिति' नैतत्पर्याप्तम्—इत्यर्थः, यतोऽत्र स्पर्शादिपरिहारेण रूपसंस्थानमात्रस्यैव प्रतिभासः, न-शब्दोऽत्र काकाक्षिवद्योज्यः, बाह्यं पर्वतादि सर्वस्यैव प्रतिहन्तृ सर्वं चास्य, मूर्तत्वात्, न चैवमेतत् अत आह—'प्रतिघातीति' न-शब्दोऽत्रापि संबन्धनीयः, अन्यथास्य भग्ने दर्पणे कथं तदन्तः प्रवेशः स्यात्, न चैतद्दर्पणस्य पृष्ठतो युज्यते, तथात्वे हि दर्पणस्यादर्शनं भवेत्, बाह्यस्य च सर्वस्यैवोत्पत्तौ कारणापेक्षास्ति, नहि स्वयम्भु किञ्चित् वस्तु संभवति, उत्पन्नं पुनरन्यनिरपेक्षमेवास्ते, यथा चक्रादिपरिहारेण घटः, इदं पुनरुत्पत्तिनिमित्तं दर्पणादि उपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण न किञ्चिदपि सत्तां लभते, न हि दर्पणादिपरिहारेण प्रतिबिम्बं क्वचिद् दृश्यते । तदुक्तम् 'न स्वतन्त्रमिति'—अत एव च नैतत्स्वयं स्थिरम-स्थिरं वापि—इत्याह—'न स्थाय्यस्थायि चापि नेति' । बाह्यं हि वस्तु उत्पन्नं सत् बहुकालयोगित्वात्स्थायीत्युच्यते अन्यथा तु अस्थायि, एतत्पुनर्दर्पणादेरतिरेकेण सत्तामेव नोपलभत इति कस्य कालयोगो येन स्थायित्वमस्थायित्वं वापि भवेत्, तस्मात्प्रसिद्धतद्वस्तुजातीयत्वाभावात् शशविषाणादिवदेतदवस्त्वेवेति नास्य प्रतिभासो

(शशशृङ्ग) तो वैसा नहीं है । यह कहते हैं—उससे अन्यत्र नहीं है । उससे = दर्पणदेश से, अन्यत्र = दूसरे देश में—ऐसा सर्वत्र सम्बन्ध बनाना चाहिये । बाह्य रूप आदि स्पर्श आदि का अव्यभिचारी ही होता है । यह वैसा नहीं है—यह कहते हैं—नाप्यलम् = यह पर्याप्त नहीं है । क्योंकि यहाँ स्पर्श आदि को छोड़कर रूपसंस्थान मात्र का ही प्रतिभास होता है । 'न' शब्द को काक की आँख के समान (दोनों ओर) जोड़ना चाहिये । बाह्य पर्वत आदि सबका प्रतिघाती होता है और सब इसका क्योंकि सब मूर्त है । यह ऐसा नहीं है—इसलिए कहते हैं—'प्रतिघाती' । 'न' शब्द को यहाँ भी जोड़ना चाहिये । अन्यथा टूटे हुए दर्पण के भीतर इसका प्रवेश कैसे होगा । दर्पण के पीछे यह हो नहीं सकता क्योंकि वैसा होने पर दर्पण का अदर्शन हो जायगा । समस्त बाह्य (पदार्थों) की उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा होती है कोई वस्तु स्वयम् उत्पन्न नहीं हो सकती । और उत्पन्न वस्तु दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए स्थित होती है जैसे चक्र आदि को छोड़कर घट । यह (प्रतिबिम्ब) उत्पत्ति के निमित्तभूत दर्पण आदि की अपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से किसी भी सत्ता को नहीं प्राप्त करता; दर्पण आदि को छोड़कर कहीं भी प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता । वही कहा गया—'स्वतन्त्र नहीं' । और इसीलिए वह न स्थिर है न अस्थिर—यह कहते हैं—'यह स्थायी नहीं और अस्थायी भी नहीं है ।' बाह्य वस्तु उत्पन्न होकर बहुत काल से युक्त होने के कारण स्थायी कही जाती है अन्यथा अस्थायी । और यह (प्रतिबिम्ब) दर्पण आदि के अतिरिक्त सत्ता को ही नहीं प्राप्त करता फिर किसका काल से योग होगा जिससे स्थायित्व अथवा अस्थायित्व हो । इसलिए प्रसिद्ध तद्वस्तु का सजातीय न होने से शशशृङ्ग आदि

न्याय्यः । अथ चास्ति प्रतिभास इति किमेतदुच्यते? इत्याह—'स्वच्छस्यैवैष कस्यापि महिमेति' स्वच्छस्य दर्पणादेरेवैष प्रभावो यद्वस्तु अवस्तुविलक्षणमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बं नामेदं प्रतिभासते इति, तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एव भावा अवभास्यन्ते तथा संवित्तावपीति न बहीरूपत्वेनैषां सत्त्वमस्तीति बोधं वर्धयितुं बाह्यार्थाभिनिवेशिनामेतदुपदिष्टम्, अतः सर्वमेवैतदाभासमात्रसारमेवेति, न बाह्येर्थेऽभिनिवेष्टव्यं येन द्वैतमोहः शाम्येत् ॥ २१-२२ ॥

अत एवाह—

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्यान्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता ।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः ॥ २३ ॥

प्रतिबिम्बं तावद्दर्पणातिरेकेण स्वतन्त्रतया पृथक् सत्तां नोपलभत इत्युपाादितम्, ततश्च नास्त्यस्य दर्पणात्पृथग्देशः—इत्युक्तम्—'न देश इति' । एवं चास्य न घनता—काठिन्यलक्षणा मूर्तिरपि नास्तीत्यर्थः, अन्यथा हि

के समान यह अवस्तु ही है, इसलिए इसका प्रतिभास उचित नहीं है । फिर भी 'प्रतिभास है'—यह कैसे कहा जाता है ?—इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—यह किसी स्वच्छ की ही महिमा है। स्वच्छ दर्पण आदि का ही यह प्रभाव है कि वस्तु अवस्तु से विलक्षण आभासमात्रतत्त्व वाला यह प्रतिबिम्ब भासित होता है । उस भगवान के द्वारा जैसे दर्पण आदि में आभासमात्र तत्त्व वाले पदार्थ अवभासित कराये जाते हैं, उसी प्रकार संविद् में भी । इस प्रकार बाह्यरूप में इनकी सत्ता नहीं है—इस बोध को बढ़ाने के लिये यह उपदेश बाह्य अर्थ (की सत्ता) को मानने वालों के लिये किया गया । अतः यह सब आभासमात्रतत्त्व वाला ही है । इस कारण बाह्य अर्थ के विषय में अभिनिवेश (= दुराग्रह) नहीं करना चाहिये, जिससे द्वैत का मोह शान्त हो जाय ॥ २१-२२ ॥

इसलिए कहते हैं—

(प्रतिबिम्ब का दर्पण से पृथक्) कोई देश नहीं, कोई रूप नहीं समय-योग नहीं, परिमाण नहीं, अन्योन्य सम्बन्ध भी नहीं, न उसकी हानि है न सघनता । वह अवस्तु भी नहीं और उसका अपना कोई स्थायी तत्त्व नहीं । मोह भङ्ग हो जाय दर्पण विधि यह बताती है ॥ २३ ॥

प्रतिबिम्ब दर्पण आदि से भिन्न स्वतन्त्ररूप में पृथक् सत्ता को नहीं प्राप्त करता—यह सिद्ध किया गया । इसलिए दर्पण के अतिरिक्त इसका (कोई) पृथक् स्थान नहीं है—इसलिए कहा गया—'न देशः' । इसी प्रकार इसकी घनता = काठिन्य लक्षण वाली मूर्ति भी नहीं है । अन्यथा इसका स्थान दर्पण से भिन्न

दर्पणादस्य पृथग्देशः स्यात् एकस्यैव नभोदेशस्य मूर्तेन दर्पणेनाक्रान्तस्य मूर्तान्तरेणाक्रमितुमशक्यत्वात् मूर्तानां समानदेशत्वविरोधात्, अत एव चास्य नो रूपम्—रूपाख्यगुणयोगो नास्ति—इत्यर्थः । स हि मूर्त एव भवति—इति भावः, अत एव चास्य न कालेन संबन्धः, स हि कंचित्पूर्वापरभाविनमपेक्ष्य पृथगल्ब्धसत्ताकस्य स्यात्, अस्य पुनर्दर्पणात् पृथक् सत्तैव नास्तीत्युक्तं बहुशः, अत एव चास्य 'न परिमा' परिमाणं नास्ति—सत एव तद्योगोपपत्तेः, अन्यथा हि परिमिते दर्पणदेशे महाकारं पर्वतादि कथं प्रतिसंक्रान्तं भवेत्, नापि दर्पणान्तरनेकेषामर्थानां सहप्रतिभासेऽपि परस्परं नैबिड्येन संश्लेषः—इत्याह—'न चान्योन्यासङ्ग इति' । ननु नगरप्रतिभासादौ यद्यनेकेषां भिन्नदेशानामर्थानामेकस्मिन्नेव परिमिते दर्पणदेशे प्रतिभासः तदेतेषामेकदेशत्वान्यथानुपपत्त्या परस्परं संमेलनेनैकपिण्डीभावेनैवासौ न्याय्यः, न चेदेवं तर्हि तत्र नगरप्रतिभास एव न भवेत्—इत्याह—'न च तदपहानिरिति' सर्वेषामेवार्थानां परस्परं वैविक्त्येनैव प्रतिभासात्, न च भातमभातं भवतीत्युक्तं बहुशः, अत एव च नास्य अवस्तुत्वम्—इत्याह—'न चावस्तुत्वं स्यात् इति' सर्वेषामेवार्थानां प्रतिभासात्, एवमप्यस्य वस्तुत्वोपपादकमल्पमपि निजं तथ्यं रूपं नास्ति—इत्याह—'न च किमपि सारं निजमिति' इत्येवमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बसतत्त्वं बाह्यार्थवादिनो

होता । एक ही आकाश प्रदेश यदि मूर्त्त दर्पण से आक्रान्त है तो दूसरे मूर्त्त पदार्थ से आक्रान्त नहीं हो सकता । क्योंकि मूर्त्तपदार्थों का एक स्थान में होना विरुद्ध है । और इसीलिए इसका रूप = रूप नामक गुण से सम्बन्ध नहीं है । वह (गुण) मूर्त्त में ही होता है—यह तात्पर्य है । इसीलिए इसका काल से भी सम्बन्ध नहीं है । वह (सम्बन्ध) किसी पूर्वापर भावी की अपेक्षा रखकर पृथक् प्राप्त सत्ता वाले का होता है और इसकी दर्पण से पृथक् सत्ता ही नहीं है । इसलिए कहा गया—बहुशः । और इसीलिए इसकी परिमा = परिमाण नहीं है । क्योंकि सत् पदार्थ का ही उससे (= परिमाण से) योग सिद्ध होता है । अन्यथा परिमित दर्पण प्रदेश में वृहदाकार पर्वत आदि कैसे प्रतिबिम्बित होता । और न दर्पण के भीतर अनेक पदार्थों का साथ प्रतिबिम्बन होने पर भी परस्पर सघन रूप में संश्लेष होता है—इसलिए कहा—अन्योऽन्यासक्ति भी नहीं है । प्रश्न—नगर के प्रतिभास आदि में यदि अनके भिन्न स्थान वाले पदार्थों का एक ही परिमित दर्पण देश में प्रतिभास होता है तब इनके एकदेशत्व की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा परस्पर संमेलन से एक पिण्ड होने से ही यह न्याय है । यदि ऐसा न हो तो वहाँ नगर का प्रतिभास ही नहीं होगा—यह कहते हैं । 'उसकी हानि भी नहीं होती' । क्योंकि सभी पदार्थ परस्पर पृथक् रूप में प्रतिभासित होते हैं । और प्रतिभात अप्रतिभात नहीं होता यह कई बार कहा जा चुका है । और इसीलिए यह अवस्तु भी नहीं—यह कहते हैं—अवस्तुत्व भी नहीं होगा । क्योंकि सभी अर्थों का प्रतिभास होता है । ऐसा होने पर भी इसमें वस्तुत्व का साधक कोई थोड़ा भी अपना तथ्यरूप नहीं है—यह

निश्चितमेव द्वैतप्रथात्मकं संकुचितं ज्ञानं शाम्यतामिति—एतदर्थः दर्पणविधिः—कुड्यादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्बसहिष्णुवस्तुप्रकारो निरदिशत् = निर्दिष्टवान् । एवं च सत्ययमर्थः प्रदर्शितो भवति—यद्विश्वमिदं संविदि दर्पणप्रतिबिम्बन्यायेन अवस्थितं न तु तदतिरिक्ततया बहीरूपत्वेन वस्तुसदिति न तत्राभिनिवेष्टव्यमिति ॥ २३ ॥

तदेवमुपपादिते प्रतिबिम्बमार्गे यच्छब्दस्य प्रतिबिम्बं तत्सामवायिकेन अभिधानान्तरेणाप्यभिधीयते—इत्याह—

इत्थं प्रदर्शितेऽमुत्र प्रतिबिम्बनवर्त्मनि ।
शब्दस्य प्रतिबिम्बं यत् प्रतिश्रुत्केति भण्यते ॥ २४ ॥
न चासौ शब्दजः शब्द आगच्छत्त्वेन संश्रवात् ।
तेनैव वक्त्रा दूरस्थैः शब्दस्याश्रवणादपि ॥ २५ ॥
पिठिरादिपिधानांशविशिष्टछिद्रसङ्गतौ ।
चित्रत्वाच्चास्य शब्दस्य प्रतिबिम्बं मुखादिवत् ॥ २६ ॥

प्रतिसंक्रमणेन श्रुत् = श्रवणम् अस्या इति 'प्रतिश्रुत्का' यद्वा प्रति = सदृशं श्रवणं प्रतिश्रुत् सैवेति । इह खलु नैयायिकानां दर्पणादौ चाक्षुषाणां रश्मीनां

बतलाते हैं—और अपना कोई सार भी नहीं है । इस प्रकार आभासमात्रतत्त्व वाला प्रतिबिम्बसतत्त्व बाह्यर्थवादी का निश्चित ही द्वैतप्रथात्मक संकुचित ज्ञान शान्त हो जाय इसलिए । दर्पण विधि—भित्ति आदि से विलक्षण होने के कारण प्रतिबिम्ब सहिष्णु वस्तु प्रकार । निरदिशत् = बतलाया । इस प्रकार यह अर्थ प्रदर्शित होता है—यह विश्व संवित् तत्त्व में दर्पणप्रतिबिम्ब न्याय से स्थित है न कि उससे भिन्न बाह्य रूप में वस्तुसत् है, इसलिए उसे प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिये ॥ २३ ॥

तो इस प्रकार प्रतिबिम्ब मार्ग के सिद्ध किये जाने पर जो शब्द का प्रतिबिम्ब है वह समवाय नामक दुसरे शब्द से भी कहा जाता है—यह कहते हैं—

इस प्रकार इस प्रतिबिम्ब सिद्धान्त के प्रदर्शित होने पर शब्द का जो प्रतिबिम्ब है वह प्रतिश्रुत्का कहलाता है । यह शब्दज शब्द नहीं है क्योंकि यह उसी वक्ता के द्वारा आती हुई रूप में सुनाई पड़ती है और दूरस्थ लोग शब्द को नहीं सुनते । (यह प्रतिश्रुत्का शब्दज शब्द इसलिए भी नहीं है क्योंकि) पिठिर (= ढक्कन) आदि के ढँके अंश के विशिष्ट छिद्रों का (आकाश से) सम्बन्ध होने पर विचित्र (ध्वनि) होने से (प्रतिध्वनि) मुख आदि की भाँति शब्द का प्रतिबिम्ब है ॥ २४-२६ ॥

प्रतिसंक्रमण के द्वारा श्रुत्—श्रवण है जिसका (वह है) प्रतिश्रुत्का अथवा प्रति = समान, श्रवण = प्रतिश्रुत् वही (प्रतिश्रुत्का) है । नैयायिकों के अनुसार—दर्पण आदि में चाक्षुष किरणों का प्रतिबिम्बन होने के कारण अपने मुख के ज्ञान से रूप

प्रतिफलनात् स्वकवक्त्रग्रहणेन रूपस्य प्रतिबिम्बे श्रोत्रादेः प्रतिफलनाद्ययोगात् प्रतिश्रुत्कादौ मुख्यशब्दादिरूपतापरिकल्पनेनापि तदपह्नव इति न क्वचिदपि प्रतिबिम्बमस्ति—इत्याशयः । तत्र रूपप्रतिबिम्बं तावदस्तीत्युगपपादितम् । एवं शब्दादीनामपि प्रतिबिम्बास्तित्वोपपादनाय तन्मतमाशंक्य दूषयति—'न चासौ' इत्यादिना । असाविति = प्रतिश्रुत्का, शब्दज इति न पुनः संयोगजो विभागजो वा—स्वत एव स्वहेतुसमुत्थत्वादयं मुख्यः शब्दः—इति भावः । स च वक्त्रदेशात् गच्छन्नेव प्रतीयते । अत एव तत्सविधवर्तिभिः प्रमातृभिराद्य एव शब्दस्तीव्रतमप्रायः श्रूयते, न पुनरन्त्यो मन्दतमप्रायः, दूरदेशवर्तिभिः पुनरन्त्य एव न त्वाद्य इति; प्रतिश्रुत्का पुनस्तेनैव वक्त्रा तत्समीपस्थैर्वा प्रमातृभिरागच्छत्त्वेन = स्वसंमुखं प्रवर्तमानत्वेन संश्रूयते, अत एव च दूरस्थैः = गह्वरगुहाप्रायदेशस्थैः प्रमातृभिर्न श्रूयते—तदाभिमुख्येन तस्याः प्रवर्तमानत्वाभावात्, मुख्यः शब्दश्च बहूनां श्रोतृणां श्रोत्राकाशदेशमधिशयानो न भिन्नभिन्नस्वरूपतामभ्येति । तथात्वे हि सर्वेषामेव श्रोतृणामेकविषयत्वेन प्रवृत्तिर्न स्यात्, प्रतिश्रुत्का पुनरधःस्थितक्वथित-सशब्दपानीयभाण्डाच्छादनरूपाः पिठिरादयो ये उपादानविशेषास्तेषां यानि विशिष्टानि स्थूलसूक्ष्मादिरूपाणि छिद्राणि = सुषिरा भागास्तत्र सङ्गतौ = तदाकाशमेलनेन एकशब्दात्मवैचित्र्यं यायादिति वस्तुभूतशब्दजशब्दजातीयत्वानुप

का प्रतिबिम्ब होने पर; कर्ण आदि में प्रतिबिम्बन आदि के सम्भव न होने से प्रतिश्रुत्का आदि के विषय में मुख्य शब्द आदि रूपता की परिकल्पना के द्वारा भी उसको छिपाया जा सकता है । फलतः कहीं भी प्रतिबिम्बन नहीं होता—यह तात्पर्य है । इस स्थिति में रूप प्रतिबिम्ब है—यह सिद्ध किया गया । इसी प्रकार शब्द आदि का भी प्रतिबिम्ब है इसे सिद्ध करने के लिये उनके मतानुसार आशङ्का कर खण्डन करते है—न च इत्यादि के द्वारा । यह = प्रतिश्रुत्का । शब्दज = न कि संयोगज या विभागज स्वयं अपने हेतु से उत्पन्न होने के कारण यह मुख्य शब्द है—यह तात्पर्य है । वह मुख प्रदेश से (निकलकर) जाता हुआ ही प्रतीत होता है इसीलिए उसके पास रहने वाले प्रमाताओं के द्वारा प्रथम शब्द तीव्रतमप्राय सुना जाता है न कि अन्तिम मन्दतमप्राय । और दूर देश में रहने वालों के द्वारा अन्तिम ही सुना जाता है न कि प्रथम । प्रतिध्वनि उसी वक्ता के द्वारा अथवा उसके समीपस्थ प्रमाताओं के द्वारा आगन्तुक रूप में = अपने समक्ष प्रवर्त्तमान रूप में सुनी जाती है । इसीलिए दूरस्थ = गह्वरगुहाप्रायदेश में रहने वाले प्रमाताओं के द्वारा नहीं सुनी जाती क्योंकि उनके सामने वह प्रवृत्त नहीं होती । मुख्य शब्द अनेक श्रोताओं के श्रोत्राकाश में रहता हुआ भी भिन्न-भिन्न रूप में नहीं रहता क्योंकि वैसा होने पर सभी श्रोताओं की एकविषय के रूप में प्रवृत्ति नहीं होगी । प्रतिध्वनि तो नीचे स्थित खौलते हुए शब्दयुक्त पानी के पात्र के ढक्कन के समान पिठिर आदि जो उपादानविशेष उनके जो विशिष्ट स्थूल सूक्ष्म आदि रूप छिद्र = सुषिर भाग, उसमें सङ्गति होने पर उसके आकाश से मिलने से एक शब्दात्मक

लब्ध्या नासौ शब्दजः शब्दः, तस्माद्यथा मुखस्य दर्पणादौ प्रतिबिम्बमस्ति तथास्य मुख्यस्य शब्दस्यापि नभसि—इत्याह—'अस्य शब्दस्य प्रतिबिम्बं मुखादिवत्' इति ॥ २४-२६ ॥

न केवलं वस्तुभूतमुख्यशब्दजातीयत्वाभावात् अत्र प्रतिबिम्बत्वं यावद्रूप-प्रतिबिम्बजातीयत्वादपि—इत्याह—

इदमन्यस्य वेद्यस्य रूपमित्यवभासते ।
यथादर्शे तथा केनाप्युक्तमाकर्णये त्विति ॥ २७ ॥

यथा दर्पणादावहन्ताप्रत्ययस्यापि स्वमुखसंबन्धिनो रूपस्यान्यासंबन्धित्वेन वेद्यतया प्रतीतिः तथा 'मयैतदुक्तम्' इति परामर्शनीयस्यापि स्वयमुच्चारितस्य शब्दस्य 'केनाप्युक्तम् अहमाकर्णये' इति अतश्च प्रतिबिम्बान्तरजातीय-त्वादप्यत्र प्रतिबिम्बत्वम्—इत्याशयः । तु-शब्दश्चार्थे स च पूर्वापेक्षया, इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ ॥ २७ ॥

ननु केनचिद्वक्त्रा यद्युच्चारितः शब्दो दूरे गुहाद्याकाशे प्रतिसंक्रान्तिमेति तत्तद्देशवर्तिनामेव तच्छ्रवणं भवेत् न त्वन्येषाम् ?—इत्याह—

वैचित्र्य को प्राप्त होती है । इसलिए वस्तुभूत शब्दंजातीयत्व की अनुपलब्धि के कारण यह (प्रतिध्वनि) शब्दज शब्द नहीं है । इसलिए जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण आदि में है इसी प्रकार इस मुख्य शब्द का आकाश में भी (प्रतिबिम्ब) रहता है—यह कहते हैं—इस शब्द का प्रतिबिम्ब मुख आदि के समान ॥ २४-२६ ॥

न केवल वस्तुभूत मुख्य शब्द का सजातीय न होने से प्रतिबिम्ब है बल्कि रूपप्रतिबिम्बजातीय होने से भी है—यह कहते हैं—

जिस प्रकार दर्पण में 'यह अन्यवेद्य का रूप है' ऐसा ज्ञान होता है उसी प्रकार 'किसी के द्वारा कहा गया सुन रहा हूँ' यह भान भी होता है ॥ २७ ॥

जिस प्रकार दर्पण आदि में अहन्ताप्रत्यय के भी स्वमुखसम्बन्धी रूप के अन्यासम्बन्धी के रूप में वेद्य प्रतीति होती है उसी प्रकार 'मेरे द्वारा कह दिया गया' इस परामर्शनीय भी स्वयमुच्चारित शब्द की 'किसी के द्वारा उक्त को मैं सुन रहा हूँ' इस प्रकार (प्रतीति होती है) । इसलिए दूसरे प्रतिबिम्ब का सजातीय होने से भी यह प्रतिबिम्ब है—यह तात्पर्य है । (श्लोक में) 'तु' शब्द 'और' अर्थ में हैं और यह पहले की अपेक्षा । 'इति' शब्द वाक्य की समाप्ति (का द्योतक है) ॥ २७ ॥

प्रश्न—यदि किसी वक्ता के द्वारा उच्चारित् शब्द दूर गुफा आदि के आकाश में प्रतिबिम्बित होता है तो उसी देश में रहने वालों को वह सुनाई पड़ना चाहिये न कि दूसरों (= निकटस्थ लोगों) को—यह कहते हैं—

नियमाद्बिम्बसांमुख्यं प्रतिबिम्बस्य यत्ततः ।
तन्मध्यगाः प्रमातारः शृण्वन्ति प्रतिशब्दकम् ॥ २८ ॥

यस्माद्दर्पणादाविव प्रतिबिम्बस्य नियमेन बिम्बसांमुख्यमेव भवति तस्मात्तयोः बिम्बप्रतिबिम्बयोरन्तर्वर्तिन एव प्रमातारस्तं बिम्बसांमुख्येन प्रवर्तमानं प्रतिशब्दं शृण्वन्ति, न पुनर्दूरगास्तदतिरिक्तगह्वरगुहादिदेशस्थाः—तदाभिमुख्येन तस्या-प्रवर्तनात् ॥ २८ ॥

ननु यद्येवं तर्हि तन्मध्यगत्वेऽपि केनापि निमित्तेनाश्रुतबिम्बाभिमतशब्दाकाराः प्रमातारः कथं बिम्बाभिमुख्येन प्रवर्तमानं प्रतिशब्दं गृह्णीयुः?—इत्याशङ्क्याह—

मुख्यग्रहं त्वपि विना प्रतिबिम्बग्रहो भवेत् ।
स्वपश्चात्स्थं प्रियं पश्येट्टंकितं मुकुरे वपुः ॥ २९ ॥

'भवेत्' इति' प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यदेशावस्थानात् 'स्वपश्चात्स्थम्' इति अतर्कितोपनतबिम्बभूतप्रियादर्शने विशेषणद्वारेण हेतुः ॥ २९ ॥

ननूक्तयुक्त्या दर्पणादेरतिरेकेण प्रतिबिम्बं पृथक्सत्तामेव नोपलभत इति कथं तस्य बिम्बसांमुख्यं भवति?—इत्याशङ्क्याह—

चूँकि प्रतिबिम्ब का नियमपूर्वक बिम्बसांमुख्य होता है इस कारण उसके बीच में रहने वाले लोग प्रतिशब्द को सुनते हैं ॥ २८ ॥

चूँकि जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब का नियमपूर्वक बिम्ब के साथ सांमुख्य होता ही है । इसलिए उन बिम्ब प्रतिबिम्ब के बीच में वर्त्तमान ही प्रमाता लोग बिम्ब के सम्मुख प्रवर्त्तमान उस प्रतिशब्द को सुनते हैं न कि दूरगामी उसके अतिरिक्त गह्वर गुहा आदि स्थानों में स्थित (लोग), क्योंकि उनके सामने उसकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥ २८ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो उनके बीच रहकर भी किसी कारणवश बिम्ब के रूप में स्वीकृत शब्द के आकार को न सुनने वाले प्रमाता कैसे बिम्ब के सम्मुख प्रवर्त्तमान प्रतिध्वनि को सुनेंगे ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रतिबिम्ब का ज्ञान मुख्य (= बिम्ब के) ज्ञान के बिना भी होता है । दर्पण में (अनुरागमय पुरुष) अपने पीछे स्थित (प्रिया के) शरीर को भी दर्पण में देखता ही है) ॥ २९ ॥

'होता है'—प्रतिबिम्बग्रहण के योग्य देश में रहने से । 'अपने पीछे स्थित' अतर्कित प्राप्त बिम्बभूत प्रिया के दर्शन में विशेषण रूप से हेतु ॥ २९ ॥

प्रश्न—उक्त युक्ति के द्वारा प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न पृथक् सत्ता को ही प्राप्त नहीं करता तो उसका बिम्बसांमुख्य कैसे होता है—यह शङ्का कर कहते हैं—

सांमुख्यं चोच्यते तादृग्दर्पणाभेदसंस्थितेः ॥ ३० ॥

तादृग्बिम्बसंमुखो योऽसौ दर्पणः, तेनाभेदः = दर्पणैकात्म्यं तेन या प्रतिबिम्बस्य संस्थितिः = वस्थानं तेन एतदेवास्य सांमुख्यं यद्दर्पणो बिम्बसांमुख्येन वर्तते, तदनधिकवृत्तित्वात् तस्य दर्पणादेः पुनरवश्यंभावि बिम्बसांमुख्यम्, अन्यथा हि प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात्, एवमाकाशादेरपि बिम्बसांमुख्येनैव हि शब्दादिप्रतिबिम्बग्राहित्वम्—इत्यवगन्तव्यम् ॥ ३० ॥

तदाह—

अतः कूपादिपिठिराकाशे तत्प्रतिबिम्बितम् ।
वक्त्राकाशं सशब्दं सद्भाति तत्परवक्तृवत् ॥ ३१ ॥

अतोः = यथोक्ताद्बिम्बसंमुखाधारविशेषैकात्म्याद्धेतोः, कूपाद्याकाशे तद्बिम्बभूतं सशब्दं वक्तुः संबन्ध्याकाशं प्रतिबिम्बितम् = जाततदभेदवृत्ति सत् भाति—प्रतिभासते इत्यर्थः शब्दस्य गुणत्वेन गुणिनि समवेतत्वात्तत्परतन्त्रत्वमेवेति गुणिनैव सह अस्य गुणिनि प्रतिबिम्बनं युक्तमित्युक्तम्—'आकाशे आकाशम्' इति । कूपाद्याकाशस्य वक्त्राकाशसांमुख्यं हृदयङ्गमीकर्तुं दृष्टान्तयति—'तत्परवक्तृवत्'

उस प्रकार के दर्पण से अभेद होने के कारण ही सांमुख्य कहा जाता है ॥ ३० ॥

उस बिम्ब के सामने (स्थित) जो यह दर्पण उससे अभेद = दर्पण के साथ एकात्मता; उससे जो प्रतिबिम्ब की संस्थिति = अवस्थान । इस कारण यही इसका सांमुख्य है कि दर्पण बिम्ब के सामने वर्त्तमान है । उससे अधिक वृत्तिवाला न होने से उस दर्पण आदि का बिम्बसांमुख्य अवश्यंभावी है । अन्यथा प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति ही नहीं होगी । इसी प्रकार आकाश आदि भी बिम्ब के संमुख होने के कारण ही शब्द आदि के प्रतिबिम्ब का ग्राहक होता है ॥ ३० ॥

वह कहते हैं—

इसलिए कूप आदि वर्त्तन के आकाश में प्रतिबिम्बित मुखाकाश दूसरे वक्ता के समान शब्दयुक्त प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

इस कारण = यथोक्त बिम्बसंमुख आधारविशेष के साथ एकात्मता के कारण । कूप आदि के आकाश में वह बिम्बभूत शब्दयुक्त वक्ता से सम्बद्ध आकाश प्रतिबिम्बित उससे अभेद वृत्ति वाला होकर भासित होता है = प्रतिभासित होता है—यह अर्थ है । शब्द गुण होने के कारण गुणी में समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिए वह परतन्त्र है । फलतः गुणों के ही साथ इसका (दूसरे) गुणी में प्रतिबिम्बन युक्त है इसलिए कहा गया—आकाश में आकाश । कूप आदि के आकाश का वक्ता आदि के आकाश से सांमुख्य को समझाने के लिये दृष्टान्त देते

इति। ततः प्रकृताद्वक्तुः परो वक्ता प्रतिवक्ता तस्मिन्निव—इत्यर्थः । यथा वक्तृसंमुखीन एव प्रतिवक्तृसंबन्धी श्रोत्राकाशो वक्तृसंबन्धिनः सशब्दस्याकाशस्य प्रतिबिम्बं गृह्णाति तथा कूपाद्याकाशोऽपीति । इह खलु तत्तदिन्द्रियजं ज्ञानं गृहीततत्तत्प्रतिबिम्बमेव विषयं परिच्छिन्द्यात् अन्यथा हि निराकारस्य ज्ञानस्य नीलपीताद्यनेकविषयसाधारणत्वात् 'इदं नीलज्ञानम् इदं पीतज्ञानम्' इति, नियमो न स्यात्, अतश्च साकारं ज्ञानम्, आकारवत्तामन्तरेणास्य प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेः। न च यदेवास्य जनकं तदेव विषय इति प्रतिकर्मव्यवस्थापि सिद्ध्येत्, इति वक्तुं युक्तम्, जनकत्वाविशेषाच्चक्षुरादीनामपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात् । अथैतन्नीलेन कर्मणा सत्ता जन्यते न त्वेवं चक्षुरादिना इत्यस्य तदेकविषयत्वम् ? इति चेत् नैतत्, कर्मत्वं हि कारकत्वं तच्चक्रियावेशवशाद्भवति, अन्यथा हि तद्वस्तुमात्रं स्यात् न कारकम्, नीलस्य चेह ज्ञानाख्यक्रियावेश एव विचारयितुं प्रस्तुत इति कथं तत्पूर्वमपि अस्य कर्मत्वं स्यात् इति । न जनकत्वेनापि तदेकविषयत्वं सिद्ध्येत् । यत्पुनर्जनकत्वाविशेषेऽपि वस्तुस्वभावकृत एवायं विशेष इत्युच्यते तत्पलायनप्रकारासूत्रणम्, इत्यलं बहुना । एतेन इन्द्रियाण्यपि गृहीततत्प्रतिबिम्बान्येव तत्तद्विषयपरिच्छेदमाधातुमुत्सहन्ते इति साधु दृष्टान्तितम्—'तत्परवक्तृवत्—इति'

हैं—उससे भिन्न वक्ता के समान । उस = प्रकृत वक्ता से भिन्न वक्ता = प्रतिवक्ता उसमें जैसा । जैसे वक्ता के सम्मुख ही वर्त्तमान प्रतिवक्तृसम्बन्धी श्रोत्राकाश वक्तृसम्बन्धी शब्दयुक्त आकाश का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है उसी प्रकार कुँए आदि का आकाश भी । भिन्न-भिन्न इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान गृहीत भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बवाले ही विषय का सीमाङ्कन करता है अन्यथा निराकार ज्ञान के नीलपीत आदि अनेक ज्ञानयुक्त होने से 'यह नील ज्ञान है' 'यह पीत ज्ञान है' यह नियम नहीं होगा । और इसीलिए ज्ञान साकार होता है—क्योंकि आकारवत्ता के बिना इसकी प्रतिकर्मव्यवस्था असिद्ध हो जायगी । यह कहना ठीक नहीं कि जो इसका जनक है वही (इसका) विषय है इसलिए प्रतिकर्म व्यवस्था सिद्ध हो जायगी, क्योंकि जनकत्व के समान होने के कारण चक्षु आदि भी उसके विषय होने लगेंगे । यदि यह कहें कि इस नील कर्म के द्वारा सत्ता उत्पन्न की जाती है चक्षु आदि के द्वारा वैसा नहीं है इसलिए यही एकमात्र विषय बनता है? तो ऐसा नहीं है । कर्म कारक होता है और वह (कारक) क्रिया के आवेश के कारण होता है । अन्यथा वह (कारक) वस्तुमात्र होता है न कि कारक । और यहाँ नील का ज्ञान नामक क्रियावेश ही विचार करने के लिये प्रस्तुत किया गया तो कैसे उसके पहले ही यह कर्म बन जायगा । जनक के रूप में भी उसके साथ एक विषयता सिद्ध नहीं होगी । और जो जनकत्व के समान होने पर भी यह विशेष वस्तु के स्वभाव के द्वारा उत्पन्न किया गया है—यह कहा जाता है वह तो एक प्रकार से भागने का प्रारम्भ है—बस इतना पर्याप्त है । इससे इन्द्रियाँ भी उसके प्रतिबिम्ब का ग्रहण करके ही भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान कराने में समर्थ होती हैं यह ठीक समझाया गया कि

यद्यप्येतत् श्रोतृमात्रे संभवति तथाप्यभिनिवेशादिना वक्तृप्रतिवक्त्रोः परस्परम-वश्यंभावि सांमुख्यमित्येतन्निदर्शनीकृतम् । श्रोतॄणां पुनरसांमुख्यमपि संभाव्यते । तथाहि—एवं वदन्तो लौकिकाः श्रोतारो दृश्यन्ते 'न मया श्रुतमनेनोक्तमिति' । यद्वा सामान्येन कूपाद्याकाशे प्रतिबिम्बितो वक्त्राकाशः पर इव वक्ता भाति = वक्त्रन्तरेण इव उच्चारितः शब्दः श्रूयते—इत्यर्थः । एवं प्रतिबिम्बमपि तदभेदवृत्तित्वाद्बिम्बसंमुखमेवेति युक्तमुक्तम् नियमाद्बिम्बसांमुख्यं प्रतिबिम्बस्य—इति ॥ ३१ ॥

अत एव च बिम्बप्रतिबिम्बयोर्मध्यदेशग एव प्रमाता तत्तद्गृह्णाति नान्य इत्याह—

यथा चादर्शपाश्चात्त्यभागस्थो वेत्ति नो मुखम् ।
तथा तथाविधाकाशपश्चात्स्थो वेत्ति न ध्वनिम् ॥ ३२ ॥

मुखमित्यन्यसंबन्धिमुखप्रतिबिम्बं, तथाविधेति—बिम्बसंमुखीनः पश्चात्स्थोगह्वर-गुहाप्रायदेशस्थः—इत्यर्थः । ध्वनिमिति प्रतिश्रुत्काललक्षणम्, नो वेत्ति इतिवेदनमात्र-निषेधात्प्रतिबिम्बस्य वस्तुतोऽतस्थानमस्तीति सूचितम्, न हि ज्ञानाभावाज्ज्ञेय-

---

वह परवक्ता के समान केवल श्रोता के विषय में सम्भव है तो भी अभिनिवेश आदि के द्वारा वक्ता और प्रतिवक्ता (= श्रोता, दोनो का परस्पर अवश्यंभावी सांमुख्य है—यह बतलाया गया । श्रोताओं का तो असांमुख्य भी सम्भव है । वह इस प्रकार—ऐसा कहने वाले भी लौकिक श्रोता देखे जाते हैं कि—'इसके द्वारा कहे हुए को मैंने नहीं सुना' । अथवा सामान्य रूप में कूप आदि के आकाश में प्रतिबिम्बित वक्ता का आकाश दूसरे वक्ता के समान मालुम होता है—अर्थात् मानो दूसरे वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्द सुना जाता है । इसी प्रकार प्रतिबिम्ब भी उससे अभिन्नवृत्ति होने के कारण बिम्ब के सम्मुख ही रहता है इसलिए ठीक ही कहा—प्रतिबिम्ब का बिम्बसांमुख्य नियम के कारण होता है ॥ ३१ ॥

इसीलिए बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब के मध्यदेश में ही वर्त्तमान प्रमाता उन-उन का ग्रहण करता है दूसरा नहीं—यह कहते हैं—

जिस प्रकार दर्पण के पीछे वाले भाग में स्थित (व्यक्ति) अपने मुख को नहीं देखता वैसे उस प्रकार के आकाश के पीछे स्थित (व्यक्ति) ध्वनि को नहीं सुनता ॥ ३२ ॥

मुख = अन्य सम्बन्धी मुख का प्रतिबिम्ब । उस प्रकार का = बिम्ब के सामने वर्त्तमान । पश्चात् स्थित = गह्वरगुहाप्राय देश में स्थित । ध्वनि को = प्रतिध्वनि लक्षण वाली । नहीं जानता—इस प्रकार वेदनमात्र का निषेध होने से प्रतिबिम्ब की स्थिति वास्तविक है—यह सूचित किया गया । ज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेय का भी अभाव होता है—ऐसा नहीं है । इसलिए उत्पन्न भी प्रतिबिम्ब

स्याप्यभाव इति भावः । तेनोत्पन्नमपि प्रतिबिम्बं योग्यदेशावस्थानाभावान्न जानाति—इत्यर्थः, यद्यपि चैतन्नियताद्बिम्बसांमुख्यमित्यादिनैव गतार्थं तथापि रूप-प्रतिबिम्बसाजात्योपोद्बलनाय पुनरूपात्तम् ॥ ३२ ॥

नन्वत्र रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं किमंशांशिकया सर्वसर्विकया वा? तत्राद्ये पक्षे वस्तुभूतशब्दजशब्दजातीयत्वमपि प्रतिभासमानत्वादिना केनाप्यंशेनास्तीति तद्रूपतापि प्रसक्ता स्यात्, सर्वसर्विकया चैतन्नास्ति, यदुत्पन्नेऽपि रूपप्रतिबिम्बे हस्तादेर्बिम्बस्य प्रतीतिः, इह तु न तथा, इत्याशङ्कां दर्शयति—

शब्दो न चानभिव्यक्तः प्रतिबिम्बति तद् ध्रुवम् ।
अभिव्यक्तिश्रुतिस्तस्य समकालं द्वितीयके ॥ ३३ ॥
क्षणे तु प्रतिबिम्बत्वं श्रुतिश्च समकालिका ॥

इह शब्दस्तावत् अनभिव्यक्तः—अनुच्चारितः प्रतिबिम्बात्मतां नाभ्येति इति नूनमसौ प्रथमे क्षणे स्थानकरणाभिघातादभिव्यक्तः सन् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यतामवगाहते, द्वितीये क्षणे पुनः प्रतिबिम्बतामश्नुवानः श्रूयते, इति नास्योच्चारितप्रध्वंसिनो बिम्बसंमतस्य प्रतिबिम्बात्मतावसरे प्रतीतिः, अतश्च नात्र रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वम्' तत्र प्रतिबिम्बकालेऽपि बिम्बस्य प्रतीतेः ॥ ३३ ॥

को योग्य देश में स्थित न होने के कारण (मनुष्य) नहीं जानता । यद्यपि यह—नियमपूर्वक बिम्ब का सांमुख्य होता है—इत्यादि के द्वारा ही गतार्थ है तो भी रूप-प्रतिबिम्बसाजात्य को और स्पष्ट आदि करने के लिये फिर कहा गया है ॥ ३२ ॥

प्रश्न—यहाँ रूपप्रतिबिम्ब की सजातीयता क्या आंशिक रूप में है या पूर्ण रूप में ? प्रथम पक्ष में वस्तुभूत शब्दज शब्द की सजातीयता भी प्रतिभासमान होने के कारण किसी अंश से है इसलिए तद्रूपता भी प्राप्त होती है । और सम्पूर्ण रूप से यह है नहीं क्योंकि रूपप्रतिबिम्ब के उत्पन्न होने पर भी हाथ आदि बिम्ब की प्रतीति होती है, यहाँ तो वैसा नहीं है ?—यह शङ्का दिखलाते हैं—

अप्रकट शब्द प्रतिध्वनित नहीं होता । उसकी अभिव्यक्ति और प्रतिध्वनि एक साथ होती है । दूसरे क्षण में प्रतिबिम्बन और प्रतिश्रुति एक साथ होती है ॥ ३३-३४- ॥

(यदि) शब्द अनभिव्यक्त = अनुच्चारित है तो प्रतिबिम्बात्मता को प्राप्त नहीं होता इसलिए निश्चित रूप से यह प्रथम क्षण में स्थान एवं करण के अभिघात से अभिव्यक्त होता हुआ श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्य बनता है । फिर दूसरे क्षण में प्रतिबिम्बता को प्राप्त करता हुआ सुना जाता है । इस प्रकार उच्चारितप्रध्वंसी बिम्बसम्मत इसकी, प्रतिबिम्बता के अवसर पर प्रतीति नहीं होती । इसलिए इसमें रूप-प्रतिबिम्ब की सजातीयता नहीं है क्योंकि उसमें प्रतिबिम्बकाल में भी बिम्ब की प्रतीति होती है ॥ ३३ ॥

तदेतन्न—इत्याह—

तुल्यकालं हि नो हस्ततच्छायारूपनिश्चयः ॥ ३४ ॥

निश्चय इति विमर्शात्मावभासः, तत्रापि न प्रतिबिम्बकाले बिम्बस्य प्रतीतिः, न हि प्रतिबिम्बप्रतीतौ बिम्बस्यापि हस्तादेः प्रतीतिर्युक्ता, युगपत्प्रतीतिद्वयोदय-विरोधात् न चेयं चित्रज्ञानवदेकैव उभयालम्बना, बिम्बप्रतिबिम्बयोर्विदूरदेश-वर्तित्वात् अविछेच्देन प्रतिभासाभावात् । ननु हस्तादेः प्रतिभासाभावेऽपि वस्तुनो-ऽवस्थानमस्ति—इति चेत्?—तत्—आभास एव हि सर्ववस्तुव्यवस्थापकः तमन्तरेण अर्थानां सत्त्वासत्त्वनिश्चयायोगात्, स एव चात्र नास्ति, इति हस्तादे-र्बिम्बस्य वस्तुतः सद्भावे किं प्रमाणम्, शब्दस्य च द्वितीये क्षणेऽपि नश्यद-वस्थस्य वस्तुतः सद्भावोऽस्ति किं तु प्रतिम्बिात्मताऽवसरे तस्य प्रतीतिरेव नभवे-दित्यत्रापि न बिम्बप्रतिबिम्बयोर्युगपत्प्रतीरितिस्थितमेवास्य तज्जातीयत्वम् ॥ ३४ ॥

एवं नैयायिकमतापहस्तनेन प्रतिबिम्बपरमार्थमुपपाद्य प्रकृतमेवोपक्रमते—

इत्थं प्रदर्शितेऽमुत्र प्रतिबिम्बसतत्त्वके ।
प्रकृतं ब्रूमहे तत्र प्रतिबिम्बनर्हति ॥ ३५ ॥

तो यह नहीं है—यह कहते हैं—

हमें हाथ और उसकी छायारूप का निश्चय समान काल में होता है ॥ -३४ ॥

निश्चय = विमर्शरूप अवभासः । वहाँ भी प्रतिबिम्ब काल में बिम्ब की प्रतीति नहीं होती । प्रतिबिम्ब की प्रतीति होने पर बिम्ब हाथ आदि की प्रतीति युक्त नहीं है क्योंकि एक साथ प्रतीति का होना विरुद्ध है । यह चित्रज्ञान की भाँति एक ही होते हुए दो आलम्बन वाली नहीं है क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दूर देशों में होने के कारण अविच्छिन्न रूप से प्रतिभास नहीं होता । प्रश्न—हाथ आदि का प्रतिभास न होने पर भी वस्तु की स्थिति तो रहती ही है यदि ऐसा कहें तो ? ऐसा नहीं है । क्योंकि आभास ही सब वस्तुओं का व्यवस्थापक है । बिना उसके पदार्थों की सत्ता असत्ता का निश्चय नहीं होता । और वही यहाँ नहीं है इसलिए हाथ आदि बिम्ब की वास्तविक सत्ता में क्या प्रमाण है । और दूसरे क्षण में नश्यदवस्था वाले शब्द की वास्तविक सत्ता है किन्तु प्रतिबिम्बात्मता के समय उसकी प्रतीति ही नहीं होती इसलिए यहाँ भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एक साथ प्रतीति नहीं होती । फलतः इसकी तज्जातीयता सिद्ध है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार नैयायिक मत के निराकरण के द्वारा प्रतिबिम्ब परमार्थ को सिद्ध कर प्रस्तुत का वर्णन करते हैं—

इस प्रकार यहाँ प्रतिबिम्ब की वास्तविकता के बतलाये जाने के बाद (अब हम) प्रस्तुत की चर्चा करते हैं । आनन्दपूर्ण आकाश में शब्द

शब्दो नभसि सानन्दे स्पर्शधामनि सुन्दरः ।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढाघातशूलशीतादिकोद्भवः ॥
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात्स्वदेहोद्धूलनाकरः ॥ ३६ ॥

तदाह—तत्रेत्यादि, तत्रेति—एवंस्थिते सति—इत्यर्थः । नभसीति—तत्रैव शब्दस्य नैर्मल्यात्, स च परस्थः सन् प्रतिबिम्बनमर्हति—इत्यन्वयः, एतच्च सर्वत्रैव योज्यम्, सानन्द इति—आनन्दस्थानात्मके कन्दहृत्तालुतलादौ आधार-विशेषे। तत्रैव हि स्पर्शस्य नैर्मल्यान्मिथुनोपभोगसमुचितः स्पर्शः प्रतिसंक्रामति येन धातुनिःष्यन्दसुखाद्यपि स्यात् । अत एवानन्दातिशयकारित्वात् 'सुन्दरः' इत्युक्तम् । अन्यो दुःखादिकारित्वादसुन्दरोऽपि स्पर्शोऽर्थात् दुःखाद्यात्मके मत्तगन्ध-जठरकूर्मनाडीकण्ठप्रभृतौ आधारविशेषे प्रतिसंक्रामति येन मूर्च्छाद्यपि स्यात्, परस्थ इति—परानुभूयमानः, तत्र हि स मुख्यः—इति भावः । एतच्चोपलक्षणं तेन स्मर्यमाणोत्प्रेक्षमाणादिरूपोऽप्यसौ एवं स्यात् । प्रतिबिम्बत्वं च अस्य कुतो लक्ष्यते ? इत्याह—'प्रतिबिम्बत्वात्स्वदेहोद्धूलनाकरः' इति । एतच्च सुखदुःखयो-रनुभवे समानमित्यविशेषेणोपात्तम् ॥ ३५-३६ ॥

नन्वेवमर्थक्रियाकारित्वादेष मुख्य एव स्पर्शः किं न भवति? इत्याशङ्क्याह—

(रहता) है उसमें प्रतिबिम्बित होता है । (इसी प्रकार) स्पर्श वाले (स्थान) में दृढ़ आघात शूल शीत आदि से उत्पन्न स्पर्श भी (निर्मल) होता है । (यही स्पर्श) दूसरे में रहकर प्रतिबिम्बित होने से अपने शरीर को (हर्षातिरेक से) आन्दोलित कर देता है ॥ ३५-३६ ॥

वह कहते है—तत्र इत्यादि । तत्र = ऐसा होने पर । आकाश में—उसी में शब्द की निर्मलता होने के कारण । और वह परस्थ होते हुए प्रतिबिम्ब के योग्य होता है—ऐसा अन्वय है—इसे सर्वत्र जोड़ना चाहिये । आनन्द वाले में = आनन्द-स्थान रूप कन्द, हृदय, तालुतल आदि आधारविशेष में । क्योंकि वहीं पर स्पर्श की निर्मलता के कारण दोनों के उपभोग से पुष्ट स्पर्श प्रतिबिम्बित होता है जिससे धातु के स्खलन का सुख आदि भी होता है । इसीलिए अतिशय आनन्द देने वाला होने के कारण यह सुन्दर कहा गया है । दुःख आदि उत्पन्न करने के कारण दूसरा असुन्दर भी स्पर्श अर्थात् दुःखाद्यात्मक गुदा, पेट, कूर्मनाडी, कण्ठ आदि आधारविशेष में प्रतिसंक्रान्त होता है जिससे मूर्च्छा आदि भी होती है । परस्थ = दूसरे के द्वारा अनुभूयमान । वहाँ वह मुख्य है—यह तात्पर्य है । यह उपलक्षण है इसलिए स्मर्यमाण उत्प्रेक्ष्यमाण आदि रूप भी यह ऐसा होता है । इसका प्रतिबिम्ब कैसे मालुम होता है ?—यह कहते हैं—प्रतिबिम्ब होने के कारण (यह) अपने शरीर को झकझोर देता है । चूँकि यह सुख दुःख में समान है इसलिए सामान्य रूप में कहा गया ॥ ३५-३६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार अर्थक्रियाकारी होने से यह मुख्य ही स्पर्श क्यों नहीं हो

न चैष मुख्यस्तत्कार्यपारम्पर्याप्रकाशनात् ॥ ३७ ॥

मुख्य इति—बिम्बरूपः, तस्य = स्पर्शस्य यत्कार्यमानन्दादि तस्य यत् पारम्पर्य = प्रबन्धेन प्रवृत्तिः तस्यानवभासनात् । साक्षाद्धि संनिहिते कारणे कार्यमविच्छेदेनैव उद्गच्छद्भवति, न चैवमिह, इत्यस्य न मुख्यत्वम् ॥ ३७ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति—

एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटः ॥ ३८ ॥

दन्तोदक इति—निर्मलरसगुणयुक्तेरसनेन्द्रियाधिष्ठानभूते—इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एवं प्रतिश्रुत्कावद्रसादिप्रतिबिम्बानामपि रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं कटाक्षयन् यथासंभवं व्यवस्थां दर्शयति—

यथा च रूपं प्रतिबिम्बितं दृशोर्न
चक्षुषान्येन विना हि लक्ष्यते ।
तथा रसस्पर्शनसौरभादिकं
न लक्ष्यतेऽक्षेण विना स्थितं त्वपि ॥ ३९ ॥

जाता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

किन्तु यह (प्रतिबिम्बित स्पर्श) मुख्य नहीं है क्योंकि वह उसके कार्य की परम्परा का प्रकाशन नहीं करता ॥ ३७ ॥

मुख्य = बिम्बरूप, क्योंकि उस स्पर्श का जो आनन्द आदि कार्य उसकी जो पारम्पर्य प्रबन्ध के द्वारा प्रवृत्ति उसका अवभास नहीं होता । कारण के साक्षात् सन्निहित होने पर कार्य, निरन्तर उत्पन्न होता रहता है—यहाँ वैसा नहीं है इसलिए यह मुख्य नहीं है ॥ ३७ ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

इसी प्रकार घ्राण के भीतर गन्ध और दन्तोदक में यह स्फुट होता है ॥ ३८ ॥

दन्तोदक = निर्मल रसगुण से युक्त रसनेन्द्रिय का अधिष्ठानभूत—यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रतिध्वनि की भाँति रस आदि प्रतिबिम्बों की भी रूपप्रतिबिम्ब-जातीयता को कटाक्षित करते हुए यथासम्भव व्यवस्था को दिखलाते हैं—

जिस प्रकार आँखों में प्रतिबिम्बित रूप बिना आँख के दूसरे के द्वारा नहीं देखा जाता उसी प्रकार रस स्पर्श गन्ध आदि रहते हुए भी इन्द्रिय के बिना नहीं देखा जाता ॥ ३९ ॥

इह अवभासनमात्रसारमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमित्युक्तं बहुशः । अवभासनं च तत्तद्विषयग्राहकेन्द्रियानुग्राहकान्तःकरणाधिष्ठानायत्तम्, यतः संनिहितेऽपि दर्पणादौ यदि चक्षुरादीन्द्रियजातमन्तःकरणाधिष्ठितं न जातं तत्को नाम मुखादिप्रतिबिम्बावभासः, ततश्च दृशोः दृगिन्द्रियाधिष्ठेययोः गोलकयोः प्रतिसंक्रान्तं रूपमन्येन अन्यसंबन्धिना चक्षुरिन्द्रियेण विना नाभिलक्ष्यतेचक्षुरिन्द्रियान्तरव्यापारमन्तरेण न निर्भासते—इत्यर्थः । न केवलं तत्परिच्छेदकौशलशून्ये दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तस्य रूपस्यावभासने अन्यसंबन्धिचक्षुरिन्द्रियोपयोगो यावत्स्वयमेवं कुशलयोर्दृशोरपि इति दर्शयितुमुक्तम्—'दृशोः'—इति' । न खलु चक्षुरञ्जनादिवदतिसंनिकृष्टं परिच्छेत्तुमलमिति भावः । तेन न इन्द्रियव्यापारमन्तरेणैतन्निर्भासते—इति तात्पर्यम्। एवं यथैतत्तथा रसादि प्रतिसंक्रान्तं सत् स्थितमपि स्वेन्द्रियव्यापारमन्तरेण पुनर्न लक्ष्यते = नाव भासते—इत्यर्थः । अत्र चक्षुरादीन्द्रियाणामवभासनान्यथानुपपत्त्या अन्तःकरणाधिष्ठानं लक्ष्यते इति न स्वकण्ठेनैतदुपात्तम्, अन्यथा हि व्याप्रियमाणमपि चक्षुरादि न किञ्चित्परिच्छिन्द्यात् । ननु इह रूपशब्दयोरन्तश्चक्षुःश्रोत्रादौ बहिश्चदर्पणाकाशादौ प्रतिबिम्बयोग इति बाह्यं प्रतिबिम्बमन्यसंबन्धिभ्यां चक्षुःश्रोत्राभ्यां परिच्छिद्यते इत्युपपन्नम् । स्पर्शादि पुनरन्तर्देह एव कन्दादौ प्रति-

---

प्रतिबिम्बसतत्त्व केवल अवभासन तत्त्व वाला है—यह कई बार कहा गया । और अवभासन भिन्न-भिन्न विषयों के ग्राहक इन्द्रियों के अनुग्राहक अन्तःकारण रूप अधिष्ठान के अधीन है क्योंकि दर्पण आदि के निकटस्थ होने पर भी यदि चक्षु आदि इन्द्रियसमूह अन्तःकरण से अधिष्ठित न हो तो मुखादि प्रतिबिम्ब का अवभास कैसे होगा ? इसलिए दोनों आँखों अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से अधिष्ठित गोलकों में प्रतिबिम्बित रूप, अन्य के बिना = अन्य सम्बन्धी चक्षुरिन्द्रिय के बिना, लक्षित नहीं होता अर्थात् अन्य चक्षुरिन्द्रिय के बिना लक्षित नहीं होता । अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय व्यापार के बिना निर्भासित नहीं होता । केवल उस (रूप) के परिच्छेदकौशल में शून्य दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित रूप के अवभासन में ही अन्यसम्बन्धी चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग नहीं होता बल्कि स्वयं इस प्रकार कुशल नेत्रों के भी (अवभासन) में (होता है) यह दिखलाने के लिये कहा गया—दृशोः । नेत्र, अञ्जन आदि के समान निकटस्थ का ज्ञान करने में समर्थ नहीं होता—यह भाव है । इसलिए इन्द्रियव्यापार के बिना यह भासित नहीं होता—यह तात्पर्य है । जैसे यह उसी प्रकार रस आदि भी प्रतिबिम्बित होकर स्थित होते हुए भी अपनी इन्द्रिय के व्यापार के बिना लक्षित नहीं होते अर्थात् भासित नहीं होते । यहाँ चक्षु आदि इन्द्रियों का अवभासन की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा अन्तःकरण अधिष्ठान लक्षित होता है इसलिए अपने कण्ठ से नहीं कहा गया । अन्यथा व्यापार में संलग्न भी चक्षु आदि कुछ ज्ञान नहीं कर पायेंगे । प्रश्न—रूप और शब्द का अन्दर चक्षु एवं श्रोत्र आदि में तथा बाहर दर्पण, आकाश आदि में प्रतिबिम्ब पड़ता है इसलिए बाह्य प्रतिबिम्ब अन्य सम्बन्धियों = चक्षुश्रोत्रों से परिच्छिन्न (= ज्ञात) होता है—यह ठीक है किन्तु

संक्रामति इति तत्र स्थितम्, तत्परसंतानस्य नित्यानुमेयत्वाच्च अन्यस्य संबन्धिनो बाह्येन्द्रियज्ञानस्य विषयो न भवेत् । तत्कथमुक्तम् रूपप्रतिबिम्बवदेतदक्षेण विना न लक्ष्यते इति ॥ ३९ ॥

तदाह—

न चान्तरे स्पर्शनधामनि स्थितं ।
बहि:स्पृशोन्याक्षधिय: स गोचर: ॥ ४० ॥

आन्तरे इति—अन्तर्देहवृत्तित्वात्, स्पर्शनधामनीत्युपलक्षणम्, तेन गन्धरस-क्षेत्रयोरपि ग्रहणम् । अन्याक्षधियश्चान्तरस्पर्शाद्यग्रहणे 'बहि:स्पृश:' इति विशेषण-द्वारको हेतु: । 'स' इति गोचरशब्दापेक्षो निर्देश: । एवमन्तर्देहवृत्तित्वात्कन्दादे: स्पर्शादिक्षेत्रस्य च चक्षुर्गोलकादिवत् प्रमात्रन्तरे इन्द्रियगोचरता नास्तीति ॥ ४०॥

तत्र स्थितं स्पर्शादि अन्त:करणाधिष्ठितस्वेन्द्रियव्यापारादेव निर्भासते—इत्याह—

अतोऽन्तिकस्थस्वकतादृगिन्द्रिय-
प्रयोजनान्त:करणैर्यदा कृता ।

स्पर्श आदि देह के भीतर ही कन्द आदि में प्रतिबिम्बित होता है इसलिए वहाँ स्थित है तो परसन्तान के नित्य अनुमेय होने के कारण अन्यसम्बन्धी बाह्य इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं होगा तो कैसे कहा गया कि रूप प्रतिबिम्ब के समान यह इन्द्रिय के बिना लक्षित नहीं होता ? ॥ ३९ ॥

यह कहते हैं—

(स्पर्श आदि) आभ्यन्तर स्पर्शस्थान में स्थित हैं, इसलिए बाह्य स्पर्श वाले दूसरे की इन्द्रियों एवं बुद्धि के विषय वे नहीं बन सकते ॥ ४० ॥

आन्तर में—देह के भीतर रहने से । स्पर्शधाम में यह पद उपलक्षण है । इससे गन्ध रस क्षेत्रों का भी ग्रहण हो जाता है । दूसरी इन्द्रियों के ज्ञान आन्तर स्पर्श आदि का ग्रहण न होने पर 'बहि:स्पृश:' यह विशेषण के द्वारा हेतु है । 'स:' यह गोचर शब्द की अपेक्षा वाला निर्देश है । इस प्रकार देह के अन्दर रहने के कारण कन्द आदि और स्पर्श आदि क्षेत्र की चक्षुर्गोलक आदि के समान दूसरे प्रमाता में इन्द्रियविषयता नहीं है ॥ ४० ॥

उसमें वर्त्तमान स्पर्श आदि अन्त:करणाधिष्ठित अपनी इन्द्रियों के व्यापार से ही भासित होते हैं—यह कहते हैं—

इसलिए पास में स्थित अपनी उस प्रकार की इन्द्रिय के प्रयोजनवश अन्त:करणों के द्वारा जब (प्रेरणा) की जाती है तब वह प्राप्त हुआ

तदा तदात्तं प्रतिबिम्बमिन्द्रिये
स्वकां क्रियां सूयत एव तादृशीम् ॥ ४१ ॥

अतः = यथोक्तादान्तरत्वादेर्हेतोः । मनःप्रभृतीनामन्तःकरणानां क्रमेण सर्वेन्द्रियसंयोगसंभवात् अन्तिकस्थम् = संयुक्तं स्वकम् = विषयौचित्येन नियतं तादृगिन्द्रियघाताद्यभावाददुष्टं च तदिन्द्रियम् = त्वगादि, तस्य प्रयोजनान्तः-करणकर्तृका स्पर्शादौ विषये प्रेरणा यदा भवेत् तदार्थाद्बिम्बभूतबाह्यस्पर्शादि-संनिकर्षात् जाते इन्द्रिये = इन्द्रियज्ञाने, गृहीताकारस्यैव ज्ञानस्य तत्तन्नियतविषय-परिच्छेदोपपत्तेः पूर्वमुक्तत्वात् स्पर्शाद्यात्म प्रतिबिम्बमात्तम् गृहीतं सत् तादृशीम् = आनन्दादिलक्षणां स्वकां बिम्बसंमतामर्थक्रियां सूयते करोति—इत्यर्थः । अत एव चात्र वास्तवत्वम्, सर्वत्रैव ग्राह्यग्राहकभावस्यैवं—भावात् ॥ ४१ ॥

बाह्यबिम्बाभावे पुनः स्मर्यमाणं स्पर्शादि स्वक्षेत्रे प्रतिसंक्रान्तमपि न सत्यार्थ-क्रियाकारि—इत्याह—

न तु स्मृतान्मानसगोचरादृता
भवेत्क्रिया सा किल वर्तमानतः ।
अतः स्थितः स्पर्शवरस्तदिन्द्रिये
समागतः सन्विदितस्तथाक्रियः ॥ ४२ ॥

प्रतिबिम्ब इन्द्रिय में वैसी ही अपनी क्रिया उत्पन्न करता है ॥ ४१ ॥

अतः = यथोक्त आन्तरत्व आदि कारण से । मन आदि अन्तःकरणों का क्रम से सभी इन्द्रियों के साथ संयोग सम्भव होने से अन्तिकस्थ = संयुक्त, स्वक = विषय के औचित्य के कारण निश्चित उस प्रकार के इन्द्रियघात आदि के अभाव से निर्दुष्ट जो त्वग् आदि इन्द्रिय, उसकी प्रयोजन वाले अन्तःकरण के द्वारा स्पर्श आदि के विषय में जब प्रेरणा होती है तब अर्थात् बिम्बभूत बाह्य स्पर्श आदि संनिकर्ष के कारण इन्द्रिय = इन्द्रियज्ञान के उत्पन्न होने पर आकार ग्रहण करने वाले ज्ञान का भिन्न-भिन्न निश्चित् विषय में ज्ञान की सिद्धि के पहले ही कथित होने से स्पर्श आदि रूप प्रतिबिम्बमात्र गृहीत होता हुआ उस प्रकार की आनन्द आदि लक्षणों वाली अपनी बिम्बसम्मत अर्थक्रिया को उत्पन्न करता है । और इसीलिए इसमें वास्तविकता है क्योंकि सर्वत्र ग्राह्यग्राहक भाव ऐसा ही है ॥ ४१ ॥

बाह्य बिम्ब के अभाव में स्मर्यमाण स्पर्श आदि अपने क्षेत्र में प्रतिबिम्बित होते हुए भी सत्य अर्थक्रियाकारी नहीं होगा—यह कहते हैं—

स्मरण किये गये मानस विषयों से वह (प्रतिबिम्बन) क्रिया नहीं होती । वह (सामने) वर्त्तमान (विषयों) से होती है । इसलिए उत्तम स्पर्श (सामने) स्थित होकर ही उस इन्द्रिय में आकर ज्ञात होकर वैसी (= प्रतिबिम्बन) क्रिया करता है ॥ ४२ ॥

स्मृतादिति बहिरस्यासंभव उक्तः, तस्या अतीतार्थविषयत्वात् मानसज्ञानस्य हि सुगन्धिबन्धूकादि बहिरसंभवदपि विषयो भवेत्—इति भावः । ऋता भवेत् न तु न भवेदेव—इत्यभिप्रायः । स्मर्यमाणादपि हि स्पर्शादिः सुखादि स्यात्, किंतु न तत्सत्यं, प्राबन्धिन्यास्तत्प्रवृत्तेरभावात् । अत्र हेतुः—सा किल वर्तमानत इति, किलेति हेतौ । यतः सा अर्थक्रिया वर्तमानतो बहिः संभवत एवार्थाद्भवति—इत्यर्थः । तदाह—अत इत्यादि । अतः = उक्ताद्बहिर्बिम्बात्मना संभवन् उत्कृष्टः स्पर्शः तदिन्द्रिये = स्पर्शनेन्द्रियज्ञाने, समागतः = दत्तप्रतिबिम्बः, अत एव विदितः सन्, यथाक्रियः = सत्यनिजार्थक्रियाकारी भवति—इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नन्वेवं सत एवार्थस्य प्रतिबिम्बार्पणक्षमत्वात् बहिरसंभवन् स्पर्शादिः प्रति-संक्रान्तिमेव नैतीति स्मृत्यादौ को नामार्थक्रियामेव कुर्यात् यस्या असत्यत्वमपि परिकल्प्येत ?—इत्याशङ्क्याह—

असंभवे बाह्यगतस्य तादृशः
स्व एव तस्मिन्प्रतिबिम्बितस्तथा ।
करोति तां स्पर्शवरः सुखत्मिकां
स चापि कस्यामपि नाडिसंततौ ॥ ४३ ॥

स्मृत से—बाहर इसका असंभव कहा गया है क्योंकि उसका विषय अतीत पदार्थ होता है । सुगन्धित बन्धूक आदि बाहर असंभव होते हुए भी मानस ज्ञान का विषय होता है—यह तात्पर्य है । ऋत से होता है—न कि नहीं ही—यह अभिप्राय है । स्मरण किये जाने वाले भी स्पर्श आदि से सुख आदि होता है किन्तु वह सत्य नहीं होता, क्योंकि उसकी प्राबन्धिनी प्रवृत्ति नहीं होती । उसमें कारण हैं—वह वर्त्तमान काल में होती है । 'किल' यह हेतु अर्थ में प्रयुक्त है । क्योंकि वह अर्थक्रिया वर्त्तमान से बाहर सम्भव होने वाले पदार्थ से होती है—यह अर्थ है । वह कहते हैं—अतः इत्यादि । अतः = उक्त से बाहर बिम्बरूप में सम्भव होता हुआ उत्कृष्ट स्पर्श, उस इन्द्रिय में = स्पर्शन इन्द्रिय के ज्ञान में, आया हुआ = प्रतिबिम्बित हुआ, इसीलिए विदित होता हुआ, उस प्रकार की क्रिया वाला = सत्यनिजअर्थक्रियाकारी होता है ॥ ४२ ॥

प्रश्न—इस प्रकार सत् ही अर्थ के प्रतिबिम्ब का अर्पण करने मे सक्षम होने के कारण बाहर असम्भव होता हुआ स्पर्श आदि प्रतिसंक्रान्त नहीं होता फिर स्मृति आदि होने पर कौन अर्थक्रिया को करेगा ही जिसकी असत्यता भी परिकल्पित होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बाह्य बिम्ब के न रहने पर 'स्व' ही उस (स्पर्श आदि क्षेत्रों) में प्रतिबिम्बित होकर उस प्रकार की सुखात्मक क्रिया को करता है । और वह उत्तम स्पर्श किसी नाड़ीसन्तान में होता है ॥ ४३ ॥

बाह्यबिम्बाभावे तत्सदृशः = स्मृत्यादिविकल्पैरुल्लिखितः स्व एवाकारीभूतः स्पर्शादिर्न तु बाह्यः तस्मिन् = स्पर्शक्षेत्रादौ प्रतिबिम्बितः सन् तथा = स्वौचित्यादसत्यां सुखलक्षणाम्, ताम् = अर्थक्रियाँ करोति—इति वाक्यार्थः । ननु कन्दादीनां बहूनां स्पर्शक्षेत्राणां संभवात् किं सर्वत्रैव स्पर्शः प्रतिसंक्रामति उत कुत्रचिदेव?—इत्याशङ्क्याह—'स चापि कस्यामपि नाडिसंततौ' इति' कस्मिंश्चिदेव नाडीसंतत्यात्मके कन्दादावाधारविशेषे—इत्यर्थः, कन्दादिप्राधान्याद्धि केषांचित्केचिदेवाधारविशेषाः संभवन्तीतियत्रैवैषां नैर्मल्यातिशयः तालुतल इव षण्ठानां तत्रैव तेषां स्पर्शप्रतिसंक्रान्तिः—इति भावः ॥ ४३ ॥

एवं प्रतिबिम्बसतत्त्वमुपपाद्य प्रकृते योजयति—

तेन संवित्तिमकुरे विश्वमात्मानमर्पयत् ।
नाथस्य वदतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम् ॥ ४४ ॥

तेन = समनन्तरोक्तेन हेतुना, विश्वं संवित्तिरेव स्वच्छतातिशयान्मकुरः तस्मिन्नात्मानमर्पयत् = प्रतिबिम्बं दददमुष्य = संवित्त्यात्मनो नाथस्य विमलाम् युक्त्यनुभवोपपादितत्वान्निरवद्यां विश्वरूपतांस्वात्माभिन्नतां वदते = भासयति ।

बाह्यबिम्ब के अभाव में उसके समान स्मृति आदि विकल्पों आदि से उल्लिखित स्व ही आकार को प्राप्त करने वाला स्पर्श आदि है न कि बाह्य उस स्पर्श के क्षेत्र आदि में प्रतिबिम्बित होता हुआ उस प्रकार के अपने औचित्य के कारण असत्य सुख लक्षण वाली उस अर्थक्रिया को करता है—यह वाक्यार्थ है । प्रश्न—कन्द आदि अनेक स्पर्शक्षेत्रों के होने से क्या स्पर्श सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता है या कहीं कहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—वह भी किसी नाडीसन्तति में । अर्थात् किसी नाड़ीसन्तान रूप कन्द आदि आधारविशेष में । कन्द आदि की प्रधानता से कुछ (स्पर्शों) के कुछ आधारविशेष होते हैं जहाँ पर ही जैसे षष्ठ वर्णों का तालुतल पर, उस प्रकार इनका अतिशय नैर्मल्य होता है । वहीं पर उनके स्पर्श का प्रतिबिम्ब पड़ता है—यह तात्पर्य है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार प्रतिबिम्ब तत्त्व का उपपादान कर (उसे) प्रस्तुत में जोड़ते हैं—

इसलिए यह विश्व (= संवित् अपने ही) संवित्तिदर्पण में अपने में अपने को अर्पित करती हुयी इस परमेश्वर की विमल विश्वरूपता को भासित करती है ॥ ४४ ॥

इस कारण = पीछे कहे गये कारण से । विश्वरूपी संवित्ति ही अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण दर्पण है उसमें अपने को अर्पित करती हुई = प्रतिबिम्ब प्रदान करती हुई इस संवित् रूप नाथ की, विमल = युक्ति और अनुभव से सिद्ध किये जाने के कारण निरवद्य, विश्वरूपता को = अपने से अभिन्नता को कहती है = भासित करती है, (अर्थात् यह विश्व) संवित् से भिन्न स्फुरित नहीं होता । दर्पण

संवित्तेरतिरेकेण न स्फुरति इति यावत् । न खलु दर्पणादेः स्वाधारान्मुखादेः पृथक् स्वातन्त्र्येण प्रतिभासो भवति—इति भावः । तेन निखिलमिदं जगत् संवित्त्यात्मनः परमेश्वरस्यैवैकस्य रूपम्—इति पिण्डार्थः । यदुक्तं प्रज्ञालङ्कारे—

'एवं तर्हि जगत् एकस्यैव कस्यचिदनंशस्य ।
यथोक्तविधिना रूपमस्तु किं नः क्षीयते ॥' इति ।

'वदते' इति 'भासनोपसंभाषा०' (पा० सू० १।३।४७) इत्यादिना भासने आत्मनेपदम् ॥ ४४ ॥

ननु संवित्तेरनतिरिक्तमेव चेद्विश्वं तत्संवित्त्यात्मकत्वात्तस्य तद्धर्मधर्मित्वमपि स्यात् ? सत्यम्—अस्त्येव तत्, इति बाह्यदृष्टान्तपुरःसरमाह—

यथा च गन्धरूपस्पृग्रसाद्याः प्रतिबिम्बिताः ।
तदाधारोपरागेण भान्ति खड्गे मुखादिवत् ॥ ४५ ॥
तथा विश्वमिदं बोधे प्रतिबिम्बितमाश्रयेत् ।
प्रकाशत्वस्वतन्त्रत्वप्रभृतिं धर्मविस्तरम् ॥ ४६ ॥

इह खलु रूपादयः प्रतिबिम्बिताः सन्तः स्वाधारोपाधिवैशिष्ट्येनैव अवभासन्ते, यथा खड्गे तद्धर्मोर्ध्वताद्युपरक्ततया मुखं तथा महति सूक्ष्मे वा दर्पणे

आदि का अपने आधार मुख आदि से पृथक् स्वतन्त्ररूप से प्रतिभास नहीं होता—यह भाव है । इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् अकेले संवित्रूप परमेश्वर का ही रूप है—यह संक्षिप्त अर्थ है । जैसा कि प्रज्ञालङ्कार में कहा गया है—

'इस प्रकार जगत् एक ही किसी निरंश का उक्त विधि के अनुसार रूप हो (इससे) हमारी क्या हानि है ?'

'वदते' यह (प्रयोग) 'भासनोपसंभाषा... '(पा० सू०१/३/४७) के अनुसार भासन अर्थ में आत्मनेपद है ॥ ४४ ॥

प्रश्न—यदि विश्व संविद् से अभिन्न है तो उसके संविद्रूप होने से वह उस (संविद्) के धर्म (से युक्त) धर्मी भी होगा ? सत्य है । वह (वैसा) है ही । इसको बाह्य दृष्टान्त को सामने रखकर कहते हैं—

जिस प्रकार गन्ध रूप स्पर्श रस आदि प्रतिबिम्बत होकर तत्त आधार के उपरागवश तत्त रूपों में (उसी तरह) भासित होते हैं जैसे खड्ग में मुख आदि । उसी प्रकार यह विश्व चित् रूपी संविद् में प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रकाशत्व स्वतन्त्रत्व आदि धर्मों के विस्तार को प्राप्त करता हैं ॥ ४५-४६ ॥

रूप आदि प्रतिबिम्बित होते हुए अपने आधार रूप उपाधि के वैशिष्ट्य से ही भासित होते हैं । जैसे खड्ग में मुख उस (खड्ग) की ऊँचाई आदि धर्म से

तथात्वेनेति, तद्वद्विश्वमपीदं प्रकाशे प्रतिबिम्बितं सत् प्रकाशमानत्वादि तद्धर्मजातमाश्रयेत् = स्वीकुर्यादेव—इत्यर्थः । प्रकाशादनतिरिक्तत्व एव हि विश्वस्य प्रकाशमानत्वं स्यात् अन्यथा हि प्रकाशमानत्वायोगात् न किञ्चिदपि स्फुरेत् । अत एव च स्वयं प्रकाशमानत्वादस्य स्वातन्त्र्यम् । प्रकाशादतिरिक्तत्वे हि जडस्य नीलसुखाद्यात्मनो विश्वस्य स्वयमप्रकाशरूपत्वात् स्वात्मना न प्रकाशः अपि तु परेण इति परापेक्षायां पारतन्त्र्यं भवेत्—इति भावः, अव एव च सर्वमेवेदं वेद्यजातं प्रकाशत्मनः परमेश्वरस्य शरीरीभूतम्—इति प्रकाशात्मत्वाद्विश्वात्मैव, तदुक्तम्—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।' इति ।

तथा,

'एकैकस्यापि तत्त्वस्य षद्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।' इति च ॥४५-४६॥

ननु रूपादीनां मध्यात्क्वचिदेव किञ्चित्प्रतिबिम्बमेतीति प्रतिपादितं प्राक्, तत्कथं रूपाद्यात्मकं निखिलमेव विश्वमेकस्मिन्बोधे प्रतिसंक्रान्तिमियात्?—इत्याशङ्क्याह—

यथा च सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो भवेत् ।

उपरक्त होकर, तथा बड़े या छोटे दर्पण में उस रूप में (= बड़ा या छोटा भासता है) उसी प्रकार यह विश्व भी प्रकाश में प्रतिबिम्बित होता हुआ उसके धर्मसमूह प्रकाशमानत्व आदि का ग्रहण करता है । प्रकाश से अभिन्न होने पर ही विश्व की प्रकाशमानता होगी । अन्यथा प्रकाशमानत्व न होने से कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा। और इसीलिए स्वयं प्रकाशमान होने के कारण इसकी स्वतन्त्रता है । प्रकाश से भिन्न होने पर नील सुख आदि जड़ विश्व के स्वयं अप्रकाशरूप होने से अपने से प्रकाश नहीं होगा बल्कि पर के द्वारा । फलतः पर की अपेक्षा होने पर पारतन्त्र्य हो जायगा—यह तात्पर्य है । और इसीलिए यह सब वेद्यसमूह प्रकाशरूप परमेश्वर का शरीर है इसलिए प्रकाशात्मक होने के कारण विश्वरूप ही है । वही कहा गया है—

'ब्रह्म का प्रदेश भी सर्वरूपानतिक्रान्त (= सर्वरूपमय) और विकल्प से परे है।' तथा

'एक-एक तत्त्व छत्तीस रूप वाला है' ॥ ४५-४६ ॥

प्रश्न—रूप आदि में से किसी एक स्थान पर कोई (एक) प्रतिबिम्बित होता है—यह पहले कह दिया गया । तो कैसे रूप आदि वाला यह सम्पूर्ण विश्व एक ही संविद् में प्रतिसंक्रान्त होता है—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस प्रकार सर्वतः स्वच्छ स्फटिक में प्रतिबिम्ब सर्वतोभावेन पड़ता है

प्रतिबिम्बं तथा बोधे सर्वतः स्वच्छताजुषि ॥ ४७ ॥

सर्वत इति—स्फटिकपक्षे सर्वस्याः पूर्वापरादिकाया दिशः, बोधपक्षे सर्वस्माद्रूपादेः, यद्यपि सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो रूपमात्रप्रतिबिम्बमेव भवेदिति नास्य दृष्टान्तस्य रूपादिप्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णौ बोधे साम्यं तथापि यथायथं स्वच्छतातिशयसंभवात् भावानां प्रतिबिम्बग्रहणोत्कर्षप्रतिपिपादयिषया एतदुपात्तम्, तथाहि—दर्पणस्य पुरोभाग एव खड्गस्य पूर्वापरभागयोरेव स्फटिकस्य च सर्वत एव स्वच्छतातिशय इत्येषां यथायथं प्रतिबिम्बग्रहणे तारतम्यं संभवति, एवं बोधस्यापि सर्वतः स्वच्छत्वाद्रूपादिप्रतिबिम्बग्रहणे सामर्थ्यमिति । एवं च स्फटिकादपि अत्यन्तस्वच्छो बोधः—इति तात्पर्यार्थः ॥ ४७ ॥

ननु का नामास्य ततोऽप्यत्यन्तस्वच्छता ?—इत्याह—

अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम् ।
अतः स्वच्छतमो बोधो न रत्नं त्वाकृतिग्रहात् ॥ ४८ ॥

इह खलु प्रकाशः स्वप्रकाशत्वात् स्वात्मन एव प्रकाशते न परस्य इत्यन्यानपेक्षणात् वेद्यत्वगन्धमात्रमपि न स्पृशति इति नास्य स्फटिकादि-

---

उसी प्रकार सर्वतः स्वच्छता वाले बोध में (सब कुछ प्रतिबिम्बित हो रहा है) ॥ ४७ ॥

स्फटिक पक्ष में 'सर्वतः' (का अर्थ है) सभी पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं से । बोध पक्ष में सभी रूप आदि से । यद्यपि सर्वतः स्वच्छ स्फटिक में सब ओर से रूपमात्र का ही प्रतिबिम्ब होता है इसलिए इस दृष्टान्त की रूप आदि प्रतिबिम्ब के ग्रहण में सहिष्णु बोध के साथ समता नहीं है तथापि क्रमशः अतिशय स्वच्छता होने से प्रतिबिम्बग्रहण के उत्कर्ष को प्रतिपादित करने की इच्छा से यह कहा गया । वह इस प्रकार—दर्पण के सामने ही, खड्ग के सामने-पीछे दोनों ओर तथा स्फटिक के चारों ओर अतिशयस्वच्छता है इसलिए इनका क्रमानुसार प्रतिबिम्ब-ग्रहण में तारतम्य सम्भव है । इस प्रकार संविद् के भी सर्वतः स्वच्छ होने से रूप आदि का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में सामर्थ्य है । और इस प्रकार बोध स्फटिक की अपेक्षा अत्यन्त स्वच्छ है—यह तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

प्रश्न—इसकी उससे भी अधिक स्वच्छता क्या है ?—यह कहते हैं—

अत्यन्त स्वच्छता वह होती है जिससे कोई आकृति भासित नहीं होती। इसलिए बोध स्वच्छतम है न कि रत्न क्योंकि वह आकृति वाला है ॥ ४८ ॥

प्रकाश स्वप्रकाश होने के कारण स्वयं का प्रकाशन करता है दूसरे का नहीं । इस प्रकार दूसरे की अपेक्षा न होने से वेद्यता की गन्ध भी इसका स्पर्श नहीं

वज्ज्ञानान्तरग्राह्यत्वं येनाकारावभासोऽपि स्यात्, इह (तु) स्वच्छमेव हि अस्वच्छस्य प्रतिबिम्बं स्वीकर्तुं शक्नुयात् सितदुकूलमिव स्फटिकमणिः', न च परप्रमात्रेकरूपं प्रकाशापेक्ष्यं अन्यदधिकस्वच्छं किञ्चिदस्ति यदस्याप्याकारग्रहण-निपुणं स्यात् इति युक्तमुक्तम्—'अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम्' इति। स्फटिकादि पुनर्ग्राह्यत्वादेतदपेक्षया न स्वच्छम् । यथा यथा हि स्फुटा वेद्यता तथा तथा स्वच्छत्वस्याभावः—इति भावः । अनेनैव चाभिप्रायेण पूर्वम्—

'नैर्मल्यं मुख्यमेतस्य संविन्नाथस्य सर्वतः ।
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यत् .... ॥'

इत्यादिना बोधस्य तदितरेषां केषाञ्चन भावानां च स्वच्छत्वस्य मुख्यामुख्य-तया द्वैविध्यमुक्तम् । एवं दर्पणादि स्वच्छं स्फटिकं स्वच्छतरं बोधस्तु स्वच्छतमः—इत्याशयः ॥ ४८ ॥

तदेवं संवित्प्रतिबिम्बेन विश्वस्य सर्वतः संभवत्यपि बाह्यप्रतिबिम्बसाम्ये अस्ति कश्चित्ततो युक्तिबलानीतो विशेषः—इत्याह—

प्रतिबिम्बं च बिम्बेन बाह्यस्थेन समर्प्यते ।
तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम् ॥ ४९ ॥

करती, इसलिए स्फटिक आदि की भाँति यह ज्ञानान्तर से ग्राह्य नहीं है जिससे आकार का अवभास भी हो । यहाँ स्वच्छ ही अस्वच्छ का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर सकता है जैसे कि स्फटिक मणि श्वेत वस्त्र का । परप्रमाता एक रूप प्रकाश की अपेक्षा कोई दूसरा अधिक स्वच्छ नहीं है जो कि इसके भी आकार का ग्रहण करने में निपुण हो । इसलिए ठीक कहा गया कि 'जो अपनी आकृति का अवभास न होना वही अत्यन्त स्वच्छता है ।' स्फटिक आदि ग्राह्य होने से इसकी अपेक्षा स्वच्छ नहीं है । वेद्यता जैसे जैसे स्पष्ट होती जाती है वैसे-वैसे स्वच्छता का अभाव होता जाता है—यह तात्पर्य है । इसी अभिप्राय से पहले—

'इस संविद्नाथ का सार्वत्रिक नैर्मल्य मुख्य है (और) कहीं दूसरी जगह अंशांशी रूप में है...'

इत्यादि के द्वारा बोध की और उससे भिन्न कुछ भावों की स्वच्छता मुख्य और अमुख्य रूप से दो प्रकार की कही गई है । इस प्रकार दर्पण आदि स्वच्छ स्फटिक स्वच्छतर और बोध स्वच्छतम है—यह आशय है ॥ ४८ ॥

तो इस प्रकार विश्व का संवित् प्रतिबिम्ब से बाह्य प्रतिबिम्ब का साम्य संभव होने पर भी युक्ति के बल से लाया गया उसकी अपेक्षा कोई विशेष है—यह कहते हैं—

बाहर स्थित बिम्ब के द्वारा प्रतिबिम्ब का समर्पण किया जाता है । यदि वही (बिम्ब ही) प्रतिबिम्ब हो तो क्या बचेगा ॥ ४९ ॥

इह खलु मुखादिना बाह्येन बिम्बेन दर्पणादौ प्रतिबिम्बं समर्प्यते इत्यत्र तावन्न कस्यापि विमतिः, यदा पुनस्तस्य बिम्बत्वेन संमतस्य बाह्यस्यैव प्रतिबिम्बत्वमुपगम्यते तदा किं नाम बिम्बं प्रतिबिम्बार्पणक्षमं वस्तु अवशिष्यताम्, न किञ्चिदपि संभवति—इत्यर्थः । नहि यथा ज्ञानाद्विच्छिन्नो नीलसुखादिरर्थस्तथा ततोऽपि विच्छिन्नमर्थान्तरमस्तीति कस्याप्यभ्युपगमः ॥ ४९ ॥

ननु यद्यप्येतदेवं तथापि निर्निमित्तमेव कथं प्रतिबिम्बमुदियात् इति, तत्र बिम्बभूतं किञ्चित्कारणं वक्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

यद्वापि कारणं किञ्चिद्बिम्बत्वेनाभिषिच्यते ।
तदपि प्रतिबिम्बत्वमेति बोधेऽन्यथा त्वसत् ॥ ५० ॥

अत्र खलु बिम्बत्वेन यत्किञ्चन प्रतिबिम्बार्पणक्षमं कारणमिष्यते तत्किं बोधादनतिरिक्तम् ? अतिरिक्तं वा ? अनतिरिक्तत्वे तत् उक्तयुक्त्या प्रतिबिम्बमेव न बिम्बम्, अतिरिक्तत्वे च बुद्ध्यमानत्वाभावात् तन्न किञ्चिदेव इति युक्तमुक्तम् 'तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम्' इति ॥ ५० ॥

एतदेवोपसंहरति—

इत्थमेतत्स्वसंवित्तिदृढन्यायास्त्ररक्षितम् ।

मुख आदि बाह्य बिम्ब दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब डालता है—इसमें किसी को भी विरोध नहीं है किन्तु जब बिम्ब रूप से सम्मत बाह्य को ही प्रतिबिम्ब मानते हैं तो प्रतिबिम्ब को अर्पित करने में सक्षम कौन सी वस्तु बिम्ब के रूप में बचेगी अर्थात् कुछ भी सम्भव नहीं है । यह कोई नहीं मानता कि जैसे घट सुख आदि पदार्थ ज्ञान से विच्छिन्न (= अलग) है उस प्रकार उन (घट आदि) से विच्छिन्न कोई दूसरा भी पदार्थ है ॥ ४९ ॥

प्रश्न—यद्यपि यह ऐसा है तो भी प्रतिबिम्ब बिना कारण के कैसे उदित होगा। उसमें कोई बिम्बरूप कारण कहना चाहिये—यह शङ्का कर कहते हैं—

अथवा कोई कारण बिम्ब के रूप में माना जाता है । वह भी बोध में प्रतिबिम्ब बन जाता है अन्यथा वह असत् है ॥ ५० ॥

बिम्ब के रूप में जो कोई (पदार्थ) प्रतिबिम्ब के अर्पण में सक्षम कारण माना जाता है वह क्या बोध से अभिन्न होता है या भिन्न ? अभिन्न होने पर वह उक्तयुक्ति से प्रतिबिम्ब ही है न कि बिम्ब । और भिन्न होने पर बोध का विषय न होने से वह कुछ है ही नहीं । इसलिए ठीक कहा गया—'उसी के प्रतिबिम्ब होने पर क्या बिम्ब बचेगा' ॥ ५० ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार स्वसंविद् के दृढ़तर्क रूपी अस्त्र से सुरक्षित प्रतिबिम्ब का

साम्राज्यमेव विश्वत्र प्रतिबिम्बस्य जृम्भते ॥ ५१ ॥

एवकारो भिन्नक्रमः—तेन प्रतिबिम्बस्यैव, न पुनर्बिम्बस्यापि—इत्यर्थः । विश्वत्रेति न पुनर्बाह्ये मुखादौ, तत्र हि बिम्बप्रतिबिम्बयोर्द्वयोरपि सामर्थ्याम्—इति भावः ॥ ५१ ॥

ननु तयोः परस्परसापेक्षत्वात् कथं बिम्बभावे प्रतिबिम्बस्यैव सद्भावः? इत्याह—

ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं कथं भवेत् ।
किं कुर्मो दृश्यते तद्धि ननु तद्बिम्बमुच्यताम् ॥ ५२ ॥

एतदेव समाधत्ते—किं कुर्म इत्यादिना । दृश्यते इति—नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम—इति भावः । ननु न खलु वयं दृष्टमपह्नुमहे यदेवमुच्यते किं तु दृश्यमानमिदं विश्वं प्रतिबिम्बतया न वाच्यमपि तु बिम्बतया इत्यभिदध्म इत्याह—'ननु तद्बिम्बमुच्यताम् इति' ॥ ५२ ॥

एतदेव निराकरोति—

नैवं तल्लक्षणाभावाद्बिम्बं किल किमुच्यते ।

ही साम्राज्य सर्वत्र समुल्लसित हो रहा है ॥ ५१ ॥

एवकार का क्रम भिन्न है । इसलिए प्रतिबिम्ब का ही न कि बिम्ब का भी—यह अर्थ है । विश्वत्र (= सर्वत्र) न कि बाह्य मुख आदि में । वहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब दोनों का ही सामर्थ्य है—यह भाव है ॥ ५१ ॥

प्रश्न—उन दोनों के परस्पर सापेक्ष होने से बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब की ही सत्ता कैसे होती है ?—यह कहते हैं—

प्रश्न है कि बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव होता है । (उत्तर है कि-) क्या करें वह (= प्रतिबिम्ब) निश्चित रूप से दिखाई देता है । (यदि कोई चाहता है) तो उसे बिम्ब ही कह दे ॥ ५२ ॥

इसी का समाधान करते है—किं कुर्मः इत्यादि के द्वारा । दिखलाई पड़ता है—दिखलायी पड़ने पर असिद्ध नहीं होता—यह भाव है । प्रश्न—हमलोग देखे हुए को नहीं छिपा रहे जो कि (आप) ऐसा कह रहे हैं किन्तु दिखलायी पड़ने वाले इस विश्व को प्रतिबिम्ब मत कहिये बल्कि बिम्ब कहिये—यह कह रहे हैं । यही कहते हैं—ननु तद्बिम्बमुच्यताम् ॥ ५२ ॥

इसी का निराकरण करते हैं—

किन्तु ऐसा नहीं है । क्योंकि (उसमें) उस (= बिम्ब)का लक्षण घटित नहीं होता । (प्रश्न है कि) बिम्ब किसे कहते है ?—जो अन्य से

अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा ॥ ५३ ॥

तल्लक्षणाभावादिति = बिम्बलक्षणायोगात् । किं नाम बिम्बलक्षणम् ?—इत्याह—बिम्बमित्यादि । अन्यामिश्रमिति—सजातीयविजातीयत्यावृत्तम्—इत्यर्थः । अत एव 'स्वतन्त्रम्' स्वरूपमात्रनिष्ठम्—परस्य परनिष्ठतानुपपत्तेः । तथात्वे हि स ततः पृथगेव न भवेत—इति भावः । एवंरूपत्वे चास्याबाधितत्वमेवास्ति प्रमाणमित्युक्तम्—'भासमानमिति' ॥ ५३ ॥

एवं बिम्बलक्षणानन्तरं तत्तुल्यकक्ष्यतया लक्षणीयस्य प्रतिबिम्बस्य पीठिकाबन्धं कर्तु तदाधारस्य तावत् सर्ववादिसिद्धतां द्योतयितुम्—

'निजधर्माप्रहाणेन पररूपानुकारिता ।
प्रतिबिम्बात्मता सोक्ता खड्गादर्शतलादिवत् ।।'

इति प्रज्ञालङ्कारकारिकार्थगर्भीकारेण लक्षणमाह—

स्वरूपानपहानेन पररूपसदृक्षताम् ।
प्रतिबिम्बात्मतामाहुः खड्गादर्शतलादिवत् ॥ ५४ ॥

इह दर्पणादेस्तनुत्वपरिमण्डलत्वाद्यात्मनः स्वस्यासाधारणस्य रूपस्यापरित्यागे-

---

असम्बद्ध स्वतन्त्र होते हुए भासित होता है (वह बिम्ब है) जैसे कि मुख ॥ ५३ ॥

इसका लक्षण न होने से = बिम्ब का लक्षण न होने से । बिम्ब का क्या लक्षण है ?—यह कहते हैं—बिम्ब इत्यादि । अन्य से अमिश्रित—अर्थात् सजातीय विजातीय से व्यावृत्त । इसीलिए स्वतन्त्र = अपने रूप में ही स्थित । क्योंकि दूसरा दूसरे के रूप में स्थिर नहीं रह सकता । वैसा होने पर वह उससे पृथक् ही नहीं होगा—यह भाव है । और ऐसा होने पर इसका बाधित न होना ही प्रमाण है—इसलिए कहा गया—'भासमान' ॥ ५३ ॥

इस प्रकार बिम्ब का लक्षण बतलाने के बाद उसके समान कक्ष्या वाला होने के कारण लक्षणीय प्रतिबिम्ब का पीठिकाबन्ध करने के लिये उसके आधर की सर्ववादिसिद्धता को बतलाने के लिये

'अपना धर्म न छोड़ते हुए (जो) दूसरे के रूप का अनुकरण करना है, खड्ग, दर्पणतल के समान वही प्रतिबिम्बता कही गई है ।'

इस प्रज्ञालङ्कारकारिका के अर्थ को गर्भ में रखकर लक्षण बतलाते हैं—

स्वरूप को न छोड़ते हुए पररूपसदृशता को प्रतिबिम्बता कहा जाता है । (जैसे कि—) खड्ग मुकुर आदि के तल पर (दिखलाई पड़ने वाला प्रतिबिम्ब) ॥ ५४ ॥

दर्पण आदि का आदि अपने तनुत्व परिमण्डलत्व असाधारण रूप का परित्याग

ऽपि परस्य मुखादे संबन्धिना रूपेण यत् सादृश्यं तदेव प्रतिबिम्बात्मत्वं न तु तद्रूपतासादनमेव इति सर्व एव वादिन आहुः । नात्र कस्यापि विप्रतिपत्तिः इति भावः । ताद्रूप्ये हि श्लक्ष्णैकवपुषोऽपि दर्पणस्य निम्नोन्नतमुखप्रतिबिम्बपरिग्रहे श्लक्ष्णत्वाभावो भवेत्—नगरादिप्रतिबिम्बयोगेऽपि अनेकरूपपरिग्रहात् दर्पणस्य आनैक्यं स्यात्, तेन यथा चित्रज्ञानस्य अनेकवेदनेऽपि चित्रपतङ्गादौ एकत्वानपायात् अनेकसदृशाकारतया एकत्वमेव नानेकत्वम् । एवं दर्पणादेरप्यनेकप्रतिबिम्बयोगे न अनेकरूपत्वमिति नानैक्यप्रसङ्गः अपि तु तत्सादृश्यमात्रमेव, न च सादृश्यमात्रादेव ताद्रूप्यम्, न हि गवयसादृश्यादेव गौर्गवयः । तस्माद् बिम्बसदृशाकारत्वमेव प्रतिबिम्बधारित्वः—इति तात्पर्यार्थ ॥ ५४ ॥

एतदेवार्थद्वारेण संवादयति—

उक्तं च सति बाह्येऽपि धीरेकानेकवेदनात् ।
अनेकसदृशाकारा न त्वनेकेति सौगतैः ॥ ५५ ॥

उक्तमिति—प्रज्ञालङ्कारादौ । तदुक्तं तत्र—

'तस्मात्सत्यपि बाह्येऽर्थे धीरेकानेकवेदनात् ।

न करने पर भी दूसरे मुख आदि के सम्बन्धी रूप से जो सादृश्य होना है वही प्रतिबिम्बात्मता है न कि उसके रूप को प्राप्त करना—ऐसा सभी वादी कहते हैं अर्थात् इस विषय में किसी को विरोध नहीं है । तद्रूपता होने पर चिकने समतल शरीर वाले भी दर्पण का, ऊँचे नीचे मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने पर चिकनाई एवं समतलता का अभाव हो जायगा; नगर आदि के प्रतिबिम्ब से योग होने पर अनेक रूप का ग्रहण करने के कारण दर्पण भी अनेक होने लगेगा । इसलिए जैसे चित्रज्ञान की अनेक वेदना होने पर भी चित्रपतङ्ग आदि में एकत्व अक्षुण्ण रहता है फलतः अनेक सदृश आकार होने के कारण एकत्व ही होता है अनेकत्व नहीं, उसी प्रकार दर्पण आदि का भी अनेक प्रतिबिम्ब से योग होने पर भी अनेकरूपता नही होती ; इसलिए अनेकता का प्रसङ्ग नहीं है बल्कि केवल उसका सादृश्य है । केवल सादृश्य से तद्रूपता नहीं होती । गवय के सादृश्य मात्र से गाय गवय नहीं हो जाती । इसलिए बिम्ब के समान आकार का होना ही प्रतिबिम्बधारिता है—यह तात्पर्य है ॥ ५४ ॥

इसी को अर्थ के द्वारा सङ्गत करते हैं—

(योगाचार) बौद्धों के द्वारा कहा गया है कि बाह्य (पदार्थ) के रहने पर भी (द्रष्टा की) बुद्धि अनेक ज्ञान (संस्कार) के कारण अनेक समान आकार वाली (हो जाती है) न कि वह अनेक है ॥ ५५ ॥

कहा गया है—प्रज्ञालङ्कार आदि में । वही वहाँ कहा गया है—

'इसलिए बाह्य अर्थ के होने पर भी एक बुद्धि अनेक वेदना होने से अनेक

अनेकसदृशाकारा नानेकैव प्रसृज्यते ।।' इति ।। ५५ ।।

नन्वेवमपि प्रतिबिम्बस्य लक्षणं न किञ्चिदुक्तं स्यात् ?—इत्याशङ्कां प्रदर्श्य तल्लक्षणमेवाह—

नन्वित्थं प्रतिबिम्बस्य लक्षणं किं तदुच्यते ।
अन्यव्यामिश्रणायोगात्तद्भेदाशक्यभासनम् ॥
प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा ॥ ५६ ॥

इह खलु सर्व एव वादिनस्तत्प्रतिबिम्बमाहुः यदन्येन स्वाधिकरणभूतेन दर्पणादिना या व्यामिश्रणा = तादात्म्यं तया योगात्तदनतिरिक्तत्वाद्धेतोः । ततोऽन्यस्मात् तदाकारग्रहणसहिष्णोर्दर्पणादेर्भेदेन = पृथक्स्वातन्त्र्येण अशक्यं भासनं यस्य तत्, तत्परतन्त्रम्—इत्यर्थः । अनेन चास्य बिम्बवैपरीत्यं दर्शितम् । तद्धि अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं चेत्युक्तम् । एतच्च पूर्वमेव बहूक्तम् इतीह न पुनरायस्तम् ।। ५६ ।।

एतदेव प्रकृते योजयति—

बोधमिश्रमिदं बोधाद् भेदेनाशक्यभासनम् ।
परतत्त्वादि बोधे किं प्रतिबिम्बं न भण्यते ॥ ५७ ॥

इदं खलु तत्त्वभुवनाद्यात्मकं विश्वं बोधे प्रतिबिम्बं किं न भण्यते—अवश्यमेवाभिधातव्यम्—इत्यर्थः, यस्मादिदमपि दर्पणेनेव मुखं बोधेन प्राप्त

सदृश आकार वाली होने पर भी अनेक नही मानी जाती' ।। ५५ ।।

प्रश्न है कि इस पर भी प्रतिबिम्ब का कोई लक्षण तो नहीं कहा गया ?—इस आशंका को दिखलाकर उसका लक्षण बतलाते हैं—

प्रश्न है कि प्रतिबिम्ब का क्या लक्षण है? उत्तर है—कि वह कहा जा रहा है—अन्य से मिश्रित न होते हुए उससे भिन्न का अशक्यभासन ही प्रतिबिम्ब कहा गया है । जैसे कि दर्पण मे मुख ।। ५६ ।।

प्रश्न—इस प्रकार भी प्रतिबिम्ब का कुछ भी लक्षण नहीं कहा गया ?—इस शङ्का को दिखलाकर उसका लक्षण ही कहते हैं ।। ५६ ।।

इसी को प्रस्तुत में जोड़ते है—

यह (= विश्व) बोध से मिश्रित हो बोध से अभिन्न भासित होता है तो बोध में पर तत्त्व आदि को क्या प्रतिबिम्ब नहीं कहा जायगा ।। ५७ ।।

यह तत्त्व भुवनाद्यात्मक विश्व बोध में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं कहा जाता ? अर्थात् अवश्य ही कहा जाना चाहिये । क्योंकि यह भी दर्पण के साथ मुख के समान

तदैकात्म्यम्, अत एव दर्पणादिव मुखस्य बोधाद्भेदेन पृथगशक्यं भासनं यस्य तत् । नहि प्रकाशमन्तरेण किञ्चिदपीदं भावजातं स्फुरेत्—इति भावः । यदुक्तम्—

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां प्राप्तमेतस्मादवसीयते ॥' इति ।

तथा,

'युगपद्वेदनाज्ज्ञानज्ञेययोरेकरूपता ।' इति ॥ ५७ ॥

तदेवं प्रतिबिम्बलक्षणयोगेऽपि विश्वस्य यदि निर्निमित्तमेव बिम्बत्वमुच्यते तदुच्यतां को दोषः, एष खलु नास्ति विवादः, न चात्र विदुषां भरः, ते हि वस्तुन्येवाभिनिविष्टाः, तच्च नान्यथा कर्तु शक्यम्, प्रतिबिम्बलक्षणयोगस्यैवात्रोपपादितत्वात्, बिम्बलक्षणस्य च योजयितुमशक्यत्वात् । तदाह—

लक्षणस्य व्यवस्थैषाऽकस्माच्चेद्बिम्बमुच्यताम् ।
प्राज्ञा वस्तुनि युज्यन्ते न तु सामयिके ध्वनौ ॥ ५८ ॥

बोध के साथ एकात्मता को प्राप्त है; इसीलिए दर्पण से मुख के समान बोध से भिन्न रूप में पृथक् भासन अशक्य है जिसका वह । प्रकाश के बिना यह कुछ भी भावसमूह स्फुरित नहीं हो सकता—यह तात्पर्य है । जैसा कि कहा गया है—

ज्ञान भिन्न-भिन्न रूप में बाहर और भीतर प्रकाशित होता है । ज्ञान के बिना अर्थ की सत्ता नहीं है इसलिए यह संसार ज्ञानरूप है । ज्ञान के बिना किसी ने भी पदार्थ का ज्ञान नहीं किया । इससे यह निश्चय किया जाता है कि ज्ञान ही उस रूप को प्राप्त है ।'

तथा—

'एक साथ वेदना होने से ज्ञान और ज्ञेय एक रूप है' ॥ ५७ ॥

तो इस प्रकार प्रतिबिम्ब लक्षण का योग होने पर भी विश्व यदि बिना कारण के बिम्ब कहा जाता है तो कहा जाय क्या दोष है । यह कोई विवाद नहीं है और इस विषय में विद्वानों का (कोई) आग्रह नहीं है । वे तो वस्तुओं में ही अभिनिविष्ट हैं और उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब लक्षण वाला योग ही यहाँ उपपादित है और बिम्ब का लक्षण जोड़ा नहीं जा सकता । वह कहते है—

लक्षण की यह व्यवस्था है फिर भी यदि विश्व को (आप) आकस्मिक मानते हैं तो उसे बिम्ब कहिये । विद्वान् लोग वस्तु को ध्यान में रखते है न कि सामयिक ध्वनि को ॥ ५८ ॥

अकस्मादिति निर्हेतुकम्—इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

ननु तल्लक्षणयोगाद्विश्वस्य प्रतिबिम्बत्वं यदुच्यते तदास्तां नास्माकमत्र अभिनिवेशः, तस्य पुनर्बिम्बाख्यं कारणमन्तरेण सद्भाव एव कथं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

ननु न प्रतिबिम्बस्य विना बिम्बं भवेत्स्थितिः ।

एतदेव प्रतिविधत्ते—

किं ततः प्रतिबिम्बे हि बिम्बं तादात्म्यवृत्ति न ॥ ५९ ॥

किं तत इति—बिम्बं चेन्नास्ति ततः किम्, न किञ्चिदपि—इत्यर्थः । न हि प्रतिबिम्बे शिंशिपात्व इव वृक्षत्वं बिम्बमैकात्म्येन वर्तते, येन बिम्बाभावे प्रतिबिम्बमपि न स्यात् ॥ ५९ ॥

तदाह—

अतश्च लक्षणस्यास्य प्रोक्तस्य तदसंभवे ।
न हानिर्हेतुमात्रे तु प्रश्नोऽयं पर्यवस्यति ॥ ६० ॥

अत इति—बिम्बप्रतिबिम्बयोस्तादात्म्यवृत्तित्वाभावात् । प्रोक्तस्येति—अर्था-

---

अकस्मात् = बिना कारण के—यह तात्पर्य है ॥ ५८ ॥

प्रश्न—इन लक्षणों के कारण जो विश्व को प्रतिबिम्ब कहा जाता है वह रहे, हमारा इसमें कोई विरोध नहीं है लेकिन बिम्ब नामक कारण के बिना उसकी सत्ता ही कैसे होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रश्न है कि—बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब की सत्ता ही नहीं होती ?

इसी का समाधान करते हैं—

(उत्तर यह है कि) उससे क्या हुआ ? बिम्ब प्रतिबिम्ब में तादात्म्येन नहीं रहता ॥ ५९ ॥

उससे क्या = यदि बिम्ब नहीं है तो उससे क्या ? कुछ भी नहीं—यह अर्थ है । शिंशपात्व में वृक्षत्व की भाँति प्रतिबिम्ब में बिम्ब तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता जिससे बिम्ब न रहने पर प्रतिबिम्ब भी न रहे ॥ ५९ ॥

वह कहते हैं—

इसलिए (विश्व के सन्दर्भ में) इस उक्त लक्षण (= बिम्ब) के असम्भव होने पर कोई हानि नहीं है । यह प्रश्न तो हेतुमात्र में समाप्त होता है ॥ ६० ॥

अतः = बिम्ब प्रतिबिम्ब के अभिन्न न होने से उक्त का—अर्थात् विश्व के

द्विश्वविषये । तदसंभव इति—बिम्बभावे । ननु न वयं प्रतिबिम्बलक्षणे विवदामहे किं तु बिम्बं विना तत्कथं भवेदिति ब्रूमः, नहि निर्निमित्तमेव भावानां संभवो न्याय्यः ? इत्याशङ्क्याह—हेतुमात्र इत्यादि हेतुश्च द्विविधः—उपादानं निमित्तं च, उपादानं यथा घटादौ मृदादि, निमित्तं यथा तत्रैव दण्डादि । प्रतिबिम्बस्य च बिम्बं नोपादानकारणम्, तद्धि घट इव मृत्स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन वर्तते, नैवमत्र बिम्बम्, प्रतिबिम्बोदयेऽपि तस्याविकृतस्यैव पृथगुपलम्भात् । तेनात्र दण्ड इव घटे निमित्तकारणं बिम्बम् ॥ ६० ॥

ततश्च निमित्तकारणविषय एवायं प्रश्नो नान्यत्र, इत्याह—

तत्रापि च निमित्ताख्ये नोपादाने कथञ्चन ।
निमित्तकारणानां च कदाचित्क्वापि संभवः ॥ ६१ ॥

न च निमित्तकारणानां सर्वसर्विकयैव संभवो भवेत्—इत्याह—निमित्त इत्यादि। इह खलु दण्डपरिहारेणापि स्वकराहत्यैव चक्रं भ्रामयन् कुम्भकारः कुम्भं कुर्यात् । मृत्परिहारेण पुनरतिनिपुणोऽपि कुम्भकारः कुम्भं कर्तुं न शक्नुयात् । अतश्चोपादानकारणवत् नावश्यं निमित्तकारणोपयोगः, तेन बिम्बं

विषय में । उसके सम्भव न होने पर = बिम्ब के अभाव में । प्रश्न—हम लोग प्रतिबिम्ब के लक्षण के बारे में विवाद नहीं कर रहे किन्तु यह कह रहे हैं कि बिम्ब के बिना वह कैसे होता है? बिना कारण के पदार्थों की उत्पत्ति उचित नहीं है ? —यह शङ्का कर कहते हैं—हेतुमात्र—इत्यादि । हेतु दो प्रकार का है—उपादान और निमित्त । उपादान—जैसे घट आदि के विषय में मिट्टी आदि। निमित्त—जैसे उसी (= घट के ही) विषय में दण्ड आदि । बिम्ब प्रतिबिम्ब का उपादान कारण नहीं है । वह (= उपादान कारण) घट में मिट्टी की भाँति स्वरूपविकार को प्राप्त कर कार्यानुगामी के रूप में वर्त्तमान रहता है । यहाँ बिम्ब वैसा नहीं है क्योंकि प्रतिबिम्ब का उदय होने पर भी अविकृत ही उसकी पृथक् प्राप्ति होती है । इसलिए घट में दण्ड के समान यहाँ विश्व निमित्त कारण है ॥ ६० ॥

इसलिए यह प्रश्न निमित्तकारणविषयक है दूसरे के विषय में नहीं—यह कहते हैं—

(उक्त प्रश्न की) वहाँ (= हेतुमात्र में समाप्ति भी) निमित्त कारण के विषय में ही है न कि उपादान कारण में । और निमित्त कारण कहीं कदाचित् सम्भव होते हैं ॥ ६१ ॥

निमित्त कारण सबके सब सम्भव हों—ऐसा नहीं है—यह कहते हैं—निमित्त इत्यादि । दण्ड को छोड़कर भी अपने हाथ से ही चक्र को घुमाता हुआ कुम्भकार घट बनाता है । लेकिन मिट्टी को छोड़कर अत्यन्त निपुण भी कुम्हार घट नहीं बना सकता । इसलिए उपादान कारण की भाँति निमित्त कारण का अवश्य उपयोग

विनापि प्रतिबिम्बं भवेत्; तदुत्पादसमर्थस्य तत्प्रतिनिधिभूतस्य कारणान्तरस्यापि भावात् ॥ ६१ ॥

तदाह—

अत एव पुरोवर्तिन्यालोके स्मरणादिना ।
निमित्तेन घनेनास्तु संक्रान्तदयिताकृतिः ॥ ६२ ॥

अत इति—बिम्बाभावेऽपि निमित्तान्तरेण प्रतिबिम्बोत्पादस्य संभवात् । आलोक इति—तस्य रूपप्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात् । घनेनेति—भावनात्मतामापन्नेन—इत्यर्थः, अन्यथा हि सर्वस्यैव स्मर्तुः सर्वदैव पुरः स्मर्यमाणं भायात् । अत्र तावद् बिम्बं नास्ति, दयिताया देशादिविप्रकृष्टत्वेन असंनिहितत्वात् । अथ च तत्कार्यं प्रतिबिम्बं दृश्यते इत्यत्र स्मरणादिना निमित्तान्तरेणावश्यं भाव्यम् । नहि निर्निमित्तमेव प्रतिसंक्रान्तायाः कान्ताया विच्छेदेन कादाचित्कः प्रतिभासो भवेत् ॥ ६२ ॥

तदाह—

अन्यथा संविदारूढा कान्ता विच्छेदयोगिनी ।
कस्माद् भाति न वै संविद् विच्छेदं पुरतो गता॥ ६३ ॥

नहीं होता । इससे बिम्ब के बिना भी प्रतिबिम्ब होता है क्योंकि उसके उत्पादन में समर्थ उसका प्रतिनिधिभूत दूसरा कारण भी रहता है ॥ ६१ ॥

वह कहते हैं—

इसीलिए पुरोवर्त्ती प्रकाश में स्मरण आदि जो कि सघन निमित्त हैं, के द्वारा (अपनी) प्रियतमा की आकृति दिखलायी पड़ती है ॥ ६२ ॥

अतः = बिम्ब के अभाव में भी दूसरे निमित्त से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति सम्भव होने से । प्रकाश में—क्योंकि वह रूप के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने में समर्थ है । घन = भावनात्मता को प्राप्त, अन्यथा सभी स्मरण करने वालों को सब समय स्मर्यमाण सामने ही भासित होता । यहाँ बिम्ब नहीं है क्योंकि प्रियतमा देश आदि की दूरी के कारण सन्निहित नहीं है । साथ ही उसका कार्य प्रतिबिम्बं दिखलाई पड़ता है । इसलिए यहाँ स्मरण आदि कोई कारण अवश्य होना चाहिये । बिना कारण के ही प्रतिबिम्बित कान्ता के विच्छेद से कादाचित्क प्रतिभास नहीं होता ॥ ६२ ॥

वह कहते हैं—

अन्यथा संविद् पर आरूढ़ कान्ता जिससे कि (प्रिय का) वियोग है, कैसे आभासित होती है । संविद् तो सामने वियुक्त है नहीं ॥ ६३ ॥

अन्यथा इति—स्मरणादिना निमित्तान्तरेण यदि प्रतिसंक्रान्ता कान्ता न स्यात्—इत्यर्थः, संविदारूढेति—नहि संविदमारूढस्य वस्तुनो विच्छेदेन भाने भानं भवेत्—इति भावः । संविदो विच्छेदे हि जाड्यापत्तेर्न किञ्चिदपि स्फुरेत्, इति सर्वमिदमन्धं स्यात् । संविदारूढं च वस्तु संवेद्यमानत्वादेव, न ततोऽधिकम्, इति न तदपि विच्छेदेन भायात्, अत आह—'न संविद्विच्छेदं पुरतो गता' इति ॥ ६३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि ग्राह्यग्राहकभाव एव न भवेत्, इति समग्रव्यवहारविप्रलोपः स्यात् ? सत्यम्—नहि परां संविदमपेक्ष्य भेदगन्धमात्रमप्यस्तीति सर्व संविदेव, इति किं नाम ग्राह्यं ग्राहकं वापि स्यात्, सैव पुनः स्वस्वातन्त्र्यात्स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितज्ञानात्मतामवभासयति तदायं सकलो ग्राह्यग्राहकात्मा भेदव्यवहारः । तदाह—

अत एवान्तरं किञ्चिद्धीसंज्ञं भवतु स्फुटम् ।
यत्रास्य विच्छिदा भानं सङ्कल्पस्वप्नदर्शने ॥ ६४ ॥

अत एव—परसंविदपेक्षया विच्छेदासंभवाद्धेतोः । किञ्चित्संकुचितप्रमात्रात्म सुस्फुटं निर्विकल्परूपं ज्ञानसंज्ञमान्तरं परसंवित्प्रमेययोर्मध्यवर्ति भवतु, यत्रास्य =

अन्यथा—यदि स्मरण आदि अन्य कारणों से यदि कान्ता प्रतिबिम्बित न होती—यह अर्थ है । संविदारूढ़ा—संविद् पर आरूढ़ वस्तु का अलग से भान नहीं है । संविद् से विच्छेद होने पर जाड्य आने के कारण कुछ भी आभासित नहीं होगा इसलिए यह सब अन्धा हो जायगा । और संविद् में आरूढ़ वस्तु संवेद्यमान होने के कारण ही उससे अधिक नहीं होगी । इसलिए वह भी अलग से प्रकाशित नहीं होगी । इसलिए कहते है—संविद् पहले विच्छेद को नहीं प्राप्त हुई ॥ ६३ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो ग्राह्यग्राहक भाव भी नहीं होगा फलतः समस्त व्यवहार का लोप हो जायगा ? सत्य है । परा संविद् की अपेक्षा भेद की गन्ध भी नहीं है अतः सब कुछ संविद् ही है । फिर ग्राह्य अथवा ग्राहक क्या होगा । इसलिए वही अपने स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप को छिपाकार जब संकुचित ज्ञानात्मता को अवभासित करती है तब यह समस्त ग्राह्यग्राहक रूप भेदव्यवहार चलता है । यह कहते हैं—

इसलिए (संवित् और प्रमेय के) मध्य में कोई 'धी' नामक तत्त्व स्फुट है जहाँ विच्छेद होने पर भी सङ्कल्प स्वप्न दर्शन आदि की स्थिति में कान्ता के प्रतिबिम्ब का दर्शन होता है ॥ ६४ ॥

इसलिए = परासंविद् की अपेक्षा विच्छेद के असम्भव होने से । कुछ संकुचित प्रमाता रूप सुस्पष्ट निर्विकल्पकरूप ज्ञान नामक (कोई) आन्तरिक (वस्तु) परसंविद् और प्रमेय का मध्यवर्ती है जहाँ इस प्रतिबिम्ब का विच्छेद = भेद के साथ सङ्कल्प

स्वरसोदित: परावाग्रूप इति सर्वैरुद्घोष्यते—इत्याह'—

अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः ।
तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्तु ह्यनुत्तराम् ॥ ६६ ॥

अनुत्तरामिति—निरतिशयस्वातन्त्र्यैश्वयचमत्कारमयीम—इत्यर्थ: । अत एव अनुत्तराद्यनन्तशक्तिव्रातोल्लेखशालिनीं प्रतिभाम्—इत्यर्थ: । अनेन परमर्शोदयक्रम-स्याप्यवकाशो दत्त: ॥ ६६ ॥

इह हि विश्वस्य वाच्यवाचकात्मना द्विधा अवभास:, तत्र 'प्रकाश एव प्राधान्येन वाच्यात्मविश्वरूपत्वेन परिस्फुरति' इति विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वोट्टङ्कनेनोक्तम् । 'विमर्शोऽपि तत्तदनुत्तराननन्दाद्यामर्शात्मनोदेति' इति परामर्शोदयक्रममप्याह—

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी ।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥ ६७ ॥

इह खलु पूर्ण: शिवशक्त्यादिप्रतिनियतव्यपदेशासहिष्णु: अनाख्य: पर-परामर्शात्मा अनुत्तर: प्रकाश एव परं तत्त्वम् । स एव च स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमव-बिभासयिषु: प्रथमं शिवशक्तिरूपतां स्वात्मन्यवभासयति, यदाहु:—

यह आमर्श साङ्केतिक नहीं है बल्कि चित्स्वभावता के बिना न होने वाला, अपने स्वभाव से उत्पन्न परावाक् रूप है—ऐसी सब लोग घोषणा करते हैं—यह कहते हैं—

इस प्रभु की विश्वात्मकता के प्रति जो अनन्यापेक्षिता है उसी को (विद्वान् लोग) अनुत्तर पर प्रतिभा देवी कहते हैं ॥ ६६ ॥

अनुत्तरा = निरतिशय स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य के कारण चमत्कार युक्त । इसलिए अनुत्तर आदि अनन्तशक्तिसमूह का उल्लेख करने वाली प्रतिभा । इससे परामर्श के उदयक्रम को भी अवकाश दिया गया ॥ ६६ ॥

विश्व का वाच्य एवं वाचक के रूप में दो प्रकार से अवभास होता है । उसमें प्रकाश ही प्रधानरूप से वाच्यात्मक विश्व के रूप में स्फुरित होता है, ऐसा—विश्वचित्प्रतिबिम्बत्व के उल्लेख से कहा गया । विमर्श भी भिन्न-भिन्न अनुत्तर आनन्द आदि परामर्शरूप में उदित होता है, इसलिए परामर्श के उदय का क्रम भी बतलाते हैं—

इस अकुल देव की जो कुल का विस्तार करने वाली कौलिकी है वह पराशक्ति है जिससे कि परमेश्वर सदा संयुक्त रहते हैं ॥ ६७ ॥

यहाँ पूर्ण शिवशक्ति आदि निश्चित व्यवहार का असहिष्णु, अनाख्य, परपरामर्शात्मा अनुत्तर प्रकाश ही परम तत्त्व है । और वही अपने स्वातन्त्र्य से विश्व को अवभासित करने की इच्छा वाला पहले शिवशक्तिरूपता को अपने अन्दर

प्रतिबिम्बस्य, विच्छिदा = भेदेन, सङ्कल्पस्वप्नादौ भानं भवेत्—विरहिणो हि सङ्कल्पादावपि बिम्बाभावात्तीव्रतरस्मरणादिनिमित्तान्तरसंनिधापितमेव कान्ताप्रतिबिम्बं भायात्—इति भावः ॥ ६४ ॥

एवं बहिः स्मृत्यादौ यथा बिम्बाभावेऽपि निमित्तान्तेरण प्रतिबिम्बं भवेत्तथा इहापि—इत्याह—

अतो निमित्तं देवस्य शक्तयः सन्तु तादृशे ।

अतः—उक्तात् निमित्तकारणमात्रसव्यपेक्षत्वलक्षणाद्धेतोः । देवस्य = द्योतनात्मनश्चित्तत्त्वस्य, तादृशे = विश्वप्रतिबिम्बने, ज्ञानक्रियाद्याः शक्तयो निमित्तं भवन्तु, एवं न कश्चिद्दोषः संभाव्यते = इत्यर्थः । शक्तश्च—

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तंच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्था एव, इति निजैश्वर्यमात्रादेव अस्य स्वात्मनि विश्वाकारधारित्वम्—इति पिण्डार्थः । यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञाकृता—

'तत्र त्वर्पकादुपाधेस्तदाकारत्वं,
चित्तत्त्वस्य तु निजैश्वर्यात् ।' इति ॥

स्वप्न आदि में भान होता है । बिरही व्यक्ति को सङ्कल्प आदि में भी बिम्ब के अभाव के कारण तीव्रतर स्मरण आदि दूसरे कारणों से सन्निधापित ही कान्ता का प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है ॥ ६४ ॥

इस प्रकार जैसे स्मृति आदि में बाह्य बिम्ब न होने पर भी किसी दूसरे कारणवश प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार यहाँ—यह कहते हैं—

इसलिए इस प्रकार के स्थलों में परमेश्वर की शक्तियाँ ही निमित्त हैं ॥ ६५- ॥

अतः = उक्त निमित्त का कारण मात्र सापेक्षत्व लक्षण के कारण । देव का = द्योतनात्मा चित् तत्व का । उस प्रकार के = विश्वप्रतिबिम्बन में, ज्ञान क्रिया आदि शक्तियाँ निमित्त होती है । इस प्रकार किसी दोष की संभावना नहीं होती । और शक्तियाँ—

'इसकी बहुशक्तिता भी उस शक्ति से अवियुक्त होती है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति से स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रअन्तिम तत्त्व वाली है । इसलिए अपने ऐश्वर्यमात्र से ही यह अपने में विश्व के आकार को धारण करने वाली है—यह पिण्डार्थ है । जैसा कि प्रत्यभिज्ञाकार ने कहा है—

'वहाँ अर्पक उपाधि के कारण तदाकारता होती है, चित् तत्त्व की तो अपने ऐश्वर्य से ।'

अनुप्रत्यभिज्ञानकृताप्यनेनैवाभिप्रायेण

नाथ त्वया विना बिम्बं स्वच्छे स्वात्मनि दर्शितम् ।
प्रसेना (प्रभेवा) दर्पणेनैव प्रभावाद् भावमण्डलम् ।। इत्याद्युक्तम् ।

तदेवं विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वमेवोपसंहरति—

इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे ।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः ॥ ६५ ॥

अन्येति—अन्यमुखप्रेक्षित्वे ह्यस्य स्वातन्त्र्यं खण्ड्येत—इति भावः । स्वातन्त्र्यं हि विमर्श इत्युच्यते, स चास्य मुख्यः स्वभावः । नहि निर्विमर्शः प्रकाशः संभवत्युपपद्यते वा, अयमेव ह्यस्य विश्वाकारधारित्वे जडेभ्यो विशेषो यत्सर्वमामृशतीति । यदुक्तमनेनैव अन्यत्र—

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ।।'

स चायमामर्शो न साङ्केतिकः अपि तु 'चित्स्वभावतामात्रनान्तरीयकः

अनुप्रत्यभिज्ञाकार ने भी इसी अभिप्राय से—

'हे नाथ ! जैसे बिना दर्पण के प्रभा उसी प्रकार आपने बिना बिम्ब के स्वच्छ आत्मा में भावमण्डल को अपने प्रभाव से उस प्रकार दिखलाया है ।'

इत्यादि कहा है ।

तो इस प्रकार विश्व की चित्प्रतिबिम्बता का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह संसार स्वच्छ विश्वनाथ के भैरवीय चिदाकाश में प्रतिबिम्बित है न कि किसी दूसरे के कृपा प्रसाद से (यह उल्लासित है) ।। -६५ ।।

अन्य—अन्य का मुखापेक्षी होने पर इसका स्वातन्त्र्य खण्डित हो जाता—यह भाव है । स्वातन्त्र्य ही विमर्श कहलाता है और वह इसका मुख्य स्वभाव है। विमर्श को छोड़कर प्रकाश न सम्भव है न सिद्ध होता है । विश्वाकारधारी होने पर जड़ों से इसका यही अन्तर है कि यह सबका आमर्शन करता है । जैसा कि इन्होंने ही अन्यत्र कहा है—

'इस आत्मा के भीतर समस्त जगत् (उसी प्रकार) भासित होता है, जैसे दर्पण के भीतर विचित्र रचना (भासित होती है) । बोध अपने विमर्शतत्त्व की शक्ति से विश्व का परामर्शन करता है लेकिन दर्पण वैसा नहीं करता ।। ६५ ।।

'नौम्यनुत्तरनाथस्य रश्मिचक्रमहं सदा ।
शिवशक्तीति विख्यातं परापरफलप्रदम् ॥' इति ।

अनेनैव चाभिप्रायेण

'रुद्रश्च रुद्रशक्तिश्च अमनस्के लयं गतौ ।' इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ।

ततश्च

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ॥'

इत्यादिलक्षितात्पूर्णपरसंवित्तत्त्वलक्षणात् कुलात् यदन्यदवभासितं शिवलक्षण-मकुलं तस्य प्रकाशैकरूपत्वेन द्योतमानस्य सा परा विश्वापूरणस्वभावा, अत एव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं......................।'

इत्याद्युक्त्या कुलस्य शाक्तप्रसरात्मनो जगतो यत् प्रथनं तेन शालते तच्छीला अत एव कुले भवम् अकुलात्म कौलं तद्यस्यामन्तस्तादात्म्येन अस्तीति 'कौलिकी शक्तिः' यया समनन्तरोक्तरूपः प्रभुरवियुक्तः—तदव्यविभचरितस्वभावः —इत्यर्थः । एवं चाकारलक्षणं कुलम् शरीरमस्य—इत्याद्यवर्णोऽप्यभिहितः ।

अवभासित करता है । जैसा कि कहते हैं—

'मैं अनुत्तरनाथ के रश्मिचक्र को सदा प्रणाम करता हूँ (जो कि) शिवशक्ति (के नाम से) विख्यात और परस्पर फल को देने वाला है ।'

और इसी अभिप्राय से—

'रुद्र और रुद्रशक्ति अमनस्क में लय को प्राप्त हो गये ।' इत्यादि अन्यत्र कहा गया । इसके बाद

'जिसमें यह विचित्र विश्व उदित होता है और जिसमें लीन होता है, हे सर्वज्ञ ! शिवशक्ति से रहित उसको कुल जानो ।'

इत्यादि के द्वारा लक्षित पूर्ण एवं पर संवित्तत्त्व कारण लक्षणवाले कुल से जो अन्य शिवलक्षण अकुल भासित होता है, केवल प्रकाश के रूप में द्योतमान उसकी वह परा विश्व के आपूरण के स्वभाव वाली, अतएव

इसकी शक्तियाँ समस्त संसार है '...

इत्यादि उक्ति के द्वारा कुल का = शाक्तप्रसरस्वरूप जगत् का, जो विस्तार उससे शोभायमान स्वभाव वाली, इसलिए कुल में होने वाला अकुलरूप कौल वह जिसमें अन्तः तादात्म्य के रूप में स्थित है वह कौलिकी शक्ति, जिससे पीछे कहे गये रूप वाले प्रभु, युक्त हैं अर्थात् उससे अन्यव्यभिचरित स्वभाव वाले हैं—तथा अकार लक्षण वाला कुल = शरीर है जिसका इस प्रकार आद्यवर्ण भी कहा गया ।

सोऽपि हि देवः =

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवि प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपादनाहतात् स्थानकरणाभिघातोत्थाच्च हतात् शब्दात् उत्तीर्णत्वेन परपरामर्शशालिसिततरप्रकाशात्मतया सर्वदैव द्योतमानः । तदुक्तम्—

'अनाहतहतोत्तीर्णो महाविषमचिद्गतिः ।
वीरहृद्धट्टनोद्युक्तो रावो देव्या विजृम्भते ॥' इति ।

तस्य च परैव सा शक्तिः कुलस्य = शरीरस्य यत् प्रथनं तेन श्लाघमाना, तच्छरीरारम्भिका—इत्यर्थः । अत एव 'कौलिकी' इत्युक्तम्, तथाहि—परैव सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्तिः शिवेन सह परस्परसामरस्यरूपमथ्यमन्थकभावात्मकं सङ्घट्टमासाद्य उत्थिता सती इच्छाज्ञानक्रियारूपतामाश्रित्य रौद्रीत्वमुन्मुद्रयन्ती शृङ्गाटकाकारतामम्बिकात्वमवलम्बमाना उकारात्मकशशाङ्कशकलाकारतां ज्येष्ठात्वमधितिष्ठन्ती च शशिबिन्दूदितकालाग्निरूपरेफात्मकबिन्दुविश्रान्तस्पष्टरेखाकारतामाभासयति—इत्याद्यवर्णशरीरमुल्लासयतीति । तदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे—

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता ।'

वह भी देव,

'हे देवि ! इसका न तो कोई उच्चारण करने वाला और न प्रतिहन्ता है । प्राणियों के हृदय में स्थित यह स्वयं उच्चारित होता है ।'

इत्यादि उक्त रूप वाले अनाहत से तथा स्थान करण के अभिघात से उठे हुए आहत शब्द से उत्तीर्ण होने के कारण, परपरामर्शशाली शुभ्रतर प्रकाशरूप होने के कारण सर्वदा द्योतमान् है । वही कहा गया है—

'अनाहत और आहत से परे, महाविषम चिद्गतिवाला वीरों के हृदय में होने वाले सङ्घट्ट से युक्त, देवी का शब्द उठ रहा है ।'

उसकी परा ही वह शक्ति कुल = शरीर का जो विस्तार उससे श्लाघमान अर्थात् उस शरीर का आरम्भ करने वाली, इसीलिए कौलिकी है—ऐसा कहा गया। वह इस प्रकार—परा ही सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ परस्पर सामरस्य रूप मथ्यमन्थक भाव स्वरूप सङ्घट्ट को प्राप्त कर के उठने वाली इच्छा ज्ञान क्रिया के रूप को प्राप्त कर रौद्रीत्व का उद्घाटन करती हुई शृङ्गाटक के स्वरूप अम्बिकात्व को आधार मानकर उकारात्मक = चन्द्रमा के टुकड़े के आकार को और ज्येष्ठात्व पर अधिकार कर रहने वाली (वह) चन्द्र बिन्दु उदित कालाग्नि रूप रेफात्मक बिन्दु में विश्रान्त स्पष्ट रेखा के आकार को आभासित करती है—आद्यवर्णरूपी शरीर को उल्लासित करती है । वही तन्त्रसद्भाव में कहा गया है—

'जो वह शक्ति सूक्ष्म और गतिहीन कही गई है'

इत्याद्युपक्रम्य

'उत्थिता तु यदा तेन कला सूक्ष्मा तु कुण्डली ।
चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेरूदरगः प्रभुः ॥
मध्यमन्थनयोगेन ऋजुत्वं जायते प्रिये ।
ज्येष्ठा शक्तिः स्मृता सा तु बिन्दुद्वयसुमध्यगा ॥
बिन्दुना क्षोभमायाता रेखेवामृतकुण्डली ।
रेखिनी नाम सा ज्ञेया उभौ बिन्दू यदन्तगौ ॥
त्रिपथा सा समाख्याता रौद्री नाम्ना तु गीयते ।
रोधिनी सा समुद्दिष्टा मोक्षमार्गनिरोधनात् ॥
शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्धचन्द्रिका ।
एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ॥' इति ।

श्रीवामकेश्वरीमतेऽपि

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जातेह सा प्रिये ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'कवलीकृतनिःशेषबीजाङ्कुरतया स्थिता ।
वामा शिखा ततो ज्येष्ठा शृङ्गाटाकारतां गता ॥
रौद्री तु परमेशानि जगद् ग्रासनरूपिणी ।

इत्यादि से शुरू करके—

'हे प्रिये ! जब उससे सूक्ष्म कला कुण्डली उठती है, चतुष्कलात्मक एवं शक्ति के उदर में वर्त्तमान प्रभवनशील बिन्दु मध्यगन्धक सम्बन्ध के द्वारा ऋजु हो जाता है । दो बिन्दुओं के मध्य स्थित वह ज्येष्ठा शक्ति कही गई है । वह अमृत कुण्डली बिन्दु के द्वारा रेखा के समान क्षोभ को प्राप्त होती है । वह रेखिनी नाम से जानी जाती है जिसके अन्त में दोनों बिन्दु हैं । उसे त्रिपथा भी कहा गया है और रौद्री नाम से भी वह कही जाती है । मोक्षमार्ग का निरोध करने के कारण वह रोधिनी कही गई है । चन्द्रमा की अंशकला के आकारवाली (वह) अम्बिका और अर्धचन्द्रिका (कही जाती है) । इस प्रकार एक ही पराशक्ति तीन प्रकार से उत्पन्न होती हैं ।'

वामकेश्वरी मत (नामक ग्रन्थ) में भी—

'हे प्रिये ! आद्या परमाशक्ति त्रिपुरा (रूप में) इस लोक में उत्पन्न हुई ।'

इत्यादि प्रारम्भ कर—

'समस्त बीजांकुर का भक्षण कर स्थित (शक्ति) वामा शिखा (के नाम से प्रसिद्ध हुई) । उसके बाद ज्येष्ठा शृङ्गाटक के आकार को प्राप्त हुई । हे

त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये ॥
त्रैलोक्यं संसृजत्यस्मत् त्रिपुरा परिकार्तिता ।' इति ।

अनेनैव चाभिप्रायेण अन्यत्रापि अस्य सृष्टिस्थितिसंहारात्मकं धामत्रयमयत्वं चोक्तम् । तदुक्तम्—

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता सृष्टिः परमानन्ददायिनी ।
पीयूषवृष्टिं वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला ॥
अधः संहारकृज्ज्ञेया महानग्निः कृतान्तकः ।
घोरो ज्वालावलीयुक्तो दुर्धर्षो ज्योतिषां निधिः ॥
तयोर्मध्ये परं तेज उभयानन्दसुन्दरम् ।
अवतारः स विज्ञेय उभाभ्यां व्यापकः शिवः ॥
परस्परसमाविष्टौ चन्द्रेऽग्निष्टीटिभे शशी ।
चन्द्रं सृष्टिं विजानीयादभिः संहार उच्यते ॥
अवतारो रविः प्रोक्तो मध्यस्थः परमेश्वरः ।' इति ।

तथा,

'कालाभिरूद्रात्प्रसृतं च तेजो
भूरि स्फुटं दीप्ततरं विचिन्त्यम् ।

परमेशानि ! संसार का ग्रसन करने वाली वह रौद्री (नाम से प्रसिद्ध) है । इस प्रकार वह एक ही परमाशक्ति परमेश्वरी तीन पुरों वाली तीन प्रकार से ब्रह्मा विष्णु और शिवरूपिणी है । हे प्रिये ! (वही) ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति रूपा है । चूँकि यह तीनों लोकों का सृजन करती है इसलिए त्रिपुरा कही गई है ।' और इसी अभिप्राय से अन्यत्र भी इसको सृष्टि स्थिति संहार रूप तीन धाम वाली कहा गया है । वही कहा है—

'ऊपर परमानन्ददायिनी सृष्टि स्थित है । (वह) अमृत की वर्षा करती हुई परम बैन्दवी कला है । नीचे संहारकारी, यमराज (के समान) घोर, ज्वाला की पंक्ति से युक्त, प्रकाश की निधि महान् अग्नि है । उन दोनों के बीच में उभयानन्द सुन्दर परमतेज है । उसे दोनों की अपेक्षा व्यापक शिव अवतार जानना चाहिये । चन्द्र में अग्नि और टिटिभ (= अग्नि) में चन्द्रमा (ये) परस्पर समाविष्ट है । चन्द्रमा को सृष्टि समझना चाहिये और अग्नि को संहार कहा जाता है । सूर्य को मध्यस्थ परमेश्वर अवतार कहा गया है ।'

तथा

'कालाग्नि से निकले हुए तेज को अति स्फुट और दीप्ततर समझना चाहिये । हे देवि ! (जब) ऊपर शान्त, आनन्दरस से परिपूर्ण अमृता चन्द्रकला स्थित है ।

ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रकला च शान्ता
पूर्णामृतानन्दरसेन देवि ॥
तदोभयोर्वह्निविषानुयोगा-
त्तेजःशशाङ्कौ द्रवितौ च यस्मात् ।
तेजःशशाङ्कस्फुटमिश्रितत्वा-
द्भवेत्तदार्कं त्ववताररूपम् ॥
एतच्च विद्वान्विदितार्थभावो
ध्यायेत युक्त्यात्मचिदर्करूपम् ॥' इति ।

तथा,

'ततोऽस्वरोऽर्कसोमाभिकलाबीजप्रसूतिभाक् ।
उदेत्येकः समालोकः प्रमाणार्थप्रमातृदः ॥' इति ।

इह च तिस्र एव परमेश्वरस्य मुख्याः शक्तयः संभवन्ति इत्यस्य प्राधान्येन तद्रूपत्वमेवोक्तम्, अन्यत्र पुनः

तब दोनों के अग्नि और विष के योग से चूँकि तेज और चन्द्रमा द्रवित होते हैं (इसलिए) तेज (= सूर्य) और चन्द्रमा के स्पष्ट रूप से मिश्रित होने से तब सूर्य अवतार रूप हो जाता है । उससे उत्पत्ति और विनाश होते हैं । जिससे यह विश्व का समग्र भेद है । इसको जानने वाला अर्थ के रहस्य को जानकर युक्ति के द्वारा सूर्यरूप आत्मा, चिदात्मा का ध्यान कर युक्ति के द्वारा आत्मचित्र रूपी सूर्य को युक्ति के साथ ध्यान करें ।'

तथा—

'कालाग्निरुद्र से निकले हुए अत्यन्त स्फुट और दीप्ततर तेज का चिन्तन करना चाहिये । हे देवि ! (उसके) ऊपर आनन्द रस से पूर्ण अमृता शान्त-चन्द्रकला स्थित है । तब जिस कारण दोनों के वह्नि एवं विष के अनुयोग से सूर्य और चन्द्रमा द्रवित होते हैं (इसलिए) तब सूर्य और चन्द्रमा के स्पष्ट मिश्रण के कारण सूर्य अवताररूप होता है । उससे सृष्टि एवं प्रलय होते हैं जिससे यह विश्व का सम्पूर्ण भेद होता हैं । इसको जानने वाला अर्थ के रहस्य का ज्ञानी युक्ति के साथ सूर्यरूप आत्मचैतन्य का ध्यान करे ।'

तथा—

'उसके बाद स्वर-हीन, सूर्य सोम अग्नि कला बीज को उत्पन्न करने वाला प्रमाण प्रमेय और प्रमाता को देने वाला एक आलोक प्रकट होता है ।'

यहाँ परमेश्वर की तीन ही मुख्य शक्तियाँ सम्भव हैं इसलिए इसका (प्रकाश का) प्रधानतया वही रूप कहा गया है । और अन्यत्र—

'अकारस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता ।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधं स्मृता ॥'

इत्याद्युक्त्या अभिप्रायान्तरेण अस्य चतूरूपत्वमप्युक्तम् । तदेवमेवंविधा परैव कुण्डलिनी शक्तिरस्य स्वरूपादनतिरिक्ता—इत्युक्तम्—'अवियुक्तो यया प्रभुः' इति । तदुक्तम्—

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतौ युगपत्स्थितौ ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ॥' इति ।

एवमविभागेऽप्यनयोरेकैकप्राधान्येन स्वरूपमात्रविश्रान्तेरेकवीरत्वं चिच्छक्तिरूपत्वं च ॥ ६७ ॥

यदा पुनः

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।
यामलं प्रसरं सर्व................................. ॥'

इत्यादि महागुरूदितनीत्या अनयोः परस्परौन्मुख्यात्मकं यामलं रूपं स्यात्, तदा विश्वसर्गः—इत्याह—

तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥ ६८ ॥

'रौद्री अकार का शिर है । वामा मुख कही गई है । अम्बिका बाहु (के रूप में) उक्त है और ज्येष्ठा आयुध मानी गई है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा दूसरी दृष्टि से इसके चार रूप कहे गये हैं । तो इस प्रकार की परा ही कुण्डलिनी शक्ति इसके स्वरूप से अभिन्न है । इसलिए कहा गया—जिससे परमेश्वर संयुक्त रहते हैं । वही कहा गया है—

'अकार और हकार ये दोनों एक साथ स्थित हैं । वायु और आकाश की भाँति इनमें विभाग नहीं है ।'

इस प्रकार विभाग न होने पर भी इन दोनों की, एक-एक की प्रधानता के कारण स्वरूपमात्र में विश्रान्ति होने से एकवीरता और चित्शक्तिरूपता है ॥ ६७ ॥

और जब—

'न शिव शक्ति से रहित है और न शक्ति शिवविहीन है । (यह) सब उसका यामल विस्तार है...'

इत्यादि महागुरु के द्वारा कथित नीति से इन दोनों का परस्पर औन्मुख्यात्मक यामलरूप होता है तब विश्व की सृष्टि होती है—यह कहते हैं—

उन दोनों का जो यामल रूप है वह सङ्घट्ट कहा गया है । वही

तयोरिति—अकुलकौलिकीशब्दव्यपदेश्ययोः शिवशक्त्योः, सङ्घट्ट इति—सम्यक् घट्टनं चलनं स्पन्दरूपता स्वात्मोच्छलत्ता—इत्यर्थः । अतश्च प्रकाश-विमर्शात्मनोरनुत्तरयोरेव सङ्घट्टादानन्दशक्त्यात्मनो द्वितीयवर्णस्य उदयो यतः इच्छाद्यात्मनो विश्वस्य सर्गः। चर्याक्रमेऽपि स्त्रीपुंसयोः सङ्घट्ट एवानन्दोदयाद्विसर्गः । इह शिवस्य शक्तेश्च विश्वोत्तीर्णत्वेन विश्वमयत्वेन च विच्छिन्नं रूपम्, इदं पुनः विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णम्, इति नियतावच्छेदाभावात् पूर्णं रूपम् ॥ ६८ ॥

अत एव सर्वशास्त्रेषु परमोपेयत्वेनोद्घोष्यते—इत्याह—

परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते ।
तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ॥ ६९ ॥
देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी ।
महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा ॥ ७० ॥
श्रीपूर्वशास्त्रे सा मातृसद्भावत्वेन वर्णिता ।

परात् = विश्वोत्तीर्णात् शैवात् रूपात्, अपरात् = विश्वमयात् शाक्ताद्रूपात्, परम् = पूर्णं, सारमिति—श्रीसारभट्टारकाद्युक्तम् । हृदयमिति—श्रीहृदयनय-

---

आनन्दशक्ति कही गई है जहाँ से विश्व की सृष्टि होती है ॥ ६८ ॥

उन दोनों का = अकुल और कौलिकी शब्द से व्यवहृत होने वाले शिव और शक्ति का । सङ्घट्ट = सम्यक् घट्टन = चलन = स्पन्दरूपता अर्थात् अपनी उच्छलत्ता । इसलिए प्रकाशविमर्श रूप अनुत्तरों के ही सङ्घट्ट से आनन्दशक्ति रूप द्वितीय वर्ण का उदय होता है । जहाँ से इच्छा आदि रूप वाले विश्व की सृष्टि होती है । व्यवहार जगत् में भी स्त्री पुरुष का सङ्घट्ट होने पर ही आनन्द का उदय होने से सृष्टि होती है । यहाँ शिव और शक्ति का विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता की दृष्टि से अलग-अलग रूप है और यह विश्वमय होने पर भी विश्वोत्तीर्ण है । इस प्रकार निश्चित अवच्छेद न होने से पूर्ण रूप है ॥ ६८ ॥

इसीलिए सब शास्त्रों में (यह) परम उपेय के रूप में उद्घोषित किया जाता है—यह कहते हैं—

वह यह देवी पर और अपर से पर तत्त्व कही जाती है । वही सार, वही हृदय वही विसर्ग और पर प्रभु है । देवीयामल शास्त्र के महाडामर याग प्रकरण में वह कालकर्षिणी कही गयी है । मस्तक में श्रीपरा और श्रीपूर्वशास्त्र (= मालिनीविजयतन्त्र) में मातृद्भाव रूप में वर्णित है ॥ ६९-७१- ॥

पर से = विश्वोत्तीर्ण शैवरूप से । अपर से = विश्वमयशाक्तरूप से । पर = पूर्ण । सार = सार भट्टारक आदि में कथित । हृदय = हृदयनयरहस्य । पर—

रहस्यम्। पर इति—परापरस्य अपरस्य च विसर्गस्य वक्ष्यमाणत्वात्। महा-डामरके यागे इति देवीयामलशास्त्रसामानाधिकरण्येन योज्यम्, तेन तत्प्रतिपादके प्राथमिके ग्रन्थैकदेशे इत्यर्थः। तदुक्तं तत्र—

'तन्मध्ये तु परा देवी दक्षिणे च परापरा।
अपरा वामशृङ्गे तु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः शृणु॥
या सा सङ्कर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता।' इति।

मातृसद्भावत्वेनेति—यदुक्तं तत्र—

'सद्भावः परमो ह्येष मातृणां परिपठ्यते।' इति॥ ६९-७०॥

एवं चिदानन्दशक्ती अभिधाय इच्छाशक्तिमाह—

सङ्घट्टेऽस्मिंश्चिदात्मत्वाद्यत्तत्प्रत्यवमर्शनम् ॥ ७१॥
इच्छाशक्तिरघोराणां शक्तीनां सा पराप्रभुः।

अस्मिन् समनन्तरोक्तरूपे सङ्घट्टे

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्.......................।'

इत्याद्युक्त्या चितः प्राधान्यात् योऽयं परस्य प्रमातुः सिसृक्षात्मा परामर्श उदेति सेयमिच्छाख्या शक्तिः। या खलु—

क्योंकि परापर और अपर विसर्ग आगे कहा जायगा। महाडामरकयाग में—इसे देवीयामल शास्त्र के सामानाधिकरण्य से जोड़ना चाहिये। इससे उसका प्रतिपादन करने वाले प्राथमिक ग्रन्थ के एक भाग में—यह अर्थ है। वही वहाँ कहा गया है—

'उसके मध्य में परा देवी, दक्षिण में परापरा और वामशृङ्ग में अपरा है। मध्य शृङ्ग और ऊपर में सुनो। जो वह परातीत सङ्कर्षणी देवी है (वहाँ) स्थित है।'

मातृसद्भाव के रूप में—जैसा कि वहाँ कहा गया—

'यह माताओं का परम सद्भाव कहा जाता है'॥ ६९-७०॥

इस प्रकार चित् आनन्द शक्तियों का कथन कर इच्छा शक्ति को कहते हैं—

इस सङ्घट्ट में चैतन्य होने के कारण जो वह प्रत्यवमर्शन होता है वही इच्छा शक्ति है। और वह अघोर शक्तियों का परमप्रभु है॥ -७१, ७२-॥

इस पूर्वकथित रूप वाले सङ्घट्ट में—

'आनन्द ब्रह्म का रूप है'—

इत्यादि उक्ति के द्वारा चित् शक्ति की प्रधानता के कारण जो यह पर प्रमाता का सिसृक्षात्मक परामर्श उदित होता है वह यह इच्छा नाम शक्ति है, जो—

'पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥'

इत्याद्युक्तानामघोराणां शुद्धस्वातन्त्र्यमात्ररूपत्वादविद्यमानभेदाद्यात्मकघोररूपाणां शक्तीनां प्रभुः = प्रभवनिमित्तं—गर्भीकृतानन्तशक्तिव्राता इति यावत् अत एव परा = सर्वोत्कर्षयोगिनी तदाख्या च—इत्यर्थः । प्रकृतेऽपि अनेन तृतीयवर्णोदय उक्तः । सा च इच्छाशक्तिः

'यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ।
विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने ॥
भवत्युन्मुखिताचिन्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः।'

इत्याद्युक्ताद्यस्पन्दात्मिका बहिरौन्मुख्यमात्ररूपिणी स्रष्टव्यानारूषितेच्छामात्ररूपा वा स्यात् तत्तदीषणीयविषयारूषणया प्रक्षोभात्मप्रयत्नरूपतां श्रयन्ती बहीरूपतया ऐश्वर्यं भजमाना वा इत्यस्या द्वैधम् ।

तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा ।
काचित्पुनः प्रयत्नतामापन्ना संनिकृष्टा ॥' इति ॥ ७१ ॥

'पहले की भाँति जीवसमूह के लिये शिवधामरूप फल को देने वाली अघोर शिवशक्तियाँ उसको जानने वालों के द्वारा परा कही गई हैं ।'

इत्यादि उक्त अघोर (शक्तियों) के शुद्ध स्वातन्त्र्यमात्ररूप होने से अविद्यमान भेदात्मक घोररूपा शक्तियों का, प्रभु = उत्पत्ति का कारण अर्थात् अनन्त शक्तिसमूह को अपने गर्भ में रखने वाली, इसीलिए परा = सर्वोत्कर्ष से युक्त और उस नामवाली । प्रस्तुत में भी इससे तृतीय वर्ण (=इ) का उदय कहा गया । और वह इच्छा शक्ति

'जब चिद् धर्म के विभव के आमोद की जृम्भा के कारण विचित्र रचनात्मक अनेक कार्य की सृष्टि के करने में उसकी चिन्ता उन्मुखित होती है (तब) वह इच्छा की प्रथम तुटि होती है ।'

इत्यादि उक्त प्रथम स्पन्दात्मक केवल बाह्य औन्मुख्यरूपिणी अथवा स्रष्टव्य से अनारूषित (= अकल्पित, अस्पृष्ट) इच्छामात्ररूपा होती है, अथवा भिन्न-भिन्न ईषणीय विषय की आरूषणा से प्रक्षोभात्मक प्रयत्नरूपता को प्राप्त करती हुई बाह्य रूप में ऐश्वर्य को प्राप्त होने वाली है । इस तरह यह दो प्रकार की है ।

वही ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

'वह (१) केवल **इच्छामात्ररूप वाली स्रष्टव्य से** दूर, (२) कोई प्रयत्नता को प्राप्त **सन्निकृष्ट होती है'** ॥ ७१ ॥

तत्र प्राच्याया: स्वरूपं निरूपितं द्वितीयस्या निरूपयितुमाह—

सैव प्रक्षुब्धरूपा चेदीशित्री सम्प्रजायते ॥ ७२ ॥
तदा घोरा: परा देव्यो जाता:शैवाध्वदैशिका: ॥

तदा = प्रक्षुब्धरूपत्वेनेच्छाशक्तेरैश्वर्ये सतिं परा = अघोरा देव्यो जाता: = बहीरूपतया प्रस्फुरिता:—इत्यर्थ: । एतदेव हि अस्या ऐश्वर्यं यत्तत्तदनन्त-शक्तिरूपतया बहिरवभासनमिति । ताश्च तथा भेदस्य स्फुटत्वाभावात् स्वस्वरूपा-वभासनव्यापारशालिन्य एव । इत्याह—'शैवाध्वदैशिका' इति । अत एव न घोरादिशक्तिवन्मुक्तिमार्गनिरोधिन्य:—इति भाव: । प्रकृतेऽपि अनेन चतुर्थवर्णोदय उक्त: ॥ ७२ ॥

एवमिच्छाशक्तिं द्विप्रकारामभिधाय ज्ञानशक्तिमप्याह—

स्वात्मप्रत्यवमर्शो य: प्रागभूदेकवीरक: ॥ ७३ ॥
ज्ञातव्यविश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्तितया स्थित:।

इह खलु प्राक् प्रक्षुब्धत्वरूपत्वात्पूर्वं व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् स्वात्ममात्र-निष्ठ:, अत एव 'एकवीरको' य: परामर्श: आसीत्, स एव ज्ञानशक्तित्वेन

उसमें पहली (विधा) के स्वरूप को बतलाया गया । दूसरी के (स्वरूप का) निरूपण करने के लिये कहते हैं—

वही यदि प्रक्षुब्धरूपा होती है तो ईश्वर हो जाती है । तब घोर परा देवियाँ शैवमार्ग की दर्शिका बन जाती है ॥ -७२, ७३- ॥

तब = प्रक्षुब्धरूप होने के कारण इच्छा शक्ति का ऐश्वर्य होने पर, परा = अघोरा देवियाँ, उत्पन्न हुईं = बाह्य रूप से स्फुरित हुईं । यही इसका ऐश्वर्य है कि यह भिन्न-भिन्न अनन्त शक्ति के रूप में बाहर अवभासित होती है । और वे उस प्रकार के भेद के स्फुट न होने से अपने स्वरूप के अवभासन के व्यापार वाली हैं—यह कहते हैं—शैवाध्वदैशिका । इसीलिए घोरा आदि शक्तियों के समान ये मुक्तिमार्ग की रोधिनी नहीं हैं—यह भाव है । प्रस्तुत में भी इसके द्वारा चतुर्थ वर्ण का उदय कहा गया ॥ ७२ ॥

इस तरह दो प्रकार की इच्छाशक्ति का कथन कर ज्ञानशक्ति को भी कहते हैं—

पहले जो एकवीर नामक स्वात्मप्रत्यवमर्श हुआ था अब वह ज्ञातव्य विश्व का उन्मेषस्वरूप ज्ञानशक्ति के रूप में स्थित हो गया ॥-७३, ७४-॥

पहले = प्रक्षुब्धरूप होने से पहले, भिन्न विमृश्य के अभाव से स्वात्ममात्र में स्थित, इसलिए एकवीर वाला जो परामर्श था वही ज्ञानशक्ति के रूप में = अन्तर्विजिज्ञास्य के रूप में वाञ्छित विश्व का जो यह उन्मेष = प्रथम परिस्पन्द

अन्तर्विजिज्ञास्यतया इष्टस्य विश्वस्य योऽसौ उन्मेषः = आद्यः परिस्पन्दः, तद्रूपः सन् अवस्थितः इति पञ्चमबीजनिर्णय इति ॥ ७३ ॥

एतदेव स्वदर्शनभङ्ग्या योजयति—

इयं परापरा देवी घोरां या मातृमण्डलीम् ॥ ७४ ॥
सृजत्यविरतं शुद्धाशुद्धमार्गैकदीपिकाम् ।

घोरामिति । यदुक्तम्—

'मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥' इति ।

शुद्धाशुद्धेति—न पुनर्घोरतर्यादिवदधोऽधःपातिनीम्—इति भावः ॥ ७४ ॥

इहेच्छाशक्तिवत् ज्ञानशक्तेरपि ज्ञेयाधिक्यानाधिक्याभ्यां द्वैधम् । तत्र यज्ज्ञेयस्यानाधिक्ये स्वरूपं तत् निर्णीतम् । आधिक्ये पुनः स्वरूपं निरूपयति—

ज्ञेयांशः प्रोन्मिषन्क्षोभं यदैति बलवत्त्वतः ॥ ७५ ॥
ऊनताभासनं संविन्मात्रत्वे जायते तदा ।

ज्ञानापेक्षया ज्ञेयरूपोंऽश उद्रिक्तत्वात् प्रस्फुटीभवन् यदा क्षोभम् =

तद्रूप होता हुआ स्थित है—यह पञ्चमबीज का निर्णय है ॥ ७३ ॥

इसी को अपने दर्शन की भङ्गी से जोड़ते हैं—

यह परापरा देवी है जो शुद्धाशुद्ध मार्ग का अवलोकन कराने वाली घोर मातृमण्डल की निरन्तर सृष्टि करती रहती है ॥ -७४, ७५- ॥

घोरा । जैसा कि कहा गया है—

'पहले के समान जो मिश्र कर्म की फलाशक्ति को उत्पन्न करती हैं तथा मुक्तिमार्ग को रोकने वाली हैं वे परापर घोर शक्तियाँ हैं ।'

शुद्धाशुद्ध—न कि घोरतरी आदि के समान नीचे ले जाने वाली—यह भाव है ॥ ७४ ॥

इच्छाशक्ति की भाँति ज्ञानशक्ति का भी ज्ञेय के आधिक्य और अनाधिक्य भेद से दो प्रकार हैं । उनमें से जो ज्ञेय के आनाधिक्य होने पर स्वरूप है (उसका) निर्णय हो चुका । अब आधिक्य होने पर स्वरूप का निरूपण करते हैं—

जब ज्ञेयांश बलवान् होने के कारण उन्मिषित होता हुआ क्षोभ को प्राप्त करता है तब संविद् में ऊनता (सङ्कोच) का आभास होने लगता है ॥ -७५, ७६- ॥

ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय रूप अंश उद्रिक्त होने के कारण स्फुट होता हुआ जब

तत्तन्नीलसुखाद्यात्मना चित्राकारधारिताम्, एति तदा ज्ञेयस्याधिक्यात् ज्ञानस्य ज्ञानमात्ररूपतायामूनत्वस्य = अपूर्णत्वस्य आभासनं जायते = सङ्कोचाधिगमो भवेत्—इति षष्ठवर्णोदयः ॥ ७५ ॥

एवदेव प्रपञ्चयति—

रूढं तज्ज्ञेयवर्गस्य स्थितिप्रारम्भ उच्यते ॥ ७६ ॥
रूढिरेषा विबोधाब्धेश्चित्रकारपरिग्रहः ।
इदं तद्बीजसंदर्भबीजं चिन्वन्ति योगिनः ॥ ७७ ॥

तत् = संविन्मात्रोनताभासनम्, रूढम् = जातप्ररोहं सत्, तत्तन्नील-सुखाद्यात्मनो ज्ञेयवर्गस्य स्थितेः प्रारम्भ उच्यते, न पुनः साक्षात्स्थितिरेव, तस्याः क्रियाशक्तौ भावात् । को नाम अस्याः प्ररोहः ?—इत्याह—'रूढिरेषेत्यादि' । अनेन ज्ञानादतिरिक्तं न किञ्चिन्नाम ज्ञेयमस्ति अपि तु तदेव तत्तद्भासात्मना स्फुरति—इति सूचितम् । तत् = तस्माद् बोधस्यैव चित्राकारधारित्वाद्धेतोरिद-मेव व्याख्यातं संविन्मात्रोनत्वं षष्ठं च भेदसंदर्भस्य कारणत्वेन, योगिनः, न पुनरयोगिनः, तेषां क्रियाशक्त्यात्मस्थूलभेदचेतयितृत्वात्, चिन्वन्ति = जानन्ति—इत्यर्थः । इह खलु एवदेव परविमर्शात्ममुख्यं परामर्शषट्कं यतः परस्परं प्रमेयेन

क्षोभ = भिन्न-भिन्न नील सुख आदि के रूप में विचित्राकारधारिता, को प्राप्त करता है तब ज्ञेय का आधिक्य होने से ज्ञान की ज्ञानमात्ररूपता में ऊनता = अपूर्णता का आभास होता है = सङ्कोच की प्राप्ति होती है । यह छठें वर्ण का उदय है ॥ ७५ ॥

उसी को विस्तृत करते हैं—

वह (= सङ्कोच) रूढ़ होकर ज्ञेयवर्ग की स्थिति का प्रारम्भ कहा जाता है । संविद्रूपी समुद्र की यह रूढ़ि चित्रविचित्र आकार का ग्रहण होना है । योगी लोग इसको उस (= क्रिया)—बीज के सन्दर्भ का बीज मानते हैं ॥ -७६-७७ ॥

वह = संविद्मात्र ऊनता का अभासन, रुढ = उत्पन्न हुआ, भिन्न-भिन्न नील सुखादिरूप ज्ञेय वर्ग की स्थिति का प्रारम्भ कहा जाता है । न कि साक्षात् स्थिति ही । क्योंकि उसकी सत्ता क्रियाशक्ति में है । इसका प्ररोह क्या है ? यह कहते हैं—यह रूढ़ि—इत्यादि । इससे यह सूचित हुआ कि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय नाम की कोई वस्तु नहीं है प्रत्युत वही भिन्न-भिन्न आभास के रूप में स्फुरित होता है । तो = इस कारण बोध के ही चित्र आकारधारी होने के कारण यही व्याख्यात हुआ । और छठाँ वर्ण संविन्मात्र की ऊनतारूपी है जो भेदसन्दर्भ के कारण के रूप में (व्याख्यात है) । योगी लोग—न कि अयोगी लोग । क्योंकि वे क्रिया-शक्ति रूप स्थूलभेद का ज्ञान रखते हैं । चयन करते हैं अर्थात् जानते हैं । यहाँ यहीं पर

वा सङ्घट्टे सति निखिलपरामर्शोदयः । यद्वक्ष्यति—

'स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसंततौ ।' इति ।

तत्र अनुत्तरान्दयोः शुद्धसंविन्मात्ररूपत्वात् तदपेक्षया भेदाभावात् प्रमेयवार्तापि नास्तीति ॥ ७७ ॥

इच्छाशक्तेरेव इष्यमाणारूषणया चातूरूप्यं दर्शयितुमुपक्रमते—

इच्छाशक्तिर्द्विरूपोक्ता क्षुभिताऽक्षुभिता च या ।
इष्यमाणं हि सा वस्तुद्वैरूप्येणात्मनि श्रयेत् ॥ ७८ ॥

इष्यमाणस्य प्रकाशमात्रात्मकत्वात् विश्रान्त्यात्मकत्वाच्च । अत एव अत्र रलयोः श्रुतिः, तयोः प्रकाशस्तम्भस्वभावत्वात् ॥ ७८ ॥

तदाह—

अचिरद्युतिभासिन्या शक्त्या ज्वलनरूपया ।
इष्यमाणसमापत्तिः स्थैर्येणाथ धरात्मना ॥ ७९ ॥

'शक्तयोऽस्य जगत् सर्वं........................ ।'

विमर्शरूप मुख्य छः परामर्श हैं क्योंकि परस्पर या प्रमेय के साथ सङ्घट्ट होने पर समस्त परामर्श का उदय होता है । जैसा कि कहेंगे—

'छ स्वर ही वर्ण समुदाय का मूल है ।'

उनमें अनुत्तर और आनन्द के शुद्ध संवित्मात्र रूप होने से उसकी अपेक्षा भेद न होने से प्रमेय की बात भी नहीं है ॥ ७६-७७ ॥

इच्छाशक्ति का ही इष्यमाण की आरूषणा (= व्यवहार) से चार रूप दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

जो इच्छा शक्ति क्षुभित और अक्षुभित दो रूपों वाली कही गयी है वह इष्यमाण वस्तु को दो रूपों में अपने अन्दर धारण करती है ॥ ७८ ॥

इष्यमाण के प्रकाशमात्र और विश्रान्तिरूप होने से । इसलिए इसमें र और ल की श्रुति है क्योंकि वे दोनों प्रकाशस्तम्भस्वभाव वाले हैं ॥ ७८ ॥

वही कहते हैं—

विद्युत् के समान भासित होने वाली अग्निरूपा शक्ति के द्वारा इष्यमाण की समापत्ति थोड़ा स्थिर होने से पृथ्वी (के बीज) के रूप में (स्फुरित होती है) ॥ ७९ ॥

'इसकी शक्तियाँ समूचा संसार है... ।'

इत्याद्युक्तेर्ज्वलनरूपा धरात्मा च येयं द्विप्रकारा शक्तिः तदात्मकं यदिष्यमाणं तेन, अर्थात् द्विप्रकाराया अपि इच्छाशक्तेर्या समापत्तिः अपृथग्भावेनावभासनम् । अतोऽस्याश्चातरूप्यम्—इत्यर्थः । यद्यपि प्रागपीच्छाया इष्यमाणसमापत्तिरूक्ता येनास्याः क्षुब्धत्वं प्रतिपादितं तथापि तन्न तथा स्फुटेन रूपेण, यथेदानीम् । इत्युक्तं 'स्थैर्यैण' इति । न चात्रैवमपि बाह्यवत् स्थैर्येणेष्यमाणं प्रतीयते, तथात्वे हि तत्कार्यं स्यात्, नेष्यमाणम्, अत एवात्र अस्फुटत्वात् रलयोः श्रुतिमात्रं । न तु साक्षाद्व्यंजनवत्स्थितिः । तदाह— 'अचिरद्युतिभासिन्येति' । यथाहि विद्युत् क्षणिकत्वादचिरमेव कालमवभासते तथात्र इष्यमाणमपि छायामात्रेणैवेति । अत एव चात्र वर्णश्रुतिमात्रं नं साक्षाद्वर्णः । नहि वर्णश्रुतिरेव वर्णः, अत एव नरसिंहवत् जात्यन्तरमिदमिति श्रीमहाभाष्यकारः, अत एव चैतद्वर्णचतुष्टयमुभयच्छतयाधारित्वात्—

'ऋ ॠ ऌ ॡ चतुष्कं च नपुंसकगणस्तथा ।'

इत्याद्युक्त्या सर्वत्रैव नपुंसकत्वेन व्यपदिश्यते, तेन अक्षुब्धा ज्वलनशक्त्याच्छुरिता इच्छा 'ऋ' क्षुब्धा तु 'ॠ' एवं धराशक्तयाच्छुरिता 'ऌ ॡ' इति, ज्वलनाद्यात्मनश्चात्रेष्यमाणस्य स्वरूपमात्रोपादानादेव स्थिरात्मकत्वं लभ्यते इति न

इत्यादि उक्ति के कारण ज्वलनरूपा और पृथ्वीरूप जो यह दो प्रकार की शक्ति है तदात्मक जो इष्यमाण उससे अर्थात्—दो प्रकार की भी इच्छाशक्ति की जो समापत्ति = अपृथग्भाव से अवभासन । इस कारण यह चार रूपों वाली है । यद्यपि इच्छा के पहले भी इष्यमाण की समापत्ति कही गई है जिससे इसका क्षोभ प्रतिपादित है तथापि वह उस प्रकार स्फुट रूप में नहीं है जैसा कि इस समय है । इसलिए कहा गया—स्थिरता के साथ । यहाँ ऐसा होने पर भी बाह्य के समान स्थैर्य के साथ इष्यमाण प्रतीत नहीं होता क्योंकि वैसा होने पर (वह) उसका कार्य होगा न कि इष्यमाण । इसीलिए यहाँ अस्फुट होने से र ल की केवल श्रुति होती है न कि साक्षात् व्यञ्जन के समान स्थिति । वह कहते हैं—अचिरद्युति भासिनी के द्वारा । जैसे विद्युत क्षणिक होने के कारण क्षणिक काल अवभासित होता है उसी प्रकार यहाँ इष्यमाण की छायारूप में ही (भासित होता है) । और इसीलिए यहाँ केवल वर्ण की श्रुति है न कि साक्षात् वर्ण । वर्ण की श्रुति वर्ण नहीं है । इसलिए नरसिंह के समान यह दूसरी जाती है—ऐसा महाभाष्यकार कहते हैं । और इसीलिए यह चार वर्ण दोनों प्रकार की छाया धारण कर लेने के कारण—

'ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार नपुंसक गण है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा सर्वत्र नपुंसक के रूप में व्यवहृत होते हैं । इससे अक्षुब्ध ज्वलनशक्ति से अलंकृत इच्छा ऋ और क्षुब्ध ॠ । इसी प्रकार धराशक्ति से आच्छुरित 'ऌ, ॡ' । ज्वलन आदि रूप यहाँ इष्यमाण के स्वरूपमात्र का उपादान होने के स्थिरता उपलब्ध होती है । इसलिए उसके लिये विशेषणान्तर का ग्रहण

तदर्थं विशेषणान्तरोपादानम् ॥ ७९ ॥

ननु यदीच्छाशक्तेरिष्यमाणसमापत्त्या परामर्शान्तरोदय इष्यते तज्ज्ञान-शक्तेरपि किं न ज्ञेयसमापत्त्या ?—इत्याशङ्क्याह—

उन्मेषशक्तावस्त्येतज्ज्ञेयं यद्यपि भूयसा ।
तथापि विभवस्थानं सा न तु प्राच्यजन्मभूः ॥ ८० ॥

यद्यपि ज्ञानशक्तावेतज्ज्वलनाद्यात्म ज्ञेयं भूयसा विद्यते तथापि सा ज्ञान-शक्तिः = ज्ञेयस्य विभवस्थानं न तु प्राच्येच्छाशक्तिलक्षणा जन्मभूः । इच्छा-शक्तिवत् नेयमुत्पत्तिस्थानम्—इत्यर्थः इच्छाशक्तौ खलु इष्यमाणात्मतया उत्पन्नस्य सतो भावजातस्य ज्ञानशक्तावभिव्यक्तिः, यस्य क्रियाशक्तौ बही-रूपतया परिस्फुरणम्, अतो ज्ञानशक्तौ ज्ञेयस्य नापूर्वतया उत्पादः इति न तत्र तत्समापत्त्या परामर्शान्तरोदयः, तेनेच्छाशक्ताविष्यमाणस्यापूर्वतयोत्पाददेवमभि-धानम् । यद्यपि सर्वभावनिर्भरत्वात्परस्यामपि संविदि सर्वे भावाः संभवन्ति तथापि तत्र तेषां संविन्मात्रतयाऽवस्थानम् ॥ ८० ॥

इह पुनः किञ्चिदुच्छूनतासमापत्त्या पृथगिवावभास इति इत्येतदुक्तम् । अत आह—

नहीं है ॥ ७९ ॥

प्रश्न—यदि इच्छाशक्ति की इष्यमाण समापत्ति से दूसरे परामर्श का उदय माना जाता है तो ज्ञेय समापत्ति से ज्ञान शक्ति का भी क्यों नहीं (माना जाता) ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यद्यपि यह ज्ञेय उन्मेष शक्ति में प्रचुर रूप में रहता है तो भी वह (= ज्ञानशक्ति ज्ञेय का) उत्पत्ति स्थान है न कि पहले की तरह जन्मभूमि ॥ ८० ॥

यद्यपि ज्ञान शक्ति में यह ज्वलनादिरूप ज्ञेय बहुत अधिक है तो भी वह ज्ञान शक्ति ज्ञेय का विभवस्थान है न कि प्राचीन इच्छा शक्ति लक्षण वाली जन्म भूमि अर्थात् शक्ति के सामने यह उत्पत्ति स्थान नहीं है । इच्छा शक्ति में इष्यमाण रूप से उत्पन्न सत् पदार्थ समूह की ज्ञान शक्ति में अभिव्यक्ति होती है । जिसका क्रियाशक्ति में बाह्य रूप में स्फुरण होता हैं । इसलिए ज्ञान शक्ति में ज्ञेय की अपूर्व उत्पत्ति नहीं है इसलिए वहाँ उसकी समापत्ति के द्वारा परामर्शान्तर का उदय नहीं होता । इससे इच्छाशक्ति में इष्यमाण का अपूर्वरूप में उत्पादन होने से ऐसा कथन है । यद्यपि सर्वभावनिर्भर होने से पर संविद् में सभी पदार्थ सम्भव हैं तथापि वहाँ उनकी स्थिति केवल संविद् रूप में रहती है ॥ ८० ॥

यहां कुछ उच्छुनता की समापत्ति के द्वारा मानो पृथक् अवभास होता है यह कहा गया । इसलिए कहते हैं—

इच्छाशक्तेरतः प्राहुश्चातूरूप्यं परामृतम् ।
क्षोभान्तरस्यासद्भावान्नेदं बीजं च कस्यचित् ॥ ८१ ॥

परामृतमिति—स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परचमत्कारात्मकम्—इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'आत्मन्येव च विश्रान्त्या तत्प्रोक्तममृतात्मकम् ।' इति ।

ननु

'.................................बीजं स्वरा मताः ।'

इत्यादिना स्वरान्तःपातित्वादेषां बीजत्वमुक्तं तच्च प्रक्षोभकत्वमुच्यते न च स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपात्वादत्र तत् सङ्गच्छते, तद्धि क्षोभान्तरसद्भावे स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—'नेदं बीजमिति' स्वात्ममात्रविश्रान्तेः क्षोभान्तरानुल्लासकतया स्वकार्याकरणात् दग्धप्रायत्वात्, न तु सर्वसर्विकया बीजरूपत्वाभावात् । नहि शिवशक्त्यात्मबीजयोन्यतिरेकिणः

'बीजयोन्यात्मकाद् भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मताः ।
कादिभिश्च स्मृता योनिः......................... ॥'

इत्याद्यभिधानात् राश्यन्तरस्य सद्भावोऽस्ति, येनैवं स्यात् । यत्तु—

'या तूक्ता ज्ञेयकालुष्यभाक्क्षिप्रस्थिरयोगतः ।

इसलिए इच्छशक्ति के चार रूप कहे गये । यह परामृत हैं । दूसरे क्षोभ के न होने से यह किसी का बीज नहीं है ॥ ८१ ॥

पर अमृत = स्वात्ममात्र में विश्रान्ति के द्वारा परचमत्कारात्मक । जैसा कि कहेंगे—

'आत्मा में ही विश्रान्ति के द्वारा वह अमृतात्मक कहा गया है ।'

प्रश्न—'स्वरों को बीज माना गया है... '

इत्यादि के द्वारा स्वरों के अन्दर होने से इन्हें बीज कहा गया है और उसे प्रक्षोभक कहा जाता है । किन्तु अपनी आत्मा में ही विश्रान्ति रूप होने के कारण यहाँ वह सङ्गत नहीं होता क्योंकि वह तो क्षोभन्तर के होने पर होता ?—यहा शङ्का कर कहते हैं—यह बीज नहीं है । क्योंकि स्वात्ममात्र में विश्रान्ति के कारण दूसरे क्षोभ को उल्लासक न होने के कारण अपना कार्य न करने से (वह) दग्धप्राय है । न कि सम्पूर्ण रूप से (उसमें) बीज रूपता नहीं है । शिवशक्त्यात्मक बीजयोनि से भिन्न—

'बीज योनिरूप भेद से दो प्रकार हैं । स्वरों को बीज माना गया है और क आदि से योनि मानी गई है ।' इत्यादि कथन होने के कारण, दूसरी राशि की मना नहीं है । जिससे ऐसा हो । और जो क्षिप्र और स्थिर योग के कारण जो मलिनता

द्विरूपायास्ततो जातं ट-ताद्यं वर्गयुग्मकम् ॥'

इत्यादि पुरस्ताद्वक्ष्यते, तत्तत्रैव समाधास्यते इति युक्तमुक्तं नेंद बीजमिति ॥ ८१ ॥

ननु यद्येवमेषां बीजत्वं नास्ति नर्हि पारिशेष्याद्योनित्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

तत्परिहारार्थमेषां बीजयोनिवैलक्षण्यं प्रतिपादयतुं तत्स्वरूपं तावदाह—

प्रक्षोभकत्वं बीजत्वं क्षोभाधारश्च योनिता ।

ननु कारणत्वाभिमतं बीजं जडम्, तस्य कथं निरपेक्षस्य रूपान्तराविर्भावने सामर्थ्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

क्षोभकं संविदो रूपं क्षुभ्यति क्षोभयत्यपि ॥ ८२ ॥
क्षोभः स्याज्ज्ञेयधर्मत्वं क्षोभणा तद्बहिष्कृतिः ।

यतः संविद एव मुख्यतया क्षोभकं रूपम्, अतः क्षुभेः ण्यन्ताण्यन्तार्थगर्भीकारात्सा संवित् क्षुभ्यति = मयूराण्डरसन्यायेन अन्तरासूत्रितप्रायं बहिर्भावोन्मुखमिव ज्ञेयजातं धारयति तच्च तथा क्षुभ्यत् क्षोभयति = बहीरूपतयाव-

---

वाली कही गई है, दो रूप वाली उससे टं-त आदि दो वर्ग उत्पन्न हुए ।'

इत्यादि आगे कहा जायगा = उसका समाधान वहीं किया जायगा । इसलिए ठीक कहा—यह बीज नहीं है ॥ ८१ ॥

प्रश्न—इस प्रकार यदि ये बीज नहीं है तो परिशेष होने के कारण योनि होने चाहिए ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसके परिहार के लिये इनकी बीज और योनि से विलक्षणता बतलाने के लिये उसके स्वरूप को कहते हैं—

जो प्रक्षोभक है वह बीज है और जो क्षोभ का आधार है वह योनि है ॥ ८२- ॥

प्रश्न—कारण के रूप में अभिमत बीज जड़ है तो निरपेक्ष उसका दूसरे रूप में आविर्भाव में सामर्थ्य कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

संविद् का स्वरूप क्षोभक है । वह क्षुब्ध होती है और क्षुब्ध करती भी है । क्षोभ ज्ञेयधर्भिता को कहते हैं । और क्षोभन उस (ज्ञेयधर्मिता का) बर्हिर्भाव ॥ -८२, ८३- ॥

चूँकि संविद् का ही मुख्यरूप में क्षोभक रूप है, अतः क्षुभ् धातु के ण्यन्त और अण्यन्त अर्थ को अपने अन्दर रखने से वह संवित् क्षुब्ध होती है; मयूराण्डरसन्याय से भीतर प्रारब्धप्राय ज्ञेयसमूह को बहिर्भावोन्मुख के समान धारण

भासयति—इत्यर्थः । तदाह—'क्षोभ' इत्यादि । क्षोभणा प्रेषणादिरूपा प्रेरणा—इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

एतदेव रहस्यप्रक्रियागर्भीकारेणापि सूत्रयति—

अन्तःस्थविश्वाभिन्नैकबीजांशविसिसृक्षुता ॥ ८३ ॥
क्षोभोऽतदिच्छे तत्त्वेच्छाभासनं क्षोभणां विदुः ।

अन्तःस्थम् = प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानं यद्विश्वम् = ईषणीयादिभावजातम्, तत्राभिन्नमीषणादि संविद्रूपत्वेन अनुद्भिन्नविशेषम्, अत एवैकम् = अद्वितीयं यत् संविदो रूपं तदेव सर्वभावनिर्भरत्वात् विश्वाविर्भावकतया बीजांशः कारण-विशेषः, तस्य या परानपेक्षत्वेन विशिष्टा स्रष्टृत्वेच्छा = ग्राह्यग्राहकात्मनो विश्वस्य भिन्नकल्पतयावबिभासयिषा, तया योऽसौ संबन्धः, स एव क्षोभः, तथा 'शरं गमयति' इत्यादिवत् अतदिच्छेऽपि औदासीन्यात् बहिर्भावानुन्मुखे देहनीलादौ भावजाते यत्तत्त्वेच्छाभासनम् = औदासीन्यच्यावनेन बहिर्भावौन्मुख्येन अवभासनं तां क्षोभणाम्, एतद्गुरुप्रभृतयो विदुः = जानीयुः—इत्यर्थः । चर्याक्रमे हि बीजं सिसृक्षुः पुमान् स्वयं क्षुभ्यति प्रमदां तु क्षोभयति इति । इह चैतदतिरहस्य-त्वादप्रस्तुतत्वाच्च न प्रपञ्चितम्, यथोपयोगमूह्यत एव केवलम् ॥ ८३ ॥

करती है और उस प्रकार क्षुब्ध होते हुए उसको क्षुब्ध करती है अर्थात् बाह्यरूप में भासित करती है । वह कहते हैं—क्षोभ इत्यादि । क्षोभणा = क्षोभ्य की प्रेषणारूपा अर्थात् प्रेरणा ॥ ८२-८३ ॥

इसी को रहस्यप्रक्रियागर्भ के रूप में बतलाते हैं—

(परमेश्वर के) अन्दर स्थित विश्व से अभिन्न एक बीजांश की सृष्टि की इच्छा क्षोभ है । उस (= क्षोभ) की इच्छा से रहित उस (= परप्रमाता) में तत्त्व की इच्छा का भासन क्षोभणा कही गयी है ॥ -८३, ८४- ॥

अन्तःस्थ = प्रमाता से अभिन्न रूप में वर्त्तमान जो समस्त ईषणीय आदि पदार्थसमूह, उसमें अभिन्न = ईषणा आदि संविद्रूप से अनुद्भिन्नविशेष वाला, इसीलिए एक = अद्वितीय जो संविद् का रूप, वही सर्वभावनिर्भर होने के कारण विश्व का आविर्भावक होने से बीजांश = कारणविशेष है । उसकी जो परानपेक्ष होने से विशिष्ट स्रष्टृत्व की इच्छा = ग्राह्यग्राहकरूप विश्व को भिन्न रूप में आभासित करने की अभिलाषा, उससे जो यह सम्बन्ध वही क्षोभ है । तथा 'बाण को भेजता है ।' इत्यादि के समान उसकी इच्छा न होने पर भी उदासीनता के कारण बहिर्भाव के प्रति अनुन्मुख देह नील आदि पदार्थसमूह के विषय में जो तत्त्वेच्छा का आभास = उदासीनता को हटाकर बाह्यसत्ता की उन्मुखता के रूप में अवभासन, उस क्षोभणा को ये गुरु आदि जानते हैं—यह अर्थ है । चर्याक्रम में भी बीज की सृष्टि का इच्छुक पुरुष स्वयं क्षुब्ध होता है और प्रमदा को क्षुब्ध करता है । अतिरहस्य

एवं बीजस्वरूपमभिधाय योनिस्वरूपमाह—

यदैक्यापत्तिमासाद्य तदिच्छा कृतिनी भवेत् ॥ ८४ ॥
क्षोभाधारमिमं प्राहुः श्रीसोमानन्दपुत्रकाः ।

येन = इदन्ताविमृश्येन देहनीलादिना भावजातेन, कादिना च ऐकात्म्यमासाद्य तस्य परस्य प्रमातुः संबन्धिनी इच्छा—कृतिनी

'ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः ।'

इत्यादिन्यायेन स्वात्ममात्रविश्रान्त्या कृतार्था पूर्णा जायते । तमेतं क्षोभस्य = संवित्स्वातन्त्र्यस्य आधारम् = विषयं श्रीसोमानन्दस्यानुकम्प्याः पुत्राः = श्रीमदुत्पदलदेवप्रभृतयः शिष्याः, प्राहुः—आचक्षत इत्यर्थः । चर्याक्रमेऽपि हि यत्सामरस्यमासाद्य पौंस्रोऽभिलाषः कार्तार्थ्यमेति स योनिलक्षणः क्षोभाधारः इति ॥ ८४ ॥

एतच्च बीजयोनिस्वरूपम् 'अन्तःस्थ' इत्यादिना सूत्रितम् । रहस्यप्रक्रियागर्भीकारेण परमोपादेयत्वादनुग्राह्याणां हृदयङ्गमीकर्तुं स्वयमेव व्याचष्टे—

संविदामीषणादीनामनुद्भिन्नविशेषकम् ॥ ८५ ॥

और अप्रस्तुत होने के कारण इसका यहाँ वर्णन नहीं किया गया । केवल उपयोग के अनुसार तर्क से समझिये ॥ ८३ ॥

इस प्रकार बीज के स्वरूप का विर्वचन कर योनि का स्वरूप कहते हैं—

जिसके साथ एक होकर उस (= प्रमाता) की इच्छा कृतार्थ होती है, श्रीसोमानन्द के शिष्मगण उसे क्षोभाधार कहते हैं ॥ -८४, ८५- ॥

जिससे = इदन्ताविमृश्य देहनील आदि पदार्थसमूह से और 'क' आदि से एकात्मता को प्राप्त कर, उसकी = परप्रमाता की इच्छा, कृतिनी

'मुझ भैरव की ये विश्वभंगियाँ निकली हैं ।'

इत्यादि न्याय से अपने में विश्रान्ति के द्वारा कृतार्थ = पूर्ण होती है । उस इस क्षोभ = संवित् स्वातन्त्र्य के आधार = विषय को श्री सोमानन्द के अनुकम्प्य पुत्र उत्पलदेव आदि शिष्य कहते हैं—यह अर्थ है। चर्याक्रम में भी जिस सामरस्य को प्राप्त कर पुरुष की अभिलाषा कृतार्थता को प्राप्त होती है वह योनिलक्षण वाला क्षोभ का आधार है ॥ ८४ ॥

इस बीज योनि स्वरूप को 'अन्तःस्थ' इत्यादि के द्वारा कहा गया । रहस्य प्रक्रिया से गर्भित होने के कारण परम उपादेय होने से शिष्यों को हृदयगम कराने के लिये स्वयं व्याख्या करते हैं—

संविदस्थ ईषणा आदि का वह ज्ञेयमात्र जिसमें विशेष प्रकट नहीं है

यज्ज्ञेयमात्रं तद्बीजं यद्योगाद्बीजता स्वरे ।

ईषणादीनां संविदामसञ्जातविभागं । यज्ज्ञेयम्—अवश्यं ज्ञातव्यं पारमार्थिकं संविद्रूपमेवेच्छादिसंविद्विशेषरूपत्वानुपग्रहात्केवलमनवच्छिन्नं पारमेश्वरं रूपं, तदेव—

'चिदात्मैव हि देवोन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥'

इत्याद्युक्त्या सर्वभावनिर्भरत्वात् अन्तःस्थस्य विश्वस्य स्वेच्छयैव बहिराविर्भावनात् बीजम् = मुख्यकारणम्—इत्यर्थः । ननु यद्येवं तत्कथं स्वराणामपि बीजत्वम ?—त्याशंक्योक्तम्—'यद्योगाद्बीजता स्वरे' इति । उद्योगादिति = यदनुप्राणित्वात्—इत्यर्थः । अत एव स्वराणां तत्तद्वर्णाविर्भावकत्वादुचितं बीजत्वम्—इत्याशयः, नहि संवित्स्वातन्त्र्यमन्तरेण अन्यस्य कस्यचित् रूपान्तराविर्भावने सामर्थ्यम् । इति भावः ॥ ८५ ॥

एवं बीजशब्दार्थं व्याख्याय विसिसृक्षात्मकं ण्यन्ताण्यन्ततया द्विप्रकारं क्षोभमपि व्याचष्टे—

तस्य बीजस्य सैवोक्ता विसिसृक्षा य उद्भवः ।
यतो ग्राह्यमिदं भास्यद्भिन्नकल्पं चिदात्मनः ॥ ८६ ॥

और जिसके योग से स्वर में बीजता धर्म होता है बीज कहलाता है ॥ -८५, ८६- ॥

ईषणा आदि संविदों का अनुत्पन्न विभागवाला जो ज्ञेय = अवश्य ज्ञातव्य पारमार्थिक संविद्रूप ही इच्छा आदि संविद्विशेषरूपत्व का ग्रहण न होने से केवल अनवच्छिन्न पारमेश्वर रूप, वही

'चिदात्मदेव ही योगी की भाँति अपनी इच्छावश अन्तःस्थित भावसमूह को बिना उपादान के बाहर प्रकाशित करते हैं ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा सर्वभावनिर्भर होने के कारण भीतर स्थित विश्व का स्वेच्छा से ही बाहर प्रकट करने से बीज = मुख्य कारण है—यह अर्थ है । प्रश्न—यदि ऐसा है तो स्वर भी बीज कैसे होते हैं ? यह शङ्का कहा गया—'जिसके कारण स्वर में बीजता है ।' जिसके योग से = जिससे अनुप्राणित होने के कारण । इसलिए भिन्न-भिन्न वर्णों के आविर्भावक होने के कारण स्वरों का बीजत्व उचित है—यह आशय है । संविद् के स्वातन्त्र्य के बिना अन्य किसी का रूपान्तर को प्रकट करने में सामर्थ्य नहीं है—यह भाव है ॥ ८५ ॥

इस प्रकार बीज शब्द के अर्थ की व्याख्या कर ण्यन्त और अण्यन्त भेद में दो प्रकार के विसिसृक्षात्मक क्षोभ की व्याख्या करते हैं—

वही उस बीज की विसिसृक्षा कही गयी है । यही उद्भव है । जिस

एष क्षोभः क्षोभणा तु तूष्णींभूतान्यमातृगम् ।
हठाद्यदौदासीन्यांशच्यावनं संविदो बलात् ॥ ८७ ॥

उद्भव इत्युद्यन्तृता—इत्यर्थः । यतो हेतोरिदं ग्राह्यम् = देहनीलादि भावजातं कादि च, चिदात्मनः सकाशाद्भिन्नकल्पम् = अनतिरिक्तमपि अतिरिक्तायमानं भास्यत् = उत्तरकालं भासिष्यमाणं स्यात् स एष उद्यन्तृतामात्ररूपः क्षोभः । चर्याक्रमेऽपि हि क्षोभानन्तरमेवानन्दादि भवेत्, क्षोभणा तु तूष्णींभूता = औदासीन्यात् बहिर्भावानुन्मुखा । ये अन्ये नीलाद्यपोहेन अवस्थिता देहादयो मातारः अर्थान्नीलादयः प्रमेयाश्च, तद्गतं बलात् स्वातन्त्र्यलक्षणं स्वं वीर्यमवलम्ब्य संवित्कर्तृकं हठात् = अतदिच्छेऽपि तत्त्वेच्छाभासनलक्षणात् बलात्कारात् यदौदासीन्यात् = बहिर्भावोन्मुखतायामप्रवर्तनात्, च्यावनम् = बहिर्भावौन्मुख्ये-नैवावभासनं नामेति ॥ ८६-८७ ॥

एवं बीजसूत्रं व्याख्याय योनिसूत्रमपि व्याचष्टे—

जातापि विसिसृक्षासौ यद्विमर्शान्तरैक्यतः ।
कृतार्था जायते क्षोभाधारोऽत्रैतत्प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

कारण यह ग्राह्य विश्व चिदात्मा से भिन्न जैसा भासित होता है । यही क्षोभ है । और जो शान्त रहती हुई अन्य प्रमाता के अन्दर रहने वाले औदासीन्य अंश को संविद् के बल से च्युत (= बर्हिभूत) करती है, वह क्षोभणा है ॥ ८६-८७ ॥

उद्भव = उद्यन्तृता । जिस कारण से यह ग्राह्यदेह, नील आदि पदार्थसमूह तथा 'क' आदि चिदात्मा के पास से भिन्न जैसे = अभिन्न होते हुए भी भिन्न सदृश, भासित होता है = उत्तरकाल में भासित होगा वही यह उद्यन्तृतामात्ररूप क्षोभ है। चर्याक्रम में भी क्षोभ के बाद ही आनन्द आदि होता है । क्षोभणा तो शान्त हो जाती है = उदासीनता के कारण बहिर्भाव की ओर उन्मुख नहीं होती । नील आदि को छिपाने के साथ जो अन्य देह आदि प्रमाता अर्थात् नील आदि प्रमेय आदि स्थित हैं उसमें वर्त्तमान बलात् स्वातन्त्र्यलक्षण वाले अपने वीर्य के आधार पर संवित् कर्त्तृकं, हठात् = उसकी इच्छा से युक्त न होने पर भी तत्त्व की इच्छा का आभासन लक्षण वाले बलात्कार के कारण जो औदासीन्य के कारण बहिर्भाव की उन्मुखता में अप्रवृत्ति से, च्यावन बहिर्भाव की उन्मुखता से अवभासन वही क्षोभ है ॥ ८६-८७ ॥

इस प्रकार बीजसूत्र की व्याख्या कर योनिसूत्र की भी व्याख्या करते हैं—

यह सर्जनेच्छा उत्पन्न होकर भी जिस अन्य विमर्श के साथ एक होकर कृतार्थ होती है यहाँ उसे क्षोभाधार कहा गया है ॥ ८८ ॥

यत्परस्य प्रमातुरुत्पन्नापि क्षोभलक्षणा स्रष्टृत्वेच्छा—चिन्मात्रनिष्ठात् प्रकृताहन्ताविमर्शादन्य इदन्तात्मा विमर्शो—विमृश्यविमर्शयोरभेदोपचारात्, तत्परामृश्यम् = देहनीलादि भावजातं कादि च, तेनैकात्म्यमवलम्ब्य, कृतार्था = स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्णा जायते, तदेतदत्र 'यदैक्यापत्तिमासाद्य' इत्यादौ योनिसूत्रे क्षोभाधारः, प्रकीर्तितम् = सम्यगुक्तम्—इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

एवमेतत्पदार्थद्वारेण व्याख्याय तात्पर्यमुखेनाप्यभिधत्ते—

ततस्तदान्तरं ज्ञेयं भिन्नकल्पत्वमिच्छति ।
विश्वबीजादतः सर्वं बाह्यं बिम्बं विवर्त्स्यति॥ ८९ ॥

ततः = समनन्तरोक्तात् सिसृक्षालक्षणात् क्षोभाद्धेतोः, आन्तरम् = प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानं सत् तत् = आसूत्रितप्रायं ज्ञेयं भिन्नकल्पत्वम् = अतिरिक्तायमानत्वमेति, अतः = विश्वबीजादादिवर्णान्महामायातश्चारभ्य सर्वम् = आनन्दादि तत्त्वभुवनादि च भावजातम्, बाह्यम् = विच्छेदेनावभासमानम्, बिम्बज्ञानीयाकारलक्षणप्रतिबिम्बात्मकम्, विवर्त्स्यति = तत्तद्देहनीलाद्यात्मना पदवाक्यादितया च यथायथं स्फुटीभविष्यति—इत्यर्थः । चर्याक्रमेऽपि हि बीजमेव भेदेन प्रसृतं सत् स्त्रीपुंनपुंसकादिरूपतामेष्यतीति ॥ ८९ ॥

जो पर प्रमाता की उत्पन्न भी क्षोभलक्षणवाली स्रष्टृत्व की इच्छा, चिन्मात्रनिष्ठ प्रस्तुत अहन्ताविमर्श से भिन्न इदन्ता रूपविमर्श, विमृश्य और विमर्श के अभेदोपचार से, उससें परामृश्य देहनील आदि पदार्थसमूह और 'क' आदि, उससे तादात्म्य स्थापित कर, कृतार्थ = स्वात्ममात्र विश्रान्ति के द्वारा पूर्ण, हो जाती है । वह यहाँ 'जिससे ऐक्य को प्राप्त कर' इत्यादि योनिसूत्र में क्षोभ का आधार, प्रकीर्तित है = भलीभाँति उक्त है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार पदों के अर्थों के द्वारा इसकी व्याख्या करके तात्पर्य रूप से भी कहते हैं—

इसके बाद वह आन्तर ज्ञेय भिन्न जैसा होना चाहता है । इस कारण विश्व बीज से यह सब बाह्य बिम्ब विवर्त्तित होता है ॥ ८९ ॥

उस कारण = पूर्वोक्त सिसृक्षालक्षण वाले क्षोभ के कारण, आन्तर = प्रमाता के साथ एकात्मता के साथ वर्त्तमान वह आसूत्रितप्राय ज्ञेय, भिन्नकल्पता = अतिरिक्तरूपता को प्राप्त करता है । यहाँ से = विश्व के बीज प्रथम वर्ण और महामाया से, प्रारम्भ कर सब = आनन्द आदि और तत्त्व भुवन आदि पदार्थसमूह, बाह्य = अलग से अवभासमान, बिम्ब = ज्ञातव्य आकार लक्षण वाले प्रतिम्बिरूप, बदलेगा = भिन्न-भिन्न देह घट आदि रूप से तथा पद वाक्य आदि रूप से क्रमानुसार स्फुट होगा । चर्याक्रम में भी बीज ही भेदपूर्वक फैलता हुआ स्त्री पुरुष नपुंसक रूप को प्राप्त करता है ॥ ८९ ॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्,—इत्याह—

क्षोभ्यक्षोभकभावस्य सतत्त्वं दर्शितं मया ।
श्रीमन्महेश्वरेणोक्तं गुरुणा यत्प्रसादतः ॥ ९० ॥

'तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वरः' इत्यादिना प्राङ्नमस्कृतेन गुरुणा यत्सतत्त्वमुक्तं तन्मया दर्शितम्—इति संबन्धः ॥ ९० ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवावतारयति—

प्रकृतं ब्रूमहे नेदं बीजं वर्णचतुष्टयम् ।
नापि योनिर्यतो नैतत्क्षोभाधारत्वमृच्छति ॥ ९१ ॥

नहि कादिवदेतदैक्यमासाद्य कस्यचिदपीच्छा कार्तार्थ्यमियादित्यस्य क्षोभाधारत्वागमनम् । नेदं बीजमित्यत्र पुनः 'क्षोभान्तरस्यासम्भवात्' इत्यादिना प्रागुपादानाद्धेतोरनिर्देशः । अत एव चास्य वर्णचतुष्टयस्य प्रक्षोभकत्वाभावात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परचमत्कारमयत्वम् ॥ ९१ ॥

तदाह—

आत्मन्येव च विश्रान्त्या तत्प्रोक्तममृतात्मकम् ।

इसे अपनी बुद्धि से ही नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

श्री मन्महेश्वर स्वरूप गुरु के द्वारा उक्त क्षोभ्यक्षोभक भाव का यथार्थ स्वरूप मेरे द्वारा गुरु की कृपारूप प्रसाद से दिखलाया गया ॥ ९० ॥

'वह अपरमूर्ति भगवान महेश्वर' इत्यादि के द्वारा पहले नमस्कार लिये गये गुरु के द्वारा जो तत्त्व कहा गया वह मेरे द्वारा दिखलाया गया—ऐसा सम्बन्ध है ॥ ९० ॥

इस प्रकार प्रसङ्गतः इसका कथन कर प्रस्तुत का प्रारम्भ करते हैं—

अब प्रस्तुत की चर्चा करते हैं—ये चारों वर्ण (= ऋ, ॠ, ऌ, ॡ) न बीज है न ही योनि । क्योंकि ये क्षोभ के आधार नहीं बनते ॥ ९१ ॥

ऐसा नहीं है कि 'क' आदि के समान इसके साथ ऐक्य को प्राप्त कर किसी की भी इच्छा कृतार्थ होगी । इसलिए यह क्षोभ का आधार नहीं है । यह बीज नहीं है यहाँ फिर 'क्षोभान्तर के असम्भव होने से' इत्यादि के द्वारा पहले कह देने से हेतु का निर्देश नहीं है । इसीलिए ये चार वर्ण प्रक्षोभक न होने से स्वात्ममात्रविश्रान्ति के कारण परचमत्कारमय हैं ॥ ९१ ॥

वह कहते हैं—

इस प्रकार पहले कहे गये जो वे पाँच (अ, इ, ई, उ, ऊ) ये

न केवलमेषां यथासंभवं प्रमेयेन सङ्घट्टे परामर्शान्तरोदयो यावत् परस्परमपि—इत्याह—

इत्थं प्रागुदितं यत्तत्पञ्चकं तत्परस्परम् ॥ ९२ ॥
उच्छलद्विविधाकारमन्योन्यव्यतिमिश्रणात् ।

पञ्चकमिति—अनुत्तरेच्छेशनोन्मेषोनतारूपम्, आनन्दशक्तिर्हि

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्.................... ।'

इत्याद्युक्त्या चिदव्यतिरिक्तैव, इति नास्याः पृथगभिधानम्, तदेतत्, परस्परं —न पुनरेकैकम्, उच्छलद्विविधाकारम् = प्रादुर्भवन्नानावर्णरूपं भवेत् । न चैतत्पारम्पर्येऽपि स्वात्ममात्रावस्थाने किं तु सङ्घट्टे सति । इत्याह—व्यतिमिश्रणादिति । तद्यथाअकारस्याकारस्य वा इकारेणेकारेण वा व्यतिमिश्रणे 'ए' इति रूपं भवेत् । तयोरेव उकारेणोकारेण वा व्यतिमिश्रणे 'ओ' इति रूपं भवेत् । इकारस्यापि अकारेण 'य' इति, उकारस्यापि अकारेण 'व' इति, व्यतिमिश्रणं च न पञ्चकादतिरिक्तेन परामर्शान्तरेण केनचित् । इत्युक्तम्—अन्योन्येति । यत्तु—

परस्पर मिश्रण के कारण अनेक आकारों (= वर्णों) के रूप में उत्पन्न होते हैं ॥ ९२- ॥

इनका न केवल यथासम्भव प्रमेय से सङ्घट्ट होने पर दूसरे परामर्श का उदय होता है बल्कि परस्पर भी (सङ्घट्ट होने से) यह कहते हैं—

जो अनुत्तर पर स्पन्द है और जो उच्छलित होता हुआ आनन्द है वे दोनों इच्छा और उन्मेष के सङ्घट्ट से अत्यन्त विचित्र स्थिति को प्राप्त होते हैं ॥ -९२, ९३- ॥

पाँच = अनुत्तर, इच्छा, ईशन, उन्मेष और ऊनतारूप । आनन्दशक्ति तो—

'आनन्द ब्रह्म का रूप है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा चित् से अभिन्न ही है । इसलिए इसका पृथक् कथन नहीं किया गया । तो यह परस्पर न कि अकेले, उछलते हुए अनेक आकार वाला = उत्पन्न होते हुए अनेक वर्णरूप, हो जाता है । पारम्परिक होने पर भी यह अपनी स्थिति में नहीं होता किन्तु सङ्घट्ट होने पर (होता है)—यह कहते हैं—व्यतिमिश्रण से इ जैसे—अकार अथवा आकार का इकार अथवा ईकार से व्यतिमिश्रण होने पर 'ए' रूप होता है । उन्हीं दोनों (= अ, आ) का उकार अथवा ऊकार से व्यतिमिश्रण होने पर 'ओ' रूप होता है । इकार का भी अकार के साथ (व्यतिमिश्रण होने पर) 'य' उकार का अकार के साथ (व्यतिमिश्रण होने पर) 'व' । यह व्यतिमिश्रण पाँच से भिन्न किसी दूसरे परामर्श से नहीं होता इसलिए कहा गया—अन्योऽन्य । और जो—

'सैव शीघ्रस्थिरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता ।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति ॥'

इत्यादि वक्ष्यति, तत् परमार्शान्तरोदयविषयमिति नात्र मेलनीयम्, संध्यक्षरोदयस्यैव इह प्रक्रान्तत्वात् ॥ ९२ ॥

एतदेव दर्शयति—

योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन्॥ ९३ ॥
ताविच्छोन्मेषसङ्घट्टाद्गच्छतोऽतिविचित्रताम् ।

तावनुत्तरानन्दशब्दव्यपदेश्यौ = 'अकाराकारौ' इच्छोन्मेषाभ्याम् = 'इकारोकाराम्याम्' यः सङ्घट्टः = 'आद्गुण' इत्येवंरूपः संधिः, तस्मादतिशयेन संधीयमानवर्णद्वय विलक्षणतया, विचित्रताम् 'एकारौकारलक्षणाम्' वैचित्रीं गच्छतः = प्राप्नुतः—इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

एवमेकारस्योदयमात्रमुक्त्वा गर्भीकारेण स्वरूपमप्यभिधत्ते—

अनुत्तरानन्दचिती इच्छाशक्तौ नियोजिते ॥ ९४ ॥
त्रिकोणमिति तत्प्राहुर्विसर्गामोदसुन्दरम् ।

'वही शीघ्र स्थिर प्राप्त ज्ञेय की मलिनता से रूषित होकर विजातीयोन्मुख होने के कारण 'र', 'ल' बन जाती है ।'

इत्यादि कहेंगे वह दूसरे परामर्श के उदय से सम्बद्ध है । इसलिए (उसे) यहाँ नहीं मिलाना चाहिये क्योंकि यहाँ सन्ध्यक्षर के उदय का ही प्रकरण है ॥ ९२ ॥

इसी को दिखाते हैं—

जो अनुत्तर पर स्पन्द है और जो उच्छलित होता हुआ आनन्द है वे दोनों इच्छा और उन्मेष के सङ्घट्ट के कारण अत्यन्त विचित्र स्थिति को प्राप्त होते हैं ॥ -९३, ९४- ॥

वे दोनों अनुत्तर और आनन्दशब्द से व्यवहार्य अकार और आकार इच्छा और उन्मेष = इकार और उकार के (साथ) जो सङ्घट्ट = आद्गुण; इस प्रकार की सन्धि, उसके कारण अतिशयरूप में सन्धीयमान दो वर्णों की विलक्षणता से विचित्रता को एकार ओकार लक्षणवाली विलक्षणता को, जाते हैं = प्राप्त होते हैं—वह अर्थ है ॥ ९३ ॥

इस प्रकार एकार का उदय बतलाकर प्रच्छन्न रूप में स्वरूप भी बतलाते हैं—

अनुत्तर और आनन्द जो कि चित्स्वरूप है, जब इच्छाशक्ति के साथ जुड़ते हैं तो (विद्वान्) इसे त्रिकोण कहते हैं जो कि विसर्ग और आमोद से सुन्दर है ॥ -९४, ९५- ॥

यदनुत्तरानन्दौ अर्थाद्विकल्पेन, इच्छायां निहितसंधी तत्—संधीयमानावयव-मेकारलक्षणमक्षरं त्रिकोणं

'त्रिकोणमेकादशमं वह्निगेहं च योनिकम् ।
शृङ्गाटं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥'

इत्याद्युक्तेः, इच्छाज्ञानक्रियाख्यकोणत्रयमयत्वाच्च, लिपिक्रमेऽपि तथा संनिवेशात् 'त्रिकोणम्' इति त्रिकोणशब्दव्यपदेश्यमाचक्षते—इति वाक्यार्थः, तच्च

'विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या, विसर्गः = परा शक्तिः, तस्या आमोदः = आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तमुल्लासः, तेन सुन्दरम् = तत्र नित्योदितत्वाच्छक्तेः परानन्दमयम्—इत्यर्थः । त्रिकोणमित्यनेन योगिनीवक्त्रापरपर्यायजन्माधाररूपत्वमप्यस्य सूचितम् । तत एव हि परा शक्तिरुदेति—इति भावः । यदुक्तम्—

'यदोल्लसति शृङ्गाटपीठात्कुटिलरूपिणी ।' इति ।

तथा

'त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम् ।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ॥' इति ।

जो अनुत्तर और आनन्द अर्थात् विकल्प के द्वारा इच्छा में सन्धि वाले (होते हैं) वह = सन्धीयमान अवयव वाला एकार स्वरूप अक्षर त्रिकोण

'यह त्रिकोण ग्यारहवाँ, वह्निगृह, योनि, शृङ्गाटक एवं एकार नामों से कहा गया है ।'

इत्यादि उक्ति के कारण तथा इच्छा ज्ञान क्रिया नामक तीन कोण वाला होने से 'लिपिक्रम में भी वैसा सन्निवेश होने से' त्रिकोण = त्रिकोण शब्द का व्यवहार्य कहलाता है—यह वाक्यार्थ है । और वह—

'उस परमेश्वर का विसर्ग कौलिकी शक्ति कही जाती है ।'

इत्यादि आगे कहे जाने वाली नीति से विसर्ग = पराशक्ति, उसका आमोद = आनन्द के उदयक्रम से क्रियाशक्तिपर्यन्त उल्लास, उससे सुन्दर = वहाँ शक्ति के नित्य उदित होने से परानन्दमय । 'त्रिकोण' इस पद से इसका 'योगिनीमुख' नामक दूसरा पर्याय जन्माधाररूपता भी सूचित की गई । पराशक्ति वहीं से उदित होती है—यह तात्पर्य है । जैसा कि कहा गया है—

'जब शृङ्गाट पीठ से कुटिलरूपिणी उल्लासित होती है ।' तथा

'त्रिकोण को भग कहा गया है । (वह) आकाश में स्थित गुप्त मण्डलवाला, इच्छा ज्ञान क्रिया कोणों वाला है । उसके बीच में चिञ्चिनी क्रम है ।'

अनेनैवाशयेन च इतो बाह्यैरपि

> 'एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये षट्कारभूषितम् ।
> आलय: सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम् ॥'

इत्याद्युक्तम् । चर्याक्रमेऽपि हि विसर्गस्यानन्दफलस्य संबन्धिना स्फारेण परानन्दमयं प्रसरस्थानम्, इति ॥ ९४ ॥

न केवलमनुत्तरानन्दयोरिच्छायां योगे संध्यक्षरलक्षणपरामर्शान्तरोदयो यावदत्रापि—इत्याह—

अनुत्तरानन्दशक्ती तत्र रूढिमुपागते ॥ ९५ ॥
त्रिकोणद्वित्वयोगेन व्रजत: षडरस्थितिम् ।

तत्र त्रिकोणेऽपि यदा अनुत्तरानन्दौ रूढिं—'वृद्धिरेचि' इति संधिक्रमेण प्ररोहं प्राप्तौ, तदा अनुत्तरस्य पूर्वोक्तनीत्या रौद्र्यादिशक्तित्रयमयत्वेन आनन्दस्यापि तत्स्फारमात्रसारत्वेन त्रिकोणरूपत्वात् अकारैकारलक्षणत्रिकोणद्वययोगेन, षडराम् = षट्कोणां स्थितिं व्रजत: = ऐकाररूपतामवभासयत:—इत्यर्थ: । लिपौ पुनरेवंरूपत्वमतिरहस्यत्वात् न प्रदर्श्यते—इत्येकारस्यैव द्विगुणीभावोन्मीलनायोपरि रेखाविन्यास: । चर्याक्रमेऽपि हि सिद्धयोगिनीत्रिकोणद्वयसम्पुटीभावेन षडरमुद्रामयी स्थितिर्जायते इति ॥ ९५ ॥

और इसी आशय से इससे बाहरी लोगों के द्वारा भी

'जो एकार की आकृतिवाला, दिव्य मध्य में षट्कार से अलंकृत, सब सुखों का आकर और बोध रत्न की पिटारी है ।'

इत्यादि कहा गया है । चर्याक्रम में भी विसर्ग के आनन्दफल के सम्बन्धी स्फार के द्वारा परानन्दमय प्रसरस्थान है ॥ ९४ ॥

केवल अनुत्तर और आनन्द का इच्छा से योग होने पर सन्ध्यक्षर रूप दूसरे परामर्श का उदय नहीं होता बल्कि यहाँ भी (होता है)—यह कहते हैं—

उसमें जब अनुत्तर आनन्द और शक्ति रूढ़ि को प्राप्त करते हैं तब दो त्रिकोण के योग से षट्कोण की स्थिति को प्राप्त करते हैं ।।-९५, ९६-।।

उस त्रिकोण में भी जब अनुत्तर और आनन्द रूढ़ि = 'वृद्धिरेचि' इस सन्धिक्रम से प्ररोह को प्राप्त होते हैं, तब पूर्वोक्त रीति से अनुत्तर के रौद्री आदि तीन शक्तियों से युक्त होने पर, उसके स्फार रूप तत्त्व होने से आनन्द के भी त्रिकोण रूप होने के कारण अकारएकारलक्षण वाले दो त्रिकोण के योग से, षडर = छ: कोणों वाली स्थिति को प्राप्त होते हैं = ऐकाररूपता को अवभासित करते हैं । अत्यन्त रहस्य होने के कारण लिपि में ऐसा रूप नहीं दिखाया जाता—इसलिए एकार का ही द्विगुणीभाव दिखलाने के लिये ऊपर रेखा बना दी जाती है ।

एवमनुत्तरानन्दयोरेकारेण सङ्घट्टे यथा परामर्शान्तरोदयः, तद्वदोकारेणापि—इत्याह—

त एवोन्मेषयोगेऽपि पुनस्तन्मयतां गते ॥ ९६ ॥
क्रियाशक्तेः स्फुटं रूपमभिव्यङ्क्तः परस्परम् ।

ते एव = अनुत्तरानन्दशक्ती, उन्मेषेण = उकारेण यो योगः = ओकारापत्तिलक्षणः संधिः, तस्मिन्सत्यपि पुनर्यदा तन्मयताम्—ओकारात्मतां संधिक्रमेण तदेकीभावं गच्छतः, तदा परस्परमनुत्तरानन्दौ औकारात्मना संभूय क्रियाशक्तेरौकारलक्षणं स्फुटं रूपम्, अभितः = समन्तात्, व्यङ्क्तः = प्रकाशयतः—इत्यर्थः । 'अभितः' स्फुटं रूपं व्यङ्क्तः' इत्यनेन क्रियाशक्तेः संध्यक्षरेषु यथाक्रमम् अस्फुटम्, स्फुटम्, स्फुटतरम्, स्फुटतमं च, रूपमस्ति—इत्यावेदितम् ॥ ९६ ॥

नन्वनुत्तरानन्दयोरिच्छोन्मेषाभ्यां सङ्घट्टे यथा परामर्शान्तरोदय उक्तः तथा तत्क्षोभरूपाभ्यामीशनोनताभ्यामपि किमिति न ?—इत्याशङ्क्याह—

इच्छोन्मेषगतः क्षोभो यः प्रोक्तस्तद्गतेरपि ॥ ९७ ॥

चर्याक्रम में भी सिद्धयोगिनी के दो त्रिकोणों के सम्पुटित होने से षट्कोण मुद्रामयी स्थिति हो जाती है ॥ ९५ ॥

इस प्रकार अनुत्तर और आनन्द का एकार के साथ सङ्घट्ट होने पर जैसे दूसरे परामर्श का उदय होता है उसी प्रकार ओकार के साथ भी, यह कहते हैं—

वे ही दोनों उन्मेष से योग होने पर जब पुनः तन्मयता को प्राप्त होते हैं तो (वे दोनों) परस्पर क्रियाशक्ति के स्फुट रूप को अभिव्यक्त करते हैं ॥ -९६, ९७- ॥

वे दोनों ही = अनुत्तर और आनन्दशक्तियाँ, उन्मेष के साथ = उकार के साथ यो योग = ओकारापत्तिरूप सन्धि, उसके होने पर भी पुनः जब तन्मयता को = ओकारात्मता को सन्धि के क्रम से उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त होते हैं तब अनुत्तर और आनन्द परस्पर औकार के रूप में मिलकर क्रियाशक्ति के औकार लक्षण वाला स्फुटरूप को अभितः = चारो ओर, व्यक्त करते हैं = प्रकाशित करते हैं । 'चारों ओर स्फुट रूप व्यक्त करते हैं' इसके द्वारा सन्ध्यक्षरों में क्रियाशक्ति का क्रमानुसार स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम रूप है—यह बताया गया ॥ ९६ ॥

प्रश्न—अनुत्तर और आनन्द का इच्छा और उन्मेष से सङ्घट्ट होने पर जैसे अन्य परामर्श का उदय कहा गया उसी प्रकार उनके क्षोभरूप ईशन और ऊनता के द्वारा भी क्यों नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो क्षोभ इच्छा और उन्मेष में रहने वाला कहा गया उस स्थिति में

ते एव शक्ती ताद्रूप्यभागिन्यौ नान्यथास्थिते।

यः = इच्छोन्मेषसत्क ईषणोनताल्क्षणः क्षोभः पूर्वमुक्तः, तं गते = तेन सह 'आद्गुणः' इत्यादिना संधिं प्राप्ते अपि, ते = अनुत्तरानन्दाख्ये शक्ती, ताद्रूप्यभागिन्यावेव = तदेव ऐकारौकारलक्षणं रूपमवश्यं भजेते, अत एव 'नान्यथास्थिते' = परामर्शान्तरात्मकत्वेन न तिष्ठतः, इति न तत्सङ्घट्टेन अनुत्तरानन्दयोः परामर्शान्तरोदय उक्तः ॥ ९७ ॥

ननु 'अनुत्तरः प्रकाश एवैकः प्रकाशते' इति ततोऽन्यत्र किञ्चिदपि संभवेत् तस्यातिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात्, तत्कथमिदमुक्तं—यदियता क्रियाशक्ति-पर्यन्तेन वैचित्र्येण स एव परिस्फुरेत् इति ? तदाह—

नन्वनुत्तरतानन्दौ स्वात्मना भेदवर्जितौ ॥ ९८ ॥
कथमेतावतीमेनां वैचित्रीं स्वात्मनि श्रितौ ।

तदेव प्रतिविधत्ते—

शृणु तावदयं संविन्नाथोऽपरिमितात्मकः ॥ ९९ ॥
अनन्तशक्तिवैचित्र्यलयोदयकलेश्वरः ।

रहकर ही वे दोनों शक्तियाँ तद्रूपता की भागिनी होती हैं अन्यथा स्थित होकर नहीं ॥ -९७, ९८- ॥

जो = इच्छा और उन्मेष में स्थित ईषण और ऊनता लक्षण वाला क्षोभ पहले कहा गया, उसके गत होने पर = उसके साथ, 'आद्गुणः' इत्यादि के द्वारा सन्धि को प्राप्त होने पर भी, वे दोनों = अनुत्तर और आनन्द नामक शक्तियाँ, उस रूप की भागिनी ही होती है = वही ऐकार औकार लक्षण वाले रूप की अवश्य भागिनी होती हैं । इसलिए अन्यथा स्थित नहीं रहती = दूसरे परामर्श के रूप में नहीं स्थित होती । इस कारण उनके सङ्घट्ट से अनुत्तर और आनन्द से दूसरे परामर्श का उदय नहीं कहा गया ॥ ९७ ॥

प्रश्न—'अनुत्तर प्रकाश ही एकमात्र प्रकाशित होता है' इसलिए उससे भिन्न दूसरा कुछ सम्भव नहीं है । क्योंकि वह अतिरेक और अनतिरेक के विकल्प से रहित है; तो फिर कैसे यह कहा गया कि क्रियाशक्ति पर्यन्त इतने वैचित्र्य के साथ वही स्फुरित होता है—यह कहते हैं—

प्रश्न है कि—अनुत्तर और आनन्द परस्पर भेदरहित हैं तो (वे) अपने अन्दर कैसे इतनी इस विचित्र स्थिति को धारण करते हैं ॥ -९८, ९९-॥

उसी का उत्तर देते हैं—

(उत्तर है)—सुनो । यह संविन्नाथ असीम है अनन्त शक्तिवैचित्र्य के लय और उदय की कलना का स्वामी है ॥ -९९, १००- ॥

अयं खलु अनुत्तरानन्दात्मा संविन्नाथः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इत्याद्युक्तेरनन्तस्य शक्तिवैचित्र्यस्य, लयोदययोः = निमेषोन्मेषयोर्यत्कलनम्—स्वात्मनो भेदेन क्षेपः, तत्र स्वतन्त्रत्वात् अपरिमितात्मकः = नियतरूपानुपग्रहात् अनवच्छिन्नस्वभावः—इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

नन्वयं संविन्नाथः किमिति नाम न नियतेन रूपेण परिस्फुरेत् ? इत्याशङ्क्याह—

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ॥ १०० ॥
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत् ।

यदि नाम महेश्वरः प्रतिनियतेन केनचिद्रूपेण अवतिष्ठेत, तदास्य घटादिन्यायेन माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च न स्यात् । एतदेव हि अस्य माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च यत् तत्तदनियतवाच्यवाचकात्मना परिस्फुरेत् इति । तथाहि—'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्' इत्याद्युक्तयुक्त्या संवित् तावदनेकाकारतया परिस्फुरति, इति नास्त्यत्र विवादः । न चास्यास्तत्तदाकारतया परिस्फुरणे 'तस्यातिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात्' अविद्यादि

यह अनुत्तरानन्दरूप संविद्नाथ—

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ हैं । शक्तिमान् तो महेश्वर है ।'

इत्यादि उक्ति से अनन्त वैचित्र्य का, लय और उदय का = निमेष और उन्मेष का जो कलन = अपने से भिन्न रूप में विक्षेप, उस विषय में स्वतन्त्र होने के कारण अपरिमितरूप = निश्चित रूप का ग्रहण न होने से अनवच्छिन्न स्वभाववाला है—यह अर्थ है ॥ ९९-१०० ॥

प्रश्न—यह संविद्नाथ निश्चित रूप से क्यों स्फुरित नहीं होता ? यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि परमेश्वर एक रूप वाले शरीर के साथ रहता तो वह घट आदि की भाँति महेश्वरत्व और संवित्त्व को छोड़ देता ॥ -१००, १०१- ॥

यदि परमेश्वर किसी निश्चित रूप से स्थित होता तो घटादि न्याय से इसका माहेश्वर्य और संविद्रूपता न होती । इसकी महेश्वरता और संविद्रूपता यही है कि (यह) भिन्न-भिन्न अनिश्चित वाच्यवाचक रूप से स्फुरण करता है । वह इस प्रकार—हम एक ही इस संविद् रूप को हर्ष विषाद आदि अनेक आकार वाले विवर्त्त को देखते हैं । उनकी यथेष्ट संज्ञायें कीजिये । इत्यादि उक्त युक्ति से संविद् अनेक आकार के रूप में स्फुरित होती है । इसमें कोई विवाद नहीं है । ऐसा नहीं है कि इसके भिन्न-भिन्न आकार के रूप में परिस्फुरण होने पर 'उसके अतिरेक अनतिरेक

निमित्तं किं तु स्व एव स्वभावो यः 'स्वातन्त्र्यम्' इति 'माहेश्वर्यम्' इति—च सर्वत्रोद्घोष्यते, तत्प्रतिनियतेऽस्य स्वरूपे प्रकाशमाने 'माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च न स्यात्, इति जाड्यमेवापतेत् । जड एव हि घटादिः 'इदमिदानीमत्र भाति' इत्येवमात्मनियतावभासो भवेत् न परः प्रकाशः ॥ १०० ॥

एतदेव हि तस्य जडाद्वैलक्षण्यं यत् स्वप्रकाशत्वात् अन्येन केनचिन्न परिच्छिद्यते । अन्यप्रमीयमाणत्वमेव हि परिच्छिन्नप्रकाशत्वं यन्नाम सर्वत्रैव जडस्य लक्षणमुच्यते । तदाह—

परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ॥ १०१ ॥
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ।

यतश्चैवम्, अतस्तत एव इयान् विश्वप्रसरः—इत्याह—

तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः ॥ १०२ ॥
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसङ्घट्टचित्रताम् ।

तेन = उक्तानेकाकारतया परिस्फुरणेन हेतुना, सिन्धोरिवोर्मयो बोधात् उल्लसनशीलाः, स्वाः = आत्मभूता इच्छाद्याः शक्तयः, स्वात्मसङ्घट्टेन =

विकल्प से उपहत होने के कारण' अविद्या आदि निमित्त है, किन्तु (इसका) अपना जो स्वभाव है (वह) स्वातन्त्र्य और माहेश्वर्य के नाम से सर्वत्र घोषित किया जाता है । तो इसके निश्चित स्वरूप के प्रकाशमान होने पर 'महेश्वरता और संविद्रूपता नहीं होगी—फलतः जाड्य ही जा जायगा । जड घट आदि ही यह इस समय यहाँ आभासित हो रहा है, इस प्रकार का निश्चित अवभास होगा न कि पर प्रकाश ॥ १०० ॥

इसकी जड से यही विलक्षणता है कि स्वप्रकाश होने के कारण अन्य किसी से परिच्छिन्न नहीं किया जाता । अन्य के द्वारा प्रमीयमाण होना ही परिच्छिन्नप्रकाशता है जो कि सर्वत्र जड का लक्षण कहा जाता है । वह कहते हैं—

(दूसरे के द्वारा) परिच्छिन्न होना और प्रकाशित होना जड का लक्षण है । चूँकि बोध जड से विलक्षण है इसलिए (उसकी) सीमा नहीं है ॥ -१०१, १०२- ॥

चूँकि ऐसा है इसलिए उसी से इतना बड़ा विश्वविस्तार होता है—यह कहते हैं—

इस कारण संविद् रूपी महासिन्धु से उठने वाली अपनी शक्तियाँ (समुद्री) लहरों के समान अपने सङ्घट्ट की विचित्रता धारण करती हैं ॥ -१०२, १०३- ॥

इस कारण = उक्त अनेक आकार में परिस्फुरण के कारण, समुद्र से तरङ्गों

परस्परलोलीभावेन, चित्रतामाश्रयन्ति = तत्तद्ग्राह्यग्राहकात्मना तत्तत्परामर्शरूपतया च परिस्फुरन्ति—इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

एतदेव च परं क्रियाशक्ते रूपम्,—इत्याह—

स्वात्मसङ्घट्टवैचित्र्यं शक्तीनां यत्परस्परम् ॥ १०३ ॥
एतदेव परं प्राहुः क्रियाशक्तेः स्फुटं वपुः ।

परं स्फुटमिति = स्फुटतमम्—इत्यर्थः, अत एव भेदप्राधान्यात् अस्याः

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून्याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपरास्तु ताः ॥'

इत्यादिलक्षितानाम् अशुद्धाध्वाधिष्ठात्रीणां घोरतरीणामपि शक्तीनां निमित्तत्वम् । इत्यवगन्तव्यम् । अघोरादीनां हि शक्तीनामिच्छाशक्तेर्ज्ञानशक्तेश्च जन्म—इत्युक्तम् ॥ १०३ ॥

शक्तित्रयसङ्घट्टात्मकत्वादेव चास्य भगवतः त्रिशूलत्वमुक्तम्—इत्याह—

अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ॥ १०४ ॥

की भाँति बोध से उल्लसनशील । स्व = आत्मभूत इच्छा आदि शक्तियाँ, स्वात्मसङ्घट्ट से = परस्पर लोलीभाव से, चित्रता का आश्रयण करती हैं = भिन्न-भिन्न ग्राह्य ग्राहक रूप तथा भिन्न-भिन्न परामर्शरूप में परिस्फुरण करती हैं ॥ १०२ ॥

और यही क्रियाशक्ति का पर रूप है । यह कहते हैं—

शक्तियों का जो परस्पर स्वात्मसङ्घट्ट का वैचित्र्य, उसी को क्रियाशक्ति का परम स्फुट शरीर कहते हैं ॥ -१०३, १०४- ॥

परस्फुट = स्फुटतम । इसीलिए भेद की प्रधानता के कारण इसका—

'जो रुद्र अणुओं का आलिङ्गन कर विषयों में संलीन अणुओं को नीचे-नीचे गिराती हैं । वे दूसरी घोरतरी शक्तियाँ है ।'

इत्यादि के द्वारा लक्षित, अशुद्ध अध्वा की अधिष्ठात्री घोरतरी शक्तियों का भी निमित्त है—ऐसा जानना चाहिये । अघोर आदि (शक्तियों) का इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति से जन्म होता है—यह कहा गया है ॥ १०३ ॥

तीनों शक्तियों के सङ्घट्टरूप होने से ही इस परमेश्वर का त्रिशूलत्व कहा गया है—यह कहते हैं—

इस चौदहवें धाम (= परामर्श) में जब तीन शक्तियाँ (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) स्फुट हो जाती हैं इस कारण शास्ता (= महेश्वर) ने मालिनी

त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ।

अत इति—क्रियाशक्तेः परं स्फुटत्वात्, 'स्फुटीभूतत्रिशक्तिके' इत्यत्र चायं हेतुः, स्फुटीभूतत्रिशक्तित्वं च त्रिशूलत्वोक्तौ हेतुः यदिच्छाज्ञानक्रियात्मकमरात्रयम् अत्रास्ति—इति भावः । यदुक्तं तत्र—

'............................त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।' इति ॥ १०४ ॥

न केवलमत्र शक्तित्रयसमावेशात् त्रिशूलत्वं भगवतोक्तं यावन्निरञ्जनत्वमपि अधिगततत्तदागमार्थैर्गुरुभिः—इत्याह—

निरञ्जनमिदं चोक्तं गुरुभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १०५ ॥
शक्तिमानञ्यते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित् ।

चो भिन्नक्रमः, तेनेदम् 'औकारलक्षणम्' चतुर्दशं धाम निरञ्जनं चोक्तम् इत्यन्वयः । यतः

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥'

विजयतन्त्र में इसको त्रिशूल कहा है ॥ -१०४, १०५- ॥

इस कारण = क्रिया शक्ति के अति स्फुट होने के कारण । 'तीन शक्ति के स्फुट होने पर' इसमें यह हेतु है । स्फुटीभूतत्रिशक्तित्व त्रिशूलत्व की उक्ति में हेतु है जो कि इसमें इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शूल हैं—यह भाव है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'त्रिशूल के द्वारा चौथा' ॥ १०४ ॥

इसमें केवल तीन शक्तियों के समावेश के कारण त्रिशूलत्व ही भगवान के द्वारा नहीं कहा गया है बल्कि भिन्न-भिन्न आगमों के अर्थ के ज्ञाता गुरुओं के द्वारा (उसका) निरञ्जनत्व भी कहा गया है—यह कहते हैं—

तत्त्वदर्शी गुरुओं के द्वारा यह निरञ्जन कहा गया है । क्योंकि सर्वत्र शक्तिमान् ही व्यक्त होता है शक्ति कभी भी किसी के द्वारा (व्यक्त) नहीं होती ॥ -१०५, १०६- ॥

'च' का क्रम भिन्न है (इसे 'गुरुभिः' के साथ जोड़ना चाहिए)। इससे—यह औकार लक्षण वाला धाम चौदहवाँ और निरञ्जन कहा गया हैं—

यह अवय है । क्योंकि—

'हे प्रिये ! जैसे आलोक से दीपक का किरणों से सूर्य का दिग्विभाग आदि ज्ञात होता है उसी प्रकार शक्ति के द्वारा शिव (ज्ञात होते हैं) ।'

इत्याद्युक्त्या शक्तिमान् = परः प्रकाशः, शक्त्या अञ्ज्यते = परिमितान् प्रमातृन्प्रति व्यक्तीक्रियते उपाधीयते—इत्यर्थः । स्वप्रकाशस्य हि परस्य प्रकाशस्य परकर्तृका व्यक्तिरेवोपाधिः । शक्तिः पुनरभिव्यक्तैव तदञ्जने उपायः—इति न तस्या अपि केनचिदञ्जनं संभवेत् । नहि असंविदितं करणं कारणतामेव यायात् । इति भावः ॥ १०५ ॥

ननु इच्छादिशक्तिरिष्यमाणादिना स्वविषयेणाप्युपाधीयते एव इति कथमुक्तं 'न शक्तिः केनचिदञ्ज्यते' ?—इत्याशङ्क्याह—

इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति यत्पृथक्पृथगञ्ज्यते ॥ १०६ ॥
तदेव शक्तिमत्स्वैः स्वैरिष्यमाणादिकैः स्फुटम् ।

यत् खलु इच्छाज्ञानक्रियालक्षणाः शक्तयः, स्वैः स्वैः = प्रातिस्विकैरिष्यमाण-ज्ञेयकार्यात्मभिः विषयैः, पृथक् पृथक् = भेदेन उपरञ्ज्यते, तदेव स्फुटम्—पूर्णस्वरूपं शक्तिमत्—स एव गर्भीकृतानन्तशक्तिः परः प्रकाशः—इत्यर्थः । शक्तिर्हि नाम शक्तिमत एव स्वं रूपं किं तु फलभेदादारोपितभेदम् येन इष्यमाणाद्युपरागात् 'इच्छा' इत्यादिव्यवहारः ॥ १०६ ॥

ननु यदि इच्छादीनामेकैकशः इष्यमाणादिना उपरञ्जने शक्तिमद्रूपत्वं

इत्यादि उक्ति के द्वारा शक्तिमान् = परप्रकाश, शक्ति के द्वारा व्यक्त किया जाता है = परिमित प्रमाताओं के प्रति स्पष्ट किया जाता है अर्थात् उपहित किया जाता है । पर प्रकाश की परकर्त्तृक अभिव्यक्ति ही स्वप्रकाश की उपाधि है । शक्ति अभिव्यक्त होकर ही उसके अभिव्यञ्जन में उपाय है इसलिए उसका किसी के द्वारा अभिव्यञ्जन सम्भव नहीं है । अज्ञात करण कारण नहीं बनता—यह भाव है ॥ १०५ ॥

प्रश्न—इच्छा आदि शक्ति इष्यमाण आदि अपने विषय से उपहित होती ही है तो कैसे कहा गया कि शक्ति किसी के द्वारा व्यक्त नहीं की जाती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इच्छा, ज्ञान और क्रिया यह जो पृथक्-पृथक् व्यक्त होते हैं वही शक्ति-मान अपने इष्यमाण आदि के द्वारा स्फुट होता है ॥ -१०६,१०७- ॥

जो इच्छा ज्ञान क्रिया रूप शक्तियाँ अपने-अपने = निजी इष्यमाण ज्ञेय कार्यरूप विषयों के द्वारा, पृथक्-पृथक् = भेदपूर्वक उपरक्त होती हैं वही स्फुट = पूर्णस्वरूप वाला, शक्तिमत् = वही अनन्त शक्ति को गर्भ में रखने वाला पर प्रकाश है—यह अर्थ है । शक्ति शक्तिमान् का ही अपना रूप है किन्तु फलभेद के कारण आरोपित भेद वाला है जिससे इष्यमाण आदि उपराग के कारण इच्छा इत्यादि व्यवहार होता है ॥ १०६ ॥

प्रश्न—यदि इच्छा आदि पृथक्-पृथक् इष्यमाण आदि के द्वारा उपरंजित होने

तत्समुदितानामासां किं रूपम् ?—इत्याशङ्क्याह—

एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ॥ १०७ ॥
न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः ।

एतत्पुनः इच्छाज्ञानक्रियालक्षणं त्रितयं यदा क्रियाशक्त्यात्मना सामरस्येन प्रस्फुरेत्, तदा केनचिदपीष्यमाणादिना विषयेण इच्छादीनामीषणीयादीनां च स्वेन स्वेन विप्रतिषेधात् ईषणीयेन ज्ञानक्रिययोः नाञ्जनं ज्ञेयेनापि न इच्छाक्रिययोः, कार्येणापि न इच्छाज्ञानयोः इत्येवंरूपात् परस्परव्याहतत्वात् नोपाधेयम् = नाञ्जनीयम—इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'......................क्रिया देवी निरञ्जनम् ।' इति ॥ १०७ ॥

अत एव च एतत् त्रिशूलशब्देनोक्तम्—इत्याह—

लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ॥ १०८ ॥

अतः = अनुपहितत्वाद्धेतोर्लोलीभूतम् = स्पर्धित्वेऽप्यविभागमाप्तम्, एतच्छक्तित्रितयं त्रिशूलशब्दस्य व्यपदेश्यम्, यस्मिन्ननुपाधौ रूपे न केवलं स्वयं

पर शक्तिमद्रूप होते हैं तो इनका सामूहिक रूप क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जब ये तीनों एक होकर स्फुरित होते हैं तब (वह) अपने-अपने विप्रतिषेध के कारण किसी के द्वारा उपाधेय नहीं होते ॥-१०७, १०८-॥

यह = इच्छा ज्ञान क्रिया लक्षण वाला तीन, जब क्रियाशक्ति रूप सामरस्य से स्फुरित होता है तब किसी भी इष्यमाण आदि विषय के द्वारा इच्छा आदि और ईषणीय आदि का अपने-अपने द्वारा प्रतिषेध के कारण ईषणीय के द्वारा ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति नहीं होती । (इसी प्रकार) ज्ञेय के द्वारा भी इच्छा और क्रिया की तथा क्रिया के द्वारा इच्छा और ज्ञान की, इस प्रकार परस्प्र व्याघात के कारण कोई अभिव्यज्य (विषय) नहीं रहता—यह अर्थ है । जैसा कि कहेंगे—

'.........क्रिया देवी उपाधिरहित है ॥ १०७ ॥'

और इसीलिए इसे त्रिशूल शब्द से कहा गया है—यह कहते हैं—

इसलिए लोलीभूत जो तीन शक्तियाँ हैं वे ही त्रिशूल हैं जिसमें समावेश के कारण योगी शीघ्र निरञ्जन हो जाता है ॥ १०८ ॥

अतः = अनुपहित होने के कारण, लोलीभूत = स्पर्धी होने पर भी अविभाग को प्राप्त, यह शक्तित्रय त्रिशूल शब्द का व्यवहार्य है । जिस अनुपाधि रूप में

निरञ्जनत्वं यावत्तत्सत्तासमावेशात् प्राप्ततदैकात्म्यो योग्यपि निरञ्जनो भवेत् ॥ १०८ ॥

अथैतदेव प्रमेयान्तरावापेन उपसंहरति—

इत्थं परामृतपदादारभ्याष्टकमीदृशम् ।
ब्राह्म्यादिरूपसंभेदाद्यात्यष्टाष्टकतां स्फुटम् ॥ १०९ ॥

यदेतत् परामृतपदात् = षण्ठवर्णचतुष्टयादारभ्य शलबीजपर्यन्तमीदृशम् = यथोक्तरूपमष्टकं तद्ब्राह्म्यादेरष्टकस्य यत्सर्वसर्वात्मकं रूपं तेन प्रतिवर्ण देव्यष्टकस्य वाच्यत्वेन मिश्रीभावात्, अष्टाष्टकतां स्फुटं याति—चतुःषष्टिरूपतया प्रस्फुरति—इत्यर्थः, तेन ब्राह्मी 'ऋकारः' एवं क्रमेण यावत् 'औकारो' योगीश्वरी, पुनर्माहेश्वरी 'ऋकारः' अत्र ब्राह्मी 'औकारः' यद्वा 'ऋकारः' एवमन्यत्र ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

तदेवं क्रियाशक्तिपर्यन्तेन वैचित्र्येण परिस्फुरन्त्या अपि परस्याः संविदः स्वरूपविप्रलोपो न जातः, इत्येव द्योतयितुं बिन्दुस्वरूपं दर्शयति—

केवल स्वयं निरञ्जनत्व नहीं है बल्कि उसकी सत्ता के समावेश से तादात्म्य को प्राप्त होने वाला योगी भी निरञ्जन हो जाता है ॥ १०८ ॥

अब इसी का प्रमेयान्तर के आवाप से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार परामृत से आरम्भ करके यह अष्टक ब्राह्मी आदि रूपों के साथ मिलकर अष्टाष्टकता (८ × ८ = ६४ संख्या) को प्राप्त करता है । (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ (यह वर्णाष्टक) तथा ब्राह्मी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगेशी यह देव्यष्टक गुणित होकर ६४ बनते हैं) ॥ १०९ ॥

जो यह परामृत पद से = चार नपुंसक वर्णों से प्रारम्भ कर शूलबीज पर्यन्त. ऐसा = उक्तरूपवाला आठ, उस ग्राह्य आदि आठ का जो सर्वसर्वात्मक रूप, उस कारण प्रतिवर्ण देव्यष्ट के वाच्य होने से मिश्रीभाव होने के कारण अष्टाष्टकता को स्पष्टतया प्राप्त होता है = चौंसठ रूपों में स्फुरित होता है—यह अर्थ है । इस प्रकार ऋकार, ब्राह्मी है—इस क्रम से औकार योगीश्वरी है । पुनः ऋकार माहेश्वरी है । यहाँ औकार अथवा ऋकार ब्राह्मी है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

तो इस प्रकार क्रियाशक्ति पर्यन्त वैचित्र्य के साथ परिस्फुरित होने वाली भी परा संविद् का स्वरूप लुप्त नहीं होता—यह बतलाने के लिये बिन्दु का स्वरूप दिखलाते हैं—

अत्रानुत्तरशक्तिः सा स्वं वपुः प्रकटस्थितम् ।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेयकलाकालुष्याद्विन्दुरूपिणी ॥ ११० ॥

अत्र = एवं संस्थितेऽपि, सा = समनन्तरोक्तस्वरूपा अनुत्तरशक्तिः, स्वस्वातन्त्र्यात् ज्ञेयस्य = ग्राह्यग्राहकात्मनो भावजातस्य यत्कलनम् = इयत्तापरिच्छेदः, तेन यत्कालुष्यम् = स्वरूपगोपनात्मा सङ्कोचः, तदवलम्ब्य स्वं स्वप्रकाशं वपुः प्रकटस्थितम् = सर्वसंवेद्यतया अवतिष्ठमानं कुर्वाणापि, विन्दुरूपिणी—वेत्तीति विन्दुः विदि- क्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता, तस्य रूपम्—अविभागः परः प्रकाशः, तदेव विद्यते यस्याः—तत्स्वभावैव—इत्यर्थः । एवमपि स्वरूपान्न प्रच्युता—इति भावः ॥ ११० ॥

अत आह—

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि ।
अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः ॥ १११ ॥

इह ह्लादतैक्ष्ण्याद्यवच्छिन्नत्वेन नियतात्मनां प्रमाणाद्यात्मनां सूर्यादीनामाश्रयभूतायां क्रियाशक्तावुदितायाम् = तत्तद्वैचित्र्यात्मना परिस्फुरन्त्यामपि, अविभागो = ह्लादतैक्ष्ण्याद्युपाध्यवच्छेदशून्यः पूर्णो यः प्रकाशः स परमः, एवमपि अप्रच्युत-

---

ऐसा होने पर वह अनुत्तरशक्ति अपने शरीर को प्रकट करती हुई भी ज्ञेय कला के कालुष्य के कारण बिन्दु रूपवाली हो जाती है ॥ ११० ॥

अत्र = ऐसा होने पर भी, वह = पीछे कहे गये स्वभाव वाली अनुत्तर शक्ति अपने स्वातन्त्र्य के कारण ज्ञेय का = ग्राह्य ग्राहक रूप पदार्थसमूह का जो कलन = सीमानिर्धारण, उससे (उत्पन्न) जो मलिनता = स्वस्वरूपगोपनरूप सङ्कोच, उसका आश्रयलेकर अपना स्वप्रकाश शरीर, प्रकट स्थित = सर्वसंवेद्य के रूप में अवस्थित करती हुई भी बिन्दुरूपिणी = वेत्ति (जानता है) इसलिए बिन्दु = ज्ञानक्रिया के विषय में स्वतन्त्र प्रमाता, उसका रूपविभागरहित पर प्रकाश, वही जिसके पास है = उस स्वभाववाली । तो भी अपने रूप से च्युत नहीं हुई—यह भाव है ॥ ११० ॥

इसलिए कहते हैं—

सोम सूर्य और अग्नि स्वरूपों में क्रियाशक्ति के व्यक्त होने पर जो विभागरहित प्रकाश है वह हम लोगों का परम बिन्दु है ॥ १११ ॥

ह्लाद, तीक्ष्णता आदि से अवच्छिन्न होने के कारण निश्चित स्वरूप एवं प्रमाण स्वरूप सूर्य आदि की आश्रयभूत क्रियाशक्ति के उदित होने पर भिन्न-भिन्न वैचित्र्य के रूप में स्फुरण करने पर भी अविभाग = ह्लाद तीक्ष्णता आदि उपाधि के

स्वरूपत्वादत्युत्कृष्टोऽस्मद्दर्शने 'विन्दुः' विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परप्रमात्रेकरूपः परमेश्वरः शिवः—इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति ।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवविन्दुरसौ मतः ॥' इति ॥ १११ ॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

तत्त्वरक्षाविधाने च तदुक्तं परमेशिना ।
हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थो नरशक्तिशिवात्मकः ॥ ११२ ॥
बोद्धव्यो लयभेदेन विन्दुर्विमलतारकः ।

तदेवाह—हृत्पद्मेत्यादि । बिन्दुः = वेदयिता परः प्रकाशः, स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमवबिभासयिषुः

'त्रिषु स्थानगतो विन्दुमेकत्रैव विभावयेत् ।'

इत्याद्युक्त्या द्वादशान्तभ्रूमध्यहृदयलक्षणेषु स्थानेषु, लयस्य = विश्रान्तेर्भेदात्, नरशक्तिशिवात्मको बोद्धव्यः—इच्छाद्यात्मकशिवविद्यात्मलक्षणतत्त्वत्रयरूपतया प्रस्फुरितः = इत्यर्थः । एवमप्यसौ हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थः संकुचितात्मतायाः प्राधान्यात् भेदभूमावेव प्राप्तप्ररोहः—इत्यर्थः । एवमपि नासौ स्वस्वरूपात्प्रच्युतः

अवच्छेद से शून्य जो पूर्ण प्रकाश वह परम है । ऐसा होने पर भी स्वरूप के च्युत न होने के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट हमारे दर्शन में 'बिन्दु' = ज्ञानक्रिया में स्वतन्त्र केवल परप्रमातृरूप परमेश्वर शिव हैं—यह अर्थ है । जैसा कि कहेंगे—

'यहाँ तीन धाम के स्थित होने पर जो प्रकाशमात्र बिन्दुरूप में कहा गया है शास्त्र में वह शिव बिन्दु माना गया है' ॥ १११ ॥

यह अपनी बुद्धि से ही नहीं कहा गया है—यह कहते हैं—

वही परमेश्वर ने तत्त्वरक्षाविधान (नामक ग्रन्थ) में कहा है—हृदयकमल मण्डल के भीतर स्थित नर शक्ति और शिवस्वरूप जो विमलतारक बिन्दु है उसे लय भेद के द्वारा जानना चाहिये ॥ ११२-११३- ॥

वही कहते हैं—हृदयकमल इत्यादि । बिन्दु = ज्ञाता परप्रकाश । अपने स्वातन्त्र्य से विश्व को अवभासित करने की इच्छा वाला—

'तीन स्थानों में स्थित बिन्दु की एक स्थान पर भावना करना चाहिये ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा द्वादशान्त, भ्रूमध्य, हृदय रूप तीन स्थानों में लय के = विश्रान्ति के भेद से नर शक्ति, शिव स्वरूप जानना चाहिये । (वह बिन्दु) इच्छादि रूप शिव विद्या आत्मा रूप तीन तत्त्व के रूप में प्रस्फुरित है—यह अर्थ है । ऐसा होने पर भी यह हृदयकमलमण्डल के भीतर स्थित सङ्कोच के प्रभाव की प्रधानता के कारण भेदभूमि में ही प्ररोह को प्राप्त है । ऐसा होने पर भी यह

इत्याह—विमलतारक इति । विमलः = तत्तद्वैचित्र्योल्लासेऽपि संविन्मात्ररूपत्वात् शुद्धः, अत एव संसाराब्धेस्तारकः ॥ ११२ ॥

न केवलं परामर्शनीयविश्ववैचित्र्यात्मना परिस्फुरतोऽस्य न स्वस्वरूपात् प्रच्यावो यावत्तत्तत्परामर्शात्मनापि—इत्याह—

योऽसौ नादात्मकः शब्दः सर्वप्राणिष्ववस्थितः ॥ ११३ ॥
अध ऊर्ध्वविभागेन निष्क्रियेणावतिष्ठते ।

इह योऽसौ विन्दुः स तत्तत्परामर्शात्मतामुल्लिलासयिषुः 'नादात्मकः शब्दः' तद्रूपतया स्फुरतीत्यर्थः । शब्दयति = स्वाभेदेन विश्वं परामृशतीति शब्दः, परावाग्रूपो विमर्शः, स च नादात्मकः = नदति सर्वेषामेव जीवकलात्वेन परिस्फुरतीति नादो 'हकारार्धार्धरूपिणी अमा कला' यैव मुख्यया वृत्त्या सर्वत्र अस्वरत्वेन व्यपदिश्यते, तस्यात्मा = तद्रूपतया अवभासते इति यावत् । स एव च

'अकारः सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थितः ।'

इत्याद्युक्त्या सर्वेषामेव वर्णानाम्, अधऊर्ध्वविभागेन = अनुत्तरात् शूलबीजपर्यन्तं हकारपर्यन्तं वा प्राणनरूपत्वेनावस्थितः—सर्व एव परामर्शराशिस्तत्स्फार-

---

स्वरूप से च्युत नहीं होता—यह कहते हैं—विमलतारक । विमल = भिन्न-भिन्न वैचित्र्य का उल्लास होने पर भी संविन्मात्र रूप होने से शुद्ध इसलिए संसारसमुद्र से पार कराने वाला है ॥ ११२ ॥

परामर्शनीय विश्ववैचित्र्य के रूप में स्फुरित होने वाले इसकी अपने स्वरूप से च्युति नहीं होती इतना ही नही है बल्कि भिन्न-भिन्न परामर्शरूप से भी (च्युति नहीं होती)—यह कहते हैं—

सभी प्राणियों में स्थित जो यह नादात्मक शब्द है वह निष्क्रिय अधः ऊर्ध्व विभाग कर स्थित है ॥ -११३, ११४- ॥

जो यह बिन्दु है वह भिन्न-भिन्न परामर्शरूपता को उल्लसित करने की इच्छा वाला 'नादात्मक शब्द' उस रूप में स्फुरित होता है । शब्दन करता है = अपने से अभिन्न रूप में विश्व का परामर्शन करता है । अतः शब्द = परावाक् रूप विमर्श । और वह नादात्मक है = नदन करता है = सभी का जीव कला रूप में परिस्फुरण करता है अतः नाद = हकार का आधा आधा रूपी अमाकला जो कि सर्वत्र मुख्य वृत्ति से अस्वर रूप में व्यवहृत होती है, उसका आत्मा अर्थात् उस रूप में अवभासन करता है । और वही—

'अकार सभी वर्णों के अन्तर्यामी रूप में स्थित है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा सभी वर्णों के अधः ऊर्ध्व विभाग से = अनुत्तर से लेकर शूल बीजपर्यन्त अथवा हकारपर्यन्त प्राण रूप से स्थित है । उसका स्फार ही

सारर एव—इत्यर्थः । अथ च स एव सर्वेषां प्राणिनामध ऊर्ध्वविभागेन = सूर्याचन्द्रात्मप्राणापानप्रवाहरूपतयाप्यवस्थितः, सैव हि 'परा जीवकला'—इति भावः । एवमप्यसौ निष्क्रियेण रूपेणावतिष्ठते = क्रियाशक्तिपर्यन्तं तत्तद्वैचित्र्यात्मना परिस्फुरणेऽपि नास्य स्वस्वरूपात् प्रच्यावः—इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

ननु उदितायां क्रियाशक्तौ, ह्लादतैक्ष्ण्याद्यवच्छिन्नः सोमसूर्यादिः प्रतिनियतः प्रकाशः प्रकाशते, यः स्वमन्यच्च निखिलमेव प्रकाशयति, यः पुनरविभागः परः प्रकाश उक्तः स किं तदात्मकः उत तत्प्रकाश्योऽन्यो वा ?—इत्याशङ्कयाह—

ह्लादतैक्ष्ण्यादि वैचित्र्यं सितरक्तादिकं च यत् ॥ ११४ ॥
स्वयं तन्निरपेक्षोऽसौ प्रकाशो गुरुराह च ।

यत्खलु चन्द्रसूर्यादिगतं ह्लादतैक्ष्ण्याद्यात्म सितरक्ताद्यात्म च वैचित्र्यं तदसौ परः प्रकाशः स्वात्मना नापेक्षते—नियतरूपत्वाभावात्तदेकात्मको न भवेत्, नापि स्वप्रकाशत्वात्तत्प्रकाश्यः । तेन नासौ सूर्यादिरूपः तत्प्रकाश्यो वा, अपि तु सूर्यादिधामत्रयानुप्राणकः परप्रमात्रेकरूपः । आदिशब्दद्वयाच्च दाहकत्वं दाह्यभेदोत्थं नानावर्णत्वं च ग्राह्यम् । एतच्च केवलं नास्माभिरेवोक्तं यावद्भगवता वासुदेवेनापि —इत्युक्तम्—'गुरुराह च' इति । यद्गीतम्

सभी परामर्शराशि का सार है । साथ ही वही सभी प्राणियों के अधः ऊर्ध्व विभाग के रूप में = सूर्य चन्द्रस्वरूप प्राण अपान के प्रवाह के रूप में भी स्थित है । वही परा जीवकला है—यह भाव है । इतना होने पर भी वह निष्क्रियरूप से स्थित रहता है । अर्थात् क्रियाशक्तिपर्यन्त भिन्न-भिन्न वैचित्र्यरूप से स्फुरण पर भी यह अपने स्वरूप से (कभी) च्युत नहीं होता ॥ ११३ ॥

प्रश्न—क्रियाशक्ति के उदित होने पर ह्लाद तीक्ष्णता आदि से अवच्छिन्न निश्चित प्रकाश वाले सोम सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं जो अपने को और दूसरे को भी प्रकाशित करते हैं; जो पुनः विभागरहित पर प्रकाश कहा गया है वह क्या तदात्मक है अथवा उससे प्रकाश्य कोई दूसरा है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो ह्लाद तैक्ष्ण्य आदि तथा सितरक्त आदि (भेद) है यह निरपेक्ष प्रकाश स्वयं हैं । ऐसा गुरु ने कहा भी है ॥ -११४, ११५- ॥

जो चन्द्रमा सूर्य आदि में स्थित ह्लाद तीक्ष्णता आदि रूप तथा श्वेत रक्त आदि रूप वैचित्र्य तथा वह पर प्रकाश स्वयं अपेक्षा नहीं रखता = निश्चित रूप न होने से तदेकात्मक नहीं होता और न तो स्वप्रकाश होने के कारण उससे प्रकाश्य है । इसलिए न तो यह सूर्य आदि के रूपवाला है और न उससे प्रकाश्य है, बल्कि सूर्य आदि तीन तेजों का प्राणदायक केवल परप्रमाता रूप है । दो आदि शब्दों से दाहकत्व और दाह्यभेद से उत्पन्न अनेक वर्णता का ग्रहण करना चाहिये । यह केवल हमारे द्वारा ही नहीं कहा गया बल्कि भगवान् वासुदेव के द्वारा भी—इसलिए

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम ॥' इति ॥ ११४ ॥

एतदेवार्थद्वारेण दर्शयति—

यत्र सूर्यो न वा सोमो नाग्निर्भासयतेऽपि च ॥ ११५ ॥

न चार्कसोमवह्नीनां तत्प्रकाशाद्विना महः ।
किमप्यस्ति निजं किं तु संविदित्थं प्रकाशते ॥ ११६ ॥

यत्परमं धाम न प्रतिनियतसूर्याद्येकरूपमपि भासयते च—स्वाभासत्वात् सूर्याद्यवभास्यो न स्यात्, प्रत्युत सूर्यादीनां प्रकाश्यत्वात् तत्प्रकाशमन्तरेण प्रकाशमानतैव न स्यात् इति—पर एव प्रकाशः तत्तत्सूर्याद्यात्मना प्रस्फुरेत् । अत एवोक्तम् 'किं तु संविदित्थं प्रकाशते' इति ॥ ११५-११६ ॥

ननु यद्येवं तर्हि त्रयाणामपि तेजोरूपत्वाविशेषेऽपि तैक्ष्ण्याद्यात्म वैचित्र्यं कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वस्वातन्त्र्यप्रभावोद्यद्विचित्रोपाधिसङ्गतः ।
प्रकाशो याति तैक्ष्ण्यादिमवान्तरविचित्रताम् ॥ ११७ ॥

कहा गया—और गुरु कहते हैं । जैसा कि गीता में कहा गया—

'उसको न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि । जहाँ जाकर (= जिसको जानकर) (लोग) वापस नहीं आते (= जन्म नहीं लेते) वह मेरा परमधाम है' ॥ ११४ ॥

इसी को अर्थ के द्वारा दिखलाते हैं—

जिसको न सूर्य न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाशित करता है । और उसके प्रकाश के बिना सूर्य, चन्द्र और अग्नि का कुछ अपना तेज (= महत्त्व) भी नहीं है । किन्तु संविद् ही इस प्रकार प्रकाशित हो रही है ॥ -११५-११६ ॥

जो परमधाम निश्चित सूर्य आदि एक रूप में भासित नहीं होता = स्वप्रकाश होने के कारण सूर्य आदि के द्वारा प्रकाश्य नहीं होता बल्कि सूर्य आदि के प्रकाश्य होने के कारण उसके प्रकाश के बिना प्रकाशमानता ही नहीं होगी । इस प्रकार परप्रकाश ही भिन्न-भिन्न सूर्य आदि के रूप में प्रस्फुरित होता है । इसीलिए कहा गया कि 'किन्तु इस प्रकार संविद् ही प्रकाश करती है' ॥ ११५-११६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो तीनों के ही समान तेजोरूप होने के कारण तीक्ष्णता आदि रूप विचित्रता कहाँ से आयी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से उत्पन्न विचित्र उपाधियों के आसङ्ग (=

स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् उद्यत्पार्थिवाप्यद्रव्यादिरूपो योऽसौ उपाधिः तेन वैशिष्ट्यमापादितः = अर्थात्तेजोरूपतामप्युपगतः प्रकाशः, तैक्ष्ण्याद्यात्म वैचित्र्यान्तरं याति = तद्रूपतया प्रस्फुरति—इत्यर्थः । पर एव हि प्रकाशः पार्थिवादि-द्रव्याभाससंभिन्नो वह्न्यात्मना, आप्यद्रव्यावभासोपहितश्चन्द्रात्मना, शुद्धतेजोमात्राव-भासोपरक्तश्च सूर्यात्मना प्रस्फुरन् दाहकत्वह्लादकत्वतीक्ष्णत्वादिरूपां विचित्रतामव-भासयेत् ॥ ११७ ॥

ननु उपाधियोगमात्रादेव कथमेवं स्वरूपातिशायकमपि वैचित्र्यं भवेत् ? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन उपशमयति—

दुर्दर्शनोऽपि घर्मांशुः पतितः पाथसां पथि ।
नेत्रानन्दत्वमभ्येति पश्योपाधेः प्रभाविताम् ॥ ११८ ॥

दृष्टिघातकृदपि तीक्ष्णांशुः स्तैमित्यभाजि जलाशयादौ प्रतिबिम्बितो दुर्दर्शनत्व-परिहारेण सुस्वावलोकनीयतामेति, इति दृष्ट एव सर्वत्रायम् उपाधेः प्रभावो यदुपाधेयस्य स्वरूपमतिशाययतीति ॥ ११८ ॥

एवमुपहितसर्वरूपत्वादेव सूर्यादिप्रकाशः स्वप्रकाशने संवित्प्रकाशमपेक्षते—इत्याह—

सम्बन्ध) से (यह) प्रकाश तैक्ष्ण्य आदि अवान्तर विचित्रता को प्राप्त होता है ॥ ११७ ॥

अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से प्रकट होने वाले पार्थिव और जलीय द्रव्य आदि रूप जो उपाधि उसके द्वारा वैशिष्ट्य को प्राप्त हुआ अर्थात् तेजोरूपता को भी प्राप्त जो प्रकाश, तीक्ष्णता आदि रूप विचित्रता को प्राप्त होता है = उस रूप में स्फुरित होता है । पर प्रकाश पार्थिव आदि द्रव्याभास से सम्भिन्न वह्नि रूप से, आप्य द्रव्यावभास से उपहित चन्द्ररूप में, शुद्धतेजो मात्र के अवभास से उपरक्त सूर्य रूप में स्फुरित होता हुआ दाहकत्व, ह्लादकत्व, तीक्ष्णत्व आदि रूप विचित्रता को अवभासित करता है ॥ ११७ ॥

प्रश्न—केवल उपाधि के योग से ही किस प्रकार ऐसा स्वरूपातिशायी वैचित्र्य होता है ? इस शङ्का को दृष्टान्त के प्रदर्शन से शान्त करते हैं—

उपाधि के प्रभाव को देखिये—दुर्दर्शनीय सूर्य जब जलाशय आदि में गिरता (= प्रतिबिम्बित) होता है तब आँखों को आनन्द देता है ॥११८॥

दृष्टि को नष्ट करने वाला भी सूर्य शान्त जलाशय आदि में प्रतिबिम्बित होकर दूर्दर्शनत्व का परिहार कर सुखदृश्यता को प्राप्त होता है—यह उपाधि का प्रभाव सर्वत्र देखा गया है कि वह उपाधेय के स्वरूप को बढ़ा देता है ॥ ११८ ॥

इस प्रकार स्वरूप के उपाधियुक्त होने के कारण ही सूर्य आदि का प्रकाश

सूर्यादिषु प्रकाशोऽसावुपाधिकलुषीकृतः ।
संवित्प्रकाशं माहेशमत एव ह्यपेक्षते ॥ ११९ ॥

संविच्छब्देनात्र जडात् सूर्यादिप्रकाशात् परस्य प्रकाशस्य वैलक्षण्यं दर्शितम् ॥ ११९ ॥

एवमप्येषां यथासंभवं स्वरूपं दर्शयति—

प्रकाशमात्रं सुव्यक्तं सूर्य इत्युच्यते स्फुटम् ।
प्रकाश्यवस्तुसारांशवर्षि तत्सोम उच्यते ॥ १२० ॥

सुव्यक्तमिति = आप्यद्रव्याद्यनुपहितम्—इत्यर्थः, सूर्यस्य शुद्धं प्रकाशमात्रमेव रूपम्—इति भावः । अत एव चास्य प्रमाणत्वम्, तस्य हि ज्ञानमात्रमेव विवक्षितं रूपम् । स्फुटम् = सर्वजनसाक्षिकम् । प्रकाश्यानि मेयानि यानि वस्तूनि तेषां सुखदुःखमोहमयत्वात् अंशद्वयापेक्षया यः सारः = सुखकार्याह्लादादिरूप उत्कृष्टोंऽशः

..........................सोमो वर्षति चामृतम् ।'

इत्याद्युक्त्या, तं वर्षति = तेन सर्वमिदं भावजातं सिञ्चति, आह्लादमयमेव

अपने प्रकाशन में संवित् के प्रकाश की अपेक्षा करता है—यह कहते हैं—

सूर्य आदि के अन्दर यह प्रकाश (जड़, सूर्य आदि) उपाधि के द्वारा कलुषित कर दिया गया है । इसीलिए परमेश्वर के संविद् रूपी प्रकाश की अपेक्षा होती है ॥ ११९ ॥

संवित् शब्द देने से यहाँ जड सूर्य आदि के प्रकाश से पर प्रकाश की विलक्षणता दिखलायी गई ॥ ११९ ॥

फिर भी इनका यथासम्भव स्वरूप दिखलाते हैं—

सुव्यक्त प्रकाशमात्र सूर्य कहा जाता है—यह स्पष्ट है । जो प्रकाश्य वस्तु के सारांश की वर्षा करने वाला है वह चन्द्रमा कहलाता है ॥ १२० ॥

सुव्यक्त = जलीय द्रव्य आदि से अनुपहित । सूर्य का स्वरूप शुद्ध प्रकाशमात्र ही है—यह तात्पर्य है । और इसीलिये यह प्रमाण है । क्योंकि ज्ञानमात्र ही उसका विवक्षित रूप है । स्फुट = सबको अनुभूत होने वाला । जितनी वस्तुयें प्रकाश्य और प्रमेय हैं उनके सुख दुःख मोहमय होने के कारण दोनों अंशों की अपेक्षा जो तत्त्व = सुखकारी आह्लाद आदि रूप उत्कृष्ट अंश

'चन्द्रमा अमृत की वर्षा करता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा, उसकी वर्षा करता है = उससे इस समस्त पदार्थ

करोति इत्येवंविधं सत् तत्प्रकाशमात्रं 'सोम:' उच्यते = सोमशब्देन व्यपदिश्यते —इत्यर्थ: ।

अत एव च आह्लादात्ममेयांशप्राधान्यात् अस्य मेयत्वं यदभिप्रायेण अनयो:

'ज्ञानशक्ति: परस्यैषा तपत्यादित्यविग्रहा ।' इति ।

तथा

'चन्द्ररूपेण तपति क्रियाशक्ति: शिवस्य तु ।'

एवं च

सूर्य प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते ।

एवं सूर्यसोमयो: स्वरूपमभिधाय वह्नेरप्यभिधत्ते—

अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ ॥ १२१ ॥
भोक्तृभोग्योभयात्मैतदन्योन्योन्मुखतां गतम् ।
ततो ज्वलनचिद्रूपं चित्रभानुः प्रकीर्तितः ॥ १२२ ॥
योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत् ।

-समूह को सींचता है = आह्लादयुक्त कर देता है । इसलिए ऐसा होता हुआ वह प्रकाशमात्र सोम कहलाता है = सोम शब्द से व्यवहृत होता है ।

इसीलिए आह्लाद रूप मेय अंश की प्रधानता के कारण यह मेय है जिस अभिप्राय से इन दोनों को—

'पर (तत्त्व) की यह ज्ञानशक्ति सूर्य के शरीर के रूप में ताप करती है ।'

तथा,

शिव की क्रिया शक्ति चन्द्ररूप मे तपती है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा ज्ञान क्रिया शक्ति रूप कहा गया है । और इस प्रकार—

सूर्य को प्रमाण और चन्द्रमा को प्रमेय कहते हैं । ये दोनों स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर अवियुक्त होकर स्थित रहते हैं । भोक्ता भोग्य और उभयात्मक यह परस्परापेक्ष होते हैं । इस कारण ज्वलन चिद् रूप को चित्रभानु (= अग्नि) कहा गया है । बह्नि का जो यह परम तत्त्व है वह प्रमाता का ही है ॥ १२१-१२३- ॥

इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा के स्वरूप का निर्वचन कर अग्नि के (स्वरूप का) भी निर्वचन करते हैं—

तौ उभौ = सूर्याचन्द्रौ, स्वतन्त्रौ = परस्परनैरपेक्ष्येण प्रमाणप्रमेयात्मना पृथग्व्यवहार्यौ अपि, अन्योन्यमवियुक्तौ = सहोपलम्भनियमादभेदमापन्नौ—इत्यर्थः, न खलु ज्ञानं ज्ञेयानारूषितं क्वचिदपि उपलभ्यते ज्ञानं विना वा ज्ञेयमिति। यदाहुः—

'स्फटिकस्येव ह्युपाश्रयशून्यस्य ज्ञानस्य स्वरूपमनिरूप्यम् ।' इति।

तथा

'नावेदनमतो वेद्यम्.......................... ।' इति ।

अत एव एतत्सूर्याचन्द्रात्मद्वयं ग्राह्यग्राहकरूपत्वात्परस्परौन्मुख्यं प्राप्तं सत्, भोक्ता = बुद्ध्याद्यात्मा संकुचितः प्रमाता तन्मयत्वात् प्रमाणमपि भोक्ता, भोग्यं च नीलसुखादि तयोर्यत् लोलीभावमापन्नं सत् उभयं तदात्मा यस्य तत्—भोक्तृभोग्यसङ्घट्टस्वभावम्—इत्यर्थः । यतश्चैवं ततो भोक्तृभोग्यसङ्घट्टलक्षणाद्धेतोश्चित्राः = नानाकारा मानमेयादिरूपा भानवो यस्यासौ अग्निरुक्तः, यदुक्तम्—

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः सङ्घट्टात्सोमसूर्ययोः ।' इति ।

स च प्रमाणप्रमेयविभागात्मनो भेदस्य दाहकत्वात् ज्वलनप्रधाना चिद् रूपं यस्य सः, परिमितप्रमातृरूप—इत्यर्थः । तस्य हि प्रमाणप्रमेययोः संमेलनमेव

वे दोनों सूर्य और चन्द्र, स्वतन्त्र = परस्पर निरपेक्ष हो कर प्रमाण प्रमेय रूप में अलग-अलग व्यवहार्य होते हुए भी, एक दूसरे से वियुक्त नहीं हैं अर्थात् सहोपलम्भ नियम से अभिन्नता को प्राप्त हैं । ज्ञान ज्ञेय से रहित होकर अथवा ज्ञान के बिना ज्ञेय कहीं भी उपलब्ध नहीं होता । जैसा कि कहते हैं—

'स्फटिक के समान उपाधिशून्य ज्ञान का स्वरूप निरूपणीय नहीं है ।'

तथा,

'बिना ज्ञान के ज्ञेय नहीं है ।'

इसीलिए यह सूर्यचन्द्र रूप दोनों ग्राह्य ग्राहक रूप होने से परस्पर उन्मुखता को प्राप्त हुए, भोक्ता = बुद्धि आदि रूप संकुचित प्रमाता, तन्मय होने के कारण प्रमाण भी भोक्ता है और भोग्य है नील सुख आदि । उन दोनों का जो लोलीभाव को प्राप्त हुआ दोनों, वही है आत्मा जिसकी वह अर्थात् भोक्ता और भोग्य के सङ्घट्ट स्वभाव वाला । चूँकि ऐसा है इसलिए भोक्तृ भोग्य सङ्घट्ट लक्षणवाला होने के कारण विचित्र = अनेक प्रकार की प्रमाण प्रमेय आदि किरणें हैं जिसकी वह अग्नि कहा गया है । जैसा कि कहा गया है—

'सोम और सूर्य के सङ्घट्ट से शुचि नामक अग्नि उत्पन्न हुआ ।'

और वह प्रमाणप्रमेय विभाग रूप भेद का दाहक होने के कारण ज्वलनप्रधान चित् रूप है जिसका वह = परिमित प्रमाता रूप । प्रमाण प्रमेय का संमेलन ही

रूपम्—इत्यर्थः, वह्नेरप्येवम् इति तस्य प्रमातृत्वम्, अत आह—योऽयमित्यादि, परमित्यसाधारणम् ॥ १२१-१२२ ॥

ननु वह्नेः परापेक्षप्रकाशत्वात् समनन्तरमेव जाड्यमुक्तं तत्कथमसौ चेतनैकवपुषः प्रमातुस्तत्त्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

संविदेव तु विज्ञेयतादात्म्यादनपेक्षिणी ॥ १२३ ॥
स्वतन्त्रत्वात्प्रमातोक्ता विचित्रो ज्ञेयभेदतः ।

संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् विज्ञेयेन = भोक्तृभोग्यात्मना वह्निना ऐकात्म्यासादनात् 'प्रमाता' इति उच्यते । अत एवोक्तम्—अनपेक्षिणीति । वह्निरूपतामासाद्यापि संविदो न स्वरूपप्रच्यावः—इति भावः । ननु यदि संविद एव प्रमातृत्वं तत्तस्या आखण्ड्यात् तद्रूपस्यापि प्रमातुः कथं वैचित्र्यं सङ्गच्छते ?—इत्याशङ्क्याह—

'विचित्रो ज्ञेयभेदतः' इति, ज्ञेयस्य = कलाद्यात्मनः तत्त्वव्रातस्य भेदात् = वैचित्र्यात्—इत्यर्थः, कलादीनां हि किञ्चित्कर्तृत्वाद्यविशेषेऽपि तत्तत्कर्माधिपत्याद-स्त्येव सर्वसंवेद्यं तारतम्यं येनायमुपाधिमाहात्म्यापन्नः प्रमातृभेदः इति ॥ १२३ ॥

उसका रूप है । अग्नि का भी ऐसा ही है इसलिए वह प्रमाता है । इसलिये कहते हैं—जो यह... इत्यादि । पर = असाधारण ॥ १२१-१२२ ॥

प्रश्न—परापेक्ष प्रकाशवाला होने के कारण अग्नि की जड़ता अभी-अभी कही गई, तो यह चेतन शरीर वाले प्रमाता का तत्त्व कैसे होगा—यह शङ्का कर कहते हैं—

संविद् ही विज्ञेय के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण निरपेक्ष है। स्वतन्त्र होने के कारण प्रमाता कही गयी है और (वह प्रमाता) ज्ञेय के भेद के कारण विचित्र है ॥ -१२३, १२४- ॥

संविद् ही अपने स्वातन्त्र्य से विज्ञेय = भोक्तृभोग्य रूप अग्नि के साथ ऐकात्म्य प्राप्त करने के कारण प्रमाता कही जाती है । इसीलिए कहा गया—अनपेक्षिणी । अग्निरूपता को प्राप्त कर भी संविद् अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती । यह तात्पर्य है । प्रश्न—यदि संविद् ही प्रमाता है तो उसके अखण्ड होने से उस रूप वाले प्रमाता का वैचित्र्य कैसे सङ्गत होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'ज्ञेय भेद के कारण (वह) विचित्र है ।' ज्ञेय = कला आदि रूप तत्त्वसमूह के भेद = वैचित्र्य के कारण—यह अर्थ है । कला आदि के किञ्चित्कर्तृत्व आदि समान होने पर भी भिन्न-भिन्न कर्मों के आधिपत्य के कारण सर्वसंवेद्य तारतम्य है ही जिससे उपाधि की महिमा के कारण यह प्रमातृभेद प्राप्त होता है ॥ १२३ ॥

अत एवाग्निरपि तथा—इत्याह—

सोमांशदाह्यवस्तूत्थवैचित्र्याभासबृंहितः ॥ १२४ ॥
तत एवाग्निरुदितश्चित्रभानुर्महेशिना ।

ततः = प्रमातुर्विचित्रत्वादेव, प्रभुणाग्निरपिचित्रा = भोक्तृभोग्यादिरूपा भानवो यस्य स तत्तन्मानमेयादिविचित्रस्फार उक्तः, यतो = मेयात्मनः सोमस्य कलादि-रूपा अंशा एव दाह्यानि = आत्मसात्कार्याणि वस्तूनि तेभ्यः तारतम्यादिना उत्थितेन वैचित्र्याभासेन बृंहितः = वैशिष्ट्यमापादितः = इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

ननु प्रमातुः प्रमेयोपाधिवैचित्र्यमुक्तं प्रमेयं च प्रमात्रपेक्षया पृथगेव न प्रकाशते इति वैचित्र्यचर्चा दूर एवास्तां प्रमातृत्वमेव पुनरस्याः संविदः कथं घटते ?—इत्याशङ्क्याह—

ज्ञेयाद्युपायसङ्घातनिरपेक्षैव संविदः ॥ १२५ ॥
स्थितिर्मातामहमस्मीति ज्ञाता शास्त्रज्ञवद्यतः ।

ज्ञातृतोपायभूततत्तन्नीलसुखाद्यात्मज्ञेयनिरपेक्षैव संविदः 'अहमस्मि' इत्यामर्शमयी या स्थितिः, स 'माता' = पराहंपरामर्शस्वभावो ज्ञाता—इत्यर्थः । ज्ञेयनैरपेक्ष्येण

इसलिए अग्नि भी वैसा है—यह कहते हैं—

इसीलिए सोम के अंशभूत दाह्यवस्तु से उत्पन्न वैचित्र्य के आभास से विशिष्ट हुई अग्नि परमेश्वर के द्वारा चित्रभानु कही गयी है ॥ -१२४,१२५- ॥

इस कारण = प्रमाता के विचित्र होने से, प्रभु के द्वारा अग्नि भी विचित्र = भोक्ताभोग्य आदि रूप वाली किरणें हैं जिसकी वह = भिन्न-भिन्न प्रमाण प्रमेय आदि विचित्र स्फार वाला कहा गया । क्योंकि मेयरूप सोम के कलादि रूप अंश ही दाह्य = आत्मसात् करने योग्य वस्तुयें, उनसे तारतम्य आदि के द्वारा उत्थित वैचित्र्याभास से, वृंहित = वैशिष्ट्य को प्राप्त हैं—यह अर्थ है ॥ १२४ ॥

प्रश्न—प्रमाता का प्रमेयोपाधिवैचित्र्य कहा गया और प्रमेय प्रमाता की अपेक्षा पृथक् प्रकाशित होता नहीं फिर वैचित्र्य की चर्चा तो दूर रहे, इस संविद् का प्रमातृत्व ही कैसे घटित होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ज्ञेय आदि उपायसङ्घात से निरपेक्ष 'मैं हूँ' यह संविद् की स्थिति प्रमाता (कहलाती है) । जिसके कारण शास्त्रज्ञ के समान (लोक में उस संविद् के लिये) 'ज्ञाता' (व्यवहार) होता है ॥ -१२५, १२६- ॥

ज्ञातृता का उपायभूत जो भिन्न-भिन्न नील सुखादिस्वरूप ज्ञेय उससे निरपेक्ष ही 'मै हूँ' इस प्रकार के आमर्शवाली जो संविद् की स्थिति वह माता = पर अहंपरामर्शस्वभाव वाला ज्ञाता है—यह अर्थ है । ज्ञेयनिरपेक्षता के कारण

च अहंपरामर्शस्य विकल्पात् वैलक्षण्यं दर्शितम् । 'कृशोऽहम्' इत्यादौ अहंप्रत्यवमर्शो हि विकल्प एव, प्रतियोगिभूतस्य अकृशत्वादेरपोह्यस्य सम्भवात् । तस्य हि तदतद्रूपधर्मिप्रतियोगिसापेक्षित्वमेव रूपम् । परप्रमात्रात्मनि प्रकाशे पुनरहंप्रत्यवमर्शः प्रवर्तमानोऽतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात् प्रतियोगिनः कस्यापि असंभवात् न विकल्पः । यदाहुः—

'अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः ।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः ॥' इति ।

ननु प्रमातुरहंविमर्श एव स्वभावोऽस्तु, तस्यापि वा विकल्पाद्वैलक्षण्यम्, किमनेन नः प्रयोजनम्, ज्ञेयं विना पुनरस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् ?—इत्याशङ्क्य उक्तम् 'शास्त्रज्ञवद्यतः' इति । यथा शास्त्रज्ञस्य व्याचिख्यासादिविरहेऽपि शास्त्राणां स्वात्माभेदेन वर्तमानत्वात् तत्र ज्ञातृत्वमुच्यते तथा परस्यापि प्रमातुः सर्वभावनिर्भरत्वात् आत्मसंस्थ एव ज्ञेयजात—इति ॥ १२५ ॥

ननु प्रमासंबन्धात् प्रमाता उच्यते, प्रमा च व्यतिरिक्तज्ञेय-विषयात्प्रमाणाद्भवति इति व्यतिरिक्तं ज्ञेयादि परिहृत्य कथमस्य ज्ञातृत्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अहंपरामर्श की विकल्प से विलक्षणता दिखाई गई । 'मैं कृश हूँ' इत्यादि (अनुभव) में अहंप्रत्यवमर्श विकल्प ही है क्योंकि प्रतियोगीभूत अपोह्य अकृशत्व आदि संभव है । भिन्न-भिन्न रूप वाले धर्मी के प्रतियोगी की सापेक्षता ही उसका रूप है । पर प्रमाता रूप प्रकाश में अहंप्रत्यवमर्श प्रवर्त्तमान भेदाभेद विकल्प से उपहत होने के कारण किसी प्रतियोगी के सम्भव न होने से विकल्प नहीं है । जैसा कि कहते हैं—

'जो अहंप्रत्यवमर्शप्रकाश रूप तथा वाणीरूपी शरीर वाला है; वह विकल्प नहीं है । वह (विकल्प) दो की अपेक्षा रखने वाला निश्चय कहा गया है ।'

प्रश्न—प्रमाता का अहंविमर्श ही (उसका) स्वभाव है अथवा विकल्प के कारण वह भी विलक्षण है, इससे हमें क्या लेना देना है । ज्ञेय के बिना यह ज्ञाता नहीं हो सकता ?—यह शङ्का कर कहा गया—क्योंकि शास्त्रज्ञ के समान । जैसे शास्त्रज्ञ की व्याख्या करने की इच्छा के अभाव में भी शास्त्रों के उन से अभिन्न रूप में वर्त्तमान रहने के कारण उनको ज्ञाता कहा जाता है उसी प्रकार परप्रमाता के भी सर्वभावनिर्भर होने के कारण ज्ञेयसमूह आत्मा में ही रहता है ॥ १२५ ॥

प्रश्न—प्रभा के सम्बन्ध के कारण प्रमाता कहलाता है और प्रभा अतिरिक्त ज्ञेय विषय वाले प्रमाण से (उत्पन्न) होती है । इस प्रकार अतिरिक्त ज्ञेय आदि को छोड़कर इसका ज्ञातृत्व कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अज्ञ एव यतो ज्ञातानुभवात्मा न रूपतः ॥ १२६ ॥
न तु सा ज्ञातृता यस्यां शुद्धज्ञेयाद्यपेक्षते ।

यो हि प्रतिनियतज्ञानात्म प्रमाणादिकमपेक्ष्य 'ज्ञाता' इत्युच्यते सोऽज्ञ एव न प्रमातैव भवति—इत्यर्थः । प्रमातुः खलु अनन्योन्मुखत्वादन्यनिरपेक्षमेव रूपं यथोक्तं न पुनरस्य सापेक्षं रूपं भवितुमर्हति—परस्य परनिष्ठत्वानुपपत्तेः । तदाह—'न तु' इत्यादि ॥ १२६ ॥

ननु यद्येवं तर्हि कथमस्य सर्वत्रैव ज्ञातृत्वमुच्यमानमपह्नूयताम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तस्यां दशायां ज्ञातृत्वमुच्यते योग्यतावशात्॥ १२७ ॥
मानतैव तु सा प्राच्यप्रमातृपरिकल्पिता ।

तस्यामिति—संकुचितप्रमातृरूपायाम्—इत्यर्थः । योग्यतावशादिति—ज्ञेयपरिच्छेदकारित्वलक्षणात् । सा पुनरियं दशा प्राच्येन आदिसिद्धेन परेण प्रमात्रा प्रमाणरूपत्वेन परिकल्पिता = संकुचितज्ञानात्मकत्वात्तथात्वेनावभासिता—इत्यर्थः । पर एव हि प्रमाता स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा संकुचितज्ञानात्मतामवभास्य ज्ञेयमपि पृथगुल्लासयेत् ॥ १२७ ॥

जो स्वरूपतः नहीं (अपितु) अनुभव के कारण 'ज्ञाता' (कहलाता है वह) अज्ञ ही है । वह 'ज्ञातृता' नहीं होती जिसमें शुद्ध ज्ञेय आदि की अपेक्षा हो ॥ -१२६, १२७- ॥

जो निश्चित ज्ञान रूप प्रमाण आदि की अपेक्षा रखकर ज्ञाता कहलाता है वह अज्ञ ही है अर्थात् प्रमाता ही नहीं होता । अनन्योन्मुख होने के कारण प्रमाता का यथोक्त अन्य निरपेक्ष ही रूप है न कि इसका सापेक्ष रूप हो सकता है क्योंकि पर (तत्त्व) की परनिष्ठता असिद्ध है । वह कहते हैं 'न कि' इत्यादि ॥ १२६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो इसके सर्वत्र उच्यमान ज्ञातृत्व को कैसे छिपाया जाय?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस दशा में योग्यता के कारण ज्ञातृत्व कहा जाता है । (वस्तुतः) वह परप्रमाता के द्वारा परिकल्पित प्रमाणता है ॥ -१२७, १२८- ॥

उसमें संकुचित प्रमातृरूपा में । योग्यतावशात् = ज्ञेयपरिच्छेदकारित्वलक्षण वाले से । वह यह दशा प्राचीन आदि सिद्ध प्रमाण रूप पर प्रमाता से, परिकल्पित = संकुचित ज्ञानात्मक होने से उस रूप में अवभासित की गई । पर ही प्रमाता अपने स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप को छिपा कर संकुचित ज्ञानरूपता को अवभासित कर ज्ञेय को भी पृथक् उल्लासित करता है ॥ १२७ ॥

ननु परा संविदेव यदि मानादिरूपेणापि प्रस्फुरेत् तत्तस्या अस्तमय एव किं न स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

उच्छलन्त्यपि संवित्तिः कालक्रमविवर्जनात् ॥ १२८ ॥
उदितैव सती पूर्णा मातृमेयादिरूपिणी ।

मातृमेयादिरूपत्वेन बहिरुल्लसन्त्यपि संवित्तिः 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन अवभासनक्रियाविच्छेदाभावात्कालानवच्छेदादुदितैव = संविन्मात्ररूपत्वाप्रच्यावात् नियमेन अनस्तमितरूपा—इत्यर्थः । अत एव पूर्णा = स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपत्वादनन्यापेक्षिणी—इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

ननु संविन्नाम क्रिया, तस्याश्च क्रियान्तरवत् कालावच्छेदोऽवश्यसंभाव्यः इति कथमस्याः कालक्रमविवर्जितत्वमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य लौकिक्या एव पाकादेः क्रियायाः कालावच्छेदोऽस्ति, न तु अस्याः, इति दर्शयितुमाह—

पाकादिस्तु क्रिया कालपरिच्छेदात्क्रमोचिता ॥ १२९ ॥
मतान्त्यक्षणवन्ध्यापि न पाकत्वं प्रपद्यते ।

इह पाकादिः लौकिकी क्रिया कालावच्छेदात् क्रमव्याप्ताभिमता यतः सा

प्रश्न—परासंविद् ही यदि प्रमाण आदि के रूप में स्फुरित होती है तो उसका अस्तमय ही क्यों नहीं हो जाता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रमाता प्रमेय आदि रूपों वाली उच्छलित होती हुई भी संविद् कालक्रम से रहित होने पर सदोदित रहती है अतएव पूर्ण है ॥ -१२८, १२९- ॥

प्रमाता प्रमेय आदि के रूप में बाहर उल्लसित होती हुई भी संविद् 'यह आत्मा एक बार प्रकाशित हो गया तो हो गया' इस न्याय से अवभासनक्रिया के विच्छेद के अभाव के कारण काल से अनवच्छिन्न होने से (शाश्वत) उदित ही है अर्थात् संविद्मात्ररूप से च्युत न होने कारण नियमपूर्वक अनस्तमित रूप वाली है । इसीलिए पूर्णा = अपने में ही विश्रान्तिरूप होने के कारण परापेक्षिणी नहीं है ॥ १२८ ॥

प्रश्न—संविद् का अर्थ है क्रिया और उसका दूसरी क्रियायों की भाँति काल से अवच्छेद अवश्य संभव है । इसलिए इसको कालक्रम से रहित कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर केवल लौकिकी पाक आदि क्रिया का काल से अवच्छेद है न कि इसका—यह दिखलाने के लिये कहते हैं—

पाक आदि क्रिया कालपरिच्छेद के कारण क्रमवाली मानी गयी है । यदि अन्तिम क्षण में (वह) वन्ध्या (= पाकशून्य) हो जाय तो वह पाकक्रिया नहीं कहलाती ॥ -१२९, १३०- ॥

पाक आदि लौकिक क्रिया काल से अवच्छिन्न होने के कारण क्रम से व्याप्त

अन्त्यः क्षणो यत्समनन्तरमेव द्वितीये क्षणे फलनिष्पत्तिस्तेनापि यदा शून्या भवेत् तदानेकक्षणप्रचयवत्त्वेऽपि स्वस्वरूपापरिपूर्तेस्तथा व्यवहारं न भजते । यदि नाम हि साप्यवभासनक्रियावत्कालानवच्छिन्ना स्यात् । तत् प्रथम एव क्षणे पाकादिक्रियात्वेन व्यवहारमियात् । अतश्च पाकादेर्लौकिक्या एव क्रियायाः सक्रमत्वं न पुनः शाश्वत्याः 'संविल्लक्षणायाः' इति । यदाहुः—

'सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव ।।' इति ।

अतश्च अकालकलितत्वात् प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपत्वेन अवतिष्ठमानमपि संवित्तत्त्वं संविन्मात्रलक्षणात् मुख्याद्रूपात् नापोढं स्यात् ।। १२९ ।।

तदाह—

इत्थं प्रकाशतत्त्वस्य सोमसूर्याग्निता स्थिता ।। १३० ।।
अपि मुख्यं तत्प्रकाशमात्रत्वं न व्यपोह्यते ।

ननु वाच्यात्मविश्वावभासदशायामेवमास्तां वाचकात्मविश्वावभासे पुनः सोम-सूर्याग्नीनां रूपमेव किं नामोक्तं यदवभासनेनास्य प्रकाशतत्त्वस्य न स्वस्वरूपा-पोहः—इति चिन्तापि स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

मानी गई है क्योंकि वह, अन्त्यक्षण = जिसके बाद ही द्वितीय क्षण में फलप्राप्ति होती है, उससे भी जब शून्य हो जाती है तब अनेक क्षणसमूह वाली होने पर भी अपने स्वरूप की पूर्ति न होने से उस प्रकार के व्यवहार की भागी नहीं होती। यदि वह भी अवभासन क्रिया की भाँति काल से अनवच्छिन्न होती तो प्रथमक्षण में ही पाक आदि क्रिया के रूप में व्यवहृत होती । इसलिए केवल लौकिक पाक आदि क्रिया में ही क्रम है न कि शाश्वती संविद् लक्षणवाली (क्रिया) में । जैसा कि कहते हैं—

'कालशक्ति के कारण लौकिकी क्रिया का सक्रमत्व घटित होता है न कि शाश्वती प्रभु सम्बन्धिनी (क्रिया) का, जैसे कि प्रभु का ।'

इसलिये अकालकलित होने के कारण प्रमाता प्रमाण और प्रमेय रूप से वर्त्तमान भी संवित्तत्त्व संविन्मात्र लक्षण वाले मुख्य रूप से रहित नहीं होता है ।। १२९ ।।

वह कहते हैं—

इस प्रकार प्रकाश तत्त्व की सोमसूर्यअग्निता के रहते हुए भी उसकी मुख्य प्रकाशमानता लुप्त नहीं होती ।। -१३०, १३१- ।।

प्रश्न—वाच्यरूप विश्व के अवभास की दशा में ऐसा रहे किन्तु वाचकरूप विश्व के अवभास में सोम सूर्य अग्नि का रूप ही क्यों कहा गया जिसके अवभासन से

एषां यत्प्रथमं रूपं ह्रस्वं तत्सूर्य उच्यते ॥ १३१ ॥
क्षोभानन्दवशाद्दीर्घविश्रान्त्या सोम उच्यते ।
यत्तत्परं प्लुतं नाम सोमानन्दात्परं स्थितम् ॥ १३२ ॥
प्रकाशरूपं तत्प्राहुराग्नेयं शास्त्रकोविदाः ।

एषाम् = समनन्तरोक्तानां बीजानां यत्प्रथममासाद्यमक्षुब्धं रूपं तत्सूक्ष्मत्वात् एकमात्रात्म 'ह्रस्वम्' प्रकाशमात्रप्राधान्याच्च सूर्यः । तथा क्षोभानन्दयोः वशाद्बही-रूपतायां विश्रान्त्या क्षुब्धत्वेन स्थौल्यात् द्विमात्रं 'दीर्घम्' आह्लादकारित्वाच्च सोम उच्यते = सामान्येनोक्तेः सर्वैः शास्त्रकोविदैरेवं व्यपदिश्यते—इत्यर्थः । तथा ताभ्यामेकमात्राद्विमात्राभ्यां ह्रस्वदीर्घाभ्यां परमन्यत् यत्त्रिमात्रं प्लुतं नाम तच्छास्त्रकोविदा आग्नेयं प्रामात्रं रूपं प्राहुः यतः प्रकाशे = मानात्मनि सूर्ये रूढम् = जातप्ररोहं सत् मेयात्मकं सोमानन्दमवलम्ब्य परम् = अत्यर्थं स्थितम् = मातृरूपतया प्रस्फुरितम्—इत्यर्थः । मातुर्हि 'मानमेयसङ्घट्टात्मकमेव रूपम्' इत्युक्तं प्राक् । तदेषां ह्रस्वत्वं सूर्यत्वं दीर्घत्वं सोमत्वं प्लुतत्वमग्नित्वमिति धामत्रयमयत्वम् ॥ १३१-१३२ ॥

एवमप्यत्र परस्य प्रकाशस्य न स्वस्वरूपात् प्रच्यावः, इति विन्दुरूपत्व-

---

इस प्रकाशतत्त्व के अपने स्वरूप का निगूहन नहीं हो यह चिन्ता भी होती है ? —यह शङ्का कर कहते हैं—

इनका जो प्रथम ह्रस्वरूप है वह सूर्य कहा जाता है । क्षोभजनित आनन्द के वश दीर्घविश्रान्ति के कारण वह सोम कहा जाता है । जो सोम आनन्द उसे परे स्थित पर है वह प्लुत है । शास्त्रज्ञ विद्वान् उसे आग्नेयरूप प्रकाश कहते है ॥ -१३१-१३३- ॥

इनका = पूर्वोक्त बीजों का जो प्रथम प्राप्य अक्षुब्धरूप, वह सूक्ष्म होने के कारण एक मात्रा रूप 'ह्रस्व' और केवल प्रकाश प्रधान होने के कारण सूर्य है । उसी प्रकार क्षोभ और आनन्द के कारण बाह्यरूपता में विश्रान्त होने से क्षुब्ध होने के कारण स्थूलता के कारण दो मात्रा वाला 'दीर्घ' और आह्लादकारी होने के कारण सोम कहा जाता है = सामान्यरूप से उक्ति के कारण सभी शास्त्रकोविदों के द्वारा इस प्रकार व्यवहृत होता है । उसी प्रकार एकमात्रा और दो मात्रा वाले ह्रस्व और दीर्घ से भिन्न जो तीन मात्रा वाला प्लुत, उसको शास्त्रज्ञ लोग अग्नि का प्रमातृ रूप मानते हैं क्योंकि प्रकाश में = प्रमाण रूप सूर्य में, रूढ़ = उत्पन्न मेयरूप सोमानन्द का अवलम्बन कर पर = अत्यधिक, स्थित= प्रमातारूप में स्फुरित है । प्रमाता का रूप प्रमाण प्रमेय का सङ्घट्ट रूप है यह पहले कहा गया है तो इनमें से ह्रस्व सूर्य है, दीर्घ चन्द्रमा और प्लुत अग्नि है । इस प्रकार (वह) तीन धाम वाला है ॥ १३१-१३२ ॥

ऐसा होने पर भी इस परप्रकाश का अपने स्वरूप से पतन नहीं होता इसलिए

मुक्तम्—इत्याह—

अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति ॥ १३३ ॥
उक्तं विन्दुतया शास्त्रे शिवविन्दुरसौ मतः ।

न चायं विन्दुः परप्रमात्रेकरूपत्वान्मन्त्रप्रमेयान्तर्वर्ती इत्याह—'शिवविन्दुरसौ मतः' इति । अविभागपरप्रकाशात्मकत्वेन विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परः प्रमाता—इत्यर्थः । यदुक्तं प्राक्—

'उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि ।
अविभागः प्रकाशो यः स विन्दुः परमो हि नः ॥' इति ॥ १३३ ॥

ननु न विन्दुर्नाम परामर्शान्तरं किञ्चिद्युज्यते, वक्ष्यमाणेन मकाराख्येन परामर्शविशेषेणैवास्य संग्रहात्; नहि अनयोः प्रतीतौ कश्चिद्विशेषः, प्रत्येयभेदाद्धि प्रतीतिभेदः, तत्कथमयं ततो भिन्नः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

मकारादन्य एवायं तच्छायामात्रधृद्यथा ॥ १३४ ॥
रलहाः षष्ठवैसर्गवर्णरूपत्वसंस्थिताः ।

यथा षष्ठविसर्गार्णतामाश्रिता रेफलकारहकारास्तच्छ्रुतिमात्रधारित्वेऽपि वक्ष्य-

---

(यह) बिन्दुरूप कहा गया है—यह कहते हैं—

तीनों धाम (= सोम सूर्य और अग्नि) के स्थित होने पर जो शुद्ध प्रकाश हे उसे शास्त्र में बिन्दु कहा गया है । यह शिवबिन्दु माना गया है ॥ -१३३, १३४- ॥

यह बिन्दु केवल परप्रमाता रूप होने के कारण मन्त्रप्रमेय का अन्तर्वर्त्ती नहीं है—यह कहते हैं—यह शिवबिन्दु माना गया है । विभागरहित परप्रकाश होने से विदिक्रिया में स्वतन्त्र यह परप्रमाता है । जैसा कि पहले कहा गया—

'सोम सूर्य और अग्निधाम वाली क्रियाशक्ति के उदित होने पर जो विभागहीन प्रकाश है वह हमारा परमबिन्दु है ॥ १३३ ॥'

प्रश्न—बिन्दु कोई दूसरा परामर्श नहीं है क्योंकि वक्ष्यमाण मकार नामक परामर्शविशेष के द्वारा ही इसका संग्रह हो जाता है । इन दोनों की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि प्रत्येय के भेद से प्रतीति में भेद होता है तो यह उससे भिन्न कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह (बिन्दु) मकार से भिन्न है । उसकी केवल छाया रूप है । र, ल और ह षण्ढ (= ऋ, ऌ) और विसर्ग वर्ण के रूप वाले है ॥ -१३४, १३५- ॥

जैसे नपुंसक (ऋ ॡ) एवं विसर्गवर्ण को प्राप्त रेफ लकार और हकार केवल

माणेभ्यो रेफादिभ्योऽतिरिक्ताः, तथायं विन्दुरपि मकारात्—इति वाक्यार्थः । 'न च वर्णश्रुतिरेव वर्णः' इत्युपपादितं प्राक् ॥ १३४ ॥

ननु इष्यमाणरूपाभ्यां रेफलकाराभ्यामिच्छाशक्तेरारूषितत्वम् इति तत्र तच्छायामात्रधारित्वात् युक्तं परामर्शान्तरत्वं मकारहकाराभ्यां पुनरारूषणैव कस्याधीयते यस्यापि परामर्शान्तरत्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

इकार एव रेफांशच्छाययान्यो यथा स्वरः ॥ १३५ ॥
तथैव महलेशादः सोऽन्यो द्वेधाऽस्वरोऽपि सन् ।

इकार एव यथा रेफांशच्छायया षण्ठात्मस्वरान्तररूपो भवेत्, तथैवास्वरोऽपि सन् अनुत्तरप्रकाशात्मकोऽपि भवन्नसौ 'अः' चिच्छक्त्यात्मा आदिवर्णो मकारहकार-लेशमुपाधित्वेनावलम्ब्य तच्छ्रुतिमात्रधारित्वेन द्वेधा—बिन्दुविसर्गरूपतयान्यः परा-मर्शान्तररूपभाक् भवति—इत्यर्थः । अनुत्तर एव हि प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा शक्तिदशामाभास्य संकुचितप्रमातृरूपतामवभासयेत् अतश्चास्य

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ।'

श्रवण का विषय होने पर भी वक्ष्यमाण रेफ आदि से भिन्न है उसी प्रकार यह बिन्दु भी मकार से (भिन्न है)—यह वाक्यार्थ है । वर्ण का श्रवण ही वर्ण नहीं है—ऐसा पहले कहा जा चुका है ॥ १३४ ॥

प्रश्न—इष्यमाणरूप रेफ और लकार के द्वारा इच्छाशक्ति आरूषित है इसलिए उस (= इच्छा) की छायामात्र धारण करने के कारण वहाँ परामर्शान्तर का होना ठीक है, मकार और हकार के द्वारा आरूषणा ही किसकी की जाती है जो कि परामर्शान्तर बने ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस प्रकार इकार रेफांश की छाया के कारण अन्य स्वर (ऋ) बन जाता है उसी प्रकार म ह के लेश से 'अ' स्वर होते हुए भी दो प्रकार का (= अं, अः) हो जाता है ॥ -१३५, १३६- ॥

जिस प्रकार इकार ही रेफांश की छाया से नुपंसक रूप दूसरा स्वर (ऋ, ॠ) हो जाता है उसी प्रकार स्वरहीन भी अनुत्तरप्रकाश रूप भी यह चित्शक्तिरूप आदि वर्ण 'अ' मकारांश हकारांश उपाधि के आधार पर केवल उसकी श्रुति धारण करने के कारण दो प्रकार का बिन्दुविसर्ग रूप में, अन्य = परामर्शान्तर रूप का भागी होता है—यह अर्थ है । अनुत्तर ही प्रकाश अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपने स्वरूप को छिपाकर शक्तिदशा को अवभासित कर संकुचित प्रमातृरूपता को अवभासित करता है । और इसलिए उसकी—

'अकार और हकार ये दोनों एकत्र स्थित हैं ।'

इत्याद्युक्त्या

'हकाररूपया शक्त्या मकारो ना हृदि स्थितः ।'

इत्याद्युक्त्या संकुचितप्रमात्रात्मना च मकारेणारूषणा, इति न कश्चित् दोषः ॥ १३५ ॥

ननु अनुत्तर एव कस्मादेवमारूषणया विसर्गाद्यात्मकतामियात् ?— इत्याशङ्क्याह—

अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ॥ १३६ ॥
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम् ।

अस्य = अनुत्तरप्रकाशात्मन आदिवर्णस्य प्राक्

'कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ।'

इत्यादौ 'कौलिकीति, परेति' चोक्ता अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमाना विमर्शात्मा यासौ विसिसृक्षा, सैव निश्चितं बहिरौन्मुख्यलक्षणात् क्षोभवशात् विसर्गात्मकतामेत्य आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तं प्रोच्छलन्तीं स्थितिमवभासयति—इत्यर्थः ॥ १३६ ॥

इत्यादि उक्ति से

'हकार रूप शक्ति के साथ मकार रूप पुरुष हृदय में स्थित है ।'

इत्यादि उक्ति से तथा संकुचित प्रमातारूप मकार से आरूषणा है इसलिए कोई दोष नहीं है ॥ १३५ ॥

प्रश्न—क्यों अनुत्तर ही इस प्रकार की आरूषणा से विसर्गरूपता को प्राप्त होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अकार (स्वरूप अनुत्तर) की वह विसिसृक्षा जो कि परा कौलिकी कही गयी है, वही क्षोभ के कारण निश्चित रूप से विसर्गरूपता को प्राप्त होती है ॥ -१३६, १३७- ॥

इसकी = अनुत्तर प्रकाशरूप आदि वर्ण की, पहले—

'वह पराकौलिकी शक्ति है जिससे परमेश्वर कभी वियुक्त नहीं होता ।'

इत्यादि (स्थलों) में कौलिकी, परा (नाम से) कही गई अन्तः प्रमाता से अभिन्न रूप में वर्त्तमान विमर्शरूप जो यह सृष्टि करने की इच्छा वही निश्चित रूप से बाह्यौन्मुख्यलक्षण क्षोभ के कारण विसर्ग रूपता को प्राप्त कर आनन्द के उदय के क्रम से क्रिया शक्ति तक उच्छलित होने वाली स्थिति को अवभासित करती है—यह अर्थ है ॥ १३६ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

उक्तं च त्रिशिरःशास्त्रे कलाव्याप्त्यन्तचर्चने ॥ १३७ ॥
कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी ।
परापरस्वस्वरूपबिन्दुगत्या विसर्पिता ॥ १३८ ॥
प्रकाश्यं सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा ।
शक्तिकुण्डलिका चैव प्राणकुण्डलिका तथा ॥ १३९ ॥
विसर्गप्रान्तदेशे तु परा कुण्डलिनीति च ।
शिवव्योमेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते ॥ १४० ॥
विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः ।

कलाव्याप्त्यन्तचर्चने इति—अमाख्यकलास्वरूपस्फारसिद्धान्तविचारावसरे—इत्यर्थः । तत्र हि

'कलाव्याप्तिर्महादेव पदसंज्ञा महेश्वर ।
अतिसंक्षेपतो ब्रूहि..................... ॥'

इति भगवत्या पृष्टे तन्निर्णयार्थं

'कला सप्तदशी यासौ................. ॥'

यह हमारी बुद्धि से ही उक्त नहीं है—यह करते हैं—

त्रिशिरोभैरव के कलाव्याप्ति के सिद्धान्त की चर्चा के समय कहा गया है—इस कारण सत्रहवीं कला जो कि अमृताकाररूपिणी है, पर अपर स्वस्वरूप बिन्दु के रूप में उच्छलित होती है । वह समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है । (जब) वह विसर्ग से रहित हो जाती है (तब) शक्ति-कुण्डलिका और प्राणकुण्डलिका (का रूप धारण करती है) विसर्ग की अन्तिम स्थिति में (वह) परा कुण्ड्लिनी होती है । (वही) शिवव्योम नाम वाला होकर ब्रह्म का परम स्थान होगा । वह सृष्टि और संहार का वह विभ्रम उस नाथ का विसर्ग मात्र है ॥ -१३७-१४१- ॥

कलाव्याप्त्यन्तचर्चा में = अमा नामक कला के स्वरूपविस्तार सिद्धान्त के विचार के अवसर पर । वहाँ—

'हे महादेव ! हे महेश्वर ! कलाव्याप्ति और पदसंज्ञा को अत्यन्त संक्षेप में कहिये ।'

इस प्रकार भगवती के द्वारा पूछे जाने पर उसके निर्णय के लिये—

'जो यह सत्रहवीं कला है ।'

इत्यादि भगवतोक्तम् । यदिह क्वचिच्छब्दद्वारेण क्वचिदर्थद्वारेण च संवादितम्, तत्र

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ।'

इत्याद्युक्त्या अन्तःकरणप्रभृतीनां षोडशानामपि कलानामाप्यायकारित्वात् नित्योदितत्वेन च अनस्तमितरूपत्वात् अमृताकाररूपिणी येयं चिन्मात्रस्वभावा 'कौलिकीति, परेति' एवमादिशब्दव्यपदेश्या हकारार्धार्धरूपिणी अमाख्या सप्तदशी कला, परस्य = आनन्दात्मनो विसर्गस्य उक्तत्वात् अपरस्य च = हकारात्मनो वक्ष्यमाणत्वात् परापरो योऽसौ विसर्गः तस्य स्वरूपस्थौ यावात्मभूतौ विसर्जनीयशब्दवाच्यौ बिन्दू, तयोर्गतिः = तद्रूपावभासनेन प्रसरणं तया विसर्पिता = तत्तद्रूपावबिभासयिषया प्रोच्छलन्ती—इत्यर्थः । अत एव च सर्वेषाम् प्रमातृप्रमाणप्रमेयात्मनां वस्तूनां अनतिरेकेऽपि अतिरिक्तत्वेनेव प्रकाश्यं—तत्तन्नियत-प्रकाशात्मिका—इत्यर्थः, सैव पुनर्विसर्गेण = बहिर्भावौन्मुख्येन विरहिता सती, प्रसुप्तभुजगाकारत्वात् स्वात्ममात्रविश्रान्ता शक्तिकुण्डलिनी—परा संविन्मात्ररूपेति यावत् । अत एव विसर्गस्य बहिर्भावौन्मुख्यात्मकादिकोटिरूपे प्रान्तदेशे प्राणकुण्डलिका

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता ।'

इत्यादि भगवान् शिव के द्वारा कहा गया । जिसे यहाँ कहीं शब्द के द्वारा और कहीं अर्थ के द्वारा बतलाया गया । उसमें—

'सोलह कला वाले पुरुष में उसे अमृता कला कहते हैं ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा अन्तःकरण आदि सोलह कलाओं का आपूरण करने वाली होने के कारण तथा नित्य उदित होने से अनस्तमित रूप होने के कारण जो यह केवल चैतन्यस्वभाव वाली, कौलिकी, परा इत्यादि शब्दों से व्यवहार्य, आधा हकार (:) रूपी अमा नामक सत्रहवीं कला; पर = आनन्दरूप विसर्ग के उक्त होने से तथा अपर = हकार रूप के वक्ष्यमाण होने से जो यह परापर = विसर्ग, उसके स्वरूप में वर्तमान जो आत्मभूत विसर्जनीय शब्द के वाच्य दो बिन्दु, उन दोनों की गति = भिन्न-भिन्न रूप के अवभासन के द्वारा जो प्रसरण, उसके द्वारा विसर्पित = भिन्न-भिन्न रूप को अवभासित करने की इच्छा से उच्छलन करती हुई—यह अर्थ है। और इसलिए सभी प्रमातृप्रमाणप्रमेय रूप वस्तुओं के अभिन्न होने पर भी मानो भिन्न रूप में, प्रकाश्य = भिन्न-भिन्न नियत प्रकाशरूपा है—यह अर्थ है । फिर वही, विसर्ग से = बहिर्भाव की उन्मुखता से, रहित होती हुई, सोये हुए सर्प के आकारवाली, शक्तिकुण्डलिनी = परा संविद्मात्ररूपा हो जाती है । इसीलिए विसर्ग के बहिर्भावौन्मुख्य आदि कोटिरूप प्रान्तरूप देश में प्राणकुण्डलिनी—

'पहले संवित् प्राण के रूप में परिणत हुई ।'

इति नीत्या प्रथममेव प्राणरूपतामवभासयन्ती—इत्यर्थः । तथा प्रत्यावृत्ति-क्रमेण अन्तर्भावौन्मुख्यरूपान्तकोट्यात्मनि = प्रान्ते स्वरूपे 'परा कुण्डलिनी' = स्वात्मविश्रान्तपरसंविन्मात्ररूपा—इत्यर्थः । एवं त्वियमेव संविन्मात्ररूपा सप्तदशी कलाशिवव्योमेति, परमं ब्रह्मेति, शुद्धात्मस्थानम् इति चोच्यते = तैस्तैः सामयिकैः शब्दैर्व्यपदिश्यते—इत्यर्थः । तथाहि श्रीत्रिशिरोभैरवे एव

'शिवव्योमेति या संज्ञा परं ब्रह्मेति यत्पदम् ।' इति ।

तथा

'आत्मस्थानं किमाख्यातं........................ ।'

इति भगवत्या पृष्टे

'कुण्डल्याख्या तु सा ज्ञेया सर्वाध्वोपरिवर्तिनी ।'

इत्युपक्रम्य

'प्रमाणोत्थानरहितमुपमाभेदवर्जितम् ।
भूतव्योमपदातीतं चिद्व्योमान्तपदं परम् ।।
भावप्रत्ययसंरम्भमभावं परमा गतिः ।
शिवव्योम तु तज्ज्ञेयं सर्वाधारत्वलक्षणम् ।।
बृहत्त्वं बृंहकत्वं च सूक्ष्मं तच्चान्तवर्ति च ।
परं ब्रह्मेति तत्प्रोक्तं लक्ष्यभूतमलक्ष्यकम् ।।' इति ।

इस नीति से पहले ही प्राणरूपता को अवभासन करती है—यह अर्थ है । फिर प्रत्यावृत्ति के क्रम से अन्तर्भावौन्मुख्य रूप अन्तकोटि रूप प्रान्त में = स्वरूप में पर कुण्डलिनी = स्वात्मविश्रान्त परसंविन्मात्र रूपा हो जाती है—यह अर्थ है । इस प्रकार यही संवित्मात्ररूपा सत्रहवीं कला, शिवव्योम, परब्रह्म और शुद्धात्म स्थान कही जाती है = उन-उन सामयिक शब्दों के द्वारा व्यवहृत होती है । इस प्रकार त्रिशिरो भैरव में—

'शिवव्योम करके जो संज्ञा परब्रह्म करके जो पद ।' तथा—

'आत्मस्थान किसे कहा गया है ?...' इस प्रकार भगवती के द्वारा पूछे जाने पर...

'उसे समस्त अध्वाओं के ऊपर रहने वाली कुण्डली जानना चाहिये ।'

ऐसा प्रारम्भ कर

'(जो) प्रमाण के उत्थान से रहित, उपमा के भेद से हीन, भूतव्योम पद से परे, परम, चिदाकाशान्तपद, भावप्रत्ययसंरम्भ, अभाव, परमागति है उसे शिवव्योम समझना चाहिये । (वह) सबका आधार, बढ़ने वाला, बढ़ाने वाला, सूक्ष्म और अन्तवर्त्ती है । सबका लक्ष्यभूत किन्तु स्वयं लक्ष्यविहीन, पर ब्रह्म कहा गया है ।'

तथा

'पूर्वं पदविभागं तु कीर्तितं तदहेयकम् ।
तथापि भूमिकातीतमात्मस्थानं निगद्यते ॥'

इत्यादिना स्वरूपमेषां भगवतोक्तम् । तदेवं परैव पारमेश्वरी संवित् तत्तत्प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाविर्भावनिबन्धनम् इत्युक्तं स्यात् । अत एव आह—विसर्गमात्रमित्यादि ॥ १३७-१४० ॥

ननु एकैव अखण्डसंवित् अस्ति इति तदतिरिक्तं किञ्चिदपि न संभवेत्, तत्कस्य नाम सृष्टिः संहारो वा स्यात्, येनास्यास्तत्कारित्वमपि भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः ॥ १४१ ॥

इयमेव नाम वैसर्गिकी = सृष्टिसंहारकारित्वलक्षणा स्थितिः यत् स्वात्मन एव न पुनर्मायाप्रकृत्यादेरुपादानात् स्वात्मन्येव न पुनस्ततो विच्छिन्ने कुत्रचिद्देशे काले वा स्वात्मन एव न पुनरन्यस्य कस्यचित् प्रमातृप्रमेयादेः क्षेपः = तत्तदाभास-वैचित्र्येणान्तर्बहीरूपतया परिस्फुरणमिति, तेनानन्यापेक्षित्वेन पूर्णा परैव संवित् कादिहान्तरूपतया परिस्फुरिता—इति भावः ॥ १४१ ॥

तथा—

'पहले पदविभाग कहा गया है । वह हेय नहीं है तो भी उसे भूमिकातीत आत्मस्थान कहा जाता है ।'

इत्यादि के द्वारा भगवान ने इनका स्वरूप कहा है । तो इस प्रकार परा ही पारमेश्वरी संवित् भिन्न-भिन्न प्रमातृप्रमेय रूप विश्व के सृष्टि, संहार, विभ्रम और आविर्भाव का कारण है—ऐसा कहना चाहिये । इसीलिए कहते हैं—विसर्गमात्र इत्यादि ॥ १३८-१४१ ॥

प्रश्न—संविद् एक ही और अखण्ड है । इसलिए उसके अतिरिक्त कुछ भी सम्भव नहीं है फिर किसकी सृष्टि और (किसका) संहार होगा जिससे यह उसकी कर्त्री होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अपने अन्दर अपने द्वारा अपना क्षेप ही विसर्ग है ॥ १४१ ॥

यही वैसर्गिकी = सृष्टिसंहारकारित्वलक्षणवाली स्थिति है कि (यह) अपने से ही होती है न कि माया, प्रकृति आदि उपादान से । अपने में ही (होती है) न कि उससे अलग किसी देश अथवा काल में । अपने ही (निमित्त कारण) से होती है न कि किसी प्रमाता प्रमेय आदि के कारण । क्षेप = भिन्न-भिन्न आभास के वैचित्र्य से आभ्यन्तर और बाह्य रूप में परिस्फुरण । इस कारण अन्यापेक्षी न होने से पूर्ण परा ही संविद् 'क' लेकर 'ह' तक के रूप में परिस्फुरित है ॥ १४१ ॥

अत एवाह—

विसर्ग एवमुत्सृष्ट आश्यानत्वमुपागतः ।
हंसः प्राणो व्यञ्जनं च स्पर्शश्च परिभाष्यते ॥ १४२ ॥

इह विसर्ग एव तत्तद्वैचित्र्योपारोहक्रमेण हकारात्म स्थौल्यमुपागतः सन् 'हंसः' इत्येवमाद्यैः शब्दैः परिभाष्यते—सर्वेष्वेव शास्त्रेष्वेवमुच्यते—इत्यर्थः, तदुक्तं श्रीतन्त्रराजभट्टारके

'हंसं शून्यं तथा प्राणं हकारं नामभिः स्मृतम् ।' इति ।

निघण्टावपि

'त्रयस्त्रिंशो व्यञ्जनं च द्विकुब्जः स्पर्श एव च ॥' इति ।

एवं च विसर्गस्यैव स्थूलं रूपं 'हकारः' इत्युक्तं स्यात् ॥ १४२ ॥

ननु,

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इत्याद्युक्त्या परस्य अनुत्तरस्य प्रकाशस्य 'स्वशक्तिमात्रस्फारो विश्वम्' इत्यविवादः, इह पुनः

इसलिए कहते हैं—

विसर्ग ही इस प्रकार उत्सर्जित होकर स्थूलता को प्राप्त हुआ हंस प्राण व्यञ्जन और स्पर्श नाम से जाना जाता है ॥ १४२ ॥

विसर्ग ही भिन्न-भिन्न वैचित्र्य के उपारोह के क्रम से हकार रूप स्थूलता को प्राप्त होता हुआ 'हंसः' इत्यादि रूप शब्दों से परिभाषित होता है = सभी शास्त्रों में ऐसा कहा जाता है । तन्त्रराजभट्टारक में कहा जाता है—

'हंस, शून्य तथा प्रांण, हकार नामों से (वह) जाना गया है ।'

निघण्टु में भी—

'तैंतीसवाँ व्यंजन दो स्थानों में कुब्ज (= टेढ़ा) और स्पर्श वर्ण है ।'

इस प्रकर हकार विसर्ग का ही स्थूल रूप है ऐसा कहा जाना चाहिये ॥ १४२ ॥

प्रश्न—

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ हैं; शक्तिमान् तो महेश्वर है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा पर अनुत्तर प्रकाश का ही अपनी शक्ति का स्फार विश्व है—यह सर्वसम्मत है। यहाँ

'विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः ।'

इत्याद्यन्यथोक्तम्, इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह—

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ १४३ ॥

एवम्,

'अकुलस्यास्य देवस्य....................... ।'

इत्याद्युपक्रान्तमेव इह निर्वाहितं न तु अपूर्वं किञ्चिदुक्तम्—इति भावः ॥ १४३ ॥

ननु विसर्गशब्दः शक्तौ केन निमित्तेन प्रवृत्तः ?—इत्याशङ्क्याह—

विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ॥ १४४ ॥

सैव अस्याः = कौलिक्याः शक्तेः विसर्गता = विसर्जनक्रियायां कर्तृत्वं = यदानन्देच्छाद्युदयक्रमेण भिन्नावभासरूपत्वात् स्पष्टीभूता = स्पष्टतामाप्ता येयं क्रियाशक्तिः तत्पर्यन्ता प्रोच्छलन्ती स्थितिः = तत्तत्परामर्शान्तरवैचित्र्यरूपतया

'सृष्टिमात्र परमेश्वर का सृष्टिसंहार का विभ्रम है ।'

इत्यादि दूसरे प्रकार से कहा गया तो यह क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो अनुत्तर परधाम है वही अकुल कहा जाता है । विसर्ग उस नाथ की कौलिकी शक्ति कही जाती है ॥ १४३ ॥

इस प्रकार 'इस अकुल देव का...'

इत्यादि उपक्रान्त का ही यहाँ निर्वाह किया गया है न कि कुछ अपूर्व कहा गया है—यह तात्पर्य है ॥ १४३ ॥

प्रश्न—शक्ति अर्थ में विसर्ग शब्द किस कारण प्रवृत्त हुआ है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

आनन्द के उदय के क्रम से स्पष्टीभूत क्रियाशक्ति पर्यन्त प्रकृष्ट उच्छलत्ता की स्थिति ही इस (कौलिक शक्ति) की विसर्गता है ॥ १४४ ॥

वही, इसकी = कौलिकी शक्ति की विसर्गता = विसृष्टिक्रिया में कर्तृता है कि आनन्द इच्छा आदि के उदय के क्रम से भिन्न अवभासरूप होने के कारण, स्पष्ट हुई = स्पष्टता को प्राप्त जो यह क्रिया शक्ति, वहाँ तक उच्छलन करती हुई स्थिति

परिस्फुरणम्, इति ॥ १४४ ॥

ननु इयतो वैचित्र्यस्य विसर्गः कारणमस्तु, स एव पुनस्तत्, इति कथं युज्यते ? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण उपशमयति—

विसर्ग एव तावान्यदाक्षिप्तैतावदात्मकः ।
इयद्रूपं सागरस्य यदनन्तोर्मिसंततिः ॥ १४५ ॥

तावान् = तत्परिमाणो विसर्ग एव न तु तावतः कारणम् । भेदनिबन्धनो हि कार्यकारणभावः । भेद एव चात्र नास्ति इति कथमेतद्भवेत्—इति भावः । यस्मादाक्षिप्तो = गर्भीकृतः, एतावान् = क्रियाशक्तिपर्यन्तो येनैवंविध आत्मा यस्यासौ—तत्तद्वाच्यवाचकाद्यात्मना अनन्ताभासमयः—इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

एवमस्य विसर्जक्रियाकर्तृत्वादेव व्यपदेशान्तरमप्यन्यत्रास्ति—इत्याह—

अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः ।
कामतत्त्वमिति श्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते ॥ १४६ ॥

अतः = उक्ताद्धेतोः, अव्यक्ता = नादमात्ररूपत्वादनुद्भिन्नवर्णप्रविभागा येयं हकला = हकारार्धार्धभागः, तदात्मकोऽयं विसर्गः, श्रीमत्कुलगुह्वराख्ये शास्त्रे

= भिन्न-भिन्न परामर्श रूप में परिस्फुरण वाली है ॥ १४४ ॥

प्रश्न—इतने वैचित्र्य का कारण विसर्ग है तो हो किन्तु वही कारण है—यह कैसे ठीक है ?—इस आशङ्का को दृष्टान्त के प्रदर्शन के द्वारा शान्त करते हैं—

जैसे सागर के अनन्त लहरों की परम्परा (सागर से अभिन्न होते हुए भी पृथक् आभासित होती हैं) विसर्ग भी (उस शक्ति का) इतना विस्तृत ऐसा रूप वाला तदात्मक ही है ॥ १४५ ॥

उतना = उस परिमाणवाला, विसर्ग ही न कि उतने का कारण क्योंकि कार्यकारण भाव भेद के कारण होता है । यहाँ तो भेद ही नहीं है फिर यह कैसे होगा ? यह भाव है । जिससे आक्षिप्त = गर्भीकृत, इतना = क्रियाशक्तिपर्यन्त, जिससे इस प्रकार की आत्मा है जिसकी यह = भिन्न-भिन्न वाच्यवाचक रूप से अनन्त आभासमय है ॥ १४५ ॥

इस प्रकार विसर्गक्रिया का कर्त्ता होने के कारण ही इसका अन्यत्र व्यवहारान्तर भी है—यह कहते हैं—

इसलिए यह विसर्ग, जो कि अव्यक्त 'ह' कलात्मक है कामतत्त्व (कहा जाता है)—ऐसा श्रीमत् कुलगुह्वरशास्त्र में कहा गया है ॥ १४६ ॥

अतः = उक्त कारण से, अव्यक्त = केवल नाद रूप होने के कारण अनुद्भिन्न वर्ण विभाग वाली, जो यह ह कला = हकार का आधा-आधा भाग, यह

'कामतत्त्वम्' कामः = इच्छा, तस्य तत्त्वम् = सर्वत्रैव अप्रतिहतस्वभावं पूर्ण रूपम् इत्युच्यते—इति वाक्यार्थः ॥ १४६ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति—

यत्तदक्षरमव्यक्तं कान्ताकण्ठे व्यवस्थितम् ।
ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम् ॥ १४७ ॥
तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत् ।

तत्र च

'इदानीं कामतत्त्वं तु विषतत्त्वं परं तथा ।
कथ्यते तव सुश्रोणि भक्तिस्नेहाद्विशेषतः ॥'

इत्युपक्रम्य

'यत्तदक्षरम्.................................. ।'

इत्यादि चाभिधाय

'तत्र चित्तं नियुञ्जीत साधकेन महात्मना ।
देवकिन्नरगन्धर्वसिद्धविद्याधराङ्गनाः ॥
यक्षकन्यास्तथा नाग्यः पिशाच्यः सुरयोषितः।

विसर्ग तदात्मक ही है । कुलगुह्वर नामक शास्त्र में काम तत्त्व, काम = इच्छा उसका तत्त्व = सर्वत्र अप्रतिहतस्वभाव वाला पूर्णरूप—ऐसा कहा जाता है—यह वाक्यार्थ है ॥ १४६ ॥

वहाँ के ग्रन्थ को ही पढ़ते हैं—

जो वह अक्षर अव्यक्त होता हुआ कान्ता के कण्ठ में स्थित रहता है, ध्वनिरूप होता है और बिना किसी इच्छा के ध्यान धारणा से रहित (होकर उत्पन्न होता) है (वही हकलात्मक विसर्ग है) । उसमें चित्त को समाहित कर एक साथ समस्त संसार को वश में किया जा सकता है ॥ १४७-१४८- ॥

'हे सुश्रोणि ! अब तुम्हारे भक्ति एवं स्नेह के कारण कामतत्त्व और उसके बाद विषतत्त्व विशेषरूप से कहा जा रहा है ।'

ऐसा प्रारम्भ कर और

'जो वह अक्षर...'

इत्यादि कथन कर

'हे सुभगे ! साधक महात्मा उसमें चित्त को लगाये । (इससे) देव, किन्नर, गन्धर्व सिद्ध विद्याधर की स्त्रियाँ, यक्षकन्यासमूह, नागी, पिशाची, देवाङ्गनायें वश में

वशमायान्ति सुभगे नरनारीषु का कथा ॥'

इत्युक्तम् । यदिह 'तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत्' इत्यर्थद्वारेण पठितम्, यत्तत्—सर्वदैव स्फुरद्रूपत्वात्स्वानुभूत्येकसिद्धम्, अक्षरं—नित्योदितत्वाद-प्रच्युतप्राच्यस्वरूपम्, अत एव अनिच्छम्

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्त्या स्वयमुच्चरद्रूपत्वात् अन्यसंबन्धिनीमुच्चिचारयिषां नापेक्षते—इत्यर्थः । तदपेक्षित्वे हि तस्याः कादाचित्कत्वात् अस्य नित्योदितत्वं न स्यात् इति भावः । अत एव 'सहजमिति, स्वयंभु' इति च अन्यत्रैतदुक्तम् । अत एवाव्यक्तम्, व्यक्तत्वं हि स्थानकरणाभिघातादिना भवेत्, तच्च इच्छाधीनम्, इति कथमस्यैतत्स्यात् । अत एव ध्वनिरूपम्—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम् । इति ।
सुसूक्ष्मो व्यापकः शुद्धः प्राणतत्त्वस्य वाचकः ॥'

इत्याद्युक्त्या सततोदितनादमात्रस्वभावमित्यर्थः । अत एव सुसूक्ष्मत्व-व्यापकत्वादेः, तच्च तत्र स्थूलध्येयादिनिष्ठं यत् ध्यानादि तेन वर्जितम् =

आ जाती हैं फिर नर नारी की क्या बात ।'

यह कहा गया है । जिसे यहाँ 'उसमें चित्त को समाहित कर एक साथ संसार को वश में करना चाहिये' ऐसा अर्थ के द्वारा पढ़ा गया है । जो वह = सर्वदा ही स्फुरद्रूप होने के कारण केवल स्वानुभूति से सिद्ध, अक्षर = नित्योदित होने के कारण अप्रच्युत पूर्वरूप वाला, अतएव इच्छारहित

'न तो इसका कोई उच्चारण करने वाला है और न कोई इसको रोकने वाला। प्राणियों के हृदय में स्थित (यह) देव स्वयं उच्चरित होता रहता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा स्वयं उच्चरत् रूप होने के कारण अन्यसम्बन्धिनी उच्चारणेच्छा की अपेक्षा नहीं करता । क्योंकि उसका अपेक्षी होने पर उसके (उच्चारणेच्छा) के कादाचित्क होने के कारण यह नित्योदित नहीं होगा—यह भाव है । इसीलिए अन्यत्र 'सहज' 'स्वयं भू' ऐसा कहा गया है । इसीलिए अव्यक्त भी है । व्यक्तता स्थान करण के अभिघात आदि से होती है और वह इच्छा के अधीन है अतः इसके बारे में यह कैसे होगा । इसीलिए ध्वनिरूप है—

'नादनामक जो पर बीज सभी प्राणियों में स्थित है ।'

'सुसूक्ष्म व्यापक शुद्ध प्राणतत्त्व का वाचक ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा निरन्तर उदित नादमात्र के स्वभाव वाला—यह अर्थ है। इसीलिए सुसूक्ष्मत्व व्यापकत्व आदि का और वह वहाँ स्थूल ध्येय आदि में रहने

नैयत्यनिबन्धनध्येयादिरूपत्वेन अक्षोभ्यम्—इत्यर्थः । एवंरूपत्वेऽपि उपभोगावसरे रतिसौख्यसमावेशवैवश्येन विगलितवेद्यान्तःकरणत्वात् निरस्तवैकल्यायाः कान्तायाः कण्ठान्तः स्वरसत एव उद्यत् अभिव्यज्यमानम्, अत एव सततोदितत्वेऽपि तत्कालमस्य विशेषेणावस्थानम् । एवं च विसर्गस्य अनाहतरूपत्वात् सौक्ष्म्येऽपि कान्ताकण्ठान्तः किञ्चिदुच्छूनतापत्त्या 'हा-हा' इति स्फुटमवस्थानम्, येनास्य एतदुपलभ्यमानं निदर्शनीकृतम् । तेन न योगिमात्रगम्यमेवैतत् अपि तु सर्वैरपि उपलभ्यते—इति भावः । अतश्च अनेनैव हकारस्यापि प्रसङ्गात्स्वरूपं निर्दिष्टं किं तु तस्य स्थौल्यात् स्फुटत्वेनावस्थानम्, अस्य तु सौक्ष्म्यात् न तथा, इति इयानेव विशेषः । अत एव समनन्तरमेव

'विसर्ग एव सुस्पष्टमाश्यानत्वमुपागतः ।'

इत्याद्युक्तम् । यदभिप्रायेणैव अनयोः परापरत्वमपरत्वं चोक्तम् । अत एव अग्रे हकारस्य स्वरूपं न उक्तम् । उक्तं चान्यत्र—

'यत्तदक्षरमक्षोभ्यं प्रियाकण्ठोदितं परम् ।
सहजं नाद इत्युक्तं तत्त्वं नित्योदितो जपः ॥' इति ।

वाला जो ध्यान आदि उससे रहित—निश्चितता से उत्पन्न ध्येय आदि रूप से अक्षोभ्य है—यह अर्थ है । इस प्रकार का होने पर भी उपभोग के अवसर पर रतिसुख के समावेश के अधीन होने से वेद्यशून्य अन्तःकरण होने के कारण वैकल्यहीन प्रियतमा के कण्ठ के भीतर स्वभावतः उदित = अभिव्यज्यमान होता हुआ, इसीलिए निरन्तर उदित रहने पर भी उस समय यह विशेष रूप से वर्त्तमान रहता है । इस प्रकार विसर्ग के अनाहतरूप होने से सूक्ष्म होने पर भी प्रियतमा के कण्ठ के भीतर कुछ उच्छूनता को प्राप्त होने के कारण, हा-हा इस रूप में स्पष्टतया स्थिति रहती है जिस कारण इसका यह प्राप्य उदाहरण दिया गया । इस कारण यह केवल योगी से ही अनुभूय नहीं बल्कि सबके द्वारा प्राप्त किया जाता है—यह तात्पर्य है । इसलिए इसी के द्वारा प्रसङ्गात् हकार का भी रूप बतलाया गया किन्तु स्थूल होने के कारण उसकी स्पष्टतया स्थिति रहती है । और इसकी सूक्ष्म होने के कारण वैसी नहीं रहती को इतना ही अन्तर है । इसीलिए पहले—

'विसर्ग ही स्पष्टतया दुर्बलता को प्राप्त हुआ ।'

इत्यादि कहा गया है । जिस अभिप्राय से ही इन दोनों को परापर और अपर कहा गया है । इसीलिए आगे हकार का स्वरूप नहीं कहा गया । अन्यत्र कहा भी गया है—

'जो वह अक्षर, अक्षोभ्य, प्रियाकण्ठ में उदित पर सहजनाद ऐसा कहा गया (वही) तत्त्व नित्योदित जप है ।'

तथा--

'नित्यानन्दरसास्वादाद्धाहेति गलकोदरे ।
स्वयंभूः सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः ॥' इति ।

तत्र अनाहतात्मनि एवंविधे विसर्गे साधकश्चित्तं सम्यक्—

'अतिसौख्यसमावेशविवशीकृतचेतसः ।
अविच्छिन्नं जपन्त्येनमङ्गनासङ्गमोत्सवे ॥
अत्रासक्तधियो यान्ति योगं योगीश्वराः परम् ।
स शिरोरहितः कामः कामिनीहृदयालयः ॥
नेत्रारूढेन तेनाथ शक्तिदृष्टिं समाहरेत् ।
क्षोभयेन्नात्र संदेहो दृप्तामपि वरस्त्रियम् ॥'

इत्याद्युक्तनीत्या कामशब्दाभिधेयम् अनच्ककलात्मकं विसर्गं स्वनेत्राभ्यां निर्गतं साध्यनेत्रयोरनुप्रविष्टं ध्यायेत्, साध्यनेत्राभ्यां च निर्गतं स्वनेत्रयोरनुप्रविष्टं ध्यायेत्, इत्येवं क्रमेण आ = समन्तात् दोलायन्त्रक्रमेण गमागमयोः पौनः पुन्येन धृत्वा = अनन्यापेक्षेण अवहितं कृत्वा, जगत् = जायमानं जन्तुचक्रं युगपत् न तु क्रमेण, वशयेत् = स्वात्ममयतयैव सर्वमाभासयेत्, स्वात्मायत्तं वा कुर्यात्— इत्यर्थः ॥ १४७ ॥

तथा—

'नित्य आनन्दरस के आस्वाद से गले के अन्दर 'हा-हा'—इस प्रकार का सुखद उच्चार कामतत्त्व को बतलाने वाला होता है ।'

उस अनाहत रूप इस प्रकार के विसर्ग में साधक (अपने) चित्त को भलीभाँति—

'अत्यन्त सुख के समावेश के द्वारा विवशचित्त वाले लोग अङ्गनासङ्गरूप उत्सव में इसका निरन्तर जप करते हैं । इसमें आसक्तचित्तवाले योगी लोग परमयोग को प्राप्त होते हैं । वह शिरविहीन काम है । कामिनी का हृदय उसका घर है । (जो साधक) नेत्र पर आरूढ़ उसके द्वारा शक्तिदृष्टि का समाहरण करता है वह मदमत्त वर स्त्री को भी क्षुब्ध कर देता है इस में कोई सन्देह नहीं है ।'

इत्यादि उक्तनीति के द्वारा कामशब्दवाच्य स्वररहित क कलात्मक विसर्ग को अपने नेत्रों से निकला हुआ साध्य के नेत्रों में अनुप्रविष्ट (रूप में) ध्यान करना चाहिये । इस क्रम से आ = सब ओर दोलायन्त्र के क्रम से गमन ओर आगमन को बार-बार धारण कर = निरपेक्षरूप से अवहित कर, जगत् = जायमान जन्तुसमूह को एक साथ न कि क्रमशः वश में करते हैं = आत्ममय रूप में सबको आभासित करते हैं अथवा सबको आत्माधीन कर लेते हैं ॥ १४७ ॥

इदानीं यथोक्तविसर्गस्वरूपमेव दृष्टान्तीकृत्य कादीनामुदयं वक्तुमुपक्रमते—

अत एव विसर्गस्य हंसे यद्वत्स्फुटा स्थितिः ॥ १४८ ॥
तद्वत्सानुत्तरादीनां कादिसान्ततया स्थितिः ।

अतः = समनन्तरोक्ताद्धेतोः, विसर्गस्यैव यथा हकारात्मतया स्थूलेन रूपेणावस्थानं तथैव अनुत्तरादीनामपि कादिसान्तत्वेन अनुत्तरादय एव तथा अवभासन्ते—इत्यर्थः ॥ १४८ ॥

तदेवाह—

अनुत्तरात्कवर्गस्य सूतिः पञ्चात्मनः स्फुटम् ॥ १४९ ॥
पञ्चशक्त्यात्मतावेश एकैकत्र यथा स्फुटः ।

पञ्चात्मत्वे हेतुः—पञ्चशक्त्यात्मतावेश इति, एकैकत्रेति = अनुत्तरेच्छादौ, अनुत्तरस्य हि चिच्छक्तिप्राधान्येऽपि 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इतिन्यायेन पञ्चशक्तिमयत्वम् इति तत्सूतेः कवर्गस्यापि पञ्चात्मत्वम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ १४९ ॥

इच्छाशक्तेः स्वस्वरूपसंस्थाया एकरूपतः ॥ १५० ॥
चवर्गः पञ्चशक्त्यात्मा क्रमप्रस्फुटतात्मकः ।

अब उक्त विसर्गस्वरूप को दृष्टान्त बनाकर 'क' आदि के उदय करने का उपक्रम करते हैं—

इसीलिए विसर्ग की 'हंस' स्थ हकार में जिस प्रकार स्पष्ट स्थिति है उसी प्रकार अनुत्तर आदि की 'क' से लेकर 'स' तक के रूप में स्थिति है ॥ -१४८, १४९- ॥

अतः = पूर्वोक्त कारण से, जिस प्रकार विसर्ग की ही हकार रूप में स्थूल रूप से स्थिति है उसी प्रकार अनुत्तर आदि भी है 'क' से लेकर 'स' तक के रूप में अनुत्तर आदि ही उस रूप में भासित होते हैं ॥ १४८ ॥

वही कहते हैं—

जैसे पञ्चात्मक 'क वर्ग' की अनुत्तर से उत्पत्ति स्पष्ट है (उसी प्रकार) एक-एक (वर्ण) में पाँच शक्ति वाला आवेश भी स्फुट है ॥ -१४९, १५०- ॥

पञ्चात्मता में कारण है पञ्चशक्त्यात्मता का आवेश । एक-एक जगह—अनुत्तर इच्छा आदि में । चित्शक्ति की प्रधानता होने पर भी 'सर्वत्र सब है' इस न्याय से अनुत्तर पाँच शक्ति से युक्त है इसलिए उससे उत्पन्न कवर्ग भी पञ्चात्मक है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये ॥ १४९ ॥

अपने स्वरूप में स्थित इच्छाशक्ति के एकरूप से पञ्चशक्त्यात्मक च-

या तूक्ता ज्ञेयकालुष्यभाक्क्षिप्रचरयोगतः ॥ १५१ ॥
द्विरूपायास्ततो जातं ट-ताद्यं वर्गयुग्मकम् ।
उन्मेषात्पादिवर्गस्तु यतो विश्वं समाप्यते ॥ १५२ ॥

स्वस्वरूपसंस्थाया इति = इष्यमाणानारूषितायाः । एकरूपत इति = अक्षुब्धाया एव इच्छाशक्तेः, न पुनः क्षुब्धाया अपि—इत्यर्थः । चिदादीनामपि शक्तीनां यथायथं बाह्योन्मुखतया स्फुटत्वमस्ति, इत्यौचित्यात्तत्स्फाररूपाणां कवर्गादीनामपि तथात्वमित्युक्तम्—'क्रमप्रस्फुटतात्मकः' इति । येति = इच्छाशक्तिः, ज्ञेयम् अर्थादिष्यमाणम्, द्विरूपायाः—ऋकारॠकाररूपायाः । एवमनेनानुत्तरादिभ्य एव पञ्चभ्यः कवर्गादीनां पञ्चानां वर्गानामुदयः—इत्यभिहितम्, अत एवैषां 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादिना सस्थानत्वमुक्तम्, उक्तं चान्यत्र—

'अकुलात्पञ्चशक्त्यात्मा द्वितीयो वर्ग उत्थितः ।
अनारूषितरूपाया इच्छायाश्च ततः परः ॥
वह्निक्ष्माजुषस्तस्याष्ट-ताद्यं च द्वयं ततः ।
पादिरुन्मेषतो जात इति स्पर्शाः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥ १५२ ॥

वर्ग उत्पन्न होता है जिसमें क्रम स्पष्ट रहता है । जो ज्ञेय के कालुष्य से युक्त कही गयी है, क्षिप्र और स्थिर के योग से दो रूपों वाली उस (इच्छा) से ट वर्ग और त वर्ग दो उत्पन्न होते हैं । (उस शक्ति के) उन्मेष से प वर्ग (उत्पन्न होता है) जिससे विश्व समाप्त हो जाता है ॥ -१५०-१५२ ॥

अपने स्वरूप में स्थित = इष्यमाण से अनारूषित । एक रूप से = अक्षुब्ध ही इच्छाशक्ति का न कि क्षुब्ध का भी—यह अर्थ है । चिद् आदि शक्तियों की भी क्रमशः बाह्य उन्मुख रूप में स्फुटता है । इसलिए औचित्य के कारण उसके स्फार रूप कवर्ग आदि भी उसी प्रकार के हैं इसलिए कहा गया—क्रमप्रस्फुटतात्मक । जो = इच्छाशक्ति । ज्ञेय = इष्यमाण, दो रूपवाली का = ऋकार ॠकार रूप वाली का । इस प्रकार इसके द्वारा अनुत्तर आदि पाँच से ही कवर्ग आदि पाँच वर्गों का उदय होता है—यह कहा गया । इसीलिए इनका = अ कवर्ग ह और विसर्ग का (उच्चारण स्थान) कण्ठ है—इत्यादि के द्वारा संस्थानता कही गई है । अन्यत्र भी कहा गया है—

'अकुल से पञ्चशक्तिरूप दूसरा वर्ग निकला है । अनारूषित रूप इच्छा से उसके बाद वाला । अग्नि (= र) तथा पृथिवी (= ल) से युक्त उस (= इ) से (अर्थात् ऋ ओर ऌ से) टवर्ग और तवर्ग दोनों (निकले हैं) ।' उसके बाद उन्मेष से पवर्ग उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार स्पर्श (वर्णों) का कथन किया गया है ॥ १५०-१५२ ॥

ननु,

'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥'

इत्याद्युक्त्या कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णाः पृथ्वीतत्त्वादारभ्य पुरुषतत्त्वान्तं यावत्स्थिताः । तत् तत्त्वान्तराणामपि संभवाद्विश्वमवशिष्यत इति कथमेतावतैवोक्तम्—'यतो विश्वं समाप्यते' इति ?—इत्याशङ्क्याह—

ज्ञेयरूपमिदं पञ्चविंशत्यन्तं यतः स्फुटम् ।
ज्ञेयत्वात्स्फुटतः प्रोक्तमेतावत्स्पर्शरूपकम् ॥ १५३ ॥

यत इदम् = विश्वं पृथ्वीतत्त्वादि, पञ्चविंशत्यन्तम्

'पुरुषः पञ्चविंशकः'

इत्याद्युक्त्या पुरुषतत्त्वान्तं विश्वं स्फुटत्वाज्ज्ञेयरूपम् अत उक्तं 'यतो विश्वं समाप्यते' इति । नियत्यादि हि

'मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञातुरत्यन्तं कण्ठसंलग्नत्वेन अभिन्नमेव इति न व्यतिरिक्तस्थूल-

---

प्रश्न—

'पृथिवी से लेकर पुरुष तक के तत्त्व ककार से लेकर मकार पर्यन्त पाँच वर्गों में स्थित है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा 'क' से लेकर 'म' तक पचीस वर्ण पृथिवी तत्त्व से लेकर पुरुष तत्त्व तक स्थित हैं तो दूसरे तत्त्वों की भी सम्भावना होने से विश्व शेष रहता है फिर कैसे इतने से ही कह दिया गया कि—'जहाँ विश्व समाप्त हो जाता है ?'—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि पचीस वर्ण पर्यन्त यह ज्ञेयरूप स्फुट है इसलिए ज्ञेय और स्फुट होने से इन्हें स्पर्श कहा गया है ॥ १५३ ॥

जहाँ से यह = पृथ्वी तत्त्व से लेकर पञ्चविंशति तक

'पुरुष पचीसवाँ है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा पुरुषतत्त्वपर्यन्त विश्व स्पष्ट होने के कारण ज्ञेयरूप है इसलिए कहा गया—'जहाँ विश्व समाप्त हो जाता है ।'

नियति आदि तो—

'माया से लेकर छः कञ्चुक वाला यह अणु का अन्तरङ्ग कहा गया है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा ज्ञाता के अत्यन्त कण्ठसंलग्न होने के कारण अभिन्न ही

ज्ञेयात्मविश्वरूपतयोक्तम्—इति भावः । अत एव चैतावत्तत्त्वपञ्चविंशकान्तं विश्वं स्फुटात् = ज्ञेयत्वादेव हेतोः, इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति 'स्पर्शाः' तद्रूपम्, प्रकर्षेण 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः, इति वाचकाभिप्रायेण

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।'

इति च वाच्याभिप्रायेण उक्तम् । अत्र च पुंसः प्रमातृत्वेऽपि करणानां च करणत्वादेव प्रमाणत्वेऽपि यज्ज्ञेयत्वमुक्तं तच्छून्यादिप्रमात्रन्तराभिप्रायेण, इति न कश्चिद्दोषः ।। १५३ ।।

एवं स्पर्शानामुदयमभिधाय अन्तःस्थानामप्यभिधत्ते—

इच्छाशक्तिश्च या द्वेधा क्षुभिताक्षुभितत्वतः ।
सा विजातीयशक्त्यंशप्रोन्मुखी याति यात्मताम् ।। १५४ ।।
सैव शीघ्रतरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता ।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति ।। १५५ ।।
तद्वदुन्मेषशक्तिर्द्विरूपा वैजात्यशक्तिगा ।
वकारत्वं प्रपद्येत सृष्टिसारप्रवर्षकम् ।। १५६ ।।

है इसलिए भिन्न स्थूल ज्ञेयरूप विश्व के रूप में नहीं कहा गया—यह तात्पर्य है। और इसीलिये इन पचीस तत्त्वों वाला विश्व स्पष्टतया ज्ञेय होने के कारण, इन्द्रियों से पृष्ट किये जाते हैं इसलिए स्पर्श हैं, उस रूप वाला है । प्रकृष्टरूप में = 'क' से लेकर 'म' तक स्पर्श वर्ण है इस प्रकार वाचक के अभिप्राय से—

'हे कौन्तेय ! ये मात्रास्पर्श शीत-उष्ण सुख-दुःख को देने वाले उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले अनित्य हैं । हे भारत उनका सहन करो ।'

इस प्रकार वाच्य के रूप में भी कहे गये हैं । यहाँ पर पुरुष के प्रमाता होने पर भी, इन्द्रियों के इन्द्रियत्व के कारण ही, प्रमाण होने पर भी, जो ज्ञेय कहा गया वह शून्य आदि दूसरे प्रमाता के अभिप्राय से । इसलिए कोई दोष नहीं है ।। १५४ ।।

इस प्रकार स्पर्श वर्णों का उदय कहकर अन्तःस्थों का भी (उदय) कहते हैं—

जो इच्छाशक्ति क्षुभित और अक्षुभित रूप से दो प्रकार की (कही गयी) वह विजातीय शक्त्यंश की ओर उन्मुख होकर 'य' बन जाती है । वही शीघ्रतर प्राप्त ज्ञेयत्वरूप कालुष्य से रूषित होकर विजातीयोन्मुख होने के कारण 'र' और 'ल' बन जाती है । उसी प्रकार दो रूपों वाली उन्मेष शक्ति विजातीय शक्ति को प्राप्त कर सृष्टिसार की वर्षा करने वाले (अमृत स्वरूप) 'व' का रूप को प्राप्त करती है ।। १५४-१५६ ।।

क्षुभिताक्षुभितरूपत्वेन द्विविधा येयमिच्छाशक्तिः सा, विजातीयश्चिद्रूपो योऽयं शक्त्यंशः = अनुत्तरस्तत्र प्रोन्मुखी = तेन समं 'इको यणचि' इति प्राप्तसंधिः सती यात्मतां याति = यकारात्मना प्रस्फुरति—इत्यर्थः । सैव द्विरूपापीच्छाशक्तिः 'अचिरद्युतिभासिन्या' इत्याद्युक्तगत्या शीघ्रं स्थिरं च कृत्वा, उपात्तं यत् ज्ञेयम् = अर्थादिष्यमाणम्, तत्कालुष्येणारूषिता सती अनुत्तरात्मनि विजातीये यदुन्मुखत्वं, तेन समं 'इको यणचि' इति संधिः, तेन रत्वं लत्वं च गच्छति = तदात्मना भासते—इत्यर्थः । एवमुन्मेषशक्तिरपि द्विप्रकारा 'वैजात्यशक्तिगा'—अनुत्तरेण सह प्राग्वदेव कृतसन्धिर्वकारत्वमवभासयेत् । तदुक्तम्—

'विभिन्नशक्तिसंयोगादिच्छा य-र-लतां गता ।
उन्मेषशक्तिरायाति वत्वमेव वरानने ॥' इति ।

'सृष्टिसारप्रवर्षकम्' इत्यनेन अस्य वरुणबीजत्वादाप्यायकारित्वं दर्शितम्, एवं य-र-लानामपि शोषकारित्वं दाहकत्वं स्तम्भकत्वं च क्रमेणावगन्तव्यम् ॥ १५६ ॥

ननु इष्यमाणारूषणायामपि वक्ष्यमाणनीत्या इच्छाशक्तिरेव परामर्शान्तरजननसमर्था, इत्यनुत्तरसङ्घट्टभाजः तस्याः परामर्शान्तरलक्षणं कार्यमुत्पद्यतां नाम,

---

क्षुभित और अक्षुभितरूप से दो प्रकार की जो यह इच्छाशक्ति वह, विजातीय = चिद्रूप जो यह शक्त्यंश = अनुत्तर उसके प्रति उन्मुखी, उसके साथ 'इकोयणचि' (= इक् प्रत्याहार वाले वर्ण के स्थान में यण् प्रत्याहार वाले वर्णों का आदेश होता है यदि बाद में स्वरवर्ण हों तो) इस सूत्र से सन्धि को प्राप्त होती हुई य् रूपता को प्राप्त होती है अर्थात् यकार के रूप में स्फुरित होती है । वही दो रूप वाली ही इच्छा शक्ति 'अचिरद्युतिभासिनी' इत्यादि उक्त गति से शीघ्र और स्थिर रूप में प्राप्त जो ज्ञेय अर्थात इष्यमाण उसके कालुष्य से आरूषित होकर अनुत्तर रूप विजातीय के प्रति जो उन्मुखता उसके साथ इकोयणचि सूत्र से सन्धि, उससे र् और ल् हो जाती है अर्थात् उस रूप में भासित होती है । इसी प्रकार उन्मेष शक्ति भी दो प्रकार की 'विजातीय शक्ति से मिलकर = अनुत्तर के साथ पहले की भाँति सन्धि कर वकार का भास कराती है । वही कहा गया है—

'विभिन्न शक्ति के संयोग से इच्छाशक्ति य्, र्, ल् रूप को प्राप्त हुई । हे वरानने ! उन्मेष शक्ति व् रूप को प्राप्त होती है ।'

'सृष्टिसार की वर्षा करने वाला इससे वरुण बीज होने के कारण इसकी पूरणकारिता दिखलायी गई ।' इसी प्रकार य्, र्, ल् वर्णों की भी शोषकारिता दाहकता और स्तम्भकता क्रम से जाननी चाहिये ॥ १५४-१५६ ॥

प्रश्न—इष्यमाण की आरूषणा में भी आगे कही जाने वाली नीति से इच्छाशक्ति ही दूसरा परामर्श उत्पन्न करने में समर्थ है इसलिए अनुत्तर सङ्घट्ट की भागिनी उसका परामर्शवाला कार्य उत्पन्न हो जाय लेकिन उसका यकार आदि के

तस्य पुनर्यकारादिरूपत्वेन भेदः कथं स्यात् 'कारणभेदाद्धि कार्यभेदः' कारणं चात्रेच्छानुत्तरसङ्घट्टात्मकमेकमेव, इति किमेतत् ?—इत्याशङ्क्याह—

इच्छैवानुत्तरानन्दयाता शीघ्रत्वयोगतः ।
वायुरित्युच्यते वह्निर्भासनात्स्थैर्यतो धरा ॥ १५७ ॥

इह इच्छैव, न पुनरिष्यमाणमपि, अनुत्तरानन्दाभ्याम्, अर्थाद्विकल्पेन, याता = मिलिता सती, शीघ्रत्वयोगतः = संस्कारलक्षणं वेगमुपाधित्वेन स्वीकृत्य, वायुरित्युच्यते = वायुबीजयकाररूपतां प्राप्ता—इत्यर्थः । एवं भासनाद्भास्वत्ता-लक्षणं धर्मः, तथा स्थैर्यतो धृतिहेतु स्थिरत्वाख्यं धर्मम् उपरञ्जकत्वेन अवलम्ब्य, क्रमेण वह्निः = वह्निबीजरेफात्मताम्, धरा = धराबीजलकाररूपतां चाभासयति—इत्यर्थः । आनन्देति चोन्मेषादिविजातीयशक्त्यन्तराभिव्यञ्जनपरतयोक्तम् । तेनानु-त्तरादिसङ्घट्टभाज इच्छाया एवमुपाधियोगेन भेदात्कार्यस्यापि भेद इति यथोक्तमेव युक्तम् ॥ १५७ ॥

अत्र चान्तःस्थशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं दर्शयति—

इदं चतुष्कमन्तःस्थमत एव निगद्यते ।
इच्छाद्यन्तर्गत्वेन स्वसमाप्तौ च संस्थितेः ॥ १५८ ॥

रूप से भेद कैसे होगा क्योंकि कारण के भेद से कार्य भेद होता है और कारण यहाँ इच्छा और अनुत्तर का सङ्घट्ट रूप एक ही है तो यह क्या है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

इच्छा ही अनुत्तर और आनन्द से मिलकर शीघ्रता के कारण वायु, भासन के कारण वह्नि और स्थिरता के कारण धरा कहलाती है ॥१५७ ॥

इच्छा ही न कि इष्यमाण भी अनुत्तर और आनन्द के साथ अर्थात् विकल्प से गई हुई = मिली हुई, शीघ्रता के योग से संस्कारलक्षण वाले वेग को उपाधि के रूप में स्वीकार कर वायु कही जाती है = वायु बीज यकार के रूप को प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार भासन के कारण भास्वत्ता लक्षण वाले धर्म को तथा स्थैर्य के कारण धैर्य के हेतु स्थिरता नामक धर्म को उपरञ्जक के रूप में मानकर क्रमशः वह्नि = वह्निबीज रेफात्मता को और धरा = पृथ्वीबीज लकाररूपता को आभासित करती है । आनन्द—यह कथन उन्मेष आदि विजातीय दूसरी शक्तियों के अभिव्यञ्जनपरक रूप में कहा गया है । इससे अनुत्तर आदि सङ्घट्ट की भागिनी इच्छा का इस प्रकार उपाधि के योग से भेद होने के कारण कार्य का भी भेद होता है इसलिए जैसा कहा गया वही ठीक है ॥ १५७ ॥

यहाँ अन्तःस्थ शब्द की प्रवृत्ति में कारण बतलाते हैं—

इसलिए इच्छा आदि के अन्तर्गत होने तथा अपनी समाप्ति में

अत एव = प्रागुक्ताद्धेतोः, 'इच्छादि' इति आदि शब्देन उन्मेषस्य ग्रहणादिच्छोन्मेषयोरन्तः = अभेदेनावस्थानात्, तथा स्वस्य = प्रमात्रेकरूपस्य आत्मनः, सम्यगाप्तिः = ऐकात्म्येनावभासः, तत्र संस्थितेः = प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानत्वादिदम् यादि-वान्तं चतुष्कमन्तःस्थं निगद्यते = सर्वशास्त्रेषु एवमुच्यते— इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'इच्छाद्यन्तःप्रवेशेन तेऽन्तस्था इति कीर्तिताः ।' इति ॥ १५८ ॥

नन्विच्छाद्याः शक्तयो विजातीयशक्तिसंभिन्ना यथा परामर्शान्तराणि आविर्भावयन्ति, तथैव सजातीयशक्तिसंबन्धेऽपि किं, न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

सजातीयकशक्तीनामिच्छाद्याना च योजनम् ।
क्षोभात्मकमिदं प्राहुः क्षोभाक्षेभात्मनामपि ॥ १५९ ॥

क्षोभात्मनाम्—दीर्घाणाम्, अक्षोभात्मनाम् = ह्रस्वानाम्, इच्छादीनां शक्तीनामेवंरूपाणां सजातीयानामपि शक्तीनां यदा योजनम् = 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सन्ध्यात्मा योगो भवेत्, तदा 'क्षोभात्मकम्' इति प्राहुः— सजातीयदीर्घरूपपरामर्शस्वभावत्वं, न पुनर्विजातीयपरामर्शान्तररूपत्वं शास्त्रकोविदाः

स्थित होने के कारण ये चार (वर्ण य, र, ल, व) अन्तःस्थ कहे जाते हैं ॥ १५८ ॥

इसीलिए = पूर्वोक्त कारण से, इच्छा आदि, आदि शब्द से उन्मेष का ग्रहण होने से इच्छा और उन्मेष के भीतर = अभेद रूप से स्थित होने के कारण तथा अपने = प्रमातारूप आत्मा की, सम्यक् प्राप्ति = एकरूप में अवभास, उसमें स्थित होने से = प्रमाता के साथ अभिन्न रूप में वर्तमान होने से, यह 'य' से लेकर 'व' तक चार (वर्णों) को अन्तःस्थ कहा जाता है अर्थात् सब शास्त्रों में ऐसा कहा जाता है । जैसा कि कहा गया है—

'इच्छा आदि के भीतर प्रवेश के कारण वे अन्तःस्थ कहे गये हैं' ॥ १५८ ॥

प्रश्न—इच्छा आदि शक्तियाँ जिस प्रकार विजातीय शक्ति से सभिन्न होकर दूसरे परामर्शों को प्रकट करती हैं उसी प्रकार क्या सजातीय शक्तियों के सम्बन्ध में है ? या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्षोभात्मक और अक्षोभात्मक इच्छा आदि सजातीय शक्तियों का जो योग इसे क्षोभात्मक कहा गया है ॥ १५९ ॥

क्षोभात्मकों का = दीर्घों का, अक्षोभात्मकों का = ह्रस्वों का, इस प्रकार की सजातीय शक्तियों का भी जब योग = 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस प्रकार का सन्धिरूप योग होता है तब क्षोभात्मक—ऐसा कहते हैं = सजातीय दीर्घरूप परामर्श स्वभाव को न कि विजातीय परामर्शान्तर रूप को शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं—यह अर्थ

कथयन्तीत्यर्थः । तेन इ + इ = ई, ई + इ = ई, इ + ई = ई, ई + ई = ई, इत्येवंप्राये योगे क्षोभात्म—दीर्घरूपमीकारत्वमेव भवेत् इति तात्पर्यम् ।। १५९ ।।

अनुत्तरे पुनरेवंरूपत्वेऽपि विशेषोऽस्ति—इत्याह—

अनुत्तरस्य साजात्ये भवेत्तु द्वितयी गतिः ।
अनुत्तरं यत्तत्रैकं तच्चेदानन्दसूतये ॥ १६० ॥
प्रभविष्यति तद्योगे योगः क्षोभात्मकः स्फुटः ।
अत्राप्यनुत्तरं धाम द्वितीयमपि सूतये ॥ १६१ ॥
न पर्याप्तं तदा क्षोभं विनैवानुत्तरात्मता ।

अनुत्तरस्य पुनः सजातीययोगे द्विप्रकारा गतिर्भवेत्, यत् = यस्मात्तत्र तदेकम- नुत्तरं चेत्, आनन्दसूतये प्रभविष्णुतामेष्यति तदा तेनापरेणानुत्तरेणैव योगे = संबन्धे, क्षोभात्मक आनन्दरूप एव स्फुट योगः = प्राग्वदेव निर्बाधः सन्धिः । यथा 'दण्डाग्रम्इत्यादावेकः प्रकारः, अथापि = अर्थादेकस्यानुत्तरस्य' द्वितीयमप्यनुत्तरं सङ्घट्टमानम् आनन्दजन्मने न पर्याप्तं स्यात्, तदा क्षोभात्मका- नन्दप्रादुर्भावमन्तरेण 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते सति, अनुत्तरात्मतैव भवेत्,

---

है । इससे इ+इ = ई, ई+इ = ई, इ+ई = ई और ई+ई = ई इस प्रकार का योग होने पर क्षोभात्मक = दीर्घ रूप ईकार ही हो जाता है ।। १५९ ।।

अनुत्तर के भी इस प्रकार का होने पर विशेष होता है—

यह कहते हैं—

अनुत्तर के सजातीय संयोग की दो गतियाँ होती हैं । उनमें से एक अनुत्तर आनन्द की उत्पत्ति के लिये समर्थ होता है । उसका दूसरे अनुत्तर से योग होने पर (वह) योग स्पष्टतया क्षोभात्मक होता है । यहाँ भी द्वितीय अनुत्तर धाम प्रसव के लिये पर्याप्त नहीं है । इस समय क्षोभ के बिना अनुत्तरता रहती है ।। १६०-१६२- ।।

और अनुत्तर का सजातीय से योग होने पर दो प्रकार की गति होती है । यत् = जिस कारण वहाँ वह एक = अनुत्तर, यदि आनन्द को उत्पन्न करने के लिये प्रभावी होता है तो उसका दूसरे अनुत्तर से ही योग = सम्बन्ध होने पर, क्षोभात्मक = आनन्दरूप ही स्फुट योग = पहले की भाँति निर्बाध सन्धि और जैसे 'दण्डाग्रम्' इत्यादि में एक प्रकार की होती है । फिर भी—अर्थात् एक अनुत्तर के साथ दूसरा भी सङ्घट्टमान अनुत्तर यदि आनन्द की उत्पत्ति में पर्याप्त नहीं होता तो क्षोभात्मक आनन्द के प्रादुर्भाव के बिना 'अतो गुणे' से पररूप (सन्धि) करने पर अनुत्तरात्मता ही होती है जो जैसे कि 'सीमन्त' इत्यादि स्थलों में । यह दूसरा

तथा = 'सीमन्तम्' इत्यादौ—इति द्वितीयः ॥ १६०-१६१ ॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेव ऊष्मणामुदयमभिधत्ते—

इच्छा या कर्मणा हीना या चैष्टव्येन रूषिता ॥ १६२ ॥
शीघ्रस्थैर्यप्रभिन्नेन त्रिधा भावमुपागता ।
अनुन्मिषितमुन्मीलत्प्रोन्मीलितमिति स्थितम् ॥ १६३ ॥
इष्यमाणं त्रिधैतस्यां ताद्रूप्यस्यापरिच्युतेः ।
तदेव स्वोष्मणा स्वात्मस्वातन्त्र्यप्रेरणात्मना ॥ १६४ ॥
बहिर्भाव्य स्फुटं क्षिप्तं श-ष-सत्रितयं स्थितम् ।

एवमत्रैष्टव्यस्यापि विभज्यावस्थानं दर्शयति—अनुन्मिषितमित्यादिना । एतस्यां त्रिधाभावमुपागतायामिच्छायामिष्यमाणमपि त्रिधैवावस्थितं, यतः

'तत् सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा'

इत्यादिनीत्या शुद्धायामिकाररूपायाम् 'अनुन्मिषितम्' = अनुल्लसितं शीघ्ररूपेण एष्टव्येनारूषितायामृकाररूपायाम् 'उन्मीलत्' = उल्लसद्रूपम्, स्थैर्यात्मना चैष्टव्येनारूषितायां ऌकाररूपायां 'प्रोन्मीलितम्' = उल्लसितमिति । ननु

(विशेष) है ॥ १६०-१६१ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत ऊष्मा वर्णों का उदय बतलाते हैं—

जो इच्छा कर्म से रहित होती है जो कर्म से युक्त होती है शीघ्रता और स्थिरता के भेद से (सकर्मक इच्छा के दो होने पर इच्छा) तीन प्रकार की हो गयी । (ये प्रकार) अनुन्मिषित, उन्मिषित और प्रोन्मीलित है । अपने स्वरूप से च्युत न होते हुए भी इसमें तीन प्रकार के इष्यमाण है । वही अपने स्वातन्त्र्य से प्रेरित अपनी ऊष्मा से बाह्यरूप में प्रकट होकर स्पष्टतया क्षिप्त श,ष,स (ये तीन वर्ण) हो जाता है ॥ -१६२-१६५- ॥

इस प्रकार यहाँ 'अनुन्मिषित' इत्यादि के द्वारा एष्टव्य की भी बाँट कर स्थिति दिखलाते हैं । तीन प्रकार भाव को प्राप्त इच्छा में इष्यमाण भी तीन प्रकार से ही स्थित है । क्योंकि—

'इसलिए वह विप्रकृष्ट (= अलग) स्रष्टव्य की केवल इच्छामात्ररूपा होती है ।'

इत्यादि नीति के द्वारा शुद्ध इकाररूपा में, अनुन्मिषित = अनुल्लसित, शीघ्ररूप एष्टव्य से अनारूषित ऋकार रूपा में उन्मीलित होता हुआ = उल्लसित होता हुआ स्थिरता रूप एष्टव्य से अनारूषित ऌकार रूपा में उन्मीलित =

इष्यमाणस्य शीघ्रत्वादिभेदेन वैशिष्ट्यात्मस्वरूपप्रच्याव: प्राप्त:, इति त्रयोऽत्र विषया इति वाच्यं, न पुनरेक एव त्रिधा ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'ताद्रूप्यस्यापरिच्युते-रिति' । नहि शीघ्रत्वादिभेदेऽपीष्यमाणतालक्षणाद्रूपादस्य प्रच्याव: —इति भाव: । तदेवं त्रिविधमपीष्यमाणम् = स्वातन्त्र्यलक्षणेन स्वोष्मणा बहीरूपतया समुल्लासितं सत् ऊष्मसंज्ञशषसत्रितयात्मना प्रस्फुरेत् । अत· आह—'तदेवेत्यादि' । एवमेषणीयस्य तदतिरेकासंभवात् त्रिप्रकारापीच्छैव स्वोष्मवशात् एवं परामर्श-त्रयात्मना प्रस्फुरिता—इति तात्पर्यार्थ: । तदुक्तम्—

'इच्छैव स्वोष्मणाक्रान्ता कलात्रयसमाश्रिता ।' इति ।

अत एवैषामिच्छायाश्च 'इचुयशानां तालु' 'ऋटुरषाणां मूर्धा' 'ऌतुलसानां दन्ता:' इत्यादिना सस्थानत्वमुक्तम् । इयदन्तमेव विस्फार इत्यप्यनेन प्रकाशितम् ॥ १६२-१६४ ॥

अत आह—

तत एव सकारेऽस्मिन्स्फुटं विश्वं प्रकाशते ॥ १६५ ॥
अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ।

उल्लसित होता है । प्रश्न—इष्यमाण का शीघ्रता आदि के भेद से विशिष्ट आत्मस्वरूप का पतन प्राप्त हो गया । इस प्रकार यहाँ तीन विषय वाच्य हो गये न कि एक ही तीन प्रकार से (वाच्य हो गया) ?—यह शङ्का कर कहा गया—तद्रूपता के च्युत न होने से । शीघ्रत्व आदि भेद होने पर भी इष्यमाणता लक्षणवाले रूप से यह च्युत नहीं होती—यह भाव है । तो इस प्रकार तीन प्रकार का भी इष्यमाण स्वातन्त्र्यलक्षण वाली अपनी ऊष्मा से बाह्यरूप में समुल्लासित होता हुआ ऊष्मसंज्ञक श, ष, स तीन रूप में स्फुरित होता है । इसलिए कहते हैं—वही... । इस प्रकार एषणीय की भी उससे भिन्नता सम्भव न होने से तीन प्रकार की भी इच्छा ही अपनी उष्मता के वश इस प्रकार तीन परामर्शों के रूप में स्फुरित हुई—यह तात्पर्य है । जैसा कि कहा गया है—

'अपनी ऊष्मा से आक्रान्त इच्छा ही तीन कलाओं के रूप में आयी ।'

इसीलिए इनका और इच्छा का 'इ चवर्ग य श (वर्णो का तालु और 'ऋ टवर्ग र, ष' वर्णों का मूर्धा तथा 'ऌ, तवर्ग ल स' वर्णों का दाँत इत्यादि के द्वारा स्थाननिरूपण किया गया है । (उसका) यहीं तक प्रसार है—यह भी इसके द्वारा प्रकाशित हुआ ॥ १६२-१६४ ॥

इसीलिए कहते हैं—

इसी कारण इस सकार में विश्व स्पष्टरूप से प्रकाशित होता है । इसे योगी लोग अमृत का परमधाम कहते है ॥ -१६५, १६६- ॥

तत इति = प्रोन्मीलितस्यापीष्यमाणस्य बहीरूपतया समुल्लासितत्वात् । अनेनैव चाभिप्रायेण

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तम्'

इत्याद्युक्तम् । अत एव चेयद्विश्वाप्यायकारित्वात्

'सोमं चामृतनाथं च सुधासारं सुधानिधिम् ।
सकारं षड्साधारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥'

इत्यादिदृशा अमृतबीजतयोक्तेश्च गुरवस्तत्परामृतं धाम प्रचक्षते = सर्वशास्त्रेषु कथयन्ति—इत्यर्थः ॥ १६५ ॥

ननु चास्य किमेवंरूपत्वं क्वचिद्विभाव्यते, न वा ? इत्याशङ्क्याह—

क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव च परामृतम् ॥ १६६ ॥
सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु ।

क्षोभस्य = आदियागरूपस्य ये आद्यन्तविरामाः, तेषु ये सीत्कारादयः तेषु तदेवामृतं परं धाम अर्थादभिव्यज्यते—इति संबन्धः । एवमस्य परानन्दमयतोद्रेचनेन

इस कारण = प्रोन्मीलित भी इष्यमाण के बाह्यरूप में समुल्लसित होने से और इसी अभिप्राय से

'डेढ़ वर्ण से तीनों अण्ड व्याप्त हैं ।'

इत्यादि कहा गया है। इसीलिए इतने विश्व का पूरण करने के कारण

'सोम, अमृतनाथ, सुधासार, सुधानिधि, सकार, षड्रसारधार नामों से कहा गया है ।'

इत्यादि दृष्टि से और अमृत बीज के रूप में कथन होने से गुरुवर्ग उसको परामृत धाम कहता है = सब शास्त्रों में कहते हैं —यह अर्थ है ॥ १६५ ॥

प्रश्न—क्या उसका वैसा रूप कहीं अनुभूत होता है ? या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्षोभ के आदि और अन्त विरामों में वही परामृत सीत्कार, सुख, सद्भाव समावेश और समाधि (में अनुभूत होता है) उसी को (ऋषिगण) परम अविभक्त ब्रह्म कहते हैं ॥ -१६६, १६७- ॥

क्षोभ के = प्रथम यागरूप के जो आद्यन्त विराम है उनमें जो सीत्कार आदि हैं उनमें वही अमृत परमधाम अर्थात् अभिव्यक्त होता है—यह सम्बन्ध है । इस प्रकार इसकी परानन्दमयता के उद्रेक से—

'करणमरीचिचक्रमुदयं कुरुते रभसात्-
स्थितिमुपयाति तत्र परसौख्यरसान्ततया ।
विलयमुपैति चात्र परबोधभरक्षपणात्-
परमकलात्र केवलतया विलसत्यमला ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या प्रथमं करणचक्रस्य क्षोभौन्मुख्यात् उदितसीत्कारादौ, अनन्तरं तत्रैव विश्रान्त्या परसामरस्यात्मसौख्यसमावेशे, तदनु च तत्रैव दार्ढ्येन निरूढ्या

'सदिति ब्रह्म परमम्'

इत्यद्युक्त्या सतः = परस्य ब्रह्मणो भावः = सत्ता, तत्र यः समावेशः— देहादिप्रमातृतानिमज्जनेन चित्प्रमातृताया उन्मज्जनम्, स एव समाधिः = परसंवित्कलारूपत्वेन परिस्फुरणम्, तत्रेति = एवमादिष्वानन्दस्थानेष्वभिव्यक्तिः— इत्यर्थः ॥ १६६ ॥

एवं चास्य परब्रह्मरूपत्वमेवेत्युक्तं स्यादत आह—

तदेव ब्रह्म परममविभक्तं प्रचक्षते ॥ १६७ ॥

ब्रह्मेति—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

'वह हठात् करणमरीचिचक्र का उदय करता है, वहीं पर पर सुख रसान्त के रूप में स्थिति को प्राप्त होता है । यहीं पर परबोध के भार को नष्ट करने के कारण विलय को प्राप्त होता है । फिर यहाँ निर्मल परमकला केवलरूप में शोभायमान होती है ।'

इत्यादि उक्त युक्ति के द्वारा पहले करणचक्र के क्षोभ की ओर उन्मुख होने से सीत्कार आदि का उदय होने से, बाद में वहीं विश्रान्ति के द्वारा परसामरस्य-रूप सुख का समावेश होने पर और फिर उसके बाद वहीं पर दृढ़तापूर्वक रूढ़ हो जाने से

'यह सत् ही परम ब्रह्म है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा सत् = पर ब्रह्म का भावसत्ता, उसमें जो समावेश = देह आदि की प्रमातृता के डूब जाने से चित्प्रमातृता का उन्मज्जन, वही समाधि = परसंवित्कला के रूप में स्फुरण, वहाँ = इस प्रकार के स्थानों मे अभिव्यक्ति है— यह अर्थ है ॥ १६६ ॥

इस प्रकार इसकी परब्रह्मरूपता ही कही जाती है—इसलिए कहते हैं—

शास्त्रज्ञ उसी को परब्रह्म कहते हैं ॥ १६७ ॥

ब्रह्म—

इत्याद्युक्त्या व्यापकं रूपम्—इत्यर्थः । अत एव 'अविभक्तमित्युक्तम्'—नियतरूपस्य हि विभागो भवेत्—इति भावः । प्रचक्षते इति—श्रीपरात्रिंशकादौ । तथाहि—तत्र पराबीजोद्धारे

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि'

इत्युक्तं, तृतीयं ब्रह्म सकारः, यद्गीतं

'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।' इति ॥ १६७ ॥

यत एव चास्य व्यापकममृतं च रूपम्, अत एव अन्यत्र 'विषतत्त्वमिति' व्यपदेशान्तरमप्यस्ति—इत्याह—

उवाच भगवानेव तच्छ्रीमत्कुलगुह्वरे ।
शक्तिशक्तिमदैकात्म्यलब्धान्वर्थाभिधानके ॥ १६८ ॥
काकचञ्चुपुटाकारं ध्यानधारणवर्जितम् ।
विषतत्त्वमनच्काख्यं तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥ १६९ ॥

अन्वर्थाभिधानके इति—तदुक्तं तत्रैव—

'यह सब ब्रह्म ही है ।'

इत्यादि उक्ति से व्यापक रूप—यह अर्थ है । इसीलिए 'अविभक्त'—ऐसा कहा गया । निश्चित रूप वाले का विभाग हो जायेगा—यह भाव है । कहते हैं—परात्रीशिका आदि में । इस प्रकार वहाँ पराबीजोद्धार में—

'हे सुश्रोणि ! तीसरा ब्रह्म'

ऐसा कहा गया है । तीसरा ब्रह्म सकार है । जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

'ॐ तत् और सत् इस प्रकार ब्रह्म का तीन प्रकार का निर्देश किया गया है ॥ १६७ ॥

जिस कारण इसका रूप व्यापक और अमृत है इसलिए अन्यत्र 'विषतत्त्व' ऐसा दूसरा व्यवहार भी है—यह कहते हैं—

शक्ति और शक्तिमान् के ऐकात्म्य से अन्वर्थ कथन को प्राप्त करने वाले श्रीमत् कुलगुह्वर शास्त्र में भगवान् ने स्वयं कहा है ॥ १६८ ॥

(हे देवि) मैने कौवे की बन्द चोंच के आकार वाला, ध्यान धारणा से रहित स्वररहित विष (= व्यापक) तत्त्व को तुम्हारे स्नेह के कारण प्रकाशित किया ॥ १६९ ॥

अन्वर्थ कथन करने वाले में—जैसा कि वहीं कहा गया है—

'कुलं शक्तिः समाख्याता गह्वरं शक्तिमानपि ।
उभयोर्वेदनैकत्वं कथ्यते कुलगुह्वरम् ॥' इति ।

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति 'काकचञ्चु' इत्यादि । संबोधनसारत्वाद्युष्मदर्थस्य—'हे देवि तव स्नेहात्' = शासनीयत्वेनानुकम्प्यत्वात्, विषस्य = व्यापकस्य रूपस्य, यत्तत्त्वम् = सर्वत्राप्रतिहतत्वम्, तत्प्रकाशितम् = अन्योन्यसङ्घट्टात्म- सामरस्यावसरेऽनुभवगोचरतामापादितम्—इत्यर्थः, तच्चानाहतरूपत्वादनच्कशब्दाभिधेयम् । अत एव सततोदितत्वेन ध्यानादिनिरपेक्षम् । तद्धि नियतध्येयादिनिष्ठम्—इति भावः । एवमपि काकचञ्चुपुटवदाकारो यस्य तत् तथाविधम्, अनच्कस्य द्विकुब्जतया तथा संनिवेशात् ॥ १६८-१६९ ॥

नन्विह अमृतबीजमुपक्रान्तं वर्तते, न च तस्यैवं रूपं संभवति, तस्य कामाक्षरविषयत्वेनोक्तत्वात्, तत्किमर्थमत्रैतत्संवादितम्, भगवतोऽपि—

'यदेतत्कामतत्त्वं तु विषतत्त्वं तदेव हि ।
तदिदानीं समासेन शृणु त्वं मृगलोचने ॥'

इत्यादिना कामतत्त्वस्यैव पुनर्विषतत्त्वत्वेनाभिधाने क आशयः ?—इत्याशङ्क्याह—

'कुल शक्ति को कहा गया है । गह्वर शक्तिमान् है । दोनों का एक ज्ञान 'कुलगह्वर' कहा जाता है ।

वहाँ का ही ग्रन्थ पढ़ते हैं—'कौवे की चोंच' इत्यादि । युष्मद पद का अर्थ संबोधन तत्त्व वाला होता है अतः—हे देवि ! तुम्हारे स्नेह के कारण = शासनीय होने के कारण अनुकम्प्य होने से । विष का = व्यापक रूप का । जो तत्त्व = अप्रतिहतरूपता है वह, प्रकाशित किया गया = परस्पर सङ्घट्ट रूप सामरस्य के अवसर पर अनुभव का विषय बनाया गया । और वह अनाहत रूप होने के कारण 'अनच्क' शब्द से कहा जाता है । इसलिए सदा उदित होने के कारण ध्यान आदि से निरपेक्ष है । वह निश्चित ध्येय आदि में रहता है—यह भाव है । ऐसा होने पर भी कौवे के चोंच के पुट सदृश आकार है जिसका वह उस प्रकार का, क्योंकि दो के द्वारा कुब्ज होने के कारण अनच्क का वैसा संनिवेश है ॥ १६८-१६९ ॥

प्रश्न—यहाँ तो अमृत बीज (व) प्रस्तुत है और उसका तो वैसा रूप सम्भव नहीं क्योंकि वह कामाक्षर के विषय के रूप में कहा गया है तो यहाँ क्यों उसको लाया गया और भगवान का भी—

'जो यह कामतत्त्व है वही विषतत्त्व है । हे मृगनयनि ! अब तुम उसे संक्षेप में सुनो ।'

इत्यादि के द्वारा कामतत्त्व का ही विषतत्त्व के रूप में कथन करने का क्या आशय है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कामस्य पूर्णता तत्त्वं सङ्घट्टे प्रविभाव्यते ।
विषस्य चामृतं तत्त्वं छाद्यत्वेऽणोश्च्युते सति ॥ १७० ॥

ननु भगवता श्रीकुलगुह्वरे कामतत्त्वविषतत्त्वयोः प्राणनामात्ररूपां प्राणादिवायु-पञ्चकसामान्यभूतां षष्ठीं प्राणकलामधिकृत्य स्वरूपं निरूपितम्, न पुनः प्राण-मात्रम्, तस्यैवंरूपासंभवात् । तस्य हि रेचकादिदशासु परेच्छाधीनवृत्तित्वा-दुच्चार्यमाणत्वप्रतिहन्यमानत्वाद्यपि संभवेत् । विशिष्टत्वं पुनः कामतत्त्वस्य प्राणरूपत्वम्, विषतत्त्वस्य च अपानरूपत्वम् । अत एवानयोर्हकारसकारात्मत्वम् । तदुक्तम्—

'स-हौ क्षपादिनामानावधरोत्तरचारिणौ ।'
परस्परद्वेषरतौ मतौ नगहुडूपमौ ॥
कस्तौ रोधयितुं शक्तो वीर्यं मुक्त्वा स्वयं महत् ।' इति ।

तथा,

'ऊर्ध्वे बिन्दू रविः प्राणो दिनं भागार्धमेव च ।
सिद्धैरधिष्ठितो भागः खेचर्याराधनात्मकः ॥
अधो नादस्तथापानो मत्तगन्धः क्षपा शशी ।
खेचर्यधिष्ठितो भागः सिद्धसेव्यो लयात्मकः ॥' इति ।

कामकला की पूर्णता का रहस्य मैथुन में अनुभूत होता है और व्यापक का अमृततत्त्व, परिमितप्रमाता जीव की परिच्छिन्नता के नष्ट होने पर ॥ १७० ॥

प्रश्न—भगवान् ने कुलगुह्वर (शास्त्र) में प्राणनामात्ररूप प्राण आदि पाँच वायुओं में सामान्य रूप से रहने वाली छठीं प्राणकला के आधार पर कामतत्त्व और विषतत्त्व के स्वरूप का निरूपण किया है न कि केवल प्राण का क्योंकि वह इस प्रकार का नहीं हो सकता । रेचक आदि दशाओं में दूसरे की इच्छा के अधीन रहने के कारण उसका उच्चार्यमाणत्व प्रतिहन्यमानत्व आदि भी सम्भव है । और कामतत्त्व की विशेषता प्राणरूप है और विषतत्त्व की अपानरूप है । इसीलिए ये दोनों हकार-सकार रूप हैं । वही कहा गया है—

'स और ह क्षपा और नामों के नीचे और ऊपर चलने वाले, परस्पर द्वेष करने वाले नग (= साँप) और हुडु (भेंड़ा) के समान माने गये हैं । स्वयं महावीर्य को छोड़कर उन दोनों को रोकने में कौन समर्थ है ।'

तथा,

'ऊपर बिन्दु (जिसका दूसरा नाम) रवि, प्राण, दिन भागार्ध है । यह भाग खेचरी के द्वारा आराधना रूप तथा सिद्धों के द्वारा अधिष्ठित है । नीचे नाद (जिसका दूसरा नाम) अपान, मत्तगन्ध, रात्रि और चन्द्रमा है । यह खेचरी के द्वारा

एवं वैशिष्ट्येऽपि अनयोः सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् प्राणनमात्र- रूपत्वम् उभयत्रापि संभवतीति ऐकरूप्येण निर्देशः, यदभिप्रायेण कामतत्त्वस्यैव विषतत्त्वत्वेन भगवतोऽभिधानम्, इह चैतत्संवादनम्, अत एव कामस्य कामतत्त्वस्यापि पूर्णता = स्वात्ममात्रविश्रान्तेरनन्याकाङ्क्षिता नाम, तत्त्वम् = पारमार्थिकं रूपम्, सङ्घट्टे प्रविभाव्यते = परस्परसामरस्यात्मसंक्षोभावसरे सर्वैरेव साक्षात्क्रियते—इत्यर्थः । विषतत्त्वस्याप्यणोः परिमितस्य देहादिमातुः स्वाभाविक-पूर्णदृक्क्रियावारके पारिमित्यात्मनि छाद्यत्वे च्युते = वेद्यवेदकविभागविगलनात्पूर्णे रूपे समुदिते सति, आमृतम् = विकासदशामयं तत्त्वं सङ्घट्टे प्रविभाव्यते—इति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ १७० ॥

ननु चास्य स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियावरणेऽपि किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह—

व्याप्त्री शक्तिर्विषं यस्मादव्याप्तुश्छादयेन्महः ।

शक्तिरिति = पारमेश्वरी स्वरूपगोपनारूपा मायाख्या । मह इति = स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियारूपम्, विषमपि हि बहिर्व्यापकत्वादव्याप्तुरण्वात्मनो दृक्क्रियावरणमेव कुर्यादित्यत्र तदारोपः ॥

अधिष्ठित सिद्धों से सेवित लयात्मक भाग है ।'

इस प्रकार का वैशिष्ट्य होने पर भी इन दोनों के सामान्य के भी विशेषनिष्ठ होने के कारण प्राणनमात्ररूपता दोनों जगह सम्भव है इसलिए एकरूप से निर्देश किया । इसी अभिप्राय से भगवान् के द्वारा कामतत्त्व का ही विषतत्त्व के रूप में कथन किया गया है और यहाँ यह संवाद है । इसीलिए काम का = कामतत्त्व की भी, पूर्णता = अपने में विश्रान्ति के कारण अनन्याकाङ्क्षिता, तत्त्व = पारमार्थिकरूप, सङ्घट्ट में प्रतीत होती है = परस्पर सामरस्यरूप संक्षोभ के अवसर पर सभी के द्वारा साक्षात् देखी जाती है—यह अर्थ है । विषतत्त्व का भी, अणु के = परिमित देहादि—प्रमाता के स्वाभाविकपूर्ण दृक्क्रिया का आवरण करने वाले परिमिततारूप छाद्यत्व के च्युत होने पर = वेद्यवेदकविभाग के नष्ट हो जाने से पूर्णरूप के उदित होने पर, आमृत = विकास दशा से युक्त तत्त्व, सङ्घट्ट में प्रतिभात होता है—इतना पहले से सम्बन्ध है ॥ १७० ॥

प्रश्न—इसकी स्वाभाविक पूर्ण दृक्क्रिया के आवरण में भी क्या निमित्त है ? —यह शङ्का कर कहते हैं—

(परमेश्वर की) व्याप्त करने वाली शक्ति विष है जिससे (यह) अव्यापक (= जीव) के तेज (= पूर्ण ज्ञान क्रिया) को आच्छादित कर लेती है ॥ १७१- ॥

शक्ति = परमेश्वर की स्वरूपगोपनरूपा माया नामक । यह = स्वाभाविकपूर्ण-दृक्क्रियारूप विष भी बाहर व्यापक होने के कारण अव्यापी अणु आत्मा की

एवं न केवलमस्य कामतत्त्वत्वमस्ति, विषतत्त्वत्वं वा, यावन्निरञ्जनत्वमपि—इत्याह—

निरञ्जनं परं धाम तत्त्वं तस्य तु साञ्जनम् ॥ १७१ ॥
क्रियाशक्त्यात्मकं विश्वमयं तस्मात्स्फुरेद्यतः ।

प्रोन्मीलितस्यापि इष्यमाणस्य बहीरूपतया समुल्लासितत्वात्क्रिया-शक्त्यात्मकम्, अत एव विश्वमयं यत्परम् = आपूरकम्, धाम—सकारात्म चान्द्रं तेजः, तन्निरञ्जनं

'एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ।
न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः ॥'

इत्यादिपूर्वोक्तयुक्त्या न केनचिदप्युपाधेयम्—इत्यर्थः । तस्य पुनः क्रिया-शक्त्यात्मनः चान्द्रस्य धाम्नो यत्तत्त्वम् = परमप्रकाशात्म शक्तिमल्लक्षणं विश्रान्तिस्थानं तत्साञ्जनं

'शक्तिमानञ्ज्यते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित् ।'

इत्यादिप्रागुपपादितयुक्त्या शक्तिकर्तृकेन व्यक्तीकरणेन युक्तम्—इत्यर्थः ।

दृक्क्रिया का आवरण ही करता है ।

इसलिए यहाँ उसका आरोप है ॥ १७१-१७२ ॥

इस प्रकार न केवल इसकी कामतत्त्वता अथवा विषतत्त्वता है बल्कि निरञ्जनता भी है—यह कहते हैं—

परमधाम तत्त्व निरञ्जन है । क्रियाशक्ति वाला विश्वमय उसका साञ्जन रूप है । वह अपनी शक्ति से स्फुरित होता है ॥ -१७१, १७२- ॥

प्रोन्मीलित भी इष्यमाण की, बाह्यरूप से समुल्लासित होने के कारण, क्रियाशक्तिरूपता है । इसीलिए जो विश्वमय पर = आपूरक, धाम = सकारात्मक चान्द्र तेज, वह निरञ्जन

'ये तीनों जब एकरूप में स्फुरित होते हैं तब अपने-अपने प्रतिषेध के कारण (ये) किसी से उपाधेय नहीं होते ।'

इत्यादि पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा किसी से उपाधेय नहीं है—यह अर्थ है । उस क्रियाशक्ति रूप चान्द्रधाम का जो तत्त्व = परप्रकाशरूप शक्तिमत्लक्षणवाला विश्रान्ति स्थान, वह साञ्जन—

'जिस कारण शक्तिमान् व्यक्त होता है न कि किसी के द्वारा शक्ति (व्यक्त होती है) ।'

इत्यादि पूर्व उपपादित युक्ति से शक्तिकर्तृक व्यक्तीकरण से युक्त—यह अर्थ है ।

अत आह—'तस्मात्स्फुरेद्यतः' इति । तस्माद्धेतोः, यतः = शक्तेः सकाशात्, स्फुरेत्—

'........................शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या स्वशक्त्यैवाभिव्यज्यते—इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

ननु कामादेस्तत्त्वत्रयस्य इच्छादिशक्तित्रयरूपत्वमस्ति, तत्कथमेकस्यैव अमृत-बीजस्य एतद्रूपत्वमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्य विभागावेदनपूर्वमेषामविभागमेव द्रढयति—

इच्छा कामो विषं ज्ञानं क्रिया देवी निरञ्जनम् ॥ १७२ ॥
एतत्त्रयसमावेशः शिवो भैरव उच्यते ।

भैरव इति—विश्वमयत्वेन पूर्णत्वात् । अत एव 'तदेव ब्रह्म परमम्' इत्याद्युक्तम् ॥ १७२ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

अत्र रूढिं सदा कुर्यादिति नो गुरवो जगुः ॥ १७३ ॥
विषतत्त्वे सम्प्रविश्य न भूतं न विषं न च ।
ग्रहः केवल एवाहमिति भावनया स्फुरेत् ॥ १७४ ॥

इसलिए कहते हैं—तस्मात् स्फुरेत् यतः उस कारण से जिससे = शक्ति के पास से, स्फुरित होता है—

'यहाँ शैवी मुख कहा जाता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा अपनी शक्ति से ही अभिव्यक्त होता है ॥ १७१ ॥

प्रश्न—काम आदि तीन तत्त्व इच्छा आदि तीन शक्ति रूप वाले हैं तो फिर कैसे एक ही अमृत बीज को इनका रूप कहा गया ?—यह शङ्का कर विभाग-वर्णनपूर्वक इनके अविभाग को ही पुष्ट करते हैं—

इच्छा अर्थात् काम विष अर्थात् ज्ञान और क्रियादेवी ये निरञ्जन है । इन तीनों का समावेश शिव, भैरव कहा जाता है ॥ -१७२, १७३- ॥

विश्वमय होने से पूर्ण होने के कारण भैरव है । इसीलिए 'वही परम ब्रह्म है ' इत्यादि कहा गया ॥ १७२ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गवश इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

इसमें सदा दृढ़ ध्यान करना चाहिये—ऐसा हमारे गुरुओं ने कहा है । विष तत्त्व में प्रवेश करने पर भूत, विष ग्रह, कुछ नहीं (भासित होता) केवल 'अहम्' यह भावना उल्लसित होती है ॥ -१७३-१७४ ॥

अत्रेति = विषतत्त्वात्मनि व्यापके रूपे, रूढिमिति = अनुप्रवेशम् । किं चात्र रूढ्या भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

'विषतत्त्वे' इत्यादि । भूतमिति = यक्षादि। ग्रह इति = अनात्मनि आत्माभिमानः । तद्धि परिमितस्य प्रमातुर्भवेत्—इत्यभिप्रायः । परप्रमात्रात्मनि व्यापके रूपे समावेशभाजः पुनर्भावनाभ्यासात् 'अहम्' इत्येव परमाद्वयमयतोल्लसेत्, येनास्य तदतिरिक्तमुपद्रवनिमित्तं न किञ्चिदपि भायात्—इति भावः । यदुक्तम् श्रीकुलगुह्वरे—

'यदा शून्यं निरालम्बं ध्यानधारणवर्जितम् ।
सर्ववर्णधरं शान्तं सर्ववर्णविवर्जितम् ॥
चिन्मात्रं केवलं शुद्धं विषनिर्वाहकारकम् ।
न विषं न ग्रहः पापं न यक्षो न च राक्षसः ॥
न पिशाचादिकं किञ्चिन्नायं नाहं विभावयेत् ।
केवलं भावमात्रेण.................................. ॥'

इत्यादि ॥ १७३-१७४ ॥

ननु इष्यमाणरूषिताया इच्छायाः पूर्वं क्षोभान्तरस्यासंभवात्

'.................नेदं बीजं च कस्यचित् ।'

इत्याद्युक्त्या षण्ठत्वं प्रतिज्ञातम्, अनन्तरं चात्र

यहाँ = विषतत्त्वात्मक व्यापक रूप में, रूढ़ि = अनुप्रवेश । इसमें रूढ़ि से क्या होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विषतत्त्व में इत्यादि । भूत = यक्ष आदि । ग्रह = अनात्मा को आत्मा समझना । वह ज्ञान परिमित प्रमाता को होता है—यह अभिप्राय है । परप्रमात्रात्मक व्यापक रूप में समावेश करने वाले (लोगों) को भावना के अभ्याय से 'मैं' रूपी ही परम अद्वयमयता उल्लासित होती है जिससे इसको, उससे भिन्न उपद्रव के किसी कारण का भान नहीं होता । जैसा कि कुलगह्वर में कहा गया है—

'जब शून्य, निरालम्ब, ध्यानधारणारहित, समस्त वर्णों को धारण करने वाला, शान्त, समस्त वर्णों से रहित, चिन्मात्र केवल, शुद्ध विष निर्वाहक (महाभाव उल्लसित होता है तब) न विष, न ग्रह, (न) पाप, न राक्षस, न यक्ष न पिशाच आदि कुछ नही, मैं नहीं ऐसी भावना करनी चाहिये । केवल भावमात्र से......... ॥ १७३-१७४ ॥

प्रश्न—इष्यमाण से रूषित इच्छा की, पहले कोई क्षोभ सम्भव न होने से

'यह किसी का बीज नहीं है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा, षण्ठता कही गई । और बाद में

'या तूक्ता ज्ञेयकालुष्य.................... ।' इत्यादि,

तथा

'सैव शीघ्रतरोपात्त .... ।' इत्यादि,

तथा

'......................सा चैष्टव्येन रूषिता ।'

इत्यादिवाक्यैः षण्ठवर्णेभ्यः क्षोभान्तरस्यापि सद्भाव उक्तः, इत्येषां पूर्व-प्रतिज्ञातं षण्ठत्वं कथं निर्वहेत् ?—इत्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते—

नन्वत्र षण्ठवर्णेभ्यो जन्मोक्तं तेन षण्ठता ।
कथं स्यादिति चेद् ब्रूमो नात्र षण्ठस्य सोतृता ॥ १७५ ॥
तथाहि तत्रगा यासाविच्छाशक्तिरुदीरिता ।
सैव सूते स्वकर्तव्यमन्तःस्थं स्वेष्टरूपकम् ॥ १७६ ॥
यत्त्वत्र रूषणाहेतुरेषितव्यं स्थितं ततः ।
भागान्न प्रसवस्तज्जं कालुष्यं तद्वपुश्च तत् ॥ १७७ ॥

जन्मोक्तमिति—टवर्गादीनाम् । ब्रूम इति—'नात्र षण्ठस्य सोतृता इत्युत्तरम् । एतदेवोपपादयति 'तथाहीत्यादिना' । यतः षण्ठगता येयमिच्छाशक्तिरुक्ता सैव

'जो ज्ञेय कालुष्य... कही गई ।' इत्यादि

तथा 'वही शीघ्रतर प्राप्त...' इत्यादि । तथा

... वह एष्टव्य से रूषित है ।'

इत्यादि वाक्यों के द्वारा षण्ठवर्णों से क्षोभान्तर की भी सत्ता कही गई । फिर इनकी पहले प्रतिज्ञात षण्ठता का निर्वाह कैसे होगा ? ऐसी आशङ्का कर समाधान करते हैं—

प्रश्न है कि—यहाँ षण्ठ वर्णों से जन्म की बात कही गयी फिर उनकी नपुंसकता कैसे है ? इस विषय में (हम) कहते हैं—षण्ठ वर्ण जनक नहीं है किन्तु उनमें रहने वाली जो यह इच्छाशक्ति कही गयी है वही अपने कर्त्तव्य और इष्ट स्वरूप अन्तःस्थ वर्णों को उत्पन्न करती है । और जो यहाँ रूषणा का कारण एषितव्य है वह स्थिर है । इस कारण उसके एक अंश से प्रसव नहीं होता । उससे उत्पन्न जो कालुष्य है वह तो उसका शरीर ही है ॥ १७५-१७७ ॥

जन्म कहा गया—ट वर्ग आदि का । कहते हैं—यहाँ षण्ठ की उत्पादकता नहीं है—यह उत्तर है । इसी को तथा हि—इत्यादि के द्वारा सिद्ध करते हैं । क्योंकि षण्ठ वर्णों में वर्त्तमान जो यह इच्छाशक्ति कही गई है वही अन्तःस्थ =

अन्त:स्थम् = स्वाभेदेन वर्तमानमपि यथास्वं नियतं रूपमात्मीयं कार्यं 'टवर्गादि', बहिरुल्लासयेत्, न पुनस्तद्गतं रूषणानिमित्तं चिरक्षिप्रस्वभावमेषितव्यम् । तद्धि कालुष्यमेव जनयेत् । एतावतैव च एतच्चरितार्थम्, इति न कार्यान्तराविर्भावनायापि प्रभवति—इति भाव: । तच्च कालुष्यं तन्निमित्तमेषितव्यं वा अस्या इच्छाया: एव वपु: = तदेकात्मकम्—इत्यर्थ: । नहि प्रकाशैकस्वभावाया इच्छाया अन्यदतिरिक्तं नाम किञ्चित्संभवेत्—इति भाव: । तेन वस्तुत इच्छाया एव प्राधान्यात् तत्तत्स्वकार्याविर्भावकत्वम् इति युक्तमुक्तं 'सैव सूते' इति ॥ १७७ ॥

नन्वेवमपि षण्ठानां सर्वसर्विकया न बीजत्वमपास्तं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह—

ज्ञेयारूषणया युक्तं समुदायात्मकं विदु: ।
षण्ठं क्षोभकताक्षोभधामत्वाभावयोगत: ॥ १७८ ॥

इष्यमाणस्य इच्छायाश्च मेलनारूपं हि षण्ठं विदु:, यतोऽत्र न क्षोभकत्वं क्षोभाधारत्वं चेति । तेन केवलाया इच्छाया एव क्षोभान्तराविर्भावकत्वेऽपि नैषां बीजत्वमपास्तं भवेत्—समुदायात्मकत्वात्षण्ठत्वस्य, इति युक्तमुक्तं 'नात्र षण्ठस्य सोतृता' इति' ॥ १७८ ॥

अपने से अभिन्नरूप में वर्त्तमान भी अपने अनुसार निश्चित रूप वाला आत्मीय कार्य ट वर्ग आदि, को बाहर उल्लासित करती है । उसमें वर्त्तमान, रूषणा का कारण विलम्ब और शीघ्र स्वभाव नहीं मानना चाहिये । क्योंकि वह कलुषता को ही उत्पन्न करता है और इतने से ही वह चरितार्थ है । इसलिए कार्यान्तर को उत्पन्न करने के लिये वह समर्थ नहीं है—यह तात्पर्य है । वह कालुष्य उसका कारण माना जाय अथवा इस इच्छा का ही शरीर = उससे अभिन्न—यह अर्थ है । केवल प्रकाश—स्वभाव वाली इच्छा से भिन्न कुछ भी सम्भव नहीं है । इस कारण वस्तुत: इच्छा ही, प्रधानता के कारण, उन-उन अपने कार्यों की आविर्भाविका है—इसलिए ठीक कहा गया—'वही उत्पन्न करती है' ॥ १७७ ॥

प्रश्न—इस प्रकार भी नपुंसक वर्णों की बीजता पूर्णरूप से नष्ट नहीं होती ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्षोभकता और क्षोभाधारता के अभाव के कारण ज्ञेय की आरूषणा से युक्त समुदाय ही षण्ठ वर्ण कहा गया है ॥ १७८ ॥

इष्यमाण और इच्छा का मेलन रूप ही षण्ठ माना गया है क्योंकि यहाँ न तो क्षोभकता है और न क्षोभाधारकता । इसलिए केवल इच्छा के ही क्षोभान्तर का आविर्भावक होने पर भी इनकी बीजता समाप्त नहीं होती क्योंकि षण्ठ समुदाय-रूप है । इसलिए ठीक कहा—षण्ठ उत्पादक नहीं है ॥ १७८ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

एतद्वर्णचतुष्कस्य स्वोष्मणाभासनावशात् ।
ऊष्मेति कथितं नाम भैरवेणामलात्मना ॥ १७९ ॥

चतुष्कस्येति—हकारेण सह । तस्य ह्यनुत्तराज्जन्म—इति भङ्ग्या प्रागेवोक्तम् । अनुत्तरस्य हि शक्तिर्विसर्गः, तस्यैव चाश्यानं रूपम् अयम् इति । अत एवानुत्तरेणास्य सस्थानत्वम् । स्वोष्मणेति = स्वातन्त्र्यलक्षणेन स्वात्म-तेजसा—इत्यर्थः । नहि इच्छाया अनुत्तरस्य वा परामर्शान्तरवदन्यापेक्षया एतदाभासमानम्, अपि तु स्वमाहात्म्यादेव—इति भावः । यद्यपि कवर्गादीना-मनुत्तरादेरेकैकस्मादेव जन्मोक्तं तथापि तच्छक्त्यन्तरप्रयोजकीकारेण, इति युक्तमुक्तं 'स्वोष्मणाभासनावशात् इति' ॥ १७९ ॥

न केवलं कादि-हान्तस्य वर्णजातस्य स्पर्शादितया पृथक् पृथगभिधानं यावदपृथक्त्वेनापि—इत्याह—

कादि-हान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।

क्षोभाधारतया इति = योनितया—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

इस प्रकार प्रसङ्गात् इसका कथन कर अब प्रस्तुत को कह रहे हैं—

इन चारों वर्णों के अपनी उष्मता के द्वारा भासित होने के कारण स्वच्छ भैरव ने इनका नाम ऊष्मा कहा है ॥ १७९ ॥

चार का = हकार के साथ (शषस का)। उसका जन्म अनुत्तर से होता है—यह प्रकारान्तर से पहले ही कह दिया गया है । विसर्ग अनुत्तर से पहले ही कह दिया गया है । विसर्ग अनुत्तर की शक्ति है । उसी का क्षीणरूप 'ह्' है । इसलिए अनुत्तर से इसकी स्थिति है । अपनी उष्मा से = स्वातन्त्र्य लक्षण अपने तेज से । परामर्शान्तर के समान इच्छा अथवा अनुत्तर का अन्य की अपेक्षा रखकर इसका अभास होता है—ऐसा नहीं है बल्कि अपने माहात्म्य से ही (आभास होता है)—यह तात्पर्य है । यद्यपि अनुत्तर आदि एक-एक से ही कवर्ग आदि का जन्म कहा गया तथापि वह शक्त्यन्तर को प्रयोजक मानने से होता है । इसलिए ठीक कहा गया—अपनी उष्मा के आभासन के कारण ॥ १७९ ॥

क से लेकर ह तक वर्णसमूह का केवल स्पर्श आदि के रूप में अलग-अलग कथन नहीं है बल्कि अपृथक् रूप में भी है—यह कहते हैं—

विद्वान् लोग 'क' से लेकर 'ह' तक के वर्णों को क्षोभ का आधार मानते हैं ॥ १८०- ॥

क्षोभ के आधार के रूप में = योनि के रूप में । जैसा कि कहा गया है—

'कादिभिश्च स्मृता योनिः.................. ।' इति ॥

न केवलं उक्तनीत्या बीजानामेव बीजान्तरयोगे क्षोभान्तराविर्भावो भवेत्, यावद्योनेरपि योन्यन्तरयोगेन—इत्याह—

योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं व्रजेत् ॥ १८० ॥
तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता ।

तस्येति = योनिरूपस्य कादेः । तथा च तस्य क्षोभान्तरस्य निदर्शनयुक्त्या तदेव क्षोभान्तरमुदाहर्तुं मातृकायां पञ्चाशता पूरणेन वर्णेन 'क्षकाराख्येन कूट-बीजेन' संबन्धः । स हि आद्यन्तभूतयोरनुत्तरविसर्गानुप्राणितयोः ककारसकारयोः प्रत्याहारतयोपात्तो येन निखिलमेव यौगपद्येन मातृकायाः सतत्त्वं प्रदर्शितं भवतीति । तदुक्तं श्रीक्षेमराजपादैः—

'तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं तदेव
ककारसकारप्रत्याहारेणानुत्तरविसर्गसङ्घट्ट-
सारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते ।' इति ॥ १८० ॥

ननु,

'ज्ञेयरूपमिदं पञ्चविंशत्यन्तं यतः स्फुटम् ।'

क आदि से योनि मानी गई है... ॥ १८०-१८१ ॥

केवल उक्त रीति से बीजों का ही बीजान्तर के साथ योग होने पर क्षोभान्तर का आविर्भाव नहीं होता बल्कि योनि का भी दूसरी योनि के साथ योग होने पर (ऐसा होता है)—यह कहते हैं—

उसका भी योनिरूप से योग होने पर दूसरा क्षोभ होता है । इस सिद्धान्त के आधार पर पच्चासवाँ वर्ण 'क्ष' उत्पन्न होता है ॥ -१८०, १८१- ॥

उसका = योनिरूप क आदि का । इस प्रकार उस दूसरे क्षोभ के निदर्शन की युक्ति से उसी क्षोभान्तर को उदाहृत करने के लिय मातृका में पचासवें पूरक वर्ण से = 'क्षकार नामक कूट बीज से' सम्बन्ध है । वह आद्यन्तभूत अनुत्तर एवं विसर्ग से अनुप्राणित ककार एवं सकार के प्रत्याहार के रूप में गृहीत है जिससे एक साथ मातृका का पूरा तत्त्व प्रदर्शित होता है । क्षेमराज ने कहा है—

'तो यहाँ तक जो मातृका का तत्त्व है वही ककार सकार प्रत्याहार के द्वारा अनुत्तर एवं विसर्ग के सङ्घट्टसार वाले कूटबीज (= क्षकार) के द्वारा अन्त में दिखलाया गया है' ॥ १८० ॥

प्रश्न—

'जिससे यह पचीस वर्ण पर्यन्त ज्ञेय रूप स्फुट है ।'

इत्याद्युक्त्या कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णा ज्ञेयरूपतया भेदैकस्वभावा निर्दिष्टाः, तदनन्तरभावि पुनश्चतुष्कद्वयं कीदृग्रूपम् ?—इत्याशङ्क्याह—

पञ्चविंशकसंज्ञेयप्राग्वद्भूमिसुसंस्थितम् ॥ १८१ ॥
चतुष्कं च चतुष्कं च भेदाभेदगतं क्रमात् ।

एतदेव प्रपञ्चयति—

आद्यं चतुष्कं संवित्तेर्भेदसंधानकोविदम् ॥ १८२ ॥
भेदस्याभेदरूढ्येकहेतुरन्यच्चतुष्टयम् ।

भेदेति—संविदः सकाशाद्विच्छिन्नम्—इत्यर्थः । अत एवास्य स्थूल-वाय्वादिभूतरूपत्वमुक्तम् । अभेदेति—इच्छाशक्तिसमुत्थत्वेन शाक्तेजोमात्र-रूपत्वात् ॥ १८२ ॥

इदानीमेवमुपपादितं कादिहान्तं वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवति, इति दर्शयितुमाह—

इत्थं यद्वर्णजातं तत्सर्वं स्वरमयं पुरा ॥ १८३ ॥
व्यक्तियोगाद्व्यञ्जनं तत्स्वरप्राणं यतः किल।

इत्यादि उक्ति के द्वारा 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त भेदस्वभाव वाले पचीस वर्ण ज्ञेय रूप में निर्दिष्ट हैं । उसके बाद वाले दो चतुष्क किस प्रकार के हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पचीस वर्णों वाले सम्यक् ज्ञेय (समूह) की पूर्वभूमि में सुसंस्थित, भेद एवं अभेद के आधार पर चार-चार का समुदाय है । पहला चतुष्क संविद् के भेद को बतलाता है ॥ -१८१, १८२- ॥

इसी की व्याख्या करते हैं—

दूसरा चतुष्क भेद में अभेद की रूढ़ि उत्पन्न करता है ॥ -१८२, १८३- ॥

भेद—संविद् के पास से विच्छिन्न इसीलिए इसकी स्थूल वायु आदि भूतरूपता कही गई है । अभेद—इच्छा शक्ति से उत्पन्न होने के कारण शाक्त तेजोमात्ररूप होने से है ॥ १८२ ॥

अब इस प्रकार से उपपादित क से लेकर ह तक वर्णसमूह स्वरों से अनुप्राणित ही होता है—यह दिखलाने के लिये कहते हैं—

इस प्रकार जो वर्णसमूह है वह अभिव्यक्ति के पहले स्वर होता है । अभिव्यक्ति के कारण वह व्यञ्जन होता है किन्तु उसका प्राण स्वर ही है ॥ -१८३, १८४- ॥

इत्थम् = समनन्तरोक्तनीत्या, वर्णजातं यदुक्तम् तत्सर्वमुदयात्पूर्वं 'स्वरमयम्' = स्वराणामेवान्तः शक्त्यात्मना रूपेणावस्थितम्—इत्यर्थः । अन्यथा ह्येषां तत्तत्संयोजनवियोजनेनैवंरूपतयाभिव्यक्तिरेव न भवेत्—इति भावः । अत एव तद्वर्णजातं बहिरभिव्यक्तं सत् व्यज्यत इति 'व्यञ्जनम्' न पुनरपूर्वतयैव उत्पाद्यं पूर्वमपि स्वरात्मनास्यावस्थानात् । व्यङ्ग्यस्य च व्यञ्जकसंनिधावेव तत्त्वं भवेत् नान्यथा ?—इत्याशङ्क्याह—'स्वरप्राणं यतः' इति । अभिव्यक्तमेव एतद्वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवेत्, अन्यथा हि अनच्कतया अस्य उच्चार एव न भवेत् ॥ १८३ ॥

एवं च 'स्वरा एव सर्ववर्णानां मूलकारणम्' इयुक्तं भवेत्—तदाह—

स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसंततौ ॥ १८४ ॥
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ।

षट्कमिति = अकारादूकारान्तम् । एवकारेण स्वरान्तराणां व्यवच्छेदः । तेषामप्येतत् स्फारमात्रमेव हि रूपम्—इत्याशयः । एवमेषां षण्णामेव वर्णान्तराभिव्यञ्जने प्रकाशरूपत्वमित्युक्तं स्यात् । अतश्च प्रकाशरूपत्वादेव एषा-मन्यत्र 'षड्देवतात्मकं सूर्यरश्मित्वम्' अप्युक्तम्—इत्याह—'षड्देवता' इत्यादि ।

इस प्रकार = पूर्वोक्त रीति से जो वर्णसमूह कहा गया है वह सब उदय से पूर्व स्वरमय = स्वरों की ही अन्तःशक्ति के रूप में स्थित हैं अन्यथा भिन्न-भिन्न संयोग वियोग के द्वारा इस रूप में इनकी अभिव्यक्ति ही नहीं होगी—यह भाव है। इसीलिए वह वर्णसमूह बाहर अभिव्यक्त होता हुआ व्यक्त होता है इसलिए व्यञ्जन (कहलाता है) न कि अपूर्वरूप में उत्पाद्य है क्योंकि पहले भी स्वरों के रूप में यह स्थित है । व्यञ्जक के पास में रहने पर ही व्यङ्ग्य की व्यंग्यता होती है अन्यथा नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं 'क्योंकि उसका प्राण स्वर है ।' यह वर्णजात अभिव्यक्त होता हुआ ही स्वरों से अनुप्राणित ही होता है अन्यथा स्वरहीन होने से इसका उच्चारण ही नहीं होगा ॥ १८३ ॥

इस प्रकार 'स्वर ही सब वर्णों के मूलकारण हैं—यह कहा जाता है । वह कहते हैं—

केवल (प्रथम) छ स्वर ही वर्णसमुदाय के (प्रकाश के) मूल हैं । ये ही छः देवतायें हैं जो कि सूर्य की मुख्य रश्मियाँ हैं ॥ -१८४, १८५- ॥

छः = अकार से लेकर ऊकार तक । एवकार से दूसरे स्वरों को अलग किया गया है । उनका भी रूप इनकी स्फारमात्र है—यह आशय है । इस प्रकार ये छः ही, दूसरे वर्णों की अभिव्यक्ति में प्रकाशरूप है—यह कहा गया । अतः प्रकाशरूप होने के कारण ही इनकी अन्यत्र सूर्यरश्मियाँ छः देवतायें हैं 'यह भी कहा गया—

यदुक्तम्—

'दहनी पचनी धूम्रा कर्षिणी वर्षिणी रसा ।' इति ।

मुख्या इति—दाहकत्वादीनां शक्तीनां प्रकाशैकनिष्ठत्वात्, यदुक्तम्—

'षडेवेह स्वरा मुख्याः कथिता मूलकारणम् ।
ते च प्रकाशरूपत्वाद्विज्ञेयाः सूर्यरश्मयः ।।' इति ।। १८४ ।।

न केवलमेषां सौरमेव रूपं संभवेद्यावच्चान्द्रमपि—इत्याह—

सौराणामेव रश्मीनामन्तश्चान्द्रकला यतः ।। १८५ ।।
अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमसं वपुः ।

एतच्च पूर्वमेवोपपादितम्, इति नेह पुनरायस्तम् ।। १८५ ।।

ननु परस्परव्यावृत्तत्वात्सर्वभावानां कथं सौराणां रश्मीनामन्तश्चान्द्रः कलाः संभवन्ति ?—इत्याशङ्क्याह—

चन्द्रश्च नाम नैवान्यो भोग्यं भोक्तुश्च नापरम् ।। १८६ ।।
भोक्तैव भोग्यभावेन द्वैविध्यात्संव्यवस्थितः ।

यह कहते हैं' 'छः देवतायें' इत्यादि । जैसा कि कहा गया—

'दहनी, पचनी, धूम्रा, कर्षिणी, वर्षिणी रसा ।'

मुख्य—क्योंकि दाहकत्व आदि शक्तियाँ केवल प्रकाश में रहती हैं । जैसा कि कहा गया—

'छः ही मुख्य स्वर मूल कारण कहे गये हैं । और प्रकाशरूप होने के कारण उन्हें सूर्य की किरणें जानना चाहिये' ।। १८४ ।।

इनका केवल सूर्य वाला ही रूप नहीं है बल्कि चन्द्र वाला भी है—यह कहते हैं—

चूँकि सौर किरणों के अन्दर चन्द्रकला भी रहती हैं इसलिए इस तीन-स्वरसन्तति में तीन दीर्घ चान्द्रशरीर (= आ, ई और ऊ) अभिव्यक्त होते हैं ।। -१८५, १८६- ।।

यह पहले ही कह दिया गया है अतः यहाँ पुनः विस्तार नहीं किया गया है ।। १८५ ।।

प्रश्न—सब पदार्थों के परस्पर भिन्न होने के कारण सौर रश्मियों के भीतर चन्द्ररश्मियाँ कैसे सम्भव हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चन्द्र और कुछ नहीं है । यह भोक्ता के भोग्य के अतिरिक्त दूसरा नहीं है । भोक्ता ही भोग्य बनकर दो रूपों में स्थित होता है । घट का अपना

घटस्य न हि भोग्यत्वं स्वं वपुर्मातृगं हि तत् ॥ १८७ ॥
अतो मातरि या रूढिः सास्य भोग्यत्वमुच्यते ।

चन्द्रो हि नाम न सूर्यादन्यो यतस्तद्भोग्यम् । भोग्यं हि नाम प्रमेयमुच्यते । न च प्रमेयं तदुपसर्जनवृत्तित्वात्प्रमाणादतिरिच्यते—इत्याशय: । तच्चैवंविधं भोग्यं भोक्तुरप्यतिरिक्तं न भवेत्, वस्तुत: सर्ववस्तूनां प्रमातर्येव विश्रान्ते:, अतश्च भोक्तैव तदुभयात्मना रूपेण प्रस्फुरति—इति भाव: । अत आह—'भोक्तैव भोग्यभावेन' इत्यादि । ननु विप्रतिषेधात्कथं भोग्यभोक्त्रोरेकत्वम् ?—इत्याशङ्क्याह—'घटस्येति' । नहि ज्ञेयत्वं नाम घटादेर्ज्ञेयता तस्यात्मीयो धर्म:, तथात्वे हि तस्य सर्वान्प्रत्यविशेषात्सर्वे सर्वज्ञा: स्यु: । तेन ज्ञातुरेव स धर्म:, तस्यैव तत्त्वज्ञानोदये-नातिशयदर्शनात् । अतोऽस्य घटादेर्या ज्ञातरि विश्रान्तिस्तदेव ज्ञेयत्वं नाम उच्यते इति । यदुक्तम्—'भोक्तुर्भोग्यं नापरम्'—इति ॥ १८६-१८७ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति—

अनुत्तरं परामृश्यपरामर्शकभावत: ॥ १८८ ॥
सङ्घट्टरूपतां प्राप्तं भोग्यमिच्छादिकं तथा ।

शरीर भोग्य नहीं है वह प्रमाता का भोग्य है । इसलिए प्रमाता के अन्दर जो रूढ़ि है वही इस (= घट) का भोग्यत्व है ॥ -१८६-१८८- ॥

चन्द्रमा सूर्य से भिन्न नहीं है क्योंकि वह भोग्य है ।

भोग्य प्रमेय को कहा जाता है और प्रमेय उसकी उपसर्जन वृत्ति वाला होने से प्रमाण से भिन्न नहीं है—यह आशय है । और इस प्रकार का भोग्य भोक्ता से भी अतिरिक्त नहीं होता क्योंकि वस्तुत: प्रमाता में ही समस्त वस्तुओं की विश्रान्ति होती है । अत: भोक्ता ही उन दोनों रूपों में प्रस्फुरित होता है—यह भाव है । इसलिए कहते हैं—'भोक्ता हीं भोग्य के रूप में' इत्यादि ।

प्रश्न—प्रतिषेध होने के कारण भोक्ता और भोग्य एक कैसे हैं ? यह शङ्का कर कहते हैं—'घट का' । ज्ञेयत्व अर्थात् घट आदि की ज्ञेयता उस (घट) का अपना धर्म नहीं है क्योंकि वैसा होने पर उस (घट) के सब के प्रति समान होने से सब सर्वज्ञ हो जायेंगे । इसलिए वह धर्म ज्ञाता का ही है—क्योंकि तत्त्वज्ञान का उदय होने से उसी का अतिशय दृष्ट होता है । इसलिए इस घट आदि की ज्ञाता में जो विश्रान्ति वही ज्ञेयत्व कहा जाता है । जैसा कि कहा गया है—भोक्ता का भोग्य और कुछ नहीं है ॥ १८६-१८७ ॥

इसी को प्रस्तुत में जोड़ते हैं—

अनुत्तर ही परामृश्य परामर्शक भाव के कारण सङ्घट्टरूपता को प्राप्त होकर भोग्य बनता है । इच्छा आदि भी उसी प्रकार (भोक्तृ आदि बनते हैं) ॥ -१८८, १८९- ॥

अनुत्तरम्—आदिवर्णलक्षणं परं रूपम् स्वात्मनि भोक्तृभोग्यभावमाभास्य परस्परौन्मुख्येन सङ्घट्टरूपतां प्राप्तं सत्, 'भोग्यम्' इत्युच्यते, अन्यथा न भोक्तृत्वं भोग्यत्वं च भवेत्, अन्योन्यापेक्षत्वात्तयोः । तेनाकारद्वयस्य सङ्घट्टादाकारलक्षणं भोग्यं जातमिति तात्पर्यम् । भोग्यं चात्र वक्तुमुपक्रान्तमिति प्राधान्येन तदेवोपात्तम् । एवमिच्छोन्मेषावपि स्वात्मनि भोक्तृभोग्यभावेन सङ्घट्टमासाद्यैषणोनतात्मभोग्यरूपतामाप्ताविति युक्तमुक्तम्—'अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमसं वपुः' इति ॥ १८८ ॥

नन्वेवं भोग्यं तावदास्तां न कश्चिद्दोषो भोक्तुः पुनरनेकरूपतायामद्वयहानिः—इति स्वसिद्धान्तभङ्गो भवेत् ?—इत्याशङ्क्य इच्छादेर्भोग्यत्वमेवास्ति, न पुनर्भोक्तृत्वम्, इति दर्शयति—

अनुत्तरानन्दभुवामिच्छाद्ये भोग्यतां गते ॥ १८९ ॥
संध्यक्षराणामुदयो भोक्तृरूपं च कथ्यते ।

यद्यपीच्छादीनां स्वापेक्षया भोक्तृत्वमस्ति तथापि अनुत्तरापेक्षया एषां भोग्यता विश्रान्तिमेति, तदा संध्यक्षराणामुदयः = सृष्टिर्भवेत् । 'अनुत्तरानन्दभुवाम्' इति बहुवचननिर्देशो व्यक्त्यपेक्षो ज्ञेयः । स चोदयो भोक्तृप्राधान्ये भवेदित्युक्तम्

अनुत्तर = प्रथम वर्ण लक्षण वाला पर रूप, अपने में भोक्ता भोग्य भाव को आभासित कर परस्पर उन्मुखता के द्वारा सङ्घट्टरूपता को प्राप्त होकर भोग्य कहा जाता है । अन्यथा न भोक्तृत्व और न भोग्यत्व होगा क्योंकि वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । इसलिये दो अकार के सङ्घट्ट से आकारलक्षण भोग्य उत्पन्न हुआ—यह तात्पर्य है । चूँकि भोग्य का कथन करने के लिये यहाँ उपक्रम हुआ था अतः प्रधानतया वही लिया गया । इसी प्रकार इच्छा और उन्मेष भी अपने में भोक्ता एवं भोग्यभाव से सङ्घट्ट को प्राप्त कर ईषण और ऊनता रूप भोग्यरूपता को प्राप्त हो गये । इसलिये ठीक कहा—'इसलिए यहाँ तीन दीर्घ (वर्ण) स्पष्टतया चन्द्रमा का शरीर है' ॥ १८८ ॥

प्रश्न—इस प्रकार भोग्य तो ठीक है कोई दोष नहीं है किन्तु भोक्ता की अनेकरूपता होने पर अद्वयवाद की हानि होगी—इस प्रकार अपने सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा ?—यह शङ्का कर इच्छा आदि भोग्य ही है न कि भोक्ता—यह दिखलाते हैं—

अनुत्तर आनन्द से उत्पन्न इच्छा आदि जब भोग्य बन जाती हैं तब सन्ध्यक्षरों (ए, ऐ, य, व इत्यादि) का उदय होता है । और इसे भोक्तृ रूप कहा जाता है ॥ -१८९, १९०- ॥

यद्यपि इच्छा आदि अपनी अपेक्षा भोक्ता है तो भी अनुत्तर की अपेक्षा इनकी भोग्यता विश्रान्त हो जाती है । तब सन्ध्यक्षरों का उदय = सृष्टि होती है ।

'भोक्तृरूपं च कथ्यते' इति, अत एवात्र इच्छाद्यं गुणभूतम् । अत एवानुत्तरेच्छादिसङ्घट्टमयत्वाविशेषेऽपि अन्तःस्थानां संध्यक्षरेभ्योऽयमेव विशेषः यत्संध्यक्षराणि गुणीभूतेच्छाकानि अनुत्तरप्रधानानि, अन्तःस्थास्तु गुणीभूतानुत्तरा इच्छादिप्रधाना इति एवमनुत्तर एव एकः पारमार्थिको भोक्तेति सिद्धम्, स हि स्वप्रकाशत्वात्स्वात्मनि प्रमेयत्ववार्तामपि न सहते इति तस्य कथं भोग्यत्वं भवेत् । इच्छादिकं पुनर्भोग्यमेवेत्यस्य भोग्यत्वम् ॥ १८९ ॥

अत आह—

अनुत्तरानन्दमयो देवो भोक्तैव कथ्यते ॥ १९० ॥
इच्छादिकं भोग्यमेव तत एवास्य शक्तिता ।

आनन्दस्य भोग्यत्वेऽपि अनुत्तराव्यतिरेकाद्भोक्तृत्वमप्यस्ति इत्यवद्योतयितुमिहानन्दग्रहणम् । 'भोग्यमेव' इत्येवकारेण भोक्तृत्वव्यवच्छेदः । यत्पुनरेषणाद्यपेक्षया भोक्तृत्वमुक्तं तत्र पारमार्थिकम्, भोग्यस्यैव सतः तथात्वेन कल्पनात् । 'ततः' इति = भोग्यत्वात् । भोग्यत्वमेव हि शक्तित्वं यदभिप्रायेणैव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः'—इत्युक्तम् ॥१९०॥

'अनुत्तरानन्दभुवाम्' इस बहुवचन निर्देश को व्यक्ति की अपेक्षा वाला जानना चाहिये। वह उदय भोक्ता के प्रधान होने पर होता है इसलिए कहा गया—'भोक्ता रूप कहा जाता है ।' इसीलिए यहाँ इच्छा आदि गौण हैं । इसलिए अनुत्तर और इच्छा आदि की सङ्घट्टमयता समान होने पर भी सन्ध्यक्षरों से अन्तःस्थों का यही विशेष है कि सन्ध्यक्षरों में इच्छा गुणीभूत है और अनुत्तर प्रधान । अन्तःस्थों में तो अनुत्तर गौण है और इच्छा आदि प्रधान । इस प्रकार अनुत्तर ही एक पारमार्थिक भोक्ता है—यह सिद्ध हो गया । वह स्वप्रकाश होने के कारण अपने में प्रमेयत्व की बात भी सहन नहीं करता—फिर वह भोग्य कैसे होगा और इच्छा आदि भोग्य ही हैं इसलिए इस (अनुत्तर) का भोग्यत्व है ॥ १८९ ॥

इसलिए कहते हैं—

अनुत्तर आनन्दमय देव भोक्ता ही कहा जाता है ! इच्छा आदि भोग्य ही हैं । इसी से इस (= इच्छा आदि) की शक्तिता है ॥ -१९०, १९१-॥

आनन्द भोग्य होने पर भी अनुत्तर से अभिन्न होने के कारण भोक्ता भी है—यह बतलाने के लिये यहाँ (श्लोकों में) आनन्द पद का ग्रहण किया गया है । 'भोग्यमेव' इस एवकार से भोक्तृत्व का व्यवच्छेद हो जाता है और जो एषण आदि की अपेक्षा भोक्तृत्व कहा गया वह पारमार्थिक नहीं है क्योंकि भोग्य के विषय में होने वाले की वैसी कल्पना होती है । इस कारण = भोग्य होने से । भोग्य ही शक्ति है । इसी अभिप्राय से कहा गया—

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ है शक्तिमान् तो महेश्वर है' ॥ १९० ॥

नन्वेवं पुनरपि भोक्ता भोग्यं चेति द्वयमेवापतितम् ? इत्याशङ्क्याह—

भोग्यं भोक्तरि लीनं चेद् भोक्ता तद्वस्तुतः स्फुटः ॥ १९१ ॥
अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदिष्युन्मेषणात्मकम् ।

इह भोग्यं तावद्भोक्तारमन्तरेण स्वात्मनि सत्तामेव लब्धुं नोत्सहते, इति भोग्यत्वमपि तस्य कथं स्यात्, भोक्तरि चेद्विश्रान्तं तद्भोक्तैवावशिष्यते, न तदतिरिक्तं भोगयं नाम किञ्चित् इति भोक्तैव साक्षाद्विजृम्भते । न काचिदद्वय-वादहानिः । एवं भोग्यात्मदीर्घत्रयं भोक्त्रात्मनि ह्रस्वत्रये प्रत्येकं विश्रान्तम्—इति ह्रस्वत्रयमेव प्रधानभूतमिति तात्पर्यम् । तदाह—'अतः' इत्यादि । चित् = अनुत्तरम् । इषिः = इच्छा ॥ १९१ ॥

नन्वेवमपि भोक्तुरानैक्यादद्वयवादहानिरिति तदवस्थ एव स दोषः ?—इत्याशङ्क्याह—

तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ॥ १९२ ॥
तत्त्रिकं परमेशस्य पूर्णा शक्तिः प्रगीयते ।

तदेव = समनन्तरोक्तमनुत्तरेच्छोन्मेषात्मकम्, 'त्रितयम्', भैरवस्य—अनन्या-

---

प्रश्न—इस प्रकार पुनः भोक्ता और भोग्य दोनों आ पड़े ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भोग्य जब भोक्ता में लीन हो जाता है तब भोक्ता ही वास्तविक रूप में स्फुट होता है । अतः चित् इच्छा और उन्मेष स्वरूप त्रिक ही छ (अ, आ इत्यादि अथवा चित् आनन्द इच्छा ईषणा आदि) का सार है ॥ -१९१, १९२- ॥

भोक्ता के विना भोग्य अपनी सत्ता ही नहीं प्राप्त कर सकता फिर उसकी भोग्यता भी कैसे रहेगी । यदि भोग्यता भोक्ता में विश्रान्त कर गई तब तो भोक्ता ही बचता है उसके अतिरिक्त भोग्य नाम की कोई वस्तु नहीं है । इस प्रकार भोक्ता ही साक्षात् प्रस्फुरित हो रहा है । अतः अद्वयवाद की कोई हानि नहीं है । इस प्रकार भोग्यरूप तीन दीर्घ वर्णो में से प्रत्येक भोक्तारूप तीन ह्रस्वों में विश्रान्त है । इस प्रकार तीन ह्रस्ववर्ण ही प्रधानभूत है--यह तात्पर्य है । वह कहते हैं—अतः इत्यादि । चित् = अनुत्तर । इषिः = इच्छा ॥ १९१ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी भोक्ता के अनेक होने से अद्वयवाद की हानि हो रही है । इस प्रकार दोष वैसा ही है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यही तीन भैरव का परम तेज कहा गया है । वह त्रिक परमेश्वर की पूर्णा शक्ति कही जाती है ॥ -१९२, १९३- ॥

वही = पूर्वोक्त अनुत्तर इच्छा उन्मेष रूप तीन, भैरव का = अन्यापेक्ष न होने

पेक्षत्वात् पूर्णस्य तत्त्वस्य, परम् = विश्वापूरकं शाक्तं तेजः प्राहुः, यतः

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तदेव त्रिकं पूर्णं सङ्कुचितं सत् परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यलक्षणा शक्तिः सर्वत्रैवेष्यते, यतोऽयं वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य प्रसरः, एतदेव हि त्रिकं सर्वाक्षेपेण वर्तते—इत्यभिप्रायः ॥ १९२ ॥

तदाह—

तेनाक्षिप्तं यतो विश्वमतोऽस्मिन्समुपासिते ॥ १९३ ॥
विश्वशक्तावविच्छेदवन्ध्ये जातमुपासनम् ।

यतस्तेन त्रिकेण सर्वमिदमाक्षिप्तम् अतोऽस्मिन्नेव—स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्थे त्रिके समावेशशालिनः

'.........................शैवी मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या तद्द्वारेणैव अनवच्छिन्नस्वभावत्वात्पूर्णे शक्तिमद्रूपेऽपि अयत्नेनैव समावेशो जायते—इति वाक्यार्थः ॥ १९३ ॥

से पूर्णतत्त्व का, पर = विश्व का आपूरण करने वाला शाक्त तेज, कहते हैं। क्योंकि—

'इसकी अनेक शक्तियों वाला होना भी उस शक्ति से अवियुक्त होना है ।

इत्यादि उक्त युक्ति के द्वारा वही त्रिक पूर्ण सङ्कुचित होता हुआ परमेश्वर की स्वातन्त्र्यलक्षणा शक्ति सर्वत्र ही इष्ट होती है जिससे वाच्यवाचकरूप विश्व का यह विस्तार है । यही त्रिक सब को आक्षिप्त कर रहता है—यह अभिप्राय है ॥ १९२ ॥

वह कहते हैं—

चूँकि उससे विश्व का आक्षेप (= उल्लास या सृष्टि) होता है इसलिए इसकी उपासना होने पर अवच्छेदरहित विश्वशक्ति परमेश्वर की उपासना हो जाती है ॥ -१९३, १९४- ॥

चूँकि उस त्रिक के द्वारा यह सब आक्षिप्त है इसलिए इसी स्वातन्त्र्यशक्तिमात्र परमार्थ त्रिक में समावेश वाले

'शैवी मुख कहा जाता है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा उसी की सहायता से अनवच्छिन्न स्वभाव वाला होने के कारण पूर्ण शक्तिमद्रूप में भी बिना प्रयास के समावेश हो जाता है—यह वाक्यार्थ है ॥ १९३ ॥

सर्वं चैतदाक्षेप्यमेतत्स्फारसारमपरिच्छेद्यं चेत्याह—

इत्येष महिमैतावानिति तावन्न शक्यते ॥ १९४ ॥
अपरिच्छिन्नशक्तेः कः कुर्याच्छक्तिपरिच्छिदाम् ।

न शक्यते इति—अर्थात्परिच्छेत्तुम् ॥ १९४ ॥

अत एव च स एव भगवाननुत्तरः स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामाप्तः—इत्याह—

तस्मादनुत्तरो देवः स्वाच्छन्द्यानुत्तरत्वतः ॥ १९५ ॥
विसर्गशक्तियुक्तत्वात्सम्पन्नो विश्वरूपकः ।

विसर्गशक्तियोगे स्वाच्छन्द्यमनुत्तरत्वं च हेतुः । स्वतन्त्रस्यैव हि पञ्चविधकृत्यकारित्वाद्विसर्गे सामर्थ्यम् । अनुत्तरस्यैव च शक्तिः विसर्गशब्दव्यपदेश्येति । यदुक्तं प्राक्—

'अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥' इति ॥ १९५ ॥

नन्वेवं विश्वरूपतायामस्यानैक्यं स्यात्, इत्यद्वयहानिः ?—इत्याशङ्क्याह—

एवं पञ्चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः ॥ १९६ ॥

यह सब आक्षेप्य इसके स्फारसार वाला और अपरिच्छेद्य है—यह कहते हैं—

इस प्रकार यह (इसकी) महिमा और (यह) इतना (विस्तृत या परिमित) है ऐसा नहीं कहा जा सकता अपरिच्छिन्न शक्ति वाले (परमेश्वर) की शक्ति की सीमा कौन बाँध सकता है ॥ -१९४, १९५- ॥

नहीं सम्भव है—अर्थात् नापने के लिये ॥ १९४ ॥

इसलिए वह भगवान अनुत्तर अपने स्वातन्त्र्य से विश्वरूपता को प्राप्त हो गये—यह कहते हैं—

इस कारण अनुत्तर देव स्वातन्त्र्य और अनुत्तरता के कारण विसर्गशक्ति से युक्त होने से विश्वरूप वाला बन गया ॥ -१९५, १९६- ॥

विसर्गशक्ति से योग होने में स्वातन्त्र्य और अनुत्तरता कारण है । पाँच प्रकार का कृत्य करने के कारण स्वतन्त्र का ही सृष्टि करने में सामर्थ्य है । अनुत्तर की ही शक्ति विसर्ग शब्द से व्यवहार्य है । जैसा कि पहले कहा गया—

'अनुत्तर पर स्थान है ।' वही अकुल कहा जाता है । उस परमेश्वर का विसर्ग कौलिकी शक्ति कही जाती है ॥ १९५ ॥

प्रश्न—इस प्रकार विश्वरूपता होने पर इसकी अनेकता हो जाती है, अतः अद्वय की हानि है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विमर्शात्मैक एवान्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिताः ।

पञ्चाशदामर्शा = आदि क्षान्ताः । एक इति—शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । ननु समनन्तरमेव शक्तीनामपरिच्छिन्नत्वमुक्तं तत्कथं तासां पञ्चाशदिति नियतावच्छेदः सङ्गच्छते ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'अन्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिताः' इति । अन्या इति = तत्संयोगवियोगसमुत्थाः 'घटः पट' इत्येवमादयः । अत्रैव निष्ठिताः—पञ्चाशतोऽतिरिक्तस्य परामर्शस्यानुपपत्तेः ॥ १९६ ॥

अत एव चार्धमात्रागणनाक्रमेण एकाशीतिपदापि देवी वर्णपञ्चाशत्येवान्तर्भावयिष्यते—इत्याह—

एकाशीतिपदा देवी ह्यत्रान्तर्भावयिष्यते ॥ १९७ ॥

अत्रान्तर्भावयिष्यते इति = एतन्निष्ठतयैव पर्यवसाययिष्यते यद्वक्ष्यति—

'कालोऽर्धमात्राः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते ।
मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिः प्लुतं तु ऌ ॥
एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरुः ।

इस प्रकार महेश्वर ५० आमर्श पूर्ण शक्ति वाला है । (वह) विमर्शात्मक पूर्ण रूप से स्थित एक ही है । अन्य शक्तियाँ इसी में हैं ॥ -१९६, १९७- ॥

पचास आमर्श = अ से लेकर क्ष तक । एक—शक्ति और शक्तिमान् का अभेद होने से । प्रश्न—अभी-अभी शक्तियों को अपरिच्छिन्न कहा गया तो कैसे इनका पचास—ऐसी निश्चित सीमा सङ्गत होगी ?—यह शङ्का कर कहा गया—'अन्य शक्तियाँ इसी में निहित हैं । अन्य = उनके संयोग और वियोग से उत्पन्न घट पट इत्यादि । इसी में निहित है—क्योंकि पचास से अतिरिक्त परामर्श असिद्ध है ॥ १९६ ॥

इसीलिए अर्धमात्रा की गणना के क्रम से इक्यासी पदों वाली भी देवी पचास वर्णों में ही अन्तर्भावित की जायेगी—यह कहते हैं—

इक्यासी (८१) पदों वाली देवी भी इस (= ५०) में अन्तर्भूत की जायगी ॥ १९७ ॥

यहाँ अन्तर्भावित की जायगी = एतन्निष्ठ ही पर्यवसित की जायगी । जैसा कि कहेंगे—

'तैंतीस क आदि (= क-ह) की अर्धमात्रा काल कही जाती है । पाँच ह्रस्व (= अ, इ, उ, ऋ, ऌ) दीर्घ आठ (= आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ओ, अं) दो बार (= १६ मात्रायें) (इन्हीं का प्लुत) तीन बार (= ८ × ३ = २४ मात्रायें) और ऌ का प्लुत (= ३ मात्रायें तो इस प्रकार ३३ + ५ + १६ + २४ + ३

यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात् ॥
एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका।' इति ॥१९७ ॥

नन्वेवं परामर्शान्तराणामत्रैव निष्ठितत्वात्पञ्चाशदेव परामर्शा मुख्या, इति पुनरपि नियतावच्छेद एवापतेत् ?—इत्याशङ्क्य अवच्छेदाधानासामर्थ्यं द्योतयितुमवास्तवत्वप्रकटीकाराय आमर्शविशेषणां तत्तदुपाधियोगोत्थापितत्वं दर्शयति—

एकामर्शस्वभावत्वे शब्दराशिः स भैरवः ।
आमृश्यच्छायया योगात्सैव शक्तिश्च मातृका ॥ १९८ ॥
सा शब्दराशिसङ्घट्टाद् भिन्नयोनिस्तु मालिनी।
प्राग्वन्नवतयामर्शात्पृथग्वर्गस्वरूपिणी ॥ १९९ ॥
एकैकामर्शरूढौ तु सैव पञ्चाशदात्मिका ।

एकः = आमृश्यशून्यत्वान्निःसहायः । आमर्शनमामर्शः = परामर्शकः प्रमाता। तत्स्वभावत्वे पञ्चाशतोऽपि वर्णानां सङ्कलनया 'शब्दराशिः' इति, 'भैरव' इति व्यपदेशः । आमृश्येनापि योगात् 'शक्तिः' इति मातृका इति च, सैव मातृका शब्दराशिसङ्घट्टाच्छक्तिशक्तिमदैक्यात्म्यलक्षणात् = लवणारनालवत्परस्पर-

---

= ८१) । ये इक्यासी (८१) अर्धमात्राओं को मेरे गुरु कहते हैं जिसके कारण भगवान् ८१ मन्त्रों का निर्वमन किये । शिवरूपी देवी शक्ति इक्यासी (८१) पदों वाली कही गई है ॥ १९७ ॥

प्रश्न—इस प्रकार दूसरे परामर्शों के इसी में रहने से पचास परामर्श ही मुख्य हैं फिर भी निश्चित सीमा आ ही रही है ?—ऐसी शङ्का कर अवच्छेद के आधान के असामर्थ्य को बतलाने के दृष्टिकोण से अवास्तविकता को प्रकट करने के लिये विशिष्ट आमर्शों की, भिन्न-भिन्न उपाधि के योग से उत्थापितता को दिखलाते हैं—

एक और आमर्शस्वभाव वाला होने के कारण वह शब्दराशि भैरव विमृश्य की छाया से युक्त होने के कारण शक्ति है और मातृका है ॥ १९८ ॥

वह (= शक्ति) शब्दराशि के साथ युगनद्ध होने से भिन्न योनि वाली मालिनी होती है । पूर्व की भाँति नव प्रकार का आमर्श करने से वह पृथग् वर्णरूपा हो जाती है । एक-एक आमर्श पर रूढ़ होने से वही ५० वर्णों वाली हो जाती है ॥ १९९-२००- ॥

एक = आमृश्यशून्य होने के कारण असहाय, आमर्श = परामर्शक = प्रमाता। वैसा स्वभाव होने पर पचासों वर्णों के सङ्कलन से 'शब्दराशिः', भैरव ऐसा व्यवहार होता है । और आमृश्य के साथ सम्बन्ध होने से 'शक्ति' 'मातृका' ऐसा (व्यवहार होता है) । वही मातृका शब्दराशि के सङ्घट्ट से = शक्तिशक्तिमत् की एकता लक्षण वाले नमक एवं आरनाल (मांड़) के समान परस्पर मेल से, भिन्न =

मेलनात्, भिन्ना = बीजैर्भेदिता योनयः = व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, 'म' इति—वाच्यस्य प्रतियोग्यभावस्य, अलिनी = विमर्शिका। मलते = विश्वं स्वरूपे धत्ते, मालयति = अन्तःकरोति कृत्स्नमिति च मालिनीति व्यपदिश्यते। भिन्नयोनित्वादेव च अस्या बीजयोनीनां विसंस्थुलत्वात् नादिफान्तत्वम्। प्राग्वदिति—षोडशकपञ्चपञ्चकचतुष्कद्वयैकरूपतया यथापूर्वम् उक्तम्—इत्यर्थः, तदुक्तम्—

'.......................नवधा वर्गभेदतः।
पृथग्वर्गविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला ॥' इति ॥ १९९ ॥

तदेवमत्र वर्णपञ्चाशतः प्रत्येकं भेदेन स्वरूपमभिधाय अभेदेनापि अभिदधदेव तदनुषक्तमनुजोद्देशोद्दिष्टं मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वमपि आसूत्रयति—

इत्थं नादानुवेधेन परामर्शस्वभावकः ॥ २०० ॥
शिवो मातापितृत्वेन कर्ता विश्वत्र संस्थितः।

इत्थम् = उक्तेन वक्ष्यमाणेन च प्रकारेण, नादेन = हकारात्मना शक्त्या, योऽसावनुवेधः = तादात्म्यापत्तिः, तेन अनुत्तरः परमेश्वरः शिव एव

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ।

बीजों के द्वारा भेदित, योनियाँ = व्यञ्जन हैं जिसकी वह उस प्रकार की होती हुई 'म' इस वाच्य की प्रतियोगी के अभाव की अलिनी = विमर्शिका, मलन करती है = विश्व को स्वरूप में धारण करती है; मालन करती है = सब को अपने अन्दर रखती है (वह) मालिनी कही जाती है इसके भिन्न योनिवाली होने के कारण ही बीज योनियों के अस्थिर अथवा क्षुब्ध होने के कारण (यह) न से फ तक है। पहले की भाँति = सोलह (५×५) पचीस और (४×२ = ८) आठ रूपो में जैसा कि पहले कहा गया है। वही कहा गया है—

'वर्णभेद से नव प्रकार की तथा पृथक् वर्ग भेद से ५० किरणों से उज्ज्वल ५० वर्णों वाली है' ॥ १९९ ॥

तो इस प्रकार ५० वर्णों में से प्रत्येक का भेदपूर्वक स्वरूप बतलाकर अभेद के द्वारा (उसका) कथन करते हुए उससे सम्बद्ध, अनुजोद्देश में कथित मन्त्र आदि से अभिन्नरूप को भी कहते हैं—

इस प्रकार परामर्श स्वभाव वाला शिव नादानुवेध के कारण माता-पिता के रूप में कर्त्ता बन कर सर्वत्र स्थित है ॥ -२००, २०१- ॥

इस प्रकार = पूर्वोक्त एवं आगे कहे जाने वाले प्रकार से, नाद से = हकारात्मक शक्ति के द्वारा, जो यह अनुवेध = तादात्मयापत्ति, उससे अनुत्तर परमेश्वर शिव ही—

'अकार और हकार ये दोनों एक रूप में स्थित हैं। वायु और आकाश के

विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ॥'

इत्याद्युक्त्या परमन्त्रवीर्यस्वभाव-अकारहकारात्मपरामर्शरूपो भवेत्, यतः स एव कर्ता परप्रमात्रेकरूपो वर्णपञ्चाशदात्मनि विश्वत्र, मातापितृत्वेन संस्थितः = अनुत्तरविसर्गरूपतया प्रस्फुरितः—इत्यर्थः ॥ २०० ॥

नन्वेवमपि भेदेनैव वर्णपञ्चाशतो रूपमुक्तं स्यात् नाभेदेन ? इत्याशङ्क्याह—

विसर्ग एव शाक्तोऽयं शिवबिन्दुतया पुनः ॥ २०१ ॥
गर्भीकृतानन्तविश्वः श्रयतेऽनुत्तरात्मताम् ।

इह खलु अनुत्तरस्य परमेश्वरस्य शाक्त एवायं विसर्गो—हकारपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेण परिस्फुरणम्, पुनः प्रत्यावृत्य शिवबिन्दुतया निर्विभागात्मपरप्रकाशात्म-प्रमात्रेकरूपतया क्रोडीकृतनिखिलवाच्यवाचककलापः सन्, अनुत्तरात्मतां श्रयते = निर्विभागपरप्रकाशस्वभावबिन्दुरूपतामाश्रयते, येन 'अहम्' इति परामर्शो भवेत् यदनुत्तर एव हकारात्मशक्तिरूपतामाभास्य स्वात्मन्येव अविभागप्रकाशरूपे विश्राम्यति—इति भावः । यद्वक्ष्यति—

'संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा ।
तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्सङ्घाततां गतम् ॥

समान इन दोनों में भेद नहीं है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा परमन्त्रवीर्यस्वभाव वाला अकार हकारात्मक परामर्शरूप होता है । क्योंकि वही एक परप्रमातारूप कर्त्ता पचास वर्णों वाले विश्व में, माता-पिता के रूप में स्थित है = अनुत्तर विसर्ग के रूप में प्रस्फुरित हो रहा है ॥ २०० ॥

प्रश्न—फिर भी ५० वर्णों का भेद के साथ ही रूप कथन किया गया अभेद के साथ नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यही शाक्त विसर्ग शिव बिन्दु के रूप में पुनः अनन्त विश्व को अपने गर्भ में रखकर अनुत्तर बन जाता है ॥ -२०१, २०२- ॥

अनुत्तर परमेश्वर का यह शाक्त ही विसर्ग = हकार पर्यन्त स्थूलरूप से परिस्फुरण, फिर लौटकर शिवबिन्दु के रूप में विभागरहित परप्रकाश रूप केवल प्रमाता के रूप में समस्त वाच्यवाचकसमूह को आत्मसात् कर अनुत्तरात्मता का आश्रयण करता है = निर्विभाग परप्रकाशस्वभाव बिन्दुरूपता का ग्रहण करता है जिससे 'अहम्' ऐसा परामर्श होता है । अनुत्तर ही हकारात्मक शक्तिरूपता का आभासन कर अविभाग प्रकाशरूप स्वात्मा में ही विश्रान्त हो जाता है । जैसा कि कहेंगे—

'संवित्ति में जो विश्व आभासित होता है उसमें भी संविदा है । तो यह तीन

एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम् ।' (३।२०७)

इति ॥ २०१ ॥

ननु अविभागपरप्रकाशविश्रान्तावपि अहंपरामर्शस्य भेदमयत्वमेवास्ति ?—इत्याह—

अपरिच्छिन्नविश्रान्तःसारे स्वात्मनि यः प्रभोः ॥ २०२ ॥
परामर्शः स एवोक्तो द्वयसंपत्तिलक्षणः ।

प्रभोः = अनुत्तरस्य परमेश्वरस्य, अनन्तजगन्मध्यसातिशये स्वात्मनि यः 'अहम्' इति परामर्शः स एव प्रतियोगिभूतस्यापोह्यस्य इदन्तापरामर्शस्यापि सम्भवात् 'द्वयसम्पत्तिलक्षण उक्तः' भेदनिबन्धनत्वेन प्रतिभासते—इत्यर्थः ॥ २०२ ॥

ननु इह शरीरादावहंप्रत्यवमर्शः सप्रतियोगित्वाद्भवतु नाम भेदनिबन्धनं परप्रमात्रात्मनि प्रकाशे प्रवर्तमानः अतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात् प्रतियोगिनो (अप्रतियोगी) न तथा ?—इत्याह—

अनुत्तरविसर्गात्मशिवशक्त्यद्वयात्मनि ॥ २०३ ॥
परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः ।

(संवित्ति, विश्व और संविदा) द्वन्द्व के योग से समूहरूपता को प्राप्त होकर भैरव का अहमात्मक एक पररूप है' ॥ २०१ ॥

प्रश्न—विभागरहित परप्रकाश रूप में विश्रान्ति होने पर भी अहंपरामर्श भेदमय तो है ही ?—यह कहते हैं—

परमेश्वर के अपरिच्छिन्न विश्रान्तःसार रूप अपनी आत्मा में जो परामर्श होता है वही द्वय सम्पत्ति लक्षण वाला है ॥ -२०२, २०३- ॥

प्रभु का = अनुत्तर परमेश्वर का, अनन्त जगन्मध्य सातिशय वाले आत्मा में जो 'मैं' ऐसा परामर्श, वही प्रतियोगीभूत अपोह्य इदन्तापरामर्श के भी सम्भव होने से दो सम्पत्ति वाला कहा गया है अर्थात् भेद के कारण के रूप में प्रतिभासित होता है ॥ २०२ ॥

प्रश्न—शरीर आदि में अहंप्रत्यवमर्श सप्रतियोगी होने से भेद का कारण बने तो बने परप्रमातारूप प्रकाश में प्रवर्त्तमान (वह प्रत्यवमर्श) प्रतियोगी के अतिरेक और अनितिरेक के विकल्पों से अपहत होने के कारण वैसा नहीं होगा ?—यह कहते हैं—

अनुत्तर विसर्गात्मक शिवशक्त्यद्वयरूप स्वात्म (प्रकाश) में विभु के निर्भर होने से (उत्पन्न परामर्श) 'अहम्' कहलाता है ॥ -२०३, २०४- ॥

अनुत्तरविसर्गात्मिके ये शिवशक्ती, तयोरद्वयम् सामरस्यम्, यत्र 'शिव' इति, शक्तिः' इत्यपि पृथक् परामर्शो नास्ति, तथात्वे हि प्रतियोगिनः संभावनामात्रमपि भवेत्—इति भावः । एवंविधे परप्रकाशस्वभावे विभोः = अनुत्तरस्यात्मनि निर्भरत्वात्परस्य कस्यचिदपेक्षणीयस्याविद्यमानत्वेन पूर्णत्वात्—

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।' (अ.प्र. २२ श्लो.)

इत्यादिदृशा अहमिति स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपः परामर्श उच्यते = सर्वशास्त्रेषु अविगानेन अभिधीयते इत्यर्थः ॥ २०३ ॥

ननु भवतु नाम स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपोऽहंपरामर्शः, किमनेन नः प्रयोजनं, वर्णपञ्चाशतः पुनरभेदेन स्वरूपमनेनोक्तं न भवेत् ? इत्याशङ्क्याह—

अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता शक्तिस्वरूपिणी ॥ २०४ ॥
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा निलीयते ।

अनुत्तरात् = आदिवर्णादानन्दादिपरामर्शान्तराविर्भावकारित्वाच्छक्तिस्वरूपिणी, या हान्ता प्रसृतिः = हकारपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेण स्फुरत्ता, सैव पुनः 'आदिरन्त्येन सहेता' (पा० २।२।७२) इति नीत्या अकारहकारात्मना रूपेण, प्रत्याहृतम् = गर्भीकृतमशेषमानन्दाद्यमृतबीजपर्यन्तं विश्वं यया तथाभूता सती,

---

अनुत्तर और विसर्ग रूप जो शिव और शक्ति, उन दोनों का अद्वय = सामरस्य, जहाँ 'शिव' 'शक्ति' ऐसा अलग परामर्श नहीं है क्योंकि वैसा होने पर प्रतियोगी की संभावनामात्र हो सकती है—यह भाव है । पर प्रकाश स्वभाव के उस प्रकार के होने पर, विभु का = अनुत्तर का स्वात्मा में निर्भर होने के कारण, किसी पर अपेक्षणीय के विद्यमान न होने से पूर्ण होने के कारण 'प्रकाश की आत्मविश्रान्ति ही अहंभाव कहा गया है ।' इत्यादि दृष्टि से 'अहम्' ऐसा केवल आत्मा में स्फुरत्तारूप परामर्श कहा जाता है अर्थात् सब शास्त्रों में एक मत से कहा जाता है ॥ २०३ ॥

प्रश्न—अहंपरामर्श स्वात्ममात्र स्फुरत्तारूप हो जाय इससे हमारा क्या प्रयोजन, इसके द्वारा कथित पचास वर्णों का अभिन्न स्वरूप नहीं होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनुत्तर से लेकर हपर्यन्त वह शक्तिरूप प्रसार समस्त विश्व को उपसंहृत कर अनुत्तर में लीन हो जाता है ॥ -२०४, २०६- ॥

अनुत्तर से = प्रथमवर्ण से, आनन्द आदि दूसरे वर्णों का आविर्भाव करने के कारण शक्तिरूपिणी जो हपर्यन्त प्रसृति = हकारपर्यन्त स्थूल रूप से स्फुरत्ता, वही फिर 'आदिरन्त्येन सहेता' इस पाणिनि सूत्र के द्वारा अकार हकार रूप से प्रत्याहृत किया गया है = आनन्द से लेकर अमृत बीजपर्यन्त विश्व जिसके द्वारा गर्भ में रख

अनुत्तरे = निर्विभागप्रकाशात्मनि परस्मिन्रूपे, निलीयते = विश्राम्यति, येनाहंपरामर्शो जायते, येन अभेदेनैव प्रत्याहारनीत्या सर्वेषामपि वर्णानां परामर्शः स्यात् ॥ २०४ ॥

ननु यदि पाणिनीयप्रक्रियया प्रत्याहारक्रमेणैव युगपत्सर्वेषां वर्णानां परामर्शो विवक्षितः तदकारहकारात्मनैव परामर्शविशेषेण भवेत्, यत्तु पुनरपि 'अनुत्तरे एव विश्रान्तिः' इत्युक्तं तत्किमर्थम् ? इत्याशङ्क्याह—

तदिदं विश्वमन्तःस्थं शक्तौ सानुत्तरे परे॥ २०५ ॥
तत्तस्यामिति यत्सत्यं विभुना सम्पुटीकृतिः ।

यद्यपि अकारहकारात्मनैव रूपेण प्रत्याहारनीत्या समस्तवर्णपरामर्शः सिद्ध्येत्, तथापि हकलात्मनो विश्वरूपायाः शक्तेरनुत्तरकर्तृकं संपुटीकारं प्रदर्शयितुमेहमुक्तम् । तथाहि—

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं.................... ।'

इत्यादिनीत्या विश्वं तावच्छक्त्येकात्मकम्, शक्तिरपि 'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्यादिनीत्या अनुत्तर एव विश्रान्ता, अत एव च परस्परावियोगात् शक्ति-

---

लिया गया है, वैसी होती हुई, अनुत्तर = निर्विभाग प्रकाशात्मक पर रूप में, निलीन हो जाती है = विश्रान्त हो जाती है । जिससे अहंपरामर्श उत्पन्न होता है । जिससे अभेद के साथ प्रत्याहाररीति से सभी वर्णों का परामर्श होता है ॥ २०४ ॥

प्रश्न—यदि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार प्रत्याहार क्रम से ही एक साथ सभी वर्णो का परामर्श विवक्षित है तो अकार हकार रूप परामर्शविशेष से होगा । जो फिर 'अनुत्तर में ही विश्रान्ति होती हैं—यह कहा गया वह किसलिये ?—यह शङ्का कर कहते हैं—'

इस प्रकार यह विश्व शक्ति के अन्दर स्थित है और वह (= शक्ति) अनुत्तर परमशिव में । वह (= अनुत्तर परमेश्वर) उस (= शक्ति) में । यह जो स्थिति है सचमुच परमेश्वर के द्वारा सम्पुटित कर दी गयी है ॥ -२०५, २०६- ॥

यद्यपि अकार हकार रूप ही प्रत्याहार नीति के द्वारा सब वर्णों का परामर्श सिद्ध होता है तो भी हकलात्मक विश्वरूप शक्ति का अनुत्तरकर्तृक संपुटीकार दिखलाने के लिये ऐसा कहा गया है । वह इस प्रकार—

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ है...'

इत्यादि नीति के द्वारा विश्व केवल शक्ति रूप है । शक्ति भी 'शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न है' इत्यादि नीति के द्वारा अनुत्तर में ही विश्रान्त है । और इसीलिए

शक्तिमतोः तत् शक्तिमद्रूपमप्यनुत्तरम्, तस्यां शक्तावेवान्तःस्थम्, इत्यनुत्तरादेव शक्तेरुदयस्तत्रैव च विश्रान्तिः, इत्यनुत्तरेणैव विभुना नूनं शक्तेराद्यन्त-योगात्संपुटीकृतिः ॥ २०५ ॥

अत एव चागमोऽप्येवम्—इत्याह—

तेन श्रीत्रीशिकाशास्त्रे शक्तेः सम्पुटिताकृति ॥ २०६ ॥

त्रयाणां परादिशक्तिप्रतिपादकानां शास्त्राणामीशेति त्रीशिका = श्रीपरात्रिंशका । यदुक्तं तत्र—

'तत्र सृष्टिं यजेद्वीरः पुनरेवासनं ततः ।
संपुटीकृत्य सृष्टिं तु पश्चाद्यजनमारभेत ॥' (परात्री० २९ श्लो०)

इति ॥ २०६ ॥

तदेवोपसंहरति—

संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा ।
तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्सङ्घाततां गतम् ॥ २०७ ॥
एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम् ।

यदिदं हकलात्म शक्तिरूपं विश्वं संवित्तौ = अनुत्तरात्मनि परस्मिन्रूपे भाति

शक्ति शक्तिमान् के परस्पर अवियोग से, वह = शक्तिमद्रूप भी अनुत्तर, उसमें = शक्ति में ही अन्तःस्थ है । इस प्रकार अनुत्तर, से ही शक्ति का उदय होता है और उसी में उसकी विश्रान्ति होती है—इस प्रकार व्यापक अनुत्तर के द्वारा ही निश्चित रूप से शक्ति का आद्यन्त योग होने के कारण संपुट होता है ॥ २०५ ॥

इसलिए आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

इस कारण परात्रीशिका शास्त्र में शक्ति को सम्पुटित आकृति वाली कहा गया है ॥ २०६ ॥

तीन के = परा (परापरा और अपरा) शक्तियों के प्रतिपादक शास्त्रों की ईश्वर = त्रिंशिका ही परात्रिंशका है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'वहाँ वीर (साधक) सृष्टि का यजन करे । उसके बाद आसन । सृष्टि को संपुटित करके बाद में याग का प्रारम्भ करे ॥ २०६ ॥'

उसी का उपसंहार करते हैं—

संवित्ति में जो विश्व भासित होता है और उस (= विश्व) में भी संविदा ये तीनों परस्पर द्वन्द्वयोग से सङ्घात बन गये । (यही सङ्घात) भैरव का अहमात्मक पर रूप है ॥ २०७-२०८- ॥

= तत एवोदितम्—इत्यर्थः । तत्रापि एवंरूपतायामपि, संविदैव खलु भाति = तत्रानुत्तरात्मन्येव रूपे तद्विश्रान्तम्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।' इति ।

तदेतत् संवित्तिर्विश्वं संविदेति त्रितयम्, द्वन्द्वयोगात्परस्परसङ्घट्टात्सङ्घाततां गतम् मेलनां प्राप्तं सत्, अहमिति प्रतियोगिभूतपरामर्शान्तराभावादेकमेव प्रमातृप्रमेयादि-प्रकाशविश्रान्तिधामतया, परम् = उत्कृष्टम्, भैरवस्य = सर्वभाव- निर्भर-त्वादनन्यापेक्षिणः पूर्णवृत्तेः प्रकाशैकवपुषः स्वात्मनोरूपम् परविमर्शात्मा स्वभावः—इत्यर्थः ॥ २०७ ॥

ननु 'परस्याकुलस्य धाम्नः कौलिकी शक्तिर्विसर्गः' इति प्रगुक्तम् । सा च न शक्तिमतोऽतिरिक्तेति तस्यास्तदतिरेकेण परिस्फुरणमेव न युज्यते, इति का वार्ता पुनरपि तत्र विश्रान्तौ ? इत्याशङ्क्याह—

विसर्गशक्तिर्या शम्भोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते ॥ २०८ ॥
तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः ।

या खलु निःश्रेयसात्मपरश्रेयः कारणस्य अकुलस्य धाम्नो विसर्गशक्तिरुक्ता,

---

जो यह हकलात्मक शक्तिरूप विश्व संविद् में = अनुत्तरात्मा पररूप में आभासित होता है = उसी से उदित होता है । उस पर भी = इस प्रकार का होने पर भी, संविदा ही भासित होती है = उस अनुत्तरात्म रूप में वह विश्रान्त होती है। जैसा कि कहा गया है—

'यह विचित्र विश्व जिसमें उदित होता है और जिसमें अस्त होता है ।'

तो यह संवित्ति, विश्व और संविदा ये तीन, द्वन्द्वयोग के कारण = परस्पर सङ्घट्ट के कारण, सङ्घातता को प्राप्त = मेलन को प्राप्त होता हुआ, 'अहम्' इस प्रतियोगीभूत अतिरिक्त परामर्श के न होने से, एक ही = प्रमाता प्रमेय आदि प्रकाशविश्रान्ति के स्थान के रूप में पर = उत्कृष्ट, भैरव का = सर्वभाव निर्भर होने के कारण अनन्यापेक्ष पूर्णवृत्ति वाले प्रकाशशरीर स्वात्मा का, रूप = पर विमर्शात्मक स्वभाव है—यह अर्थ है ॥ २०७ ॥

प्रश्न—'पर अकुल धाम की कौलिकी शक्ति विसर्ग है—'यह पहले कहा चुका है । वह शक्तिमान् से भिन्न नहीं है इसलिए उस (शक्ति) का उस (शक्तिमान्) से भिन्न परिस्फुरण ही समुचित नहीं है फिर उसमें विश्रान्ति की क्या बात ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो शिव की विसर्ग शक्ति है वह इस प्रकार सर्वत्र विराजमान है । उसी से यह समस्त आनन्द रस का स्फुरण है ॥ -२०८, २०९- ॥

जो निःश्रेयस रूप पर श्रेय के कारणस्वरूप अकुलधाम की विसर्ग शक्ति कही

सैवेत्थम् वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, सर्वत्र वर्तते = भेदभेदाभेदाभेदात्मना प्रस्फुरति— इत्यर्थः । यद्वशादेव वाच्यवाचकात्मा बाह्योऽयमानन्दमयः समुज्जृम्भते स्फारः ॥ २०८ ॥

ननु बाह्यस्य सुखदुःखादिरूपत्वादानन्दमयत्वमेव कथमुक्तम् ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य तदेवोपपादयति—

तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके ॥ २०९ ॥
माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः ॥ २१० ॥

इह खलु यस्य कस्यचन प्रमातुः, गीतादौ विषये यदा माध्यस्थ्यविगमः ताटस्थ्यपरिहारेण तदेकतानता, तदा येयं हृदये = विश्वप्रतिष्ठास्थाने बोधे, स्पन्दमानता = तन्मयतया परिस्फुरद्रूपता, सैवेयमानन्दशक्तिरुक्ता = सर्वशास्त्रेषु अभिहिता—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥' (वि.भै. ७३ श्लो.)

इति ।

गई है वही इस प्रकार = वक्ष्यमाण प्रकार से सर्वत्र वर्त्तमान है = भेद भेदाभेद और अभेद रूप मे प्रस्फुरित हो रही है । जिसके कारण ही वाच्यवाचक रूप यह आनन्दमय स्फार फैल रहा है ॥ २०८ ॥

प्रश्न—बाह्य (स्फार) के सुख दुःख रूप होने से (इसे) केवल आनन्दमय कैसे कहा गया?—इस शङ्का को अन्दर रखकर उसी का समधान करते हैं—

वह इस प्रकार—मधुर गीत में अथवा चन्दन आदि के स्पर्श में जब मध्यस्थ (= अनुभविता) चला (= आत्म विस्मृत हो) जाता है तब हृदय में जो यह स्पन्दमानता होती है वही आनन्दशक्ति कही गयी है जिस कारण मनुष्य सहृदय कहा जाता है ॥ -२०९-२१० ॥

जिस किसी प्रमाता की गीत आदि के विषय में मध्यस्थता जब समाप्त हो जाती है = तटस्थता को छोड़ देने के कारण तन्मयता हो जाती है तब हृदय में = विश्वप्रतिष्ठा के स्थान में, जो यह स्पन्दमानता = तन्मयता के कारण स्फुरत्ता, वही आनन्दशक्ति कही गई है = सब शास्त्रों में उक्त है—यह अर्थ है ।

जैसा कि कहा गया है—

'गीत आदि विषय के आस्वाद के कारण सम्पूर्ण सुख की एकता वाले योगी की मनोरूढ़ि के तन्मय होने से तदात्मता होती है ।'

भोगस्य सुखदुःखाद्याभाससाधारण्यमनश्नुवाना—

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥' (ई.प्र. १।५।१८)

इत्यादिनिरूपितस्वरूपा परिस्फुरद्रूपतैव 'स्वातन्त्र्यमिति विमर्श इति आनन्द इति च' सर्वत्रैव उद्घोष्यते, यन्माहात्म्यादेव च जडोऽपि निखिलोऽयं जनः सचेतन इत्युच्यते, अत एव लोकेऽप्यानन्दातिशयकार्येव जनः 'सहृदयः' इति प्रसिद्धिः । यद्यपि सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः तथापि स्फुटोपलम्भादत्र तस्या एवमुक्तम् ॥ २१० ॥

तदेवं विसर्गशक्तेरेवायं महिमा यदियान्भेदभेदाभेदाभेदात्मा विश्वस्फारः, यदुपाधिवशादेव विसर्गशक्तेरपि त्रैविध्यम् । तदाह—

पूर्वं विसृज्यसकलं कर्तव्यं शून्यतानले ।
चित्तविश्रान्तिसंज्ञोऽयमाणवस्तदनन्तरम् ॥ २११ ॥
दृष्टश्रुतादितद्वस्तुप्रोन्मुखत्वं स्वसंविदि ।
चित्तसंबोधनामोक्तः शाक्तोल्लासभरात्मकः॥ २१२ ॥
तत्रोन्मुखत्वतद्वस्तुसङ्घट्टाद्वस्तुनो हृदि ।

भोग की सुख दुःख आदि आभास की साधरणता का अनुभव न करती हुई—

'वह स्फुरत्ता महासत्ता देश काल (के) परिच्छेद से रहित है । तत्त्व होने के कारण वह परमेश्वर का हृदय कही गई है ।'

इत्यादि के द्वारा निरूपित स्वभाव वाली परिस्फुरद्रूपता ही स्वातन्त्र्य, विमर्श और आनन्द शब्दों में सर्वत्र घोषित होती है जिसकी महिमा से जड़ भी यह समस्त मानव सचेतन कहा जाता है । इसीलिए लोक में भी अतिशय आनन्द देने वाला आदमी सहृदय कहलाता है । यद्यपि यह सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्ति का स्फार है तथापि स्पष्ट रूप में उपलब्धि होने के कारण यहाँ उसी को (= गीत को) ऐसा कहा गया ॥ २१० ॥

तो इस प्रकार विसर्गशक्ति की ही यह महिमा है जो कि इतना बड़ा भेद, भेदाभेद और अभेदरूप विश्व का विस्तार है । जिस उपाधि के कारण ही विसर्ग शक्ति भी तीन प्रकार की है । वह कहते हैं—

सबसे पहले समस्त कर्त्तव्य को शून्यता रूपी अग्नि में विसर्जित कर यह आणव (विसर्ग) चित्त विश्रान्ति संज्ञा वाला हो जाता है । इसके बाद अपनी संविद् में देखी या सुनी गयी वस्तु के प्रोन्मुखत्व (वाले विसर्ग) को चित्तसंबोध नाम दिया गया है । यह शाक्त उल्लास से परिपूर्ण होता है । उसमें (स्वात्मसंविद् के प्रति) उन्मुखत्व और उस वस्तु के (संविद्) सङ्घट्ट

सैवेत्थम् वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, सर्वत्र वर्तते = भेदभेदाभेदाभेदात्मना प्रस्फुरति—इत्यर्थः । यद्वशादेव वाच्यवाचकात्मा बाह्योऽयमानन्दमयः समुज्जृम्भते स्फारः ॥ २०८ ॥

ननु बाह्यस्य सुखदुःखादिरूपत्वादानन्दमयत्वमेव कथमुक्तम् ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य तदेवोपपादयति—

तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके ॥ २०९ ॥
माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः ॥ २१० ॥

इह खलु यस्य कस्यचन प्रमातुः, गीतादौ विषये यदा माध्यस्थ्यविगमः ताटस्थ्यपरिहारेण तदेकतानता, तदा येयं हृदये = विश्वप्रतिष्ठास्थाने बोधे, स्पन्दमानता = तन्मयतया परिस्फुरद्रूपता, सैवेयमानन्दशक्तिरुक्ता = सर्वशास्त्रेषु अभिहिता—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तादात्मता ॥' (वि.भै. ७३ श्लो.)

इति ।

गई है वही इस प्रकार = वक्ष्यमाण प्रकार से सर्वत्र वर्त्तमान है = भेद भेदाभेद और अभेद रूप मे प्रस्फुरित हो रही है । जिसके कारण ही वाच्यवाचक रूप यह आनन्दमय स्फार फैल रहा है ॥ २०८ ॥

प्रश्न—बाह्य (स्फार) के सुख दुःख रूप होने से (इसे) केवल आनन्दमय कैसे कहा गया?—इस शङ्का को अन्दर रखकर उसी का समधान करते हैं—

वह इस प्रकार—मधुर गीत में अथवा चन्दन आदि के स्पर्श में जब मध्यस्थ (= अनुभविता) चला (= आत्म विस्मृत हो) जाता है तब हृदय में जो यह स्पन्दमानता होती है वही आनन्दशक्ति कही गयी है जिस कारण मनुष्य सहृदय कहा जाता है ॥ -२०९-२१० ॥

जिस किसी प्रमाता की गीत आदि के विषय में मध्यस्थता जब समाप्त हो जाती है = तटस्थता को छोड़ देने के कारण तन्मयता हो जाती है तब हृदय में = विश्वप्रतिष्ठा के स्थान में, जो यह स्पन्दमानता = तन्मयता के कारण स्फुरत्ता, वही आनन्दशक्ति कही गई है = सब शास्त्रों में उक्त है—यह अर्थ है ।

जैसा कि कहा गया है—

'गीत आदि विषय के आस्वाद के कारण सम्पूर्ण सुख की एकता वाले योगी की मनोरूढ़ि के तन्मय होने से तदात्मता होती है ।'

भेदाभेदप्रधानः **शाक्तोः विसर्ग** उक्तः । तथा तत्र = आत्मसंविदि, उन्मुखत्वेन तस्य = **जगल्लक्षणस्य वस्तुनो**ऽर्थात्तयैव सङ्घट्टात् = परस्परौन्मुख्यात्तस्यैव च वस्तुनो हृदि = **तत्रैव संविल्लक्षणे** पारमार्थिके रूपे, प्ररोहात्, शिवे = चिदात्मनि बोधे, **पूर्णतया** = कर्तृत्वाद्युत्तेजनेन, मितस्य = शून्यादेः संकुचितस्य परिमितस्य प्रमातुर्गुणीभावात्, य आवेशस्ततः प्राग्वदाणववद्भविष्यदपि यदौन्मुख्यम् बहीरूपतया परिस्फुरणम्, तेन संभाव्यमाना येयं मितता = संकुचितज्ञानरूपता तस्या लयः = संभाव्यमानस्यापि सङ्कोचस्याभावः, ततश्चित्तस्य प्रकर्षेण लयः = संकुचिततापासनेन पूर्णतावलम्बनेन च स्वात्मसंविन्मात्रतया परिस्फुरणम्, तन्नामायमभेदप्रधान आनन्दात्मा परः = शैवो विसर्गः । तदेवं पारमेश्वरी विसर्गशक्तिरेव तथा तथा परिस्फुरति—इति नरशक्तिशिवात्मना अस्यास्त्रैविध्य-मुक्तम् । तेन युक्तमुक्तम्—यद्विसर्गशक्तिः सर्वत्र वर्तत इति ।। २१४ ।।

अत एव भगवताप्येवमुक्तम्—इत्याह—

तत्त्वरक्षाविधानेऽतो विसर्गत्रैधमुच्यते ।

अत इति = यथोक्तन्यायात् ।

वही चित्त का = संकुचित आत्मज्ञान का, स्वात्मसंविद् की विश्रान्ति का संबोध = भली प्रकार बोध, वही यह सूक्ष्म विसर्जनीयरूप भेदाभेदप्रधान शाक्तविसर्ग कहा गया है । तथा उस आत्मसंविद् में उन्मुख होने के कारण उस जगद्रूप वस्तु का उसी के (संविद् के) साथ सङ्घट्ट होने से परस्पर औन्मुख्य के कारण उसी वस्तु का हृदय में = उसी संविद्लक्षण वाले पारमार्थिक रूप में, प्ररोह होने से शिव में = चिदात्मबोध में, पूर्णरूप से कर्त्तृत्व आदि के उत्तेजन से, मित का = शून्य आदि संकुचित परिमित प्रमाता का, गुणीभाव होने के कारण जो आवेश उसके पहले वाले आणव की भाँति होने वाला भी जो औन्मुख्य = बाह्यरूप में परिस्फुरण उससे संभाव्यमान जो यह मितता = संकुचित ज्ञानरूपता, उसका लय = संभाव्यमान भी सङ्कोच का अभाव, उसके कारण चित्त का प्रकर्ष के साथ लय = संकुचितता को हटाने और पूर्णता को अपनाने से स्वात्मसंविद् रूप में परिस्फुरण, वही यह अभेदप्रधान आनन्दरूप पर शैवविसर्ग है । तो इस प्रकार परमेश्वर की विसर्ग शक्ति ही भिन्न-भिन्न रूप में स्फुरित होती है । इसलिए चराचर जगत् शक्ति एवं शिव के रूप में इसके तीन प्रकार कहे गये हैं । इसलिए ठीक कहा गया कि विसर्ग शक्ति सर्वत्र वर्त्तमान है ।। २१४ ।।

इसीलिए भगवान ने भी ऐसा कहा है—

इस कारण तत्त्वरक्षाविधान में विसर्ग की त्रिप्रकारता कही गयी है ।। २१५- ।।

अतः = यथोक्त न्याय के कारण ।

तदेव शब्दद्वारेण अर्थद्वारेण च पठति—

हृत्पद्मकोशमध्यस्थस्तयोः सङ्घट्ट इष्यते ॥ २१५ ॥
विसर्गोऽन्तः स च प्रोक्तश्चित्तविश्रान्तिलक्षणः ।
द्वितीयः स विसर्गस्तु चित्तसंबोधलक्षणः ॥ २१६ ॥
एकीभूतं विभात्यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
ग्राह्यग्राहकभेदो वै किञ्चिदत्रेष्यते यदा ॥ २१७ ॥
तदासौ सकलः प्रोक्तो निष्कलः शिवयोगतः ।
ग्राह्यग्राहकविच्छित्तिसम्पूर्णग्रहणात्मकः ॥ २१८ ॥
तृतीयः स विसर्गस्तु चित्तप्रलयलक्षणः ।
एकीभावात्मकः सूक्ष्मो विज्ञानात्मात्मनिर्वृतः ॥ २१९ ॥

हृत् = बोधभूः, तदेव बहिर्विकस्वरत्वात्पद्मं तस्य कोशमध्यम् = परा काष्ठा, तत्रस्थो योऽयं चितिचेत्ययोः संकुचितज्ञानात्मा सङ्घट्टः, स एव चित्तविश्रान्तिनामा विसर्गयोः = शैवशाक्तयोरन्तः = तृतीयः प्रथमो वा, आणवो विसर्गः, प्रकर्षेण = भेदप्रधानतयोक्तः । द्वितीयः शाक्तः पुनः स विसर्गश्चित्तसंबोधनामा, यतोऽत्र चराचरं ग्राह्यग्राहकरूपमेतद्विचित्रावभासं जगदेकीभूतं विभाति = स्वात्मसंविन्मात्ररूपतया परिस्फुरति । यतोऽसौ शाक्तो विसर्गो ग्राह्यग्राहकभेदावभासे सकलो = विश्वमयः प्रोक्तः । परनिःश्रेयसात्मश्रेयस्कर-

---

उसी को शब्द और अर्थ के द्वारा पढ़ते हैं—

उन दोनों का सङ्घट्ट हृदयकमल के कोश के मध्यस्थ माना जाता है । वही अन्तिम विसर्ग है । उसे चित्तविश्रान्ति नामक (कहा गया है) । दूसरा विसर्ग चित्तसंबोध नाम वाला है । यहाँ चराचर जगत् एकीभूत प्रतीत होता है । यदि इसमें जरा सा भी ग्राह्यग्राहक भेद परिलक्षित होता है तो यह (= विसर्ग) 'सकल' कहा जाता है । शिव के साथ योग होने के कारण यह 'निष्कल' होता है इसमें ग्राह्यग्राहक भाव का छेदन एवं सम्पूर्ण ग्रहणात्मक भाव आभासित होता हैं । तृतीय विसर्ग वह है जिसका नाम चित्तप्रलय है । यह विज्ञान रूप आत्मतृप्त सूक्ष्म और एकीभाव वाला होता है ॥ -२१५-२१९ ॥

हृदय = बोध भूमि, वही बाहर विकसित होने के कारण कमल, उसका कोशमध्य पराकाष्ठा, उसमें स्थित जो यह चिति और चेत्य का संकुचित ज्ञान रूप सङ्घट्ट, वही चित्तविश्रान्ति नामक, शैव शाक्त दो विसर्गों का अन्त अर्थात् भीतर तीसरा अथवा पहला आणव विसर्ग प्रकर्ष के कारण = भेदप्रधानता के कारण कहा गया है । दूसरा शाक्त विसर्ग चित्तसंबोध नामक है । जिस कारण इसमें चराचर ग्राह्यरूप यह विचित्रावभास वाला जगत् एक जैसा मालुम होता है = स्वात्मसंविद्

स्वात्मसंविदेकीभावे पुनर्निष्कलो = विश्वोत्तीर्णो, येनायं भेदाभेदप्रधानः । तृतीयः शैवः पुनः स विसर्गः चित्तप्रलयनामा, यतोऽयं ग्राह्यग्राहकयोः संविन्मात्ररूढ्या येयं विच्छित्तिः = त्रोटः, तया सम्यक् = शून्यादिनियतावच्छेदाभावात्पूर्णं यद्ग्रहणं तदात्मकः = परप्रकाशरूपः—इत्यर्थः । अत एवैकीभावात्मकः स्वात्मसंविन्मात्रावेशरूपः । अत एव सूक्ष्मः = प्रमात्रेकरूपत्वात् त्परासंवेद्यः, अत एव संभाव्यमानस्यापि संकुचितज्ञानरूपस्याभावाद्विज्ञानात्मा = पूर्णज्ञानस्वभावः, अत एव परस्य कस्यचिदपि आकाङ्क्षणीयस्याभावादात्मनिर्वृतः = स्वात्ममात्रविश्रान्तः, अत एव चायमभेदप्रधानः । तदेवं पारमेश्वरी = कौलिक्यादिशब्दव्यपदेश्या विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्फुरति—इति तात्पर्यार्थः ॥ २१९ ॥

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

निरूपितोऽयमर्थः श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते ।

तदेवार्थद्वारेण पठति—

सात्र कुण्डलिनी बीजं जीवभूता चिदात्मिका ॥ २२० ॥
तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः ।

रूप में स्फुरित होता है । चूँकि यह शाक्तविसर्ग ग्राह्यग्राहक भेद का अवभास होने पर सकल = विश्वमय कहा गया है, और पर निःश्रेयस रूप श्रेयस्कर स्वात्मसंविद् के साथ एक होने पर निष्कल = विश्वोत्तीर्ण (कहा गया है) इस कारण यह भेदाभेद प्रधान है । तीसरा शैव विसर्ग चित्तप्रलय नामक है क्योंकि ग्राह्यग्राहक की संविन्मात्र रूढ़ि के द्वारा जो यह विच्छित्ति = टूटना, उसके कारण सम्यक् शून्य आदि नियत अवच्छेद के न होने से पूर्ण जो ज्ञान, यह उसी रूप वाला = पर प्रकाश रूप है । इसीलिए (यह) एकीभाव रूप = स्वात्मसंविद्मात्र अवशिष्ट है । इसीलिए सूक्ष्म = प्रमाता से अभिन्न होने के कारण दूसरे से असंवेद्य है । संभाव्यमान संकुचित ज्ञान का अभाव होने से विज्ञानरूप = पूर्णज्ञान स्वभाव वाला है । इसीलिये किसी भी पर आकाङ्क्षणीय के अभाव के कारण आत्मनिवृत्त = अपने में विश्रान्त है । और इसीलिये यह अभेद प्रधान है । तो इस प्रकार कौलिकी आदि शब्दों से व्यवहार्य यह पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति ही भिन्न-भिन्न आमर्श रूप में स्फुरित होती है—यह तात्पर्य है । २१५-२१९ ॥

इसे हमने अपने मन से नहीं कहा है—यह कहते हैं—

श्रीसिद्धयोगीश्वरी मत में यह विषय निरूपित है ॥ २२०- ॥

उसी को अर्थ के द्वारा पढ़ते हैं—

जीव (= कारण) भूत वह चिदात्मिका (विसर्ग शक्ति) कुण्डलिनी एवं बीजरूपा है । उससे अनुत्तर इच्छा और उन्मेष नामक तीन (तत्त्व)

सा = पारमेश्वरी संविन्मात्ररूपा विसर्गशक्तिरेव गर्भीकृतनिखिलविश्वत्वात् कुण्डलिनीशब्दव्यपदेश्या अनच्ककलारूपा वाच्यवाचकात्मन्यत्र = विश्वत्र अविद्यादेस्तत्कारणत्वे दूरापास्तत्वात् बीजभूता, तत्त्वेऽपि संविन्निष्ठत्वात् सर्वव्यवस्थितीनां जीवभूता, नहि संविदमन्तरेण किञ्चिदपि स्फुरेत्—इति भावः । तदुक्तं तत्र—

'या सा कुण्डलिनी सात्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता ।
तुटिरूपा तु सा ज्ञेया जीवभूता जगत्यपि ॥
बीजरूपा समाख्याता चिद्रूपापि प्रकीर्तिता ।' इति ।

मात्रेत्यपपाठः; नह्यनेन कश्चिदप्यागमिकोऽर्थः संग्राह्यो वर्तते यदर्थोऽयमेतत् प्रयोगः, प्रत्युतासङ्गतार्थत्वमसाधुशब्दत्वं च प्रसृज्यते, इत्यलं बहुना। तदेवं भूतायाश्च तस्याः सकाशादनुत्तरेच्छाज्ञानाख्यं परामर्शत्रयं जातम् । ततश्च परामर्श-त्रयादुक्तवक्ष्यमाणनीत्या निखिलपरामर्शान्तरोदयः । तदुक्तं तत्र—

'शक्तित्रयसमुद्भूतिस्ततो वर्णसमुद्भवः ।' इति ॥ २२० ॥

एतदेव विभजति—

उत्पन्न होते हैं । पुनः उससे तीन वर्ण (अ,इ,उ उत्पन्न होते हैं) ॥ -२२०, २२१- ॥

वह = समस्त विश्व को गर्भ में रखने कारण कुण्डलिनी शब्द से व्यवहार्य स्वररहित कलारूप परमेश्वर की संविद्मात्र विसर्गशक्ति ही वाच्यवाचक रूप इस विश्व अविद्या आदि उसके कारण के दूर हो जाने से जीवभूत, वैसा होने पर भी संविद्निष्ठ होने के कारण सब व्यवस्थाओं का बीजभूत है । संविद् के बिना, कुछ भी स्फुरित नहीं होता—यह तात्पर्य है । वही वहाँ कहा गया है—

'जो वह कुण्डलिनी है वह यहाँ जगत् का कारण कही गई है । तुटिरूप, उसको संसार में जीवभूत समझना चाहिये । वह बीजरूप और चिद्रूप भी कही गई है ।' सात्र की जगह मात्र यह पाठ अशुद्ध है । इसके द्वारा कोई ऐसा आगमिक अर्थ संग्राह्य नहीं है जिसके लिये इसका यह प्रयोग हो बल्कि असङ्गत् अर्थता और असाधुब्दता आती है—इतना पर्याप्त है । तो इस प्रकार की इस (शक्ति) से अनुत्तर इच्छा और ज्ञान रूप तीन विसर्ग उत्पन्न होते है और उन तीन परामर्शों से उक्त और वक्ष्यमाण रीति से अन्य सभी परामर्शों का उदय होता है । वही वहाँ कहा गया है—

'पहले तीन शक्ति की उत्पत्ति होती है और फिर उससे वर्ण उत्पन्न होते हैं ॥ २२० ॥'

उसी का विभाग करते हैं—

आ इत्यवर्णादित्यादियावद्वैसर्गिकी कला ॥ २२१ ॥
ककारादिसकारान्ता विसर्गात्पञ्चधा स च ।
बहिश्चान्तश्च हृदये नादेऽथ परमे पदे ॥ २२२ ॥
बिन्दुरात्मनि मूर्धान्तं हृदयाद्व्यापको हि सः ।

एक 'इतिशब्दः' स्वरूपपरामर्शकः अपरः प्रकारे, तेनानुत्तरादानन्दो यथा जातः एवमिच्छातः ईशित्री उन्मेषादूनता यावत्ककारादिः सकारोऽन्ते यस्या एवंविधा हकारात्मा वैसर्गिकी कला जाता । निखिलमेव वर्णजातमुदितमित्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'अकाराज्जात आकार इकारादी इति स्मृतः ।
ऊकारश्च उकारात्स्यादृकाराच्च नपुंसकम् ॥
एकार ऐस्वरश्चैव ओकार औकार एव च ।
अङ्कारश्च अनुस्वारः अः विसर्ग इति स्मृतः ॥' **इति ।**

तथा,

'ककारादिसकारान्ता द्वात्रिंशत्ताः कलाः स्मृताः ।' **इति ।**

मकारान्तेति वक्तव्ये ककारादीत्यत प्रभृति व्यञ्जनरूपत्वं **कवर्गस्य** च आकाराज्जन्म द्योतयितुमुक्तम्—'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादिनीत्या कवर्ग-

---

(जैसे) 'अ' वर्ण से 'आ' उसी प्रकार 'इ' इत्यादि से 'ई' इत्यादि पर्यन्त वैसर्गिकी कला है । इसी विसर्ग से ककार से लेकर सकार तक पाँच प्रकार से रचना होती है । और वह (= विसर्ग) बाहर और अन्दर हृदय में नाद और फिर परमपद में (उल्लसित) है । (यही विसर्ग) बिन्दु (होकर) आत्मा = शरीर में हृदय से लेकर मूर्धान्त (= द्वादशान्त) तक रहता है क्योंकि वह व्यापक है ॥ -२२१-२२३- ॥

पहला इति शब्द स्वरूप को बतलाता हैः दूसरा प्रकार अर्थ में (प्रयुक्त) है । इसलिए जिस प्रकार अनुत्तर से आनन्द उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार इच्छा से ईशित्री, उन्मेष से ऊनता ककार आदि में और सकार अन्त में है जिसके इस प्रकार की हकाररूपा विसर्ग की कला उत्पन्न हुई अर्थात् समस्त वर्णसमूह उदित हुआ । वही वहाँ कहा गया है—

'अकार से आकार और इकार से ई उत्पन्न हुआ माना गया है । उकार से ऊकार और ऋ कार से नपुंसक (वर्ण ॠ, ऌ, ॡ) उत्पन्न है । ए, ऐ, ओ, औ, अङ्कार अनुस्वार और अः विसर्ग माना गया है ।' तथा

'ककार से लेकर सकार तक वे ३२ कलायें मानी गई हैं ।'

मकारान्त ऐसा कहने पर ककार आदि यहाँ से लेकर व्यञ्जनरूपता तथा क

हकारविसर्जनीयानामकारादेवोत्पत्तिः । वैसर्गिकी कला इति सामान्येनोक्तेः परापरो हि विसर्जनीयात्मा विसर्गः कटाक्षितः । एतच्च सर्वं विसर्गादुत्पन्नं विसर्ग एव तत्तदामर्शात्मना प्रस्फुरितः—इत्यर्थः । स एव हि परप्रमात्रेकरूपोऽशेषविश्वक्रोडीकारेण अनुत्तरहकारात्मना प्रस्फुरन्नन्तर्बहीरूपतया नरशक्तिशिवात्मतामाभासयेत् । तदुक्तं तत्र—

> 'तदेवं बिन्दुरुद्दिष्टो व्याप्नुवन्स जगत्स्थितः ।
> अष्टात्रिंशत्कलाभेदाद्बिन्दुमाला व्यवस्थिता ।।
> बिन्दुना क्रमिताः सर्वे आदिमान्त्ययुताः स्मृताः ।' इति ।

अत एवाह—'पञ्चधा स च' इति । चो हेतौ यतः स विसर्ग एव बिन्दुः = विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता, बहीरूपतया हृदये नरतया—बहीरूपत्वेऽपि अन्तारूपतायामेव विश्रान्तेः; नादे शक्तितया, अन्तारूपतया परमे पदे, द्वादशान्ते शिवतया प्रस्फुरन्पञ्चप्रकारः । अत एव शरीरेऽपि हृदयान्मूर्धान्तं हत्कण्ठललाटशक्त्यन्तद्वादशान्तेषु अर्थादवस्थितः । एवं पञ्चधात्वेऽपि अस्य वस्तुतस्त्रैरूप्य एव पर्यवसानम्, इति न पूर्वापरव्याहतत्वं किञ्चिदाशङ्कनीयम् ।

वर्ग का अकार से जन्म बतलाने के लिये कहा गया । उन कवर्ग ह और विसर्ग का (उच्चारण स्थान) कण्ठ है इत्यादि रीति से कवर्ग हकार और विसर्ग की उत्पत्ति अकार से ही है । 'वैसर्गिकी कला' ऐसा सामान्य रूप से कहने के कारण परापर विसर्जनीय रूप विसर्ग सङ्केतित है । यह सब विसर्ग से उत्पन्न है अर्थात् विसर्ग ही भिन्न-भिन्न आमर्शरूप में स्फुरित है । परप्रमाता रूप वही समस्त विश्व को आत्मसात् कर अनुत्तर और हकार रूपों में प्रस्फुरित होता हुआ आभ्यन्तर एवं बाह्य रूप में नर शक्ति और शिवात्मता को अभासित करता है । वही वहाँ कहा गया है ।

'तो इस प्रकार बिन्दु का नाम लिया गया । वह संसार को व्याप्त करके स्थित हैं । ३८ कलाओं के भेद से बिन्दुमाला बनायी गई है । बिन्दु के द्वारा क्रम को प्राप्त सब आदिम (अ) और अन्त्य (ह) से युक्त कहे गये हैं ।'

इसीलिए कहते हैं 'और वह पाँच प्रकार का है ।' 'च' (शब्द का प्रयोग) हेतु अर्थ में है । क्योंकि वह विसर्ग ही बिन्दु = ज्ञानक्रिया में स्वतन्त्र, प्रमाता है । बाह्य रूप में हृदय में नर रूप में प्रतिष्ठित है क्योंकि बाह्यरूप में होते हुए भी अन्तरूपता में ही (उसकी) विश्रान्ति होती है नाद में शक्ति रूप से = अन्तःरूप से वर्तमान है । परमपद में = द्वादशान्त में शिवरूप से स्फुरित होता हुआ पाँच प्रकार का है । इसीलिए शरीर में भी हृदय से लेकर मूर्धापर्यन्त हृदय, कण्ठ, ललाट, शक्त्यन्त और द्वादशान्त में अर्थात् स्थित है । इस प्रकार इसके पाँच प्रकार का होने पर भी (इसका) वस्तुतः तीन रूप में ही पर्यवसान होता है । इसलिये किसी भी पूर्वापर व्याघात की शङ्का नहीं करनी चाहिये ।

नन्वेक एवासौ कथं हृदादौ वर्तते इत्याह—'व्यापको हि स' इति । यदुक्तं तत्र—

'बाह्यात्मा तु भवेदेको ह्यन्तरात्मा द्वितीयकः ।
तृतीयो हृदयात्मा तु नादात्मा तु चतुर्थकः ॥
एवमेते महावीरे पञ्चमः परमात्मकः ।
बिन्दुः पञ्चविधो देवि हृत्कण्ठे तु ललाटके ॥
नासान्ते च तथा चान्ते बिन्दुस्तेनैव व्यापकः ।' इति ।

तदेवमनुत्तरैव इयं पारमेश्वरी विसर्गशक्तिर्हकारपर्यन्तं स्थूलं रूपमाभास्य पुनरपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादनुत्तरे स्वात्मन्येव विश्राम्यति, यदवद्योतनाय प्रत्याहृताशेषविश्वः प्रमात्रेकरूपः परमन्त्रवीर्यात्मा अयमहंपरामर्शः

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।'
(अजड प्र० सि० २२ श्लो०)

इत्यादिसर्वशास्त्रेषु उद्घोष्यते । तदेव च परं तत्त्वं मातृकायाः, यदभिप्रायेणैव

'............न विद्या मातृकापरा ।' (स्व. ११ प. १९७ श्लो.)

इत्याद्याम्नातम् । एवं परिज्ञानवतामेव च इयं योगिनां भुक्तिमुक्तिलक्षणां सिद्धिं यच्छेत् । अन्यथा पुनः तत्तद्वाचकानुवेधद्वारेण हर्षशोकादिरूपतामादधाना

प्रश्न—एक ही यह कैसे हृदय आदि में वर्त्तमान रहता है ?—इस पर कहते हैं—क्योंकि वह व्यापक है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'पहला बाह्यात्मा, दूसरा अन्तरात्मा, तीसरा हृदयवाला, चौथा नादात्मा, हे महावीरे ! इस प्रकार ये हैं । पाँचवाँ परमात्मा है । हे देवि ! बिन्दु पाँच प्रकार का है—हृदय, कण्ठ ललाट, नासान्त ओर द्वादशान्त । (चूँकि वह) बिन्दु है इसी कारण व्यापक है ।'

तो इस प्रकार पारमेश्वरी विसर्गशक्ति हकारपर्यन्त स्थूल रूप को आभासित करके फिर भी अपने स्वरूप से च्युत न होने के कारण अपने में ही विश्रान्त हो जाती है । जिसे दिखलाने के लिये समस्त विश्व को आत्मसात् करने वाला प्रमातृरूप परमन्त्रवीर्यस्वरूप यह अहंपरामर्श

'प्रकाश की आत्मविश्रान्ति ही अहंभाव कहा गया है ।'

इत्यादि सब शास्त्रों में कहा जाता है । वही मातृका पर तत्त्व है । जिस अभिप्राय से—

'......... मातृका से बढ़कर कोई विद्या नहीं है ।'

इत्यादि कहा गया है । इस प्रकार के ज्ञान वाले योगियों को ही यह भोग मोक्ष लक्षण वाली सिद्धि देती है । अन्यथा भिन्न-भिन्न वाचक के अनुबेध के द्वारा

बन्धकारिण्येव पशूनाम्, इति भुक्तिमुक्तिलक्षणफलायोगात् निष्फलैव भवेत्—इति पिण्डार्थः । तदुक्तम्—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' (स्पन्द. ४।१८)

इति ॥ २२२ ॥

न केवलमेवमस्या एव संभवेत्, यावन्मननत्राणधर्माणां मन्त्राणामपि—इत्याह—

आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ॥ २२३ ॥

तु-शब्दश्चार्थे । आदिमः = अनुत्तरः, अन्त्यः = हकारः, तेन मन्त्रा अपि अहंपरामर्शरूपाभ्यामादिमान्त्याभ्यां विहीनाः तद्रूपत्वेनापरिज्ञायमानाः, शरदभ्रवत् स्युः, अकिञ्चित्करा एव—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'आदिमान्त्यविहीनास्तु मूलयोनिमजानतः ।
न ते सिद्धिकरा मन्त्रा निष्फलाः शरदभ्रवत् ॥
खपुष्पं निष्फलं यद्वच्छशकस्य विषाणकम् ।
वन्ध्यायाः प्रसवो देवि क्लीबस्य द्रवमेव च ॥

हर्ष शोक आदि रूप को धारण करती हुई पशुओं के लिये बन्धनकारिणी हो जाती है ।—इस प्रकार भोग मोक्ष रूप फल के न देने के कारण निष्फल ही हो जाती है—यह पिण्डार्थ है । वही कहा गया है—

'वह यह शिव की क्रियात्मिका शक्ति पशु में रहकर बन्धन कराती है । ज्ञात होने पर अपने मार्ग में स्थित (यह) सिद्धि को देती है ।' (स्प० का० ४/१८) ॥ २२२ ॥

केवल इसी के बारे में ऐसा सम्भव नहीं है बल्कि मननत्राण रूप धर्म वाले मन्त्रों के बारे में भी—यह कहते हैं—

मन्त्र आदिम (= अ) और अन्त्य (= ह) से रहित शरत्कालीन बादल के समान होते हैं ॥ २२३ ॥

'तु' शब्द और अर्थ में है । आदिम = अनुत्तर । अन्त्य = हकार । इससे मन्त्र भी अहंपरामर्श रूप आदिम और अन्तिम वर्णों से हीन = उस रूप में अज्ञात होने पर शरत्कालीन बादल के समान हो जाते हैं अर्थात् अकिञ्चित्कर हो जाते हैं । वही वहाँ कहा गया है—

'मूल कारण को न जानने वाले के लिये आदिमान्त्यविहीन वे मन्त्र सिद्धिदायक नहीं होते । (वे) शरद्कालीन बादल के समान निष्फल होते है । जैसे आकाश-कुसुम, शशशृङ्ग, बन्ध्या का प्रसव, नपुंसक का द्रव (= वीर्य) और जब ब्राह्मण

अग्निमुक्ता यदा विप्रास्तदा एते तु निष्फलाः ।
आदिमान्त्यविहीनानि मन्त्राणि च तथैव च ॥
निष्फलानि भवन्त्येवं पिबतो मृगतृष्णिकाम् ।' इति ।

अन्यथा पुनरहंपरामर्शात्मकपरमन्त्रवीर्यात्मत्वेन परिज्ञायमानाः तत्तत्स्वकार्यकारिण एव भवेयुः—इति तात्पर्यार्थः । यद्वक्ष्यति—

'एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाबिलम् ।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता ॥
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम् ।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा ॥
अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किंचिदाचरेत् ।
प्राण्याद्वा विमृशेद्वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः ॥' (४।१९४)

इति ॥ २२३ ॥

अत एव च एतत्परिज्ञानमेव गुरोर्मुख्यं लक्षणम्—इत्याह—

गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः ॥ २२४ ॥

अत एव स ज्ञानित्वादियोगात् द्योतनस्वभावो विश्वनिर्भरोऽहमिव सर्वेषां पूज्यः—इति भगवदुक्तिः । यदुक्तं तत्र—

अग्निरहित हो जाते हैं तब ये निष्फल होते हैं । उसी प्रकार मृगतृष्णिका का पान करने वाले के लिये आदिमान्त्यविहीन मन्त्र निष्फल हो जाते हैं ।'

अन्यथा पुनः अहंपरामर्शात्मक परमन्त्रवीर्य के रूप में परिज्ञायमान (ये मन्त्र) भिन्न-भिन्न अपने कार्य को करने वाले होते हैं—यह तात्पर्य है । जैसा कि कहेंगे—

'इस रूप के परामर्श वाले, अकृत्रिम, स्वच्छ को 'अहम्' कहते हैं । यही प्रकाश की प्रकाशता है । यही सब मन्त्रों का हृदयरूप वीर्य है । इसके बिना वे (उसी प्रकार) जड़ हैं जैसे बिना हृदय के जीव । अकृत्रिम इस हृदय में आरूढ़ होकर (साधक) जो कुछ आचरण करता है, श्वास लेता है या विमर्शन करता है वह सब इसका जप माना गया है ॥ २२३ ॥

इसीलिए इसका परिज्ञान ही गुरु का मुख्य लक्षण है—यह कहते हैं—

गुरु का यही लक्षण है कि वह अदिम और अन्त्य को (शिष्य को) समझा दे । वह (गुरु) हमारी भाँति पूज्य है । (वह) ज्ञानी भैरव और देवतात्मक है ॥ २२४ ॥

इसीलिए ज्ञानित्व आदि के योग से द्योतन स्वभाववाला, विश्वनिर्भर वह हमारे

'आदिं चैव तथा चान्त्यमाचार्यो यस्तु विन्दति ।
स भवेद्योगिसङ्घस्य पूज्यः पूज्यतरो भवे ॥
अच्छिद्रं तस्य कुर्वन्ति कुर्वन्ति च अनुग्रहम् ।
वरं तस्य प्रयच्छन्ति पुत्रवत्पालयन्ति च ॥
पूज्यः सर्वत्र जायेत अहं देवि यथा तव ।
स ज्ञानी वै वरारोहे स भवेत्साधकोत्तमः ॥
सर्वेषामुत्तमः प्रोक्तो दैवज्ञः सर्वसिद्धिदः ।
स यतिः पण्डितश्चैव भैरवेशः प्रकीर्तितः ॥' इति ॥ २२४ ॥

अत एव च एवंविधो गुरुर्न केवलं स्वभावात् एव परिस्फुरत् परशक्तिवीर्यात्मनो मन्त्रानेव वेत्ति यावत् यत्किञ्चन लौकिकमपि श्लोकादि—इत्याह—

श्लोकगाथादि यत्किंचिदादिमान्त्ययुतं ततः ।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥ २२५ ॥

स खलु गुरुः, **तस्मात्** = निरतिशयज्ञानयोगात्, सर्वं यत्किञ्चन बाह्यं श्लोकादि, तथा **अहंपरामर्शरूपत्वेन** = परामृशन्मन्त्रत्वेनैव—

'मननं सर्ववेत्तृत्वं त्राणं संसार्यनुग्रहः ।'

समान सबका पूज्य होता है—ऐसी भगवान् की उक्ति है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'जो आचार्य आदिम और अन्त्य को जानता है । हे देवि ! संसार में वह योगीसमूह का पूज्य पूज्यतर हो जाता है । (देवता लोग) उसको दोषरहित कर देते हैं; उसके ऊपर कृपा करते हैं, उसको वरदान देते हैं और पुत्र के समान उसकी रक्षा करते हैं । हे देवि ! जैसे मै तुम्हारा पूज्य हूँ उसी प्रकार वह सर्वत्र पूज्य होता है । हे उत्तम आरोह वाली ! वह ज्ञानी और उत्तम साधक होता है । (वह) सब में उत्तम दैवज्ञ और सब सिद्धियों को देने वाला कहा गया है । वह यति, पण्डित और भैरवेश कहा गया है' ॥ २२४ ॥

और इसीलिए इस प्रकार का गुरु न केवल स्वभाव से ही परिस्फुरत् पर शक्तिवाला होकर वीर्यात्मक मन्त्रों को ही जानता है बल्कि श्लोक आदि को भी—यह कहते हैं—

श्लोक गाथा आदि जो कुछ है वह आदिम और अन्त्य से युक्त है । इस कारण उस (ज्ञान आदि) से इस श्लोक आदि को वैसा समझता हुआ सबको (= श्लोक आदि) को मन्त्र के रूप में देखता है ॥ २२५ ॥

वह गुरु निरतिशय ज्ञान के योग से जो कुछ बाह्य श्लोक आदि है तथा अहंपरामर्श रूप में परामर्श करता हुआ मन्त्र के रूप में ही—

इत्येवं कार्यकारितया साक्षात्करोति, यतस्तदपि आदिमान्त्ययुतमहं-परामर्शरूपमेव—इत्यर्थः । नहि प्रकाशात्मपरप्रमातृरूपतामन्तरेण किञ्चिदपि स्फुरेत्—इति भावः । तदुक्तं तत्र—

'श्लोकगाथा तथा वृत्तं गीतकं वचनं तथा ।
स्तुतिर्वै दण्डकं चैव आदिमान्त्ययुता यदा ॥
तेऽपि मन्त्रा भवन्त्येव किं पुनस्तद्ग्रहस्य तु ।' इति ॥ २२५ ॥

विसर्गशक्तिरेव च इयान्विश्वस्फारः—इति न केवलमस्मन्त्रयसहोदरेषु शास्त्रेषु भगवता उक्तं यावदितो बाह्येष्वपि—इत्याह—

विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता ।
ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेशेन विस्तरात् ॥ २२६ ॥

परमेशेनेति—गृहीतैतरीयकमुनिभूमिकेन । विस्तरादिति निखिलस्यास्य हि ग्रन्थस्य एतदेव प्राधान्यादभिधेयम्—इति भावः ॥ २२६ ॥

तदेव अर्थद्वारेण संवादयति—

यल्लोहितं तदग्निर्यद्वीर्यं सूर्येन्दुविग्रहम् ।

'मनन सर्वज्ञता है और त्राण संसारियों पर अनुग्रह ।'

ऐसा—कार्यकारी होने के कारण सब का साक्षात्कार करता है । क्योंकि वह भी आदिम और अन्त्य से युक्त अहंपरामर्श रूप ही है—यह अर्थ है । प्रकाशात्मक परप्रमातृरूपता के बिना कुछ भी स्फुरित नहीं होता—यह तात्पर्य है । वही वहाँ कहा गया—

'श्लोकगाथा, छन्द, गीत, वचन, स्तुति, दण्डक, जब प्रथम और अन्त्य से युक्त हो जाते हैं (तो) वे भी मन्त्र हो जाते हैं फिर उसके ग्रहण की क्या बात ? ॥ २२५ ॥

इतना विस्तार विसर्गशक्ति का ही है—यह न केवल हमारे सिद्धान्त के सहोदर शास्त्रों में ही भगवान् (शिव) के द्वारा कहा गया है बल्कि इससे बाहरी भी (शास्त्रों में)—यह कहते हैं—

परमेश्वर ने ऐतरेयोपनिषद् में विस्तार से यह कहा है कि विसर्गशक्ति विश्व का कारण है ॥ २२६ ॥

परमेश्वर के द्वारा = ऐतरेयक मुनि का शरीर धारण करने वाले के द्वारा । विस्तार पूर्वक—इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का यही मुख्य रूप में प्रतिपाद्य है—यह भाव है ॥ २२६ ॥

उसी को अर्थ के द्वारा सङ्गत करते हैं—

अ इति ब्रह्म परमं तत्सङ्घट्टोदयात्मकम् ॥ २२७ ॥

लोहितं प्रकाशैकात्मकत्वात् दीप्तं यदनुत्तरं धाम तदेव प्रमात्रेकरूपत्वादग्निः; यच्चास्य वीर्यं ज्ञानक्रियात्मा शाक्तः स्फारः तदेव प्रमाणप्रमेयादिरूपतया सूर्येन्दु-विग्रहम् इत्येवंरूपयोस्तयोः लोहितवीर्ययोः, यः सङ्घट्टः = ऐकात्म्यं तस्य उदयः = सततमेवानस्तमितत्वेन प्रस्फुरद्रूपत्वं तत्स्वभावमिदम् अकारहकारात्मकशिव-शक्तिसामरस्यरूपं परं ब्रह्मोच्यते, यतोऽयम् 'अहम्' इति परप्रमात्रेकरूपः परः परामर्श उदियात् यन्माहात्म्यान्निखिलोऽयं वाच्यवाचकात्मा सृष्ट्यवभासः स्यात् । यद्गीतम्—

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (गी. ८अ. ३ श्लो.)

इति । एतदेव स्वरूपं प्राग्वितत्योक्तं न पुनरिहायस्तम् । चर्याक्रमे च यल्लोहितं पक्वान्नरसरूपमार्तवं तदग्निस्तत्परिपाकोऽन्नम् । यद्वा सर्वस्य आर्तवस्य यच्च वीर्यम् आनन्दफलं षष्ठग्रहपर्यायम्,

'तद्यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः ।
सम्भूयात्मन्येवात्मानं बिभर्ति ॥' (ऐ०उ० ४।२)

जो लोहित है वह अग्नि तथा जो वीर्य है वह सूर्य और चन्द्रमा का रूप है । 'अ' यह पर ब्रह्म है और वह सङ्घट्ट के द्वारा विस्तार को प्राप्त होता है ॥ २२७ ॥

लोहित = केवल प्रकाशरूप होने के कारण दीप्त जो अनुत्तर धाम, वही प्रमाता रूप होने से अग्नि है । और जो इसका वीर्य = ज्ञानक्रिया रूप शाक्त स्फार, वही प्रमाण प्रमेय आदि रूप से सूर्य और चन्द्रमा का शरीर है, इस प्रकार के रूप वाले वे दोनों लोहित और वीर्य का जो सङ्घट्ट = एकात्मता, उसका उदय = निरन्तर अनस्तमित होने से प्रस्फुरद्रूपता, उस स्वभाववाला यह अकार हकरात्मक शिवशक्ति सामरस्यरूप पर ब्रह्म कहा जाता है, जहाँ से 'अहम्' यह पर प्रमाता रूप प्रथम आमर्श उदित होता है । जिसकी महिमा से यह समस्त वाच्य वाचक रूप सृष्टि का अवभास होता है । जैसा कि गीता में कहा गया—

'(यह) अक्षर, पर ब्रह्म, स्वभाव, अध्यात्म कहलाता है । यह भूतों एवं पदार्थों को उत्पन्न करने वाला कर्म नामक विसर्ग है ।'

यही स्वरूप पहले विस्तार से कहा गया इस कारण यहाँ फिर विस्तृत नहीं किया गया । व्यवहारजगत् में भी जो लाल रङ्गवाला पचे हुए अन्न रस रूप मासिक रज वही अग्नि है उसका परिपाक अन्न है, अथवा सम्पूर्ण रज का जो वीर्य आनन्दफल जिसका दूसरा नाम षष्ठग्रह है—

'तो जो यह रेतस् है सभी अङ्गों से (निकल कर) एकत्रित हुआ तेजस्वरूप

इत्यादितत्रत्योक्त्या तेजोमयत्वादाप्यायकत्वाच्च सूर्याचन्द्ररूपम् । अत एव धामत्रयात्मकत्वादेतदुभयमपि कुण्डगोलकादिशब्दव्यपदेश्यं परं पावनं येनास्य

'..................तत्रार्घः शक्तिसङ्गमात् ।' (२९।२५)

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या परमोपादेयत्वमुक्तम् । तत्सङ्घट्टादेव च नित्योदितं परं ब्रह्मापि नियते देहादौ गृहीताहंभावं भवेत् येनायं स्त्रीपुंनपुंसकरूपादिः सर्गः । यदुक्तं तत्र—

'यदेतत्स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत,
अथ यदेतत्पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य
तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत ॥' (ऐ० उ०) इति ।

तथा,

'अः इति ब्रह्म, तत्रागतमहमिति ।' (ऐ० उ०) इति ॥ २२७ ॥

अतश्च अस्यैव विश्वं वैभवम्—इत्याह—

तस्यापि च परं वीर्यं पञ्चभूतकलात्मकम् ।
भोग्यत्वेनान्नरूपं च शब्दस्पर्शरसात्मकम् ॥ २२८ ॥

यदेतत्पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामंशांशरूपं शब्दादिविषयपञ्चकं तत्

वह अपने में ही अपना भरण करता है ।'

इत्यादि वहाँ उक्ति के द्वारा तेजोमय और पूरक होने से सूर्य चन्द्र रूप है । इसीलिए तीनधाम वाला होने के कारण ये दोनों ही कुण्डगोलक आदि शब्दों से व्यवहार्य परम पवित्र हैं । जिससे इसकी

'...उसमें शक्ति के सङ्गम से अर्घ होता है ।'

इत्यादि वक्ष्यमाण नीति से परम उपादेयता कही गई है । उस सङ्घट्ट से ही नित्योदित पर ब्रह्म भी निश्चित शरीर आदि में अहंभाव का ग्रहण करता है जिससे यह स्त्री पुरुष नपुंसक रूप सृष्टि होती है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'जो स्त्री में लालरङ्ग का (रजस्) होता है वह अग्नि का रूप है । अतः उससे घृणा नहीं करनी चाहिये । जो पुरुष में वीर्य होता है वह सूर्य का रूप होता है इसलिए उससे घृणा नहीं करनी चाहिये ।' तथा

'अः यह ब्रह्म है उससे उत्पन्न हुआ 'अहम्' है ॥ २२७ ॥

अतः समस्त वैभव इसी का है—यह कहते हैं—

उसका भी जो पर वीर्य है वह पञ्चभूत कला वाला है । भोग्य होने से वह शब्द स्पर्श इस वाला अन्न हो जाता है ॥ २२८ ॥

पाँच पृथिवी आदि भूतों का जो यह अंश-अंश रूप शब्द आदि पाँच विषय,

तथोक्तरूपस्य परब्रह्मणः परं वीर्यम्

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं................ ।'

इत्याद्युक्त्या विश्ववैभवात्मना परां कोटिं प्राप्तः शाक्तः स्फारः—**इत्यर्थः** । ननु शब्दादि यद्येतत्स्फार एव तदस्य भोक्त्रेकरूपत्वात् तदपि तथैव किं न स्यात् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'भोग्यत्वेन' इति, न तु भोक्तृत्वेन । यदन्नरूपमिति न पुनरन्नादरूपम्। चर्याक्रमे च—लोहितवीर्यसङ्घट्टादस्यैव पाञ्चभौतिकशरीरादि-परिग्रहः इति । एतच्च तत्रैव—

'यो ह वात्मानं पञ्चविधमुक्तं वेद यस्मा-
दिदं सर्वमुत्तिष्ठति स संप्रतिवित्पृथिवी
वायुराकाश आपो ज्योतींषि ।' (ऐ० उ०)

इत्याद्युपक्रम्य—

'तस्माद्योऽन्नं च अन्नादं च वेद अहमस्मिन्नन्नादौ जायते (?)
भवत्यस्य अन्नमापश्च पृथिवी चान्नम् ।' (ऐ० उ०)

इत्यादि बहूक्तम् ॥ २२८ ॥

ननु 'शब्दादयोऽस्यैव स्फारः' इत्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह—

वह उक्तरूप वाले पर ब्रह्म का पर वीर्य—

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ...'

इत्यादि उक्ति के द्वारा विश्ववैभव के रूप में चरमसीमा को प्राप्त शक्ति का विस्तार है । प्रश्न—यदि शब्द आदि उसका स्फार ही है तो इसके भोक्ता मात्र होने से वह भी उसी प्रकार क्यों नहीं होता ?—यह शङ्का कर कहा गया—भोग्य होने से न कि भोक्ता होने से, अन्न रूप न कि अन्न का भक्षक रूप । चर्याक्रम में भी रजवीर्य के मेल से ही यही पाञ्च भौतिक शरीर धारण करता है । यह वहीं—

'जो अपने को उक्त पाँच प्रकार का जानता है जिससे यह सब उत्पन्न होता है वह सम्प्रति वित् (= यथार्थ ज्ञानी) है । पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज (ये पाँच है) । इत्यादि प्रारम्भ कर

'इस कारण जो अन्न और अन्नाद को जानता है कि 'मैं' इस अन्नादि में उत्पन्न होता हूँ उसके लिये जल अन्न हो जाता है पृथ्वी अन्न हो जाती है ।' इत्यादि बहुत कहा गया है ॥ २२८ ॥[१]

प्रश्न—शब्द आदि इसी का विकास है इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

---

१. ये वाक्य ऐतरेयापनिषद् में नहीं मिलते ।

शब्दोऽपि मधुरो यस्माद्वीर्योपचयकारकः।
तद्धि वीर्यं परं शुद्धं विसिसृक्षात्मकं मतम्॥ २२९ ॥

शब्द इति शब्दादयः पच्चापि हृद्याः सन्तो यस्मात्परब्रह्मात्मनो वीर्यस्य उपचयहेतवः तदवहितचेतसां झगित्येव परसंविदुल्लासः स्यात्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥' (वि.भै. ७३ श्लो.)

इति । अनेनैवाभिप्रायेण श्रीप्रशस्तिभूतिपादैरपि

'ये ये भावा ह्लादिन इह दृश्याः सुभगसुन्दराकृतयः ।
तेषामनुभवकाले स्वस्थितिपरिपोषणं सतामर्चा ॥'

इत्याद्युक्तम् । एवं यदि एषां परब्रह्मरूपत्वं न स्यात् तत्तदवहितचेतसां कथं नाम तद्विकासो भवेत्—इति भावः । नन्वेवंविधं तत्परं ब्रह्म किं शान्तं किं वा चित्रम् ?—इत्याशङ्क्याह—तद्धीत्यादि । हिशब्द आशङ्कानिवृत्त्यर्थः । विसिसृक्षात्मकमिति निर्मित्सात्मकत्वेन सदैव तत्तद्विश्ववैचित्र्योल्लासस्वभावमेव—इत्यर्थः । मतमिति सर्वेषाम् । न पुनरत्र कश्चिदपि विमतिं कर्तुं शक्नुयात्—

चूँकि मधुर शब्द भी वीर्य का संग्रह करता है । इस कारण वीर्य परमशुद्ध और सृष्टि की इच्छा वाला माना गया है ॥ २२९ ॥

शब्द = शब्द आदि पाँचों, हृदयहारी होते हुए, चूँकि परब्रह्मरूप वीर्य के उपचय का कारण बनते हैं इसलिए उस (शब्द आदि) में एकाग्रचित्त वालों को झट से पर संविद् का उल्लास हो जाता है । जैसा कि कहा गया है—

'गीत आदि विषय के आस्वाद से प्राप्त सुख के साथ तादात्म्यापन्न योगी की तन्मयता के कारण मन के रूढ होने से तदात्मता हो जाती है ।'

इसी अभिप्राय से प्रशस्तिभूतिपाद ने भी—

'जो-जो पदार्थ इस संसार में मनोहारी, सुन्दर सुभग आकृति वाले (अतः) दर्शनीय हैं, उनके अनुभव काल में आत्मस्थिति का परिपोषण ही सज्जनों की पूजा है ।'

इत्यादि कहा गया है । यदि ये परब्रह्म रूप नहीं होते तो उसमें ध्यानस्थ चित्त वालों को कैसे उसका विकास अनुभूत होता ?—यह भाव है । प्रश्न—इस प्रकार का परब्रह्म क्या शान्त है अथवा चित्र (= अशान्त) है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—वह तो इत्यादि । 'हि' शब्द शङ्का की निवृत्ति के लिये है । 'विसिसृक्षात्मक' यह पद निर्माणेच्छु होने के कारण सदैव भिन्न-भिन्न विश्ववैचित्र्य के उल्लास रूप स्वभाव वाला है (यह बतलाता है) । मत है—सबको । इसमें कोई भी विरोध नहीं

इत्याशयः ॥ २२९ ॥

एवमप्यस्य किं विश्वोत्तीर्णं रूपमुत विश्वमयम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तद्बलं च तदोजश्च ते प्राणाः सा च कान्तता ।

तदेव तत्तद्रूपतया प्रस्फुरति—इत्यर्थः । यदुक्तं तत्र—

'स एषोऽसुः स एव प्राणः स एष भूतिश्च ।' (ऐ०उ०) इति ।

तथा—

'स एष मृत्युश्चैवामृतं च ।' (ऐ० उ०) इति ।

तथा—

'एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिः ।' (ऐ० उ०) इति ।

गीतं च—

'तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्वै बलवतां बलम् ।
तदोजश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ॥' इति ॥

विश्वरूपतया चास्य स्फुरणे प्रक्रियाबन्धं दर्शयति—

तस्माद्वीर्यात्प्रजास्ताश्च वीर्यं कर्मसु कथ्यते ॥ २३० ॥

कर सकता—यह आशय है ॥ २२९ ॥

ऐसा होने पर भी इसका रूप क्या विश्वोत्तीर्ण है या विश्वमय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वही बल वही ओज वही प्राण और वही कमनीयता आदि तत्तद् रूपों में स्फुरित हो रहा है ॥ २३०- ॥

वही भिन्न-भिन्न रूपों में स्फुरित होता है—यह अर्थ है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'वही यह असु है, वही प्राण है और वही यह मूर्ति है ।' तथा—

'वह यह मृत्यु और अमृत है ।' तथा

'यही ब्रह्मा यही इन्द्र यही प्रजापति है ।'

गीता में भी कहा गया है—

'वह सब वीर्यों का वीर्य है । वह सब बलवानों का बल है । वह सब ओजसों का ओजस् है । वह सर्वस्व, शाश्वत, अचल और ध्रुव है ।'

विश्व के रूप में इसका स्फुरण होने में प्रक्रियाबन्ध को दिखलाते हैं—

उस वीर्य से प्रजायें (उत्पन्न होती है) । वही (यज्ञादि) कार्यों में वीर्य

यगादिकेषु तद्वृष्टौ सौषधीष्वथ ताः पुनः ।
वीर्ये तच्च प्रजास्वेवं विसर्गे विश्वरूपता ॥ २३१ ॥

प्रजा इति = स्त्रीपुमादिरूपाः । ताश्च प्रजा यज्ञादिकेषु कर्मसु, वीर्यम् = कारणं कथ्यते—इति सम्बन्धः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । तदिति = यादिकं कर्म, ओषधीषु = अन्नादिरूपासु, वीर्ये इति = शुक्रशोणितात्मनि । एवं परब्रह्मण एवाजवञ्जवीभावेन तत्तद्रूपतया विश्वकारणत्वम्, इति तस्यैव एतद्विश्वं रूपमित्युक्तम् । 'एवं विसर्गेऽपि विश्वरूपता' इति' । यदुक्तं तत्र—

'अथातो रेतसः सृष्टिः, प्रजापतेरेव रेतो देवा, देवानां रेतो वर्षः, वर्षस्य रेत ओषधयः, औषधीनां रेतो अन्नमन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः ।' (ऐ० उ०) इति ।

तथान्यत्रापि—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥'(म.स्मृ. ३।७७) इति

गीतं च—

कही जाती हैं । यज्ञ आदि होने पर वृष्टि में भी वही, वह (= वृष्टि) ओषधियों में और वे (ओषधियाँ) पुनः वीर्य में और वह (= वीर्य) प्रजाओं में (निहित) होता है । इस प्रकर विसर्ग में विश्वरूपता है ।।-२३१-२३२।।

प्रजायें = स्त्री पुरुष आदि रूप । वे प्रजायें यज्ञ आदि कर्मों में, वीर्य = कारण कही जाती हैं—यह सम्बन्ध है । इसी प्रकार आगे भी जोड़ लेना चाहिये । वह = यज्ञ आदि कर्म ।

औषधियों में = अन्न आदि रूप (औषधियों) में । वीर्य में = शुक्र शोणित रूप में । इस प्रकार पर ब्रह्म ही अजवञ्जवी भाव (= न चलते हुए भी चलना) के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से विश्व का कारण है । इसलिए वही यह विश्व है—ऐसा कहा गया है । इस प्रकार विसर्ग में भी विश्वरूपता है । जैसा कि वहाँ कहा—

'अब इस कारण रेतस् से सृष्टि (कही जा रही है) । प्रजापति के ही रेतस् देवता, देवताओं का रेतस् वर्ष, वर्ष का रेतस् औषधियाँ, औषधियों का रेतस् अन्न, अन्न का रेतस् शुक्र शोणित, शुक्र का शोणित का रेतस् प्रजायें ।'

तथा दूसरे स्थान में—

'अग्नि में विधिवत् प्रक्षिप्त आहुति सूर्य को प्राप्त होती है । सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और उस (= अन्न) से प्रजायें उत्पन्न होती है ।'

गीता में भी कहा गया है—

'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
(गी. ३ अ. १४ श्लो.) इति ॥ २३१ ॥

तदेवं विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शातमना स्वात्मनि विश्वरूपतामाभासयन्ती आगमेषु तत्तच्छब्दव्यपदेश्या भवति—इत्याह—

शब्दराशिः स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता ।
क्षोभ्यक्षोभकतावेशान्मालिनीं तां प्रचक्षते ॥ २३२ ॥

पदवाक्याद्यात्मना विभक्तानां स्थूलानां शब्दानामविभागस्वभावः कारणात्मा राशिः, मातृकेति पशुभिः,

'सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ।
इयं योनिः समाख्याता सर्वमन्त्रेषु सर्वदा ॥'

इत्यादिनिरूपितेन स्वेन रूपेण अज्ञाता माता—इत्यर्थः । तदेवं स्वात्ममात्रा-वस्थानादक्षुब्धाया विसर्गशक्तेरागमिको द्विधा व्यपदेशो दर्शितः । क्षुब्धायाः पुनर्व्यपदेशान्तरमस्ति—इत्याह—क्षोभ्येत्यादि । क्षोभ्याः = योनयः, क्षोभकाणि = बीजानि तेषां भावः क्षुभिक्रियायां कर्तृकर्मरूपः संबन्धस्तत्र य आवेशः =

'अन्न से जीव उत्पन्न होते हैं । अन्न की उत्पत्ति बादल से होती है । बादल यज्ञ से उत्पन्न होते हैं और यज्ञ कर्म से सम्भूत होता है' ॥ २३१ ॥

तो इस प्रकार विसर्गशक्ति ही भिन्न-भिन्न आमर्श के रूप से अपने मे विश्वरूपता को आभासित करती हुई आगमों में भिन्न-भिन्न शब्दों में व्यवहार्य होती है—यह कहते हैं—

वही (= विसर्ग) शब्दराशि कहा गया है और वह (= शब्दशक्ति) मातृका कही गयी है । क्षोभ्य और क्षोभकता के आवेश के कारण उसे मालिनी कहते हैं ॥ २३२ ॥

पद वाक्य आदि के रूप में विभक्त स्थूल शब्दों का अविभाग स्वभाववाली कारणरूप राशि मातृका है जो पशुओं के द्वारा

'हे यशस्विनी ! यह सब मन्त्रों में सर्वदा सब मन्त्रों और विद्याओं की योनि कही गई है ।'

इत्यादि निरूपित अपने रूप में ज्ञात न होने पर माता (कही जाती है)—यह अर्थ है । तो इस प्रकार केवल अपने (स्वरूप) में स्थित होने से अक्षुब्ध विसर्ग शक्ति का दो प्रकार का आगमिक व्यपदेश दिखलाया गया । क्षुब्ध के लिये दूसरा व्यवहार है—यह कहते हैं—क्षोभ्य इत्यादि । क्षोभ्य = योनियाँ, क्षोभक = बीज, उनका भाव = क्षुभिक्रिया में कर्त्ताकर्मरूप सम्बन्ध, उसमें जो आवेश = परस्पर

परस्परसङ्घट्टात्मा लोलीभावः, ततो भिन्नाः = बीजैर्भेदिता योनयः व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, मालिनी—मलते = विश्वं स्वरूपं धत्ते इति विश्वस्वरूपिणी—इत्यर्थः ॥ २३२ ॥

ननु कथमेतावतैवास्या विश्वरूपत्वम् ?—इत्याह—

बीजयोनिसमापत्तिविसर्गोदयसुन्दरा ।
मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरूपिणी ॥ २३३ ॥

अनुत्तरप्रकाशात्मपरशक्तिरूपा हि मालिनी तद्रश्मिभूतशिवशक्तिरूपयोर्बीजयोन्योर्या समापत्तिः = परस्परसङ्घट्टात्म सामरस्यम्, तया योऽयं विसर्गोदयः = तेन तेन रूपेण परिस्फुरणम्, तेन सुन्दरा = निरतिशया । येन श्रीपूर्वशास्त्रादौ विश्वरूपत्वमस्या निर्णीतम् ॥ २३३ ॥

ननु एकैवानुत्तरा परा संविदस्ति तदतिरिक्तस्य अन्यस्य कस्यचित्संवेद्यमानतऽयोगात्, तत् तदतिरेकेण शिवशक्तिरूपत्वमपि न युज्यते, का पुनर्वार्ता विश्वरूपतायाः ?—इत्याशङ्क्याह—

एषा वस्तुत एकैव परा कालस्य कर्षिणी ।
शक्तिमद्भेदयोगेन यामलत्वं प्रपद्यते ॥ २३४ ॥

सङ्घट्टरूप लोलीभाव, उससे भिन्न = बीजों के द्वारा भेदित, योनियाँ = व्यञ्जक हैं जिसके, वह उस प्रकार की मालिनी—मलते = अपने को विश्वरूप में धारण करती है = विश्वरूपिणी ॥ २३२ ॥

प्रश्न—इतने से ही यह विश्वरूप कैसे है ?—यह बतलाते हैं—

बीज और योनि के परस्पर सङ्घट्ट से (उत्पन्न हुए) विसर्ग की स्फुरत्ता से सुन्दर मालिनी विश्वरूपिणी पराशक्ति कही गयी है ॥ २३३ ॥

अनुत्तर प्रकाशात्मक परशक्तिरूपा यह मालिनी उस (अनुत्तर प्रकाश) की किरणभूत शिवशक्ति रूप बीज और योनि की जो समापत्ति = परस्पर सङ्घट्ट रूप सामरस्य, उसके द्वारा जो यह विसर्ग का उदय = भिन्न-भिन्न रूप से परिस्फुरण, उसके कारण सुन्दर = निरतिशय, जिससे कि मालिनीविजयोत्तरतन्त्र आदि में इसकी विश्वरूपता निश्चित की गई है ॥ २३३ ॥

प्रश्न—अनुत्तर पर संविद् एक ही है क्योंकि उसके अतिरिक्त किसी अन्य की संवेद्यमानता नहीं है । तो उसके अतिरिक्त शिवशक्तिरूपता भी युक्त नहीं है फिर विश्वरूपता की क्या बात ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह वस्तुतः एक ही है । यह काल (= भैरव) की सङ्कर्षिणी पराशक्ति है । (= वही) शक्तिमान् के भेद के द्वारा यामल भाव को प्राप्त करती है ॥ २३४ ॥

एषा इति = अनुत्तरा संवित्, कलयति = शिवादिक्षित्यन्तं जगत्सृजति इति कालः भैरवः, तस्य कर्षिणी = स्वात्मायत्ततयावभासयन्ति—इत्यर्थः । नहि तदिच्छामन्तरेण किञ्चिदपि प्रस्फुरेत्—इति भावः । यदुक्तम्—

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम् ।
इच्छावशेन यस्याः सा त्वं भुवनाम्बिके जयसि ॥' इति,

किं तु प्रकाशविमर्शलक्षणमौपाधिकं भेदमवभास्य यामलतामेति येन शक्तिरिति शक्तिमानिति च व्यपदिश्यते । वस्तुतो हि न प्रकाशाद्विमर्शः स वा तस्मादतिरिच्यते—इति बहुश उक्तम् ॥ २३४ ॥

ननु यद्येवं तर्हि एतदेवास्तु, विश्वरूपतायाः पुनः कोऽवकाशः ?—इत्याशङ्क्याह—

तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः ।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत् ॥ २३५ ॥

तस्येति = यामलस्य, अहमात्मक इति = असाङ्केतिकपरपरामर्शरूपः—इत्यर्थः । परिपूर्ण इति—पारिमित्ये ह्यस्य विकल्परूपत्वं स्यात्—इति भावः । विभागमिति विश्वरूपताम्—इत्यर्थः ॥ २३५ ॥

यह = अनुत्तर संवित् । (जो) कलन करते हैं = शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त संसार की सृष्टि करते हैं वे काल = भैरव । उनका कर्षण करने वाली = अपने अधीन बनाकर अवभासित करने वाली । उसकी इच्छा के बिना कुछ भी स्फुरित नहीं होता—यह भाव है । जैसा कि कहा गया—

'हे त्रैलोक्य की माता ! जिसकी इच्छा के वश भैरव रूपी काल कारण (= हिरण्यगर्भ) से लेकर कीट पर्यन्त जगत् की सृष्टि करता है, वह तुम सर्वोत्कृष्ट हो ।'

किन्तु प्रकाशविमर्श लक्षण वाले औपाधिक भेद को आभासित कर यामलता को प्राप्त होती है जिस कारण शक्ति तथा शक्तिमान् कही जाती है । वस्तुतः प्रकाश से विमर्श या वह (=विमर्श) उससे (प्रकाश से) अतिरिक्त नहीं है—यह बहुत बार कहा जा चुका है ॥ २३४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यही रहे विश्वरूपता के लिये अवकाश कहाँ—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसका जो परिपूर्ण अहमात्मक विमर्श है वही स्वतन्त्र होने के कारण स्वात्मा में विभाग का अवभासन कराता है ॥ २३५ ॥

उसका = यामल का, अहमात्मक = असाङ्केतिक पर परामर्श रूप परिपूर्ण—परिमित होने पर यह विकल्प रूप हो जायगा—यह भाव है । विभाग को = विश्वरूपता को ॥ २३५ ॥

तथात्वे चास्य पश्यन्त्यादिशब्दाभिधेयं त्रैविध्यं भवेत्—इत्याह—

विभागाभासने चास्य त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला वैखरीत्यभिशब्दितम्॥ २३६ ॥

अस्येति = परावाग्रूपस्य अहमात्मनः परामर्शस्य, स्थूलेति—अपरयोः परत्वं सूक्ष्मत्वं चार्थाक्षिप्तम् । परस्या वाचः पुनरन्यानपेक्षं परत्वम्, इत्यस्याः परतरं रूपम्, सैव हि परमेश्वरी स्वस्वातन्त्र्याद्बहीरूपतामुल्लिलासयिषुर्वाच्यवाचक-क्रमानुदयाद्विभागस्यास्फुटत्वाच्चिज्ज्योतिष एव प्राधान्याद्द्रष्टृरूपतया पश्यन्तीशब्द-व्यपदेश्या । तदनु वाच्यवाचकक्रमस्य आसूत्रितविभागत्वेऽपि स्फुटास्फुटरूपत्वेन बुद्धिमात्रनिष्ठतया दर्शनप्राधान्याद्द्रष्टृदृश्ययोरन्तरालवर्तित्वेन मध्यमापदवाच्या । ततोऽपि स्थानकरणप्रयत्नबलात्तत्तद्वर्णक्रमोपग्रहाद्विभागस्य स्फुटत्वात् दृश्यस्यैव प्राधान्यात् विखरे = शरीरे भवत्वाद्वैखरीशब्दाभिधेया—इत्यस्या विश्वरूपतावभासने त्रैविध्यम् ॥ २३६ ॥

एवं न केवलमासामेकैकस्य स्थूलत्वादिना त्रैरूप्यं यावत्प्रत्येकमपि—इत्याह—

वैसा होने पर यह (विसर्गशक्ति) पश्यन्ती आदि तीन प्रकार के शब्दों से अभिधेय होती है—यह कहते हैं—

विभाग के आभासन में उसका शरीर तीन प्रकार का कहा गया है । उनके नाम पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी हैं ।। २३६ ।।

इसका = परावाग् रूप अहमात्मक परामर्श का । स्थूला—(शेष) दो का परत्व और सूक्ष्मत्व अर्थात् आक्षिप्त है । और परा वाक् का परत्व अन्यानपेक्ष है इसलिए इसका रूप परतर है । वही परमेश्वरी अपने स्वातन्त्र्य के कारण बाह्यरूपता को उल्लासित करने की इच्छा वाली, वाच्यवाचक क्रम का उदय न होने से, विभाग के अस्फुट होने से, चित् ज्योति की प्रधानता के कारण द्रष्टारूप होने से पश्यन्ती शब्द से व्यवंहार्य है । उसके बाद वाच्यवाचक क्रम के विभाग का प्रारम्भ होने पर भी स्फुट-अस्फुट रूप से वृद्धि में रहने के कारण दर्शन की प्रधानता के कारण द्रष्टा और दृश्य के बीच में रहने से मध्यमा पद से उक्त होती है । उसके बाद भी स्थान करण प्रयत्न के बल से भिन्न-भिन्न वर्णक्रम का ग्रहण होने से विभाग के स्पष्ट होने से दृश्य की ही प्रधानता के कारण, विरवर में = शरीर में होने कारण वैखरी शब्द से वाच्य होती है—इस प्रकार विश्वरूपता के अवभासन में वह तीन प्रकार की है ।। २३६ ।।

इस प्रकार न केवल इनमें से एक-एक की स्थूलत्व आदि के कारण त्रिविधता है बल्कि प्रत्येक की भी है—यह कहते हैं—

तासामपि त्रिधा रूपं स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।

एतदेव वाक्त्रयस्यापि स्थूलोपक्रमं विभजति—

तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी ॥ २३७ ॥
सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागतः ।

तत्र स्वराणाम् = षड्जादीनां यः परस्परं लोलीभावात्मा सन्दर्भः, अत एव षड्जाद्येकतमत्वे नियतोऽनुद्भिन्नवर्णादिविभाग आलापः, तेन सुभगा = माधुर्यातिशयादाह्लादरूपा, अत एव प्राथमिकनादमात्रस्वभावा या वाक् सा खलु स्थूला पश्यन्ती' भवति—इति शेषः । ननु एवमात्मन आलापस्य स्थानवाय्वादिसङ्घर्षोत्थत्वमपि सम्भवेदिति वैखर्येव किं न स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—'वर्णाद्यप्रविभागतः' इति । वर्णाद्यप्रविभागहेतुकमेवास्या माधुर्यं यद्वशादेवात्र सर्वेषामासक्तिः—मधुर एव हि लोको रज्यति—इत्यविवादः । अन्यत्र पुनर्वर्णादिविभागात्पारुष्यम् । परुषे च न कस्यचिदप्यासक्तिस्तदियानानयोः स्वानुभवसिद्धो भेदः—इति भावः ॥ २३७ ॥

तदाह—

उनका भी रूप स्थूल सूक्ष्म और पर भेद से तीन प्रकार का है ॥ २३७- ॥

इस तीन वाणी के स्थूल रूप का विभाग करते हैं—

उसमें जो स्वरसन्दर्भ से सुन्दर नादरूपिणी है वह (उसमें) वर्ण आदि का विभाग न रहने से (परा की अपेक्षा) स्थूल पश्यन्ती है ॥ -२३७, २३८- ॥

उसमें स्वरों का = षड्ज आदि का, जो परस्पर लोलीभावरूप सन्दर्भ, इसीलिए षड्ज आदि एकतम होने पर निश्चित अनुद्भिन्न वर्ण आदि विभाग वाला आलाप, उससे सुभग = अतिशय मधुरता के कारण आह्लाद रूप, इसलिए प्राथमिक नादमात्र स्वभाव वाली जो वाणी वह स्थूला पश्यन्ती होती है—यह शेष है। प्रश्न—इस प्रकार आत्मा के आलाप का स्थान वायु आदि के सङ्घर्ष से उत्थान भी सम्भव होगा और फिर वैखरी ही क्यों न हो जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—वर्ण आदि का विभाग न होने से । इसका माधुर्य वर्ण आदि का विभाग न होने के कारण ही है जिस कारण इसमें सब की आसक्ति होती है । मधुर में ही लोग अनुरक्त होते हैं—यह सर्वसम्मत है । अन्यत्र वर्ण आदि का विभाग होने से कठोरता होती है और कठोर में किसी की भी आसक्ति नहीं होती । तो इन दोनों में इतना भेद अनुभवसिद्ध है ॥ २३७ ॥

वह कहते हैं—

अविभागैकरूपत्वं माधुर्यं शक्तिरुच्यते ॥ २३८ ॥
स्थानवाय्वादिघर्षोत्था स्फुटतैव च पारुषी ।

तदेवमत्र आसक्तिभाजां योगिनां सहसैव संविन्मयीभावो भवतीत्याह—

तदस्यां नादरूपायां संवित्सविधवृत्तितः ॥ २३९ ॥
साजात्यान्तर्म (त्तन्म-)यीभूतिर्झगित्येवोपलभ्यते ।

संवित्सविधवृत्तित इति = मध्यमादिवद्बहीरूपतया दूरदूरमनुल्लासात् । अत एव

'गीतादिविषयास्वादा.................... ।' (वि०भै० ७३ श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥ २३९ ॥

ननु केषांचिद्गीतादावबहितचेतसामपि न तन्मयीभावो भवेदिति कथमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

येषां न तन्मयीभूतिस्ते देहादिनिमज्जनम् ॥ २४० ॥
अविदन्तो मग्नसंविन्मानास्त्वहृदया इति ।

लोके हि सातिशये गीतादौ विषये तन्मयीभावेन सचमत्काराणां 'सहृदयाः'

अविभाग अवस्था का एकरूप होना ही माधुर्यशक्ति है । (कण्ठ आदि) स्थान और वायु आदि के घर्षण से उत्पन्न होने वाली स्फुटता ही वह कठोर रूप वाली है ॥ -२३८, २३९- ॥

तो इस प्रकार इसमें आसक्ति रखने वाले योगियों को सहसा ही संविन्यमयी-भाव हो जाता है—यह कहते हैं—

इस नादरूपी (परावाक्) में संविद्विषयक वृत्ति के सान्निध्य से साजात्य होने के कारण तुरन्त तन्मयीभाव उत्पन्न हो जाता है ॥ -२३९, २४०- ॥

संविद् के पास रहने से मध्यमा आदि के समान बाह्य रूप में दूर दूरतर उल्लास न होने से । इसलिए

'गीता आदि विषय के आस्वाद ....'

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है ॥ २३९ ॥

प्रश्न—गीत आदि में मन को लीन करने वाले भी कुछ लोगों को तन्मयीभाव नहीं होता फिर ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिन लोगों को तन्मयीभाव नहीं होता वे देह आदि के निमज्जनभाव को न जानते हुए संविद्ज्ञान रहित हृदयहीन व्यक्ति हैं ॥ -२४०, २४१- ॥

लोक में सातिशय गीत आदि के विषय में तन्मयीभाव होने से चमत्कार वालों

इति, अन्यथा 'परहृदयगा' (अहृदयाः) इति प्रसिद्धिः ॥ २४० ॥

एवं पश्यन्त्याः स्थूलं रूपं विचार्य मध्यमाया अप्यभिधत्ते—

यत्तु चर्मावनद्धादि किञ्चित्तत्रैष यो ध्वनिः॥ २४१ ॥
स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी ।

तत्र = चर्मावनद्धे मृदङ्गादौ एष यो ध्वनिः कराघाताद्युत्थः षड्जाद्येकतमरूपत्वेन अभिव्यक्तेः पूर्वापेक्षया स्फुटो वर्णादिविभागानुल्लासाच्चास्फुटः अत एव मध्यमाशब्दव्यपदेश्यः ॥ २४१ ॥

तदेवमत्राविभागांशस्य सद्भावान्माधुर्यमपि संभवेदिति लोकस्याप्यत्रासक्तिः—इत्याह—

मध्यायाश्चाविभागांशसद्भाव इति रक्तता ॥ २४२ ॥
अविभागस्वरमयी यत्र स्यात्तत्सुरञ्जकम् ।

ननु किमियमपि पश्यन्तीवदासक्तिं जनयेत् ?—इत्याशङ्क्याह—'अविभागेत्यादि' । अत्र क्वचिदविभागस्वरमयी अर्थाद्वाक् स्यात् तत्सुष्ठु रञ्जकम् =

के लिये 'सहृदय लोग' ऐसी, अन्यथा 'परहृदयगामी' (हृदयहीन)—ऐसी प्रसिद्धि होती है ॥ २४० ॥

इस प्रकार पश्यन्ती के स्थूल रूप का विचार कर मध्यमा के भी (स्थूल रूप का) कथन करते हैं—

जो चमड़े से ढँके (मृदङ्ग) आदि हैं उनमें जो किञ्चित् ध्वनि (उत्पन्न होती) है । स्फुट और अस्फुट रूप होने के कारण वह (पश्यन्ती के) स्थूल रूप वाली मध्यमा वाक् है ॥ -२४१, २४२- ॥

चमड़ा लगे हुए मृदङ्ग आदि में हाथ के आघात आदि से उठने वाली यह जो ध्वनि, (वह) षड्ज आदि किसी एक रूप में अभिव्यक्त होने के कारण पहले की अपेक्षा स्फुट और वर्ण आदि विभाग के अनुल्लास के कारण अस्फुट इसलिए मध्यमा शब्द से व्यवहार्य होती है ॥ २४१ ॥

तो इस प्रकार यहाँ अविभागांश के होने से माधुर्य भी सम्भव है इसलिए लोगों की भी इसमें आसक्ति होती है—यह कहते हैं—

मध्यमा में भी अविभाग का कुछ अंश रहता है इस कारण (उसमें) रञ्जकता (रहती है) । जिस (अंश) में (वह) अविभाग स्वरमयी है । (वह भाग) सुरञ्जक है ॥ -२४२, २४३- ॥

प्रश्न—क्या यह भी पश्यन्ती की भाँति आसक्ति को पैदा करती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—अविभाग इत्यादि । जहाँ कहीं अविभाग स्वरमयी अर्थात् वाणी

आसक्तिजननयोग्यम्—इत्यर्थः । तेनात्राप्यासक्त्या तनमयीभावो भवेत्—इति भावः । अनेनास्या अपि वैखरीतो भेदः सूचितः ॥ २४२ ॥

नन्वविभाग एवासक्तौ निमित्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अविभागो हि निर्वृत्यै दृश्यतां तालपाठतः ॥ २४३ ॥
किलाव्यक्तध्वनौ तस्मिन्वादने परितुष्यति ।

अविभाग एव हि निर्वृतिनिमित्तं दृश्यताम् = साक्षात्क्रियताम—इत्यर्थः । नहि दृष्टमदृष्टं भवति—इति भावः । किलेति हेतौ । यतस्तालानाम् चञ्चुपुटादीनां पाठम् = गानमाश्रित्य अव्यक्तध्वन्यात्मनि तस्मिन्नविभागरूपे वादने अर्थात् सर्वोऽप्ययं लोकः परितुष्यति = निर्वृतिं भजते—इत्यर्थः । तेनात्र स्वानुभव एव प्रमाणम्—इति तात्पर्यम् ॥ २४३ ॥

एवं मध्यमायाः स्थूलं रूपमुक्त्वा वैखर्या अप्यभिधत्ते—

या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत् ॥ २४४ ॥
सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादि भूयसा ।

होती है वह (पदार्थ) भलीभाँति रञ्जक = आसक्तिजनन के योग्य होता है । इसलिए इसमें भी आसक्ति के कारण तन्मयीभाव हो जाता है—यह भाव है । इससे इसका भी वैखरी से भेद सूचित किया गया है ॥ २४२ ॥

प्रश्न—अविभाग ही आसक्ति में कारण है इसमें क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अविभाग (ही) परम आनन्द के लिये (समर्थ है) इसका अनुभव तालपाठ से (प्राप्त किया जा सकता है) । अव्यक्त ध्वनि वाले उस (वीणा आदि) के वादन पर (सभी लोग) परम आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ -२४३, २४४- ॥

अविभाग को ही निर्वृत्ति का कारण समझिये = साक्षात्कार करिये । दृष्ट अदृष्ट नहीं होता—यह भाव है । 'किल' शब्द का प्रयोग हेतु अर्थ में है । चूँकि ताल अर्थात् चञ्चुपुट आदि के पाठ = गान को आधार मान कर अव्यक्त ध्वनि रूप = उस अविभागरूप वादन में अर्थात् यह सम्पूर्ण लोक परितुष्ट हो जाता है = निर्वृत्ति को प्राप्त हो जाता है—यह अर्थ है । इसलिये इसमें अपना अनुभव प्रमाण है—यह तात्पर्य है ॥ २४३ ॥

मध्यमा के स्थूलरूप का कथन कर अब वैखरी के भी (स्थूल रूप को) कहते हैं—

जो स्फुट वर्णों की उत्पत्ति में कारण है वह (मध्यमा का) स्थूल रूप वैखरी है । इसका कार्य अधिकाधिक वाक्य आदि है ॥ -२४४, २४५- ॥

स्फुटानामिति = परस्परवैलक्षण्यावस्थानेन श्रोत्राकर्ण्यमानानाम् । अत एव पारुष्यादत्र लोकस्य नासक्तिः ॥ २४४ ॥

एवं स्थूलं भेदत्रयमभिधाय सूक्ष्ममप्याह—

अस्मिन्स्थूलत्रये यत्तदनुसन्धानमादिवत् ॥ २४५ ॥
पृथक्पृथक्तत्रितयं सूक्ष्ममित्यभिशब्द्यते ।

अस्मिन् = समनन्तरोक्ते स्थूले भेदत्रये यदाद्यम् = जिगासाद्यात्मेच्छा-रूपमनुसन्धानं तदेव पृथक् पृथक् पश्न्तीमध्यमावैखरीगतं सूक्ष्मं भेदत्रय-मुच्यते ॥ २४५ ॥

एतदेव क्रमेणोदाहरति—

षड्जं करोमि मधुरं वादयामि ब्रुवे वचः ॥ २४६ ॥

तेन जिगासाविवादयिषाविवक्षात्मकानुसन्धानत्रयरूपमेतत्सूक्ष्मं भेदत्रयम्—इति तात्पर्यार्थः ॥ २४६ ॥

किं चात्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

पृथगेवानुसन्धानत्रयं संवेद्यते किल ।

स्फुट = परस्पर वैलक्षण्य के स्थित होने के कारण कान से सुने जाने वाले, इसलिए कठोरता के कारण इसमें लोगों की आसक्ति नहीं होती है ॥ २४४ ॥

इस प्रकार स्थूल तीन भेदों का कथन कर सूक्ष्म का भी कथन करते हैं—

इन तीनों स्थूलों में जो आदि अनुसन्धान है वह तीनों पृथक्-पृथक् सूक्ष्म कहलाता है ॥ -२४५, २४६- ॥

इन पूर्वोक्त स्थूल तीन भेदों में जो प्रथम गाने आदि की इच्छा रूप अनुसन्धान है वही अलग-अलग पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी में वर्त्तमान सूक्ष्म तीन भेद कहा जाता है ॥ २४५ ॥

इसी को क्रम से कहते हैं—

मैं षड्ज कर रहा हूँ, मधुर बजा रहा हूँ, वाणी बोल रहा हूँ (ये तीन सूक्ष्म भेद हैं ॥ २४६ ॥

इससे गाने की बजाने की और कहने की इच्छारूप तीन अनुसन्धानवाला यह सूक्ष्म तीन भेद है—यह तात्पर्य है ॥ २४६ ॥

इस विषय में क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तीनों प्रकार के अनुसन्धानों का अलग-अलग अनुभव होता

संवेद्यते इति—स्वानुभवसिद्धमेतत्—इत्यर्थः ॥

एवं सूक्ष्मं भेदत्रयमुक्त्वा परमप्याह—

एतस्यापि त्रयस्याद्यं यद्रूपमनुपाधिमत् ॥ २४७ ॥
तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः ।

एतस्य = जिगासाद्यात्मनोऽनुसन्धानत्रयस्यापि यदनुपाधिमत् = जिगासाद्युपरञ्जकरहितमाद्यं रूपमिच्छाया अपि पूर्वकोटिभूतं संवित्तत्त्वं तदेतत्परं भेदत्रयम् । नन्वनुपाधिमति अत्र संवित्तत्त्वे भेदस्यावकाशमात्रमपि न संभवेत् तत्कथमत्र त्रिरूपत्वमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—'शिवः परचिदात्मकः' इति । परचिन्मात्ररूपशिवैकात्म्येनात्र पश्यन्त्यादित्रयमवभासते—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥ ई. प्र. ९।५।२०

इति ॥ २४७ ॥

ननु परस्य निरंशस्य प्रकाशस्य विभागेन प्रकाशनमेव नोपपद्यते, तत्रापि त्रैरूप्ये किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

है ॥ २४७- ॥

जाना जाता है = यह अपने अनुभव से सिद्ध है ॥

इस प्रकार तीन स्थूल भेदों को कहकर दूसरों को भी कहते हैं—

इन तीनों का जो उपाधिरहित प्रथम रूप है वह पर है और तीनों (मिश्रितरूप) है । उसमें शिव परासंविद् के रूप में रहता है ॥ -२४७, २४८- ॥

इसका = जिगासा आदि रूप तीन अनुसन्धान का ही जो उपाधिरहित = जिगासा आदि उपरञ्जक से हीन प्रथमरूप इच्छा के भी पहले वर्तमान संवितत्त्व, वह यह पर तीन भेद है । प्रश्न—उपाधिरहित इस संवित् तत्त्व में भेद का अवकाश मात्र भी सम्भव नहीं है तो फिर यहाँ तीन रूप कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—'शिव पर चैतन्यात्मक है ।' अर्थात् पर चिन्मात्ररूप शिव के तादात्म्य के कारण इसमें पश्यन्ती आदि तीन अवभासित होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

'स्वामी (= परमेश्वर) के अन्दर स्थित पदार्थसमूह का आभास होता ही है । उसके बिना इच्छा, का भी आमर्श नहीं होता' ॥ २४७ ॥

प्रश्न—अंशहीन पर प्रकाश का विभागपूर्वक प्रकाश ही सिद्ध नहीं होता उसमें भी तीनरूपता में क्या कारण होगा है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विभागाभासनायां च मुख्यास्तिस्रोऽत्र शक्तयः ॥ २४८ ॥

कास्ताः ?—इत्याह—

अनुत्तरा परेच्छा च परापरतया स्थिता ।
उन्मेषशक्तिर्ज्ञानाख्या त्वपरेति निगद्यते ॥ २४९ ॥

ह्रस्वत्रयमेव च भैरवात्मनः परस्य तत्त्वस्य शक्तिरूपतया पूर्वं निर्णीतम् तदुक्तम्—

'अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदिष्युन्मेषणात्मकम् ।
तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ॥' (३।९२)

इति ॥ २४९ ॥

इदानीं विभागाभासनमेव प्रपञ्चयति—

क्षोभरूपात्पुनस्तासामुक्ताः षट् संविदोऽमलाः ।

तासामिति = तिसृणां शक्तीनां क्षुब्धं रूपमाश्रित्य, पुनः षट् ऊनतान्ताः संविदः पूर्वमुक्ताः । ताश्च क्षुब्धत्वेऽपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादमलाः अत एव च परस्परसङ्घट्टेन संविदन्तरावभासनेऽपि योग्याः । तदुक्तम्—

इसमें विभाग का आभास कराने में तीन शक्तियाँ मुख्य हैं ॥ २४८ ॥

वे कौन हैं ?—यह कहते हैं—

अनुत्तरा परा (शक्ति) है इच्छा परापरा । ज्ञान नामक उन्मेष शक्ति अपरा कही जाती है ॥ २४९ ॥

भैरवरूप परतत्त्व की शक्ति के रूप में तीन ह्रस्व (स्वरों) को माना गया है । वही कहा गया—

'इसलिए चित्, इच्छा और उन्मेष रूप तीन, छ का तत्त्व (= मूल) है । उसी तीन को भैरव का परम तेज कहते हैं' ॥ २४९ ॥

अब विभाग के आभास को विस्तृत करते हैं—

उन शक्तियों के क्षुब्ध रूप के आधार पर (वे ही तीन) स्वच्छ छ प्रकार की संविदायें हो जाती हैं ॥ २५०- ॥

उनके = तीन शक्तियों के क्षुब्धरूप का आश्रय लेकर फिर ऊनता पर्यन्त छः संविद् पहले कही गई हैं । वे क्षुब्ध होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत न होने के कारण निर्मल हैं । और इसीलिए परस्पर सङ्घट्ट के द्वारा दूसरी संविदों के अवभासन में भी समर्थ हैं । वही कहा गया है—

'स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसन्ततौ ।
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ॥' (३।१८४)

इति ॥

अत आह—

आसामेव समावेशात्क्रियाशक्तितयोदितात् ॥ २५० ॥
संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्वं समाप्यते ।

तासामेव षण्णां संविदां क्रियाशक्तितयोदितेन परस्परसङ्घट्टेन द्वादश संविदः प्रोक्ताः = षण्ठवर्जं सन्ध्यक्षरादिरूपोपग्रहात्स्वरद्वादशकात्मनावभासिताः—इत्यर्थः । एतास्वेव च संवित्सु वक्ष्यमाणनीत्या प्रमेयादिक्रमेण परमात्रन्तमवस्थितत्वात् अतोऽतिरिक्तस्य चाभावात् सर्वस्य परिपूर्तिः 'यासु सर्वं समाप्यते' इति । इयदेव च मुख्यं शक्तिचक्रम्, अत्रैवोक्तवक्ष्यमाणनीत्या शक्त्यन्तराणामन्तर्भावात् ॥ २५० ॥

तदाह—

एतावद्देवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिचक्रकम् ॥ २५१ ॥
एतावता देवदेवः पूर्णशक्तिः स भैरवः ।

एता एव द्वादशापि संविदः क्रमदर्शनादौ अन्वर्थेनापि अभिधानेन

'वर्णसमूह में छ स्वर ही मूल है । वे ही छ देवतायें है जो कि मुख्य सूर्य की किरणें है' ॥ २५०-२५१ ॥

इसलिए कहते हैं—

क्रिया शक्ति के रूप में उदित इन्हीं के समावेश से संविद् बारह प्रकार की कही गयी हैं । जिसमें सबकुछ समाप्त हो जाता है ॥-२५०,२५१-॥

उन्हीं छः संविदों की क्रियाशक्ति के रूप में उदित परस्पर सङ्घट्ट के द्वारा बारह संविदायें कही गई हैं = नपुंसक वर्णों को छोड़कर सन्ध्यक्षर आदि रूप का ग्रहण होने से बारह स्वरों के रूप में अवभासित है । इन्हीं संविदाओं में वक्ष्यमाण नीति के द्वारा प्रमेय आदि के क्रम से पर प्रमाता पर्यन्त स्थित होने से तथा इससे अतिरिक्त का अभाव होने से सबकी पूर्णता हो जाती है—जिनमें सब समाप्त हो जाता है ।' इतना ही मुख्य शक्तिचक्र है । क्योंकि उक्त एवं वक्ष्यमाण रीति से इसी में दूसरी शक्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है ॥ २५० ॥

वह कहते हैं—

परमेश्वर का यही मुख्य शक्तिचक्र है । इसी के कारण देवाधिदेव पूर्ण शक्तिवाले तथा भैरव (कहलाते) हैं ॥ -२५१, २५२- ॥

ये ही बारह संविदायें क्रमदर्शन आदि में अन्वर्थ कथन के द्वारा दिखलाई गई

दर्शितारः—इति दर्शयितुमाह—

परामर्शात्मकत्वेन विसर्गाक्षेपयोगतः ॥ २५२ ॥
इयत्ताकलनाज्ज्ञानात्ताः प्रोक्ताः कालिकाः क्वचित् ।

'कलशब्दे' 'कल किल बिल क्षेपे' 'कल संख्याने' 'कल गतौ' इति धात्वर्थानुगमात्क्रमेण कलयन्ति परामृशन्ति, क्षिपन्ति, विसृजन्ति संहरन्ति च गणयन्ति जानते चेति काल्यः; ता एव कालिकाः ॥ २५२ ॥

न केवलमेताः क्रमदर्शनादावेवोक्ता यावदस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेष्वपि—इत्याह—

श्रीसारशास्त्रे चाप्युक्तं मध्य एकाक्षरां पराम् ॥ २५३ ॥
पूजयेद्भैरवात्माख्यां योगिनीद्वादशावृताम् ।

सारशास्त्रे इति श्रीत्रिकसारे । यदुक्तं तत्र—

'परां त्वेकाक्षरां मध्ये शङ्खकुन्देन्दुसुन्दराम् ।
चतुर्भुजां चतुर्वक्त्रां योगिनीद्वादशावृताम् ॥' इति ।

भैरवात्माख्यामिति—विश्वस्यान्तर्बहीरूपतया पालनपूरणात्मकात् 'परा'

हैं—यह बतलाने के लिये कहते हैं—

परामर्शस्वरूप होने से, विसर्म आक्षेप के योग से, इयत्ता की कलना और ज्ञान के कारण ये कहीं-कहीं (द्वादश) काली कही गयी हैं ॥ -२५२, २५३- ॥

कल = शब्द, कलकिल बिल = प्रक्षेपण, कल = संख्या करना, कल = गमन, इन धात्वर्थों के अनुगमन के कारण क्रमशः जो कलना करती हैं = परामर्श करती हैं, प्रक्षेपण, विसर्ग, संहार, गणना करती है तथा जानती हैं (वे) कालियाँ = कालिकायें है ॥ २५२ ॥

ये केवल क्रमदर्शन आदि में ही नहीं बल्कि हमारे शास्त्रों के सहोदर शास्त्रों में भी कही गई हैं—यह कहते हैं—

श्री त्रिकसार में भी यह कहा गया है—मध्य में एकाक्षरारूपा भैरवरूपा तथा बारह योगिनियों से आवृत परा देवी की पूजा करनी चाहिये ॥ -२५३, २५४- ॥

सारशास्त्र में = त्रिकशास्त्र में । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'मध्य में शङ्ख कुन्द चन्द्रमा के समान सुन्दर, चार भुजाओं वाली, चार मुखों वाली, बारह योगिनियों से मण्डित परा एकाक्षरा (का ध्यान करना चाहिये) ॥'

भैरवात्माख्या = भीतर और बाहर दोनों रूपों में संसार का पालन पूरण रूप

इत्यन्वर्थानुसरणात्पूर्णेनात्मना समन्तात्ख्याति = अवभासते—इत्यर्थ: । कालिकानां च योगिनीत्यनेन नाममात्र एवायं भेदो न वस्तुनि इति—सूचितम् । तत्तदनुत्तराद्यामर्शरूपत्वमप्यासां संविदां श्रीत्रिकसार एव भङ्ग्याभिहितम् । तत्र हि—

'अथात: संप्रवक्ष्यामि वाग्विधानमनुत्तमम् ।'

इति वाच एव प्राधान्यमुपक्रम्य

'तद्बीजं तु विभिन्नं वै स्वरैर्द्वादशभि: क्रमात् ।
ताश्चैव तु तथा देव्य:......................... ।।'

इत्याद्युक्तम् । एतच्च शाक्तोपायाह्निक एव वितत्य विचारयिष्यते—इति नेहायस्तम् ।। २५३ ।।

आसां च यत्प्रोक्तं मुख्यत्वं तदेव प्रपञ्चयति—

ताभ्य एव चतु:षष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम् ।। २५४ ।।
एकारत: समारभ्य सहस्रारं प्रवर्तते ।
तासां च कृत्यभेदेन नामानि बहुधागमे ।। २५५ ।।
उपासाश्च द्वयाद्वैतव्यामिश्राकारयोगत: ।
श्रीमत्त्रैशिरसे तच्च कथितं विस्तराद्बहु ।। २५६ ।।
इह नो लिखितं व्यासभयाच्चानुपयोगत: ।

'परा' इस अन्वर्थ के अनुसरण से अपने पूर्णरूप से सर्वत्र ख्यापन करती हैं = भासित होती हैं । कालिकाओं का योगिनी के साथ नाममात्र का भेद है न कि वस्तुगत—यह सूचित किया गया । इस संविदाओं का भिन्न-भिन्न अनुत्तर आदि आमर्श रूप भी त्रिकसार में ही प्रकारान्तर से कहा गया है वहाँ—

'अब सर्वोत्तम वाग्विधान का कथन करूँगा ।'

इस प्रकार वाक् की ही प्रधानता से प्रारम्भ कर—

'उसका बीज क्रमश: बारह स्वरों से भेद को प्राप्त हुआ और वे ही देवियाँ..'

इत्यादि कहा गया है । इसका विस्तृत विचार शाक्तोपाय आह्निक में ही करेंगे—इसलिए यहाँ विस्तार नहीं किया गया ।। २५३ ।।

इनका जो उक्त मुख्यत्व है उसी को विस्तृत करते है ।

उन्हीं (बारह शक्तियों) से ही एक अर से लेकर सहस्रार पर्यन्त ६४ शक्तिचक्र प्रवृत्त होता है । कार्य के भेद से उनके अनेक नाम आगमों में (वर्णित) हैं । उनकी उपासना भी द्वैत अद्वैत और द्वैताद्वैत रूप (में कही गयी है) । श्रीमत् त्रिशिरोभैरव शास्त्र में यह (बात) बहुत विस्तार से कही

आगम इति सामान्येनोक्ते: श्रीमत्त्रैशिरस इत्यनेन विशेषो दर्शित: । तत्तत एव प्रथमपटलादेतदनुसर्तव्यम्—इति भाव: ॥ २५६ ॥

ननु यद्येवं तदघोराद्या: सृष्ट्यादिक्रमेष्वप्यवस्थिता या: शक्तय: किमास्यामेव स्फारो न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

ता एव निर्मला: शुद्धा अघोरा: परिकीर्तिता: ॥ २५७ ॥
घोरघोरतराणां तु सोतृत्वाच्च तदात्मिका:।
सृष्टौ स्थितौ च संहारे तदुपाधित्रयात्यये ॥ २५८ ॥
तासामेव स्थितं रूपं बहुधा प्रविभज्यते ।

प्रक्षीणमलत्वेऽपि उद्रिक्तदृक्क्रिया इत्युक्तं 'निर्मला: शुद्धा:' इति । तस्य सृष्ट्याद्यात्मन उपाधित्रयस्य अत्यय: = अनाख्यम्, यथैवासां द्वादशानामपि संविदामनाख्यक्रमे रूपं प्रविभक्तं तथैव सृष्ट्यादिक्रमेष्वपीति समुच्चितत्वमभिधातुं 'तदुपाधित्रयात्यये' इत्युपात्तम् ॥ २५८ ॥

ननु अनाख्यक्रमे योऽयं सृष्ट्याद्यात्मन उपाधित्रयस्य अत्यय उक्त: स किं प्रागभावरूप: प्रध्वंसाभावरूपो वा ?—इत्याशङ्क्याह—

गयी है । इस कारण विस्तार के भय तथा अनुपयोगी होने के कारण यहाँ नहीं लिखा गया ॥ -२५४-२५७- ॥

'आगम'—ऐसा सामान्य कथन करने से 'श्रीमत् त्रिशिरोभैरव' इसके द्वारा विशेष दिखलाया गया । तो उस प्रथम पटल से ही इसका अनुसरण करना चाहिये—यह भाव है ॥ २५४-२५६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो सृष्टि आदि के क्रम में भी जो अघोर आदि शक्तियाँ स्थित हैं वे क्या इन्हीं का स्फार हैं या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वे ही (जब) निर्मल और शुद्ध (रहती हैं तब) अघोर कहलाती हैं । (ये अघोरा ही) घोर और घोरतर (शक्तियों) का जन्म देने के कारण तदात्मिका (= घोर और घोरतरा) हो जाती हैं । सृष्टि, स्थिति, संहार और इन तीनों उपाधियों का लय होने पर उन्हीं (अघोर शक्तियों) का स्थिर रूप अनेक प्रकार से विभक्त होता है ॥ -२५७-२५९- ॥

मल के प्रक्षीण होने पर भी दृक्क्रिया उद्रिक्त होती है—इसलिए कहा गया—निर्मल शुद्ध । उस सृष्टि आदि रूप वाली तीन उपाधियों का अत्यय = अनाख्य । जिस प्रकार इन बारह संविदाओं का अनाख्य क्रम में रूप विभक्त है उसी प्रकार सृष्टि आदि क्रम में भी है—इस समुचितत्व को बतलाने के लिये 'उस उपाधित्रय का नाश होने पर'—ऐसा कहा गया ॥ २५७-२५८ ॥

प्रश्न—अनाख्य क्रम में सृष्टि आदि रूप तीन उपाधियों का जो अत्यय

उपाध्यतीतं तद्रूपं तद्द्विधा गुरवो जगुः ॥ २५९ ॥
अनुल्लासादुपाधीनां यद्वा प्रशमयोगतः ।

अनुल्लासादिति = प्रागभावरूपात् । प्राक्कोटौ हि निस्तरङ्गजलधिप्रख्यं परं तत्त्वं यतः स्वस्वातन्त्र्याद्बाह्योन्मुखतायामुपाधीनामुल्लासः स्यात् । प्रशमयोगत इति = प्रध्वंसाभावरूपात् ॥ २५९ ॥

प्रशमो हि द्विधा—इत्याह—

प्रशमश्च द्विधा शान्त्या हठपाकक्रमेण तु ॥ २६० ॥
अलंग्रासरसाख्येन सततं ज्वलनात्मना ।

शान्त्येति—शान्तेन मधुरपाकक्रमेण गुर्वाद्याराधनपूर्वं समय्यादिदीक्षासाधनेन तत्तन्नित्यनैमित्तिकाद्यनुष्ठाननिष्ठतया देहान्ते सृष्ट्याद्युपाधीनामत्ययो भवेत्—इत्यर्थः । शान्तिः पुनः स्वारसिक एव सृष्ट्याद्युपाधीनां प्रशमो न वाच्यः, तथात्वे हि शास्त्रोपदेशादेरानर्थक्यं स्यात् स्वरसत एवोपाधीनां कादाचित्कस्य प्रशमस्याभावात् । तथालम् = अत्यर्थम् = सार्वात्म्येन, यः सृष्ट्यादीनां ग्रासः =

(= नाश) कहा गया वह क्या प्रागभाव रूप है या प्रध्वंसाभाव रूप ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(अनाख्यक्रम में) जो उपाधि से परे रूप है । गुरुजन उसे दो प्रकार का बतलाये हैं—(१) उपाधियों के उल्लसित न होने से तथा (२) (उन उपाधियों के) शान्त होने से ॥ -२५९, २६०- ॥

अनुल्लास के कारण—प्रागभावरूप (अनुल्लास के कारण) । प्रथम कोटि में पर तत्त्व निस्तरङ्ग सागर के समान रहता है । जहाँ से अपने स्वातन्त्र्य के कारण बाह्य उन्मुखता होने पर उपाधियों का उल्लास होता है । प्रशमयोगतः = प्रध्वंसाभाव रूप शान्ति के कारण ॥ २५९ ॥

प्रशम दो प्रकार का है—यह कहते हैं—

प्रशान्त भी पूर्णरूप से (सृष्टि के) ग्रास के रस (= आनन्द) के द्वारा निरन्तर जलने से शान्ति प्रशम और हठ पाक प्रशमन भेद से दो प्रकार का है ॥ -२६०, २६१- ॥

शान्ति के द्वारा = शान्त मधुरपाक के क्रम से गुरु आदि की आराधना के पश्चात् समयी आदि दीक्षारूप साधन से भिन्न-भिन्न नित्य नैमित्तिक आदि अनुष्ठान-निष्ठ होने से शरीर का नाश होने से सृष्टि आदि उपाधियों का नाश हो जाता है—यह अर्थ है । सृष्टि आदि उपाधियों का स्वाभाविक प्रशम शान्ति पद का वाच्य नहीं है । क्योंकि उपाधियों के कादाचित्क प्रशम के स्वभावतः होने से वे निरर्थक हो जायेंगे । वैसा होने पर शास्त्रोपदेश आदि तथा अलम् = सर्वात्मक होने से

स्वात्मसात्कारस्तत्र रसः = गृध्नुता तत्त्वेनालंग्रासभैरवादावाख्या यस्य, अत एव सततम् = अविच्छिन्नतया ज्वलन् यथायथं दाह्यनिष्ठतया दीप्यमान आत्मा स्वरूपं यस्य, एवंविधेन हठेन क्रमव्यतिक्रमरूपेण सकृदुपदेशात्मना बलात्कारेण यः पाकः = चिदग्निसात्कारः, तस्य क्रमः = परिपाटी, तेन सृष्ट्याद्युपाधीना-मत्ययो भवेत्—इत्यर्थः । इह खलु सर्वेषामेव सृष्ट्याद्युपाधित्रयात्यय एव समभिलषणीयः—इति तत्कार्यक्षमः कश्चनोपायविशेषोऽवश्यानुसन्धातव्यः, स च त्रिधेत्युक्तम् । तत्र यो नामानुल्लास एवोपाधीनामुक्तः स दूरापास्तः, समुल्लसितानामेवैषामत्ययस्येष्टेः । शान्त्याख्यश्च उपायविशेषो यद्यपि शनैः शनैर्देहान्ते तदत्ययक्षमः तथापि स मन्दशक्तिपाताधिकारेण प्रवृत्तः—इति तीव्रशक्तिपाताधिकारेण तृतीयस्य हठपाकप्रशमस्यैवोपायविशेषस्योपदेशो युक्तो येन झटित्येवोपाधिविगलनं भवेत् ॥ २६० ॥

तदाह—

हठपाकप्रशमनं यत्तृतीयं तदेव च ।
उपदेशाय युज्येत भेदेन्धनविदाहकम् ॥ २६१ ॥

युज्येतेत्यत्र हेतुः 'भेदेन्धनविदाहकम्' इति । अस्यैव हि सहसैव भेदविलापने

अत्यधिक, जो सृष्टि आदि का ग्रास = आत्मसात्कार, उसमें जो रस = लोभ, वैसा होने से अलंग्रास भैरव आदि में आख्या है जिसकी, इसलिए सतत = अविच्छिन्न रूप से जलता हुआ, क्रमशः दाह्यनिष्ठ होकर दीप्यमान है आत्मा = स्वरूप जिसका, इस प्रकार के हठ से = क्रम व्यतिक्रम रूप सकृद् उपदेशात्मक बलात्कार के द्वारा जो पाक = चिद्अग्निसात्कार, उसका क्रम = परिपाटी, उससे सृष्टि आदि उपाधियों का अत्यय होता है—यह अर्थ है । सृष्टि आदि तीन उपाधियों का नाश सबका इष्ट है इसलिए उस कार्य को करने में समर्थ किसी विशेष उपाय का अनुसन्धान अवश्य करना चाहिये । और वह तीन प्रकार का है—ऐसा कहा गया । उसमें जो उपाधियों का अनुल्लास कहा गया वह तो दूर चला गया क्योंकि इन समुल्लसितों का ही अत्यय इष्ट है । शान्ति नामक उपायविशेष यद्यपि धीर-धीरे देह के नाश के समय उस (= उपाधि) के नाश में समर्थ होता है तो भी वह मन्द शक्तिपात के अधिकार से प्रवृत्त होता है—इस कारण तीव्र शक्तिपात के अधिकार से तीसरे हठपाकप्रशम रूप विशिष्ट उपाय का ही उपदेश युक्त है जिससे झट से उपाधि का नाश हो जाय ॥ २६० ॥

वह कहते हैं—

भेदरूपी इन्धन को दग्ध करने वाला जो तीसरा हठपाक प्रशमन है वही उपदेश के लिये समीचीन होता है ॥ २६१ ॥

'युक्त होता है' इसमें कारण है—भेद इन्धन का दाहक होना । झट से भेद

परं सामर्थ्यम्—इति भावः ॥ २६१ ॥

अत आह—

निजबोधजठरहुतभुजि भावाः सर्वे समर्पिता हठतः ।
विजहति भेदविभागं निजशक्त्या तं समिन्धनाः ॥ २६२ ॥

सर्व एव हि सृष्ट्यादयो भावो बोधाग्नौ हठेन समर्पिता भेदविभागं विजहति = बोधैकरूपतया परिस्फुरन्ति—इत्यर्थः । ननु यदि नाम सर्वे भावास्तत्तद्रूपतया बोधादतिरिक्तास्तत्किमिति तदेकरूपतया परिस्फुरन्ति ?—इत्याशङ्क्याह—'निज-शक्त्या तं समिन्धानाः' इति । तेऽपि बोधरूपतया निजशक्त्या तमेव बोध-मुद्दीपयन्तोऽवभासन्ते—इत्यर्थः । अबोधरूपत्वे हि तेषामबुध्यमानत्वमेव भवेत्—इति भावः ॥ २६२ ॥

नन्वेवं किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

हठपाकेन भावानां रूपे भिन्ने विलापिते ।
अश्नन्त्यमृतसाद्भूतं विश्वं संवित्तिदेवताः ॥ २६३ ॥

चिदग्न्युद्बोधनपूर्वं हठपाकक्रमेण सृष्ट्यादीनां भावानां भेदस्य विलापनात् अमृतसाद्भूतम् = बोधैकरूपतामापन्नं सत् विश्वं संवित्तिदेव्यः = करणेश्वर्योऽश्नन्ति

हटाने में इसी का पर सामर्थ्य है—यह भाव है ॥ २६१ ॥

इसलिए कहते है—

(जब) स्वात्मसंविद् रूपी जठराग्नि में सभी भाव हठात् समर्पित हो जाते हैं । (तब वह अग्नि) अपनी शक्ति से उस भेदविभाग को प्रज्वलित करती हुई उद्दीप्त करती है ॥ २६२ ॥

सभी सृष्टि आदि भाव हठपूर्वक ज्ञानाग्नि में समर्पित होने पर भेदविभाग को छोड़ देते हैं अर्थात् केवल ज्ञान रूप से परिस्फुरित होते हैं । प्रश्न—यदि सब भाव भिन्न-भिन्न रूप में ज्ञान से अतिरिक्त हैं तो वे एक रूप में कैसे परिस्फुरित होते हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—अपनी शक्ति से उसको जलाते हुए । ज्ञानरूप होने के कारण वे भी अपनी शक्ति से उसी बोध को उद्दीपित करते हुए भासित होते हैं । उनके अबोध रूप होने पर (वे) अबुध्यमान ही होंगे—यह भाव है ॥ २६२॥

प्रश्न—ऐसा होने से क्या होगा—यह शङ्का कर कहते हैं—

हठपाक के द्वारा भावों के भिन्न रूप को विलीन किये जाने पर संवित्ति देवतायें अमृत रूप में परिवर्तित विश्व का भोग करती हैं ॥ २६३ ॥

पहले ज्ञानाग्नि का उद्बोध होने पर हठपाक के क्रम से सृष्टि आदि भावों के भेद का विलयन होने से अमृतसात् हुए तथा ज्ञानैकरूपता को प्राप्त हुए विश्व को

= परबोधैकरूपतया परामृशन्ति—इत्यर्थः । अथ च लौकिको भोक्तृभोग्यव्यवहारोऽपि अत्राक्षिप्तः, तद्विशिष्टत्वेनैव प्रकृतस्यार्थस्यावगतेः ॥ २६३ ॥

ततोऽपि किम् ?—इत्याह—

तास्तृप्ताः स्वात्मनः पूर्णं हृदयैकान्तशायिनम् ।
चिद्व्योमभैरवं देवमभेदेनाधिशेरते ॥ २६४ ॥

ताश्च संवित्तिदेवतास्तृप्ताः = परबोधैकरूपतासादनेनानन्यपेक्षाः सत्यो हृदयैकान्तशायिनम् सारभूतपरामर्शैकविश्रान्तम्, अत एव पूर्णम् = अनन्याकाङ्क्षम्, अत एव च देवम् = द्योतनैकसतत्त्वं चिद्व्योमभैरवम् = परप्रकाशात्म परं तत्त्वं, स्वात्मनः स्वस्वरूपस्याभेदेनाधिशेरते = तदेकरूपतया परिस्फुरन्ति—इत्यर्थः । अथ चात्र पूर्ववल्लौकिकनायकव्यवहार आक्षिप्तः ॥ २६४ ॥

नन्वासां चिदात्मनि परस्मिन्रूपे विश्रान्तत्वात् तदतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् द्वादशविधं रूपं कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

एवं कृत्यक्रियावेशान्नामोपासाबहुत्वतः ।
आसां बहुविधं रूपमभेदेऽप्यवभासते ॥ २६५ ॥

संविद् देवियाँ = करणेश्वरियाँ खाती है = पर ज्ञान के रूप में परामृष्ट करती हैं—यह अर्थ है । यहाँ लौकिक भोक्तृ भोग्य व्यवहार भी आक्षिप्त है क्योंकि 'तद्विशिष्ट रूप में ही प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान होता है ॥ २६३ ॥

उससे भी क्यों होता है ?—यह कहते हैं—

तृप्त हुई वे (देवियाँ) पूर्ण और हृदय में पूर्ण रूप से रहने वाले दीप्यमान चिदाकाश रूपी भैरव का अपने से (अभिन्न रूप में) अनुभव करती हैं ॥ २६४ ॥

और वे संविद् देवतायें, तृप्त = परबोध के साथ तादात्म्य को प्राप्त होने के कारण अनन्यापेक्ष होती हुई, हृदय के एकान्त में रहने वाले = सारभूत परामर्शमात्र में विश्रान्त, इसलिये पूर्ण = निराकाङ्क्ष और इसीलिए देव = प्रकाशन तत्त्व, चिद्व्योमभैरव = पर प्रकाशरूप पर तत्त्व का स्वात्मा से = स्वस्वरूप से अभिन्न रूप में अधिशयन करती हैं = उससे अभिन्न रूप में स्फुरित होती हैं यहाँ पूर्ववत् लौकिक नायक का व्यवहार आक्षिप्त है ॥ २६४ ॥

प्रश्न—इन (= संविद देवताओं) के चिदात्मक पररूप में विश्रान्त होने से उससे भिन्न और किसी के न होने से बारह प्रकार का रूप कहाँ का है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार कृत्यक्रिया के आवेश स्वरूप नाम और उपासना के अनेक होने के कारण इनका रूप अभिन्न होने पर भी अनेक प्रकार का आभासित

कृत्यम् = रूपाद्यालोचनादि, नाम = चक्षुरादिदेवतादि, उपासा = रूपाद्या-लोचनात्मवृत्तिविलापनादिरूपा । 'अभेदेऽपि बहुविधमवभासते' इत्यनेन काल्पनिकत्वमुक्तम् ॥ २६५ ॥

ननु यदि कृत्यादिभेदादासां बहुविधत्वं तद्रूपाद्यालोचनात्मकृत्यमपि द्वादशविधमेव तदतिरिक्तस्य कृत्यान्तरस्याभावात्—इत्यासां द्वादशविधादेव रूपान्न्यूनमधिकं वा रूपं न स्यात्, इति 'ताभ्य एव चतुःषष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम्' (३।५४) इत्यादि कथमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

आसामेव च देवीनामावापोद्वापयोगतः ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवोत्तरैः ॥ २६६ ॥
रुद्रार्कान्यकलासेनाप्रभृतिर्भेदविस्तरः ।

आवापः = संक्षेपः, उद्वापः = विकासः । आसामेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् कमलवदनवरतं सङ्कोचविकाससंभवः—इति भावः । उत्तरे = दश, अन्ये = त्रयोदश, कलाः = षोडश, सेना = अष्टादशाक्षौहिण्यः ॥ २६६ ॥

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्त्यागतमेतदुपसंहरन्प्रकृतमेवावतारयति—

होता है ॥ २६५ ॥

कृत्य = रूप आदि का आलोचन आदि । नाम = चक्षु आदि देवता आदि । उपासना = रूप आदि आलोचन वाली वृत्ति का विलापन आदि रूप । अभेद होने पर भी अनेक प्रकार से भासित होते हैं ।' इससे काल्पनिकत्व कहा गया है ॥ २६५ ॥

प्रश्न—यदि कृत्य आदि भेद के कारण इनके अनेक प्रकार हैं तो रूप आदि का आलोचन रूप कृत्य भी बारह प्रकार का है क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कृत्य नहीं है, फिर इनका बारह प्रकार के रूप से कम या अधिक रूप नहीं होगा तो 'उन्हीं से चौसठ तक शक्ति चक्र' इत्यादि कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इन्हीं देवियों का अवापोद्वाप के कारण एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ, सात, आठ, नव, दश, रुद्र (= ग्यारह), अर्क (= बारह), अन्य (= तेरह), कला (= सोलह), सेना (= अठारह) आदि भेदों का विस्तार होता है ॥ २६६-२६७- ॥

आवाप = संक्षेप । उद्वाप = विकास । अपने स्वातन्त्र्य के कारण इन्हीं का कमल के समान अनवरत सङ्कोच—विकास सम्भव है—यह भाव है । उत्तर = दश, अन्य = तेरह, कला = सोलह, सेना = अठारह अक्षौहिणी ॥ २६६ ॥

तो इस प्रकार प्रसङ्गानुप्रसङ्ग से आये हुए इसका उपसंहार करते हुए प्रस्तुत

अलमन्येन बहुना प्रकृतेऽथ नियुज्यते ॥ २६७ ॥

अन्येनेति = अवान्तरेण शाम्भवोपायप्रतिपादनेन, तस्य हि मुख्यतया विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वादिना त्रिधा रूपं निरूपितं येन तदुपासन्नानां झटित्येवा-विकल्पस्वरूपावाप्तिः स्यात्; तदनेकप्रमेयसंकुलतया विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वाद्येवो-पदेश्या मा विस्मार्षुः इति तदेव तान्प्रति संक्षेपेणोच्यते—इत्याह—'प्रकृतेऽथ नियुज्यते' इति। अथेत्यानन्तर्ये, तदितोऽनन्तरं प्रकृतं विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वाद्येव प्रस्तूयते—इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

अत आह—

संविदात्मनि विश्वोऽयं भाववर्गः प्रपञ्चवान् ।
प्रतिबिम्बतया भाति यस्य विश्वेश्वरो हि सः ॥ २६८ ॥
एवमात्मनि यस्येदृगविकल्पः सदोदयः ।
परामर्शः स एवासौ शाम्भवोपायमुद्रितः ॥ २६९ ॥
पूर्णाहन्तापरामर्शो योऽस्यायं प्रविवेचितः ।
मन्त्रमुद्राक्रियोपासास्तदन्या नात्र काश्चन ॥ २७० ॥

को कहते हैं—

और कुछ कहना व्यर्थ है । (अब) प्रस्तुत का विचार किया जायगा ॥ २६७ ॥

अन्य =अवान्तर शाम्भवोपाय के प्रतिपादन से मुख्यरूप से विश्व चित्-प्रतिबिम्बत्व आदि के द्वारा उसका तीन प्रकार का रूप बतलाया गया जिससे उसके समीपवर्त्ती लोगों को झट से विकल्पहीन रूप की प्राप्ति हो जाय । तो अनेक प्रमेयों से व्याप्त होने के कारण विश्व चित्प्रतिबिम्बत्व आदि उपदेश्य न विस्मृत हो जाय—इस कारण वही उनसे संक्षेप में कहा जा रहा है—यह कहते हैं—अब प्रस्तुत में लगाया जा रहा है । 'अथ'—(का प्रयोग) आनन्तर्य अर्थ में है । तो इसके बाद प्रस्तुत विश्वचित् प्रतिबिम्बत्व आदि ही कहा जाता है—यह अर्थ है ॥ २६७ ॥

इसलिए कहते है—

प्रपञ्च से युक्त यह समस्त भाववर्ग जिसकी संविद् में प्रतिबिम्ब के रूप में भासित होता है वह विश्वेश्वर है । इस प्रकार जिस (साधक) का अपने अन्दर इस प्रकार का विकल्परहित (भाव का) उदय सदा होता रहता है वही यह परामर्श शाम्भवोपाय कहा गया है । इस प्रकार का पूर्णअहन्ता का परामर्श जिसको प्रकाशित हो गया (उसके लिये) इससे अतिरिक्त मन्त्र मुद्रा, क्रिया, उपासना कुछ भी (करणीय) नहीं रहती हैं ॥ २६८-२७०॥

यस्य = तीव्रशक्तिपातवत: साधकादेर्विश्व: = प्रमातृप्रमेयात्मा तद्भेदोपभेदादिना प्रपञ्चवानप्ययं भाववर्ग: संविदात्मनि प्रतिबिम्बतया भाति = दर्पणनगरन्यायेनातिरिक्तायमानत्वेऽपि अनतिरिक्तत्वेन स्वात्ममात्ररूपतयैवावभासते, स खलु विश्वेश्वर: परप्रकाशात्मभगवदैकात्म्येन प्रकाशते—इत्यर्थ: । यस्याप्येवं भाववर्गस्य प्रतिबिम्बकल्पतयावभासने सति स्वात्मनीदृगहमेव भाववर्गात्मना प्रस्फुरित—इत्येवमात्मसाक्षात्काररूप: सततोदित: परामर्श: स्यात्, स एवासौ शाम्भवोपायेन मुद्रित: = स्वसमुचितोपेयासादनेन नियमित:—इत्यर्थ: । अत एवास्य सर्वविषयतया पूर्णो योऽयमहन्तापरामर्श: प्रविवेचित:, अर्थात्तस्यैवात्र शांभवोपाये काश्चन मन्त्रमुद्राक्रियोपासा न तत: पूर्णाहन्तापरामर्शादन्या:, परप्रमात्रेकरूपस्वात्माभेदेनैव प्रस्फुरन्ति—इत्यर्थ: । न ह्येतत्पदमधिशयानस्यैतदुपयोग:—इति भाव: । यदुक्तम्—

'अयं रसो येन मनागवाप्त: स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य ।
समाधियोगव्रतमन्त्रमुद्राजपादिचर्या विषवद्विभाति ।।' इति ।

वक्ष्यति च—

'स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मन्त्रयोजना ।

तीव्र शक्तिपात वाले जिस साधक आदि के लिये प्रमाता प्रमेयरूप विश्व उसके भेदोपभेद आदि के कारण प्रपञ्चवाला भी यह भावसमूह संविदात्मा में प्रतिबिम्ब के रूप में आभासित होता है = दर्पणनगरन्याय से अतिरिक्त होता हुआ भी अनतिरिक्त होने के कारण आत्ममात्ररूप में ही भासित होता है, वह विश्वेश्वर हो जाता है अर्थात् परप्रकाशरूप भगवान से अभिन्न रूप में प्रकाशित होता है । जिस किसी को इस भावसमूह के प्रतिबिम्ब रूप में भासित होने पर अपनी आत्मा में, इस प्रकार भावसमूह के रूप में 'मैं ही स्फुरित हो रहा हूँ—इस प्रकार' का आत्मसाक्षात्कार रूप परामर्श निरन्तर उदित होता रहता है वही शाम्भवोपाय से मुद्रित = अपने लिये समुचित उपेय की प्राप्ति से नियमित है । इसलिए सब विषय से पूर्ण जो इसका यह अहन्तापरामर्श कहा गया, अर्थात् उसी के लिये इस शाम्भवोपाय में उस पूर्णअहन्तापरामर्श से भिन्न कोई मन्त्रमुद्रा क्रिया या उपासना नहीं है । (ये मन्त्र मुद्रा आदि) परप्रमात्रेक रूप स्वात्मा से अभिन्न रूप में प्रस्फुरित होते हैं—यह अर्थ है । तात्पर्य यह है कि इस पद पर आरूढ़ (साधक) के लिये इस (मन्त्र मुद्रा आदि) का उपयोग नहीं है । जैसा कि कहा गया है—

'जिसने इस रस को थोड़ा सा भी प्राप्त कर लिया, स्वच्छन्द चेष्टा में निरत उसके लिये समाधि, योग, व्रत, मन्त्र, मुद्रा, जप आदि व्यवहार विष के समान प्रतीत होते हैं ।'

आगे भी कहेंगे—

'स्नान, व्रत, देहशुद्धि, धारणा, मन्त्रयोजना, अध्वकल्पना, याग, विधि, होम,

अध्वक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्यसमाधयः ॥
इत्यादिकल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते ।' (तं० ३।२९०)

इति ॥ २७० ॥

तदेवं त्रिविधमपि शांभवोपायमुपासन्नो महात्मा जीवन्नेव मुक्तिमासादयेत्—इत्याह—

भूयोभूयः समावेशं निर्विकल्पमिमं श्रितः।
अभ्येति भैरवीभावं जीवन्मुक्त्यपराभिधम् ॥ २७१ ॥

ननु पूर्वम्

'तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।' (तं० २।८)

इत्यादिना **नित्योदितत्वेनादिसिद्धत्वाद्भैरवीयायां** संविदि ज्ञापकः कारको वा न कोऽप्युपायः समस्तीत्युक्तम् तत्कथमिदमिदानीमुक्तम्—अयं निर्विकल्पः समावेशोऽत्राभ्युपायः ?—इत्याशङ्क्याह—

इत एव प्रभृत्येषा जीवन्मुक्तिर्विचार्यते ।
यत्र सूत्रणयापीयमुपायोपेयकल्पना ॥ २७२ ॥
प्राक्तने त्वाह्निके काचिद्भेदस्य कलनापि नो ।
तेनानुपाये तस्मिन्को मुच्यते वा कथं कुतः ॥ २७३ ॥

जप, समाधि इत्यादि कोई भी कल्पना, यहाँ भेदवाली नहीं होती' ॥ २७० ॥

तो इस प्रकार तीनों प्रकार के शाम्भवोपाय को प्राप्त महात्मा जीवित रहते हुए मुक्ति को प्राप्त कर लेता है—यह कहते हैं—

बारम्बार इस निर्विकल्प में सिद्ध (योगी) जीवन्मुक्ति अपर नाम वाले भैरवीभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ २७१ ॥

प्रश्न—पहले

'वहाँ क्रियायोग उपाय के योग्य नहीं होता (अर्थात् उपाय नहीं बनता)।'

इत्यादि के द्वारा नित्य उदित होने से आदिसिद्ध होने के कारण भैरवीय संविद् में ज्ञापक या कारक कोई भी उपाय सम्भव नहीं होता—यह कहा गया । तो अब यह उक्त निर्विकल्पक समावेश यहाँ कैसे उपाय होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यहीं से इस जीवन्मुक्ति का विचार प्रारम्भ होता है जिसमें यह उपाय उपेय की कल्पना सूत्र रूप में (कही जायगी) । पूर्व आह्निक में भेद की स्थिति भी नहीं है । इस कारण उस अनुपाय में कौन मुक्त होता है क्यों और किस कारण (मुक्त होता है) ॥ २७२-२७३ ॥

सूत्रणयापीति—आह्निकान्तरेषु पुनः स्फुटैव भविष्यति—इति भावः । भेद-स्येति—कर्तृकरणापादानादेः । अत एवोक्तम्—'कः कथं कुतः' इति ॥ २७३॥

उपायोपेयभावमेव चात्र दर्शयति—

निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भवोपायनामनि ।
पञ्चाशद्भेदतां पूर्वसूत्रितां योजयेद्बुधः ॥ २७४ ॥
धरामेवाविकल्पेन स्वात्मनि प्रतिबिम्बताम् ।
पश्यन्भैरवतां याति जलादिष्वप्ययं विधिः ॥ २७५ ॥
यावदन्ते परं तत्त्वं समस्तावरणोर्ध्वगम् ।
व्यापि स्वतन्त्रं सर्वज्ञं यच्छिवं परिकल्पितम् ॥ २७६ ॥

पूर्वेति = प्रथमाह्निके । यदुक्तम्—

'पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता ।
तत्त्वषट्त्रिंशकैतत्स्थस्फुटभेदाभिसन्धितः ॥' (तं० १।१८७)

इत्यादि । योजयेत् इति एकैकध्येन उपायतया परिकल्पयेत्—इत्यर्थः । तदाह—धरामित्यादि । एकमेव धरातत्त्वमविकल्पज्ञानेन न तु विकल्पमात्रेण

सूत्रणा के द्वारा भी दूसरे आह्निकों में पुनः स्पष्ट हो जायगी—यह भाव है । भेद का = कर्त्ता, करण, अपादान आदि का । इसीलिए कहा गया 'कौन, कैसे, कहाँ' ॥ २७२-२७३ ॥

उपायोपेय भाव ही यहाँ दिखाते हैं—

विद्वान् को चाहिये कि वह शाम्भवोपाय नाम निर्विकल्प परामर्श में पूर्व कथित पचास भेद वाली स्थिति को जोड़ दे । पृथ्वी को अपने में निर्विकल्पक भाव से देखने वाला (साधक) भैरवीभाव को प्राप्त होता है । जल आदि के विषय में भी यही विधि है । (इस प्रकार देखते देखते) अन्त में समस्त आवरण से परे सर्वव्यापी स्वतन्त्र सर्वज्ञ परमतत्त्व, जो कि शिव कहा गया है, को (देखने वाला पर भैरवीभाव को प्राप्त हो जाता है) ॥ २७४-२७६ ॥

पूर्व = प्रथम आह्निक में । जैसा कि कहा गया—

'छत्तीस तत्त्व और इसमें स्थित स्फुट भेद को ध्यान में रखकर यह समावेश पचास प्रकार का कहा गया है ।' इत्यादि ।

जोड़ना चाहिये = एक-एक करके उपाय के रूप में कल्पना करनी चाहिये । वह कहते हैं—

पृथिवी को इत्यादि । एक ही धरातत्त्व का अविकल्प ज्ञान के द्वारा न कि

स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं पश्यन् = स्वात्मसंविन्मात्ररूपतया साक्षात्कुर्वन् सर्वस्य सर्वात्मकत्वाद्भैरवतां याति = परप्रकाशरूपतया परिस्फुरति—इत्यर्थः । एतदेव च तत्त्वान्तरेष्वप्यतिदिशति—'जलादिष्वपि' इत्यादिना । अयं विधिरिति—जलादि-शिवतत्त्वपर्यन्तं तत्त्वजालमविकल्पवृत्त्या स्वात्मनि प्रतिबिम्बित पश्यन् भैरवतां यातीति । ननु यदि नाम परं तत्त्वं व्यापि तत्कथं पञ्चत्रिंश-तत्त्वीमुज्झित्वा षट्त्रिंशद्रूपतयैवोक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—'समस्तावरणोर्ध्वगं परि-कल्पितम्' इति । वस्तुतो हि तज्ज्ञातृकर्तृस्वभावपरप्रमात्रेकरूपमित्युक्तम्—'स्वतन्त्रं सर्वज्ञम्' इति ॥ २७६ ॥

ननु यदि नाम परप्रमात्रेकरूपं भैरवात्मकं परं तत्त्वं तत्कथं दर्शनक्रियायां भैरवात्मत्वे चोपायतां यायात् ?—इत्याशङ्क्याह—

तदप्यकल्पितोदारसंविद्दर्पणबिम्बितम् ।
पश्यन्विकल्पविकलो भैरवीभवति स्वयम् ॥ २७७ ॥

न केवलं तत्त्वान्तराणि यावत्तत्प्रमात्रेकरूपं भैरवात्मकं च परं तत्त्वमपि

'स्वातन्त्र्यान्मुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्याददृयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई० १।५।१६)

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वस्वातन्त्र्यात्स्वात्मनि परिकल्पितोपायोपेयभावं सत् विकल्प-

---

विकल्प से आत्मा में प्रतिबिम्बित देखने वाला = स्वात्मसंविन्मात्ररूप में साक्षात्कार करता हुआ, सब के सर्वात्मक होने से, भैरवत्व को प्राप्त होता है = पर प्रकाश रूप में स्फुरित होता है—यह अर्थ है । 'जल आदि के विषय में भी' इत्यादि के द्वारा यही बात दूसरे तत्त्वों के विषय में भी लागू करते हैं । यह विधि जल से लेकर शिवतत्त्वपर्यन्त तत्त्वजाल को अविकल्प वृत्ति के द्वारा अपने में प्रतिबिम्बित देखता हुआ भैरवत्त्व को प्राप्त होता है । प्रश्न—यदि परतत्त्व व्यापक है तो पैंतीस तत्त्वों को छोड़कर छत्तीस रूप में ही कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते है—'समस्त आवरण का ऊर्ध्वगामी माना गया है ।' वस्तुतः वह ज्ञातृकर्तृस्वभाव वाला पर प्रमाता रूप है—इसलिए कहा गया—'स्वतन्त्र, सर्वज्ञ' ॥ २७४-२७६ ॥

प्रश्न—यदि परतत्त्व पर प्रमाता रूप तथा भैरवात्मक है तो (वह) दर्शन क्रिया में और भैरवात्मता में उपाय कैसे बनता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसको भी अकल्पित उदार संविद् के दर्पण में देखनेवाला विकल्परहित (योगी) स्वयं भैरव हो जाता है ॥ २७७ ॥

केवल दूसरे तत्त्व ही नहीं बल्कि प्रमाता रूप और भैरवात्मक पर तत्त्व भी—

'वह परमेश्वर अद्वयरूप स्वातन्त्र्य के कारण स्वातन्त्र्य से मुक्त अपने को ईश आदि सङ्कल्पों के द्वारा निर्मित कर व्यवहार करता है ।'

विकलः शाम्भवोपायसमाविष्टः साधकादिरकल्पितत्वादेव तत्तदुपाधिसङ्कोचाभावादुदारा येयं संवित् सैव स्वच्छतातिशयाद्दर्पणस्तत्र प्रतिबिम्बितं पश्यन् = तन्मात्ररूपतया साक्षात्कुर्वन् स्वयम् = अनन्यापेक्षमेव भैरवीभवति = अविकल्पितोदारसंविदात्मना परिस्फुरति—इत्यर्थः ॥ २७७ ॥

ननु परतत्त्वद्वारेण पूर्णस्वरूपावेशो यद्युच्यते तदास्तां धराद्येशांशिकामुखेन पुनः कथमसौ स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

यथा रक्तं पुरः पश्यन्निर्विकल्पकसंविदा ।
तत्तद्द्वारनिरंशैकघटसंवित्तिसुस्थितः ॥ २७८ ॥
तद्वद्धरादिकैकैकसङ्घातसमुदायतः ।
परामृशन्स्वमात्मानं पूर्ण एवावभासते ॥ २७९ ॥

इह खलु सर्व एव द्रष्टा यथा निर्विकल्पकेन ज्ञानेन रक्तं लोहितं गुणं तदुपलक्षितं पृथुबुध्नोदराकारादिसन्निवेशाद्यपि पुरः = पुरतः प्रथममेव वा साक्षात्कुर्वंस्ते ते स्वेच्छादिनाऽवभासमाना रक्ततादयोंऽशा द्वारम् = उपायो यस्यास्तथाविधा येयं निरंशस्य = अनेकासामान्याभाससंमेलनात्मकस्वलक्षणरूपस्य अखण्डस्य, अत एवांशापेक्षयैकस्य = प्रधानस्य सम्यक् = अन्यूनातिरिक्तत्वेन

इत्यादि उक्त युक्ति से अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपने में उपायउपेयसम्बन्ध की परिकल्पना कर, विकल्परहित शाम्भवोपाय समाविष्ट साधक आदि अकल्पित होने के कारण ही भिन्न-भिन्न उपाधियों के सङ्कोच से उत्पन्न जो यह उदार संवित् वही स्वच्छतातिशय के कारण दर्पण है उसमें (अपने को) प्रतिबिम्बित देखता हुआ = उस रूप में साक्षात्कार करता हुआ, स्वयम् = अनन्यापेक्ष, भैरव बन जाता है = विकल्परहित उदार संविद् रूप में परिस्फुरण करता है ॥ २७७ ॥

प्रश्न—यदि परतत्त्व के द्वारा पूर्णरूप का आवेश कहा जाता है तो वह रहे, धरा आदि अंशांशिक रूप में यह कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस प्रकार सामने स्थित लाल (घड़े) के निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा तत्तद् (रक्तवर्ण आदि) द्वार के साथ एक अखण्ड ज्ञान स्थित होता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि एक-एक सङ्घात के समुदाय का परामर्श करने वाला (उसके माध्यम) से अपने को पूर्ण ही समझने लगता है ॥ २७८-२७९ ॥

जैसे सभी द्रष्टा निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा रक्त = लोहित गुण = उससे उपलक्षित (घट का) पृथुबुध्न उदर आकार आदि सन्निवेश भी पुरः = सामने अथवा सर्वप्रथम, देखते हैं । वे स्वच्छ आदि के कारण अवभासमान रक्तता आदि अंश हैं द्वार = उपाय, जिसकी वैसी जो यह, निरंश की = अनेक सामान्याभास सम्मेलनात्मक स्वलक्षणरूप अखण्ड की, अतएव अंश की अपेक्षा एक की =

वित्तिः = अवबोधस्तया सुष्ठु 'ज्ञातोऽयं मया घटः' इत्यादिसन्तोषाधानात् नैराकाङ्क्ष्येण स्थितः = स्वात्ममात्रविश्रान्तो भवेत् तथैव धरादि पृथ्वीजलादि यदेकमेकं तत्त्वं तथा धरादिर्यो भूताद्यात्मा सङ्घातः, तथा धरादिर्यः पञ्चाशदात्मा समुदायस्तदवलम्बनेन स्वमात्मानं निर्विकल्पकवृत्त्या परामृशन् पूर्ण एवावभासते = स्वात्मसंवित्तिमात्ररूपतया प्रस्फुरति—इत्यर्थः ॥ २७९ ॥

ननु धरादितत्त्वसमुदायात्मकं विश्वं नामेदं भिन्नमेवावभासते तत्कथमेवं परामर्शेनैव स्वात्मसंविन्मात्ररूपता ?—इत्याशङ्क्याह—

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ॥ २८० ॥

मत्त इति—

'सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रैकवाचकः ।' (तं० १।१३२)

इत्याद्युक्त्या परस्माद्बोधात् न पुनरविद्यादेः, इदम् प्रमातृप्रमेयात्म विश्वमुदितम्, एवंभूतमपि तन्मयि = बोधे प्रतिबिम्बितम् = अनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्तायमानत्वेन न पुनर्विच्छिन्नतयैवावस्थितमेवमपि संह्रियमाणमिदं ममैवाभिन्नं बोधात्मनैव पारमार्थिकेन रूपेण सत् न पुनरवयवविभागक्रमेण द्व्यणुकत्वाद्यापत्त्या

प्रधान की, न्यूनाधिक न होने के कारण सम्यक्, वित्ति = अवबोध, उसके द्वारा भली प्रकार—'मेरे द्वारा यह घट जान लिया गया' इत्यादि सन्तोष के आधान के कारण, निराकाङ्क्ष रूप से स्थित (साधक) स्वात्ममात्र में विश्राम लाभ करता है; उसी प्रकार धरा आदि = पृथ्वी जल आदि जो एक-एक तत्त्व तथा धरा आदि जो भूत आदि रूप सङ्घात तथा धरा आदि जो पचास का समुदाय, उसका आश्रय लेकर अपने को निर्विकल्पक वृत्ति से परामर्शन करता हुआ, पूर्ण रूप में अवभासित होता है = केवल स्वात्मसंवित्तिरूप से स्फुरण करता है ॥२७८-२७९॥

प्रश्न—धरादितत्त्वसमुदाय रूप यह विश्व भिन्न ही अवभासित होता है तो इस प्रकार के परामर्श से कैसे (एक) स्वात्मसंविद्रूपता (उपलब्ध होगी) ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह (धरादितत्त्वसङ्घात) (१) मुझ से ही **उत्पन्न है** (२) मुझ में ही प्रतिबिम्बित है और (३) मुझ से अभिन्न **है—इस** तीन प्रकार का जो उपाय (= अनुभव) है वह शाम्भवोपाय है ॥ २८० ॥

'यहाँ सर्वत्र अहं शब्द केवल बोध का वाचक है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा पर बोध से—न कि अविद्या आदि के कारण, यह प्रमातृ प्रमेय रूप विश्व आविर्भूत हुआ है—ऐसा भी वह मुझ बोध में प्रतिबिम्बित है = अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त जैसा न कि अलग स्थित है । इसी प्रकार

पारमाणवेन रूपेण,—इति युक्तमेव परामर्शमात्राद्विश्वस्य संविन्मात्ररूपत्वमित्येवं परामर्श एव चास्य शाम्भवस्योपायस्य स्वरूपमित्युक्तम् 'इति त्रिधोपायः स शाम्भवः' इति ॥ २८० ॥

एवमहंपरामर्शस्य च सृष्ट्यादयो निबन्धनमिति तदासूत्रणमपि अनेन कृतम्—इत्याह—

सृष्टेः स्थितेः संहृतेश्च तदेतत्सूत्रणं कृतम् ।
यत्र स्थितं यतश्चेति तदाह स्पन्दशासने ॥ २८१ ॥

न चैतदस्माभिरेवोक्तं यावद्गुरुभिरपि—इत्याह यत्रेत्यादि । तदुक्तं तत्र—

'यत्र स्थितमिदं विश्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥' (स्प० १ का२)

यतो निर्गतमिति सृष्टिरुक्ता, यत्र स्थितमित्यनतिरिक्तत्वेन चातिरिक्तायमानत्वेन—इति स्थितिसंहारौ ॥ २८१ ॥

ननु किमिदं नाम संविदः सृष्ट्यादिकारित्वमुक्तम्—

'यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा ।'

संह्रियमाण यह विश्व मुझसे अभिन्न, बोधात्मक परमार्थिक रूप से सत् है न कि अवयवविभाग के क्रम से द्व्यणुक आदि को प्राप्त होकर पारमाणविक रूप से, इस प्रकार परामर्शमात्र होने के कारण विश्व का संविद्रूप होना समीचीन है—ऐसा परामर्श ही इस शाम्भवोपाय का स्वरूप है इसलिए कहा गया—'वह शाम्भव (समावेश) तीन उपाय वाला है' ॥ २८० ॥

इस प्रकार सृष्टि आदि अहंपरामर्श के कारण हैं इस प्रकार उसका प्रारम्भ भी इसी (अहंपरामर्श) ने किया है—यह कहते हैं—

इस प्रकार सृष्टि स्थिति और संहार का यह आसूत्रण किया गया । जहाँ स्थित है और जहाँ से (यह उत्पन्न होता है) यह स्पन्दकारिका में कहा गया है ॥ २८१ ॥

यह हमारे द्वारा ही नहीं बल्कि गुरुओं के द्वारा भी कहा गया है—यह कहते हैं—जहाँ इत्यादि । वह वहाँ कहा गया है—'जिसमें यह कार्य विश्व स्थित है और जहाँ से निकला हुआ है, उसके अनावृत रूप होने से (उसका) कहीं निरोधन नहीं है ।' जहाँ से निकला है—इस (वचन) से सृष्टि कही गई है । जिसमें स्थित है, इससे अभिन्न होने और भिन्न जैसा होने के कारण—स्थिति और संहार कहे गये हैं ॥ २८१ ॥

प्रश्न—संविद् को सृष्टि आदि का कर्त्ता क्यों कहा गया ब्रह्मवादियों के समान 'जो अज, अमेय, अनन्त और आनन्दमूर्ति अनुभूति है ।'

इत्यादिलक्षणान्तरं किञ्चिद्ब्रह्मवादिवदभिधानीयं येनास्या वाद्यन्तरसिद्धमसाधारणं रूपमभिहितं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

एतावतैव ह्यैश्वर्यं संविदः ख्यापितं परम् ।
विश्वात्मकत्वं चेत्यन्यल्लक्षणं किं नु कथ्यताम् ॥ २८२ ॥

एतावता = सृष्ट्यादिकारित्वेनैव हि संविद ऐश्वर्यं विश्वात्मकत्वं च परं वाद्यन्तरवैलक्षण्येन अत्यर्थं ख्यापितम् = उक्तं भवेत् = इत्यर्थः । एतदेव ह्यस्या मुख्यमसाधारणं लक्षणं यत्स्वातन्त्र्याद्विश्वात्मकत्वेन परिस्फुरतीति । अत एव किंनु नाम लक्षणान्तरमस्याः कथ्यताम् । तेन कथितेन न किञ्चिदुक्तं भवेत्—इति भावः । तथात्वे हि प्रत्युत अविद्यादेरतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वाद्विश्ववैचित्र्ये कारणमेव न सिद्ध्येत् । तेनास्याः सृष्ट्यादिकारित्वमेव मुख्यं लक्षणमिति यथोक्तमेव युक्तम् ॥ २८२ ॥

अत एव स्वात्मनि सृष्ट्यादिकारित्वमेव परामृशन् परसंविदैकात्म्यमेति,—इत्याह—

स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन् ।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता ॥ २८३ ॥

इत्यादि कुछ दूसरा लक्षण कहना चाहिये जिससे इसका दूसरी सैद्धान्तिकों के द्वारा सिद्ध असाधारण रूप उक्त हो जाय ?—यह शङ्का कर कहते हैं—'

इतने से ही संविद् का परम ऐश्वर्य बतलाया गया विश्वात्मकता ही (उसका ऐश्वर्य है) । इसलिए (संविद् का) अन्य लक्षण क्यों कहा जाय ॥ २८२ ॥

इतने से ही = सृष्टि आदि का कारक होने से ही, संविद् का ऐश्वर्य और (उसकी) विश्वात्मकता पर = दूसरी वादियों से विलक्षण होने के कारण अत्यधिक ख्यापित है = कथित होती है—यह अर्थ है । यही इसका मुख्य = असाधारण लक्षण है कि (वह) स्वातन्त्र्य के कारण विश्वरूप से स्फुरण करती है । इसलिए इसका दूसरा लक्षण क्या और क्यों कहा जाय ? अर्थात् उसके कथन से कुछ उक्त नहीं होगा बल्कि वैसा होने पर अतिरेक-अनतिरेक विकल्प से उपहत होने के कारण विश्ववैचित्र्य के विषय में अविद्या आदि कारण ही नहीं बनेगी । इसलिए इस (= संविद्) का सृष्टि आदि का कर्त्री होना ही मुख्य लक्षण है—इस प्रकार यथोक्त ही समीचीन है ॥ २८२ ॥

इसलिए अपने में सृष्टि आदि की कारिता का ही परामर्श करता हुआ (योगी) परसंविद् के साथ तादात्म्य लाभ करता है—यह कहते हैं—

अपने ही चिदाकाश में विश्व को अवभासित करता हुआ मैं स्रष्टा और

षडध्वजातं निखिलं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
स्थितिकर्ताहमस्मीति स्फुटेयं विश्वरूपता ॥ २८४ ॥
सदोदितमहाबोधज्वालाजटिलतात्मनि ।
विश्वं द्रवति मय्येतदिति पश्यन्प्रशाम्यति ॥ २८५ ॥

नन्वेवमपि विश्वस्य सृज्यमानत्वादिरूपतया संस्कारेणावस्थानात्कथमस्य प्रशान्ततोदियात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अनन्तचित्रसद्गर्भसंसारस्वप्नसद्मनः ।
प्लोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः ॥ २८६ ॥

देशाध्ववक्ष्यमाणनीत्या निःसंख्याकत्वादनन्तानानासंनिवेशात्मकत्वाच्च चित्राः, अत एव सन्तः = शोभना गर्भाः = भुवनानि यस्यैवंविधो यः संसारः = तत्तत्तत्त्वात्मा विश्वस्फारः स एवासारत्वात् स्वप्नसद्म, जागरासद्मनो हि प्लोषेऽवशेषसम्भावनापि स्यात्—इति भावः । तस्य प्लोषकः स्रष्टास्मीत्यादिपरामर्शबलोन्नीतः, अत एव सतताभ्यासादुल्लसनशीलोऽनवच्छिन्नसंविदात्मकः शिव एवाहमिति परामर्श एव हुताशनः = विश्वसंस्कारस्यापिस्वात्मसंवित्सात्कारकः

विश्वरूप हूँ—इस प्रकार का विमर्श ही भैरवता है । सम्पूर्ण षड्ध्वसमूह मुझ में ही प्रतिबिम्बित है । स्थिति का विधाता मैं ही हूँ—यही स्फुट विश्वरूपता है । सदा उदित महाज्ञान की ज्वाला की जटिलता (= प्रकाश) रूप मुझ में यह विश्व विगलित हो रहा है—ऐसा जानने वाला प्रशम (= प्रकृष्ट शान्ति) को प्राप्त होता है ॥ २८३-२८५ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी विश्व के सृज्यमानत्व आदि रूप होने से संस्काररूप में स्थित होने के कारण इसकी शान्ति कैसे उत्पन्न होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनन्त विचित्र एवं सत्यगर्भ वाले संसार रूपी स्वप्नगृह का दहन करने वाला मैं ही 'शिव हूँ'—ऐसा उल्लास वाली (चित्) अग्नि (उल्लसित होती है) ॥ २८६ ॥

देशाध्वा की कथयिष्यमाण नीति से असंख्य होने के कारण अनन्त तथा अनेक संन्निवेशात्मक होने के कारण विचित्र, इसलिए सत् = सुन्दर, गर्भ = भुवन हैं जिसके ऐसा जो संसार = भिन्न-भिन्न तत्त्व रूप जो विश्व का विस्तार वही सारहीन होने के कारण स्वप्नगृह है, जागरणगृह का दाह होने पर अवशेष की सम्भावना भी हो सकती है—यह भाव है । उसका दाहक 'स्रष्टा हूँ' इत्यादि परामर्श के बल से प्राप्त, इसलिए निरन्तर अभ्यास के कारण उल्लसनशील अनवच्छिन्न संविद्रूप 'शिव ही मैं हूँ' ऐसा परामर्श ही अग्नि = विश्व के संस्कार को भी

—इत्यर्थः । यथा ह्यग्नावुदयति अनेकावरकप्रायेऽपि सद्मनि न किञ्चिदवशिष्यते तथैव शिवात्मतायामप्युल्लसितायां विश्वस्येति ॥ २८६ ॥

ननु सृष्ट्यादिकारित्वेन स्वात्मनि यः संवित्सात्कारः स सृष्ट्याद्यवच्छिन्नः—इति कथं तन्मुखेनानवच्छिन्नसंविदैकात्म्यं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

जगत्सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः ।
तदित्थं यः सृष्टिस्थितिविलयमेकीकृतिवशा-
दनंशं पश्येत्स स्फुरति हि तुरीयं पदमितः ॥ २८७ ॥

बहुप्रकारं निखिलमिदं जगत्परस्मादेव बोधाद्विच्छिन्नतयोदेति, तथोदितमपि तत्रैव बोधे विश्रान्तम्, एवमपि संहृते तस्मिञ्जगति न परः कश्चिदवशिष्यते अपितु बोध एवेति । इत्थमुक्तेन प्रकारेण बोधस्यैव सर्वदशास्वनुस्यूतत्वाद्यः सृष्ट्यादि बोधैकात्म्यलक्षणादेकीकाराद्धेतोरनंशं पश्येत् = सृष्ट्यादिविभागविगलनेन अखण्ड-बोधैकरूपतया साक्षात्कुर्यात् स शाम्भवोपायसमाविष्ट एव हि तुरीयं पदं प्राप्तः सन् स्फुरति = अनाख्यपरसंविद्रूपत्वेनावभासते—इत्यर्थः । स इत्येकवचनेन

स्वात्मसंवित्सात् करने वाला है । जैसे अग्नि के उत्पन्न होने पर अनेक आवरण से युक्त भी घर में कुछ नहीं बचता उसी प्रकार शिवात्मता के उल्लसित होने पर विश्व (नहीं बचता) ॥ २८६ ॥

प्रश्न—स्वात्मा में जो संवित्सात्कार है वह सृष्टि आदि का कर्त्ता होने के कारण सृष्टि आदि से अवच्छिन्न है तो उसके साथ अनवच्छिन्न संविद् की एकात्मता कैसे होगी—यह शङ्का कर कहते हैं—

भेद के कारण अनेक प्रकारों वाला यह संसार मुझ से ही उत्पन्न होता है । वैसा होकर वह मुझमें रूढ़ रहता है एवं इसके विगलित होने पर दूसरा कोई नहीं है । इस प्रकार सृष्टि स्थिति और विनाश के एक होने से जो इसे अंशरहित (= अखण्ड) देखता है वही तुरीय पद (प्राप्त) (साधक) उल्लसित होता है ॥ २८७ ॥

अनेक प्रकार का यह संसार पर बोध से अलग होकर प्रकट होता है । उसी प्रकार उदित (यह संसार) उसी बोध में शान्त हो जाता है । इस प्रकार उस संसार के संहृत होने पर अतिरिक्त कुछ नहीं बल्कि बोध ही बचता है । इस प्रकार = उक्त प्रकार से बोध के ही सभी दशाओं में अनुस्यूत होने के कारण जो (साधक) बोध के साथ ऐकात्म्य लक्षण वाले एकीकार के कारण सृष्टि आदि को निरंश रूप में देखता है = सृष्टि आदि विभाग के हट जाने से अखण्ड बोधमात्र रूप में साक्षात्कार करता है वह शाम्भवोपाय से समाविष्ट ही तुरीयपद को प्राप्त हुआ स्फुरित होता है अर्थात् अनाख्यपरसंविद् रूप से भासित होता है । 'सः' इस

बहूनामत्र नाधिकार—इति सूचितम् ॥ २८७ ॥

अत एवाह—

तदस्मिन्परमोपाये शाम्भवाद्वैतशालिनि ।
केऽप्येव यान्ति विश्वासं परमेशेन भाविताः ॥ २८८ ॥

भाविता इति = तीव्रतीव्रशक्तिपातत्वेन भगवतात्राधिकृतत्वेनाधिवासिताः—इत्यर्थः । अत एव केऽप्येवेत्युक्तम् । न हि एवंविधशक्तिपातपात्रत्वं सर्वेषामेव भवेत्—इति भावः । यदाहुः—

'पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः ।
प्रसादपात्रमाश्वस्ताः प्रभोर्द्वित्रा न पञ्चषाः ॥' इति ।

परमत्वे चास्य शाम्भवाद्वैतशालित्वं हेतुः । अन्ये ह्याणवादयो भेदरूपत्वादपरमा एव—इत्याशयः । अत एवात्र स्नानादि भिन्नमुपायजातं न किञ्चिदुपयुक्तम् ॥ २८८ ॥

तदाह—

स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मन्त्रयोजना ।
अध्वक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्यसमाधयः ॥ २८९ ॥

एक वचन से यह सूचित किया गया कि इस विषय में बहुत लोगों का अधिकार नहीं है ॥ २८७ ॥

इसीलिए कहते हैं—

तो इस शाम्भव अद्वैत वाले परम उपाय के ऊपर कुछ ही लोग परमेश्वर की कृपा से विश्वास करते हैं ॥ २८८ ॥

भावित = तीव्र-तीव्र शक्तिपात के कारण भगवान् के द्वारा इसमें अधिकृत होने से अधिवासित । इसीलिए 'कुछ लोग'—ऐसा कहा गया । भाव यह है कि इस प्रकार की शक्तिपातपात्रता सबकी नहीं होती । जैसा कि कहते हैं—

'पूजक सैकड़ों और भक्त हजारों हैं किन्तु प्रभु के विश्वस्त, प्रसन्नता के पात्र दो तीन ही हैं न कि पाँच छः ।'

इस परमत्व में शाम्भवाद्वैतशाली होना कारण है । अन्य आणव आदि (उपाय) भेदरूप होने के कारण परम नहीं हैं—यह आशय है । इसीलिए इस विषय में स्नान आदि भिन्न उपायसमूह कुछ उपयोगी नहीं है ॥ २८८ ॥

वही कहते हैं—

यहाँ (= इस अवस्था में) स्नान, व्रत, देहशुद्धि, धारणा, मन्त्र-

इत्यादिकल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते ।

ननु यद्यत्र भिन्नमुपायजातं नोपयुक्तं तदेतदुपायाविष्टः कथं नामाचार्यः परानुग्रहं कुर्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

परानुग्रहकारित्वमत्रस्थस्य स्फुटं स्थितम् ॥ २९० ॥
यदि तादृगनुग्राह्यो दैशिकस्योपसर्पति ।

तादृगिति = शाम्भवोपायभाजनम्, तस्य हि तद्दर्शनसंभाषणमात्रादिनैव

'..........................दीपाद्दीपमिवोद्यतम् ।'

इत्याशयेन स्वात्मनि कृतकृत्यत्वं जायते—इति किं नाम भिन्नेनोपायजातेन प्रयोजनम्—इति भावः ॥ २९० ॥

नन्वनेवंविधश्चेत् कश्चित्तदाराधनाय प्रवृत्तः स्यात्तत्रानेन किं प्रतिपत्तव्यम् ?

इत्याशङ्क्याह—

अथासौ तादृशो न स्याद्भवभक्त्या च भावितः ॥ २९१ ॥
तं चाराधयते भावितादृशानुग्रहेरितः ।

योजना, अध्वकल्पना, यागविधि, होम, जप, समाधि इत्यादि कोई भी कल्पना भिन्न नहीं होती है ॥ २८९-२९०- ॥

प्रश्न—यदि इस विषय में भिन्न उपायसमूह उपयुक्त नहीं है तो इस उपाय से आविष्ट आचार्य कैसे परानुग्रह करेगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस (= शाम्भवोपाय) में प्रतिष्ठित साधकों में दूसरे के ऊपर अनुग्रह करने की शक्ति स्पष्टतया आ जाती है । यदि उस प्रकार का कोई अनुग्राह्य होता है तो वह आचार्य के पास जाता है ॥ -२९०, २९१- ॥

उस प्रकार का = शाम्भवोपाय का पात्र । उसको उसके दर्शन (उसके साथ) संभाषण मात्र आदि के द्वारा ही

'.......... दीप से जलाये गये दीप के समान ।'

इस आशय से अपने में कृतकृत्यता उत्पन्न होती है फिर भिन्न उपायसमूह से क्या प्रयोजन ॥ २९० ॥

प्रश्न—यदि कोई इस प्रकार का न हो और उसकी आराधना के लिये प्रवृत्त हो तो उस विषय में इसे क्या ज्ञान होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि व्यक्ति वैसा नहीं है किन्तु शिव की भक्ति से प्रभावित है और भावी उस प्रकार के अनुग्रह से प्रेरित होकर उस (= शिव) की आराधना

तदा विचित्रं दीक्षादिविधिं शिक्षेत कोविदः ॥ २९२ ॥

तादृश इति = शाम्भवोपायभाजनम्, न स्यादिति—तीव्रतीव्रशक्तिपाताभावात् । अथ च—

'तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला ।' (मा०वि० २।१४)

इत्यादिनीत्या शक्तिपातावेदकेन भवभक्त्याख्येन प्रथमेन चिह्नेनाधिष्ठितः, शक्तिपातस्य चात्र भवभक्त्याख्यस्यैकस्य तच्चिह्नस्य निर्देशाच्चिह्नान्तराणां चानिर्देशान्मन्दमन्दादिरूपत्वं सूचितम् । एवं मन्दमन्दादिशक्तिपातवत्त्वेऽपि स न समुचितमाणवाद्युपायमात्राभिज्ञं गुरुमाराधयितुं प्रवृत्तः अपि तु शाम्भवोपायाविष्टम्—इत्युक्तम्—'तं चाराधयते' इति । यतः स भावितादृशानुग्रहेरितः, न ह्याणवोपायमात्राभिज्ञाद्गुरोर्भाविनमपि शाम्भवोपायसमुचितमनुग्रहं लभते—इति भावः । तेन

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ।'

इत्याद्युक्तेः शिष्यस्य चोक्तयुक्त्या गत्यन्तराभावादवश्यमेव अस्य तदुद्दिधीर्षया भिन्नमुपायजातमुपयुक्तम्—इत्याह—तदा विचित्रमित्यादि । अत एव पूर्वं—

करता है तो विद्वान् (गुरु उसको) विचित्र दीक्षा विधि से दीक्षित करे ॥ -२९१-२९२ ॥

वैसा = शाम्भवोपाय का पात्र । नहीं होगा क्योंकि तीव्र-तीव्र शक्तिपात नहीं है । और,

'उसमें यह प्रथम चिह्न है कि शिव में (उस साधक की) सुनिश्चल भक्ति होती हैं ।'

इत्यादि नीति के अनुसार शक्तिपात के आवेदक शिवभक्ति नामक प्रथम चिह्नों से अधिष्ठित । यहाँ शिवभक्ति नामक उस (साधक) के एक चिह्न का निर्देश होने से और अन्य चिन्हों का निर्देश न होने से शक्तिपात की मन्दमन्दादिरूपता सूचित होती है । इस प्रकार मन्दामन्दादि शक्तिपात से युक्त होने पर भी वह समुचित आणव आदि उपायों के ज्ञाता गुरु की आराधना करने के लिये नहीं प्रवृत्त होता बल्कि शाम्भवोपाय से आविष्ट (गुरु की आराधना के लिये प्रवृत्त होता है) । इसलिए कहा गया—उसकी आराधना करता है । क्योंकि वह भावी उस प्रकार के अनुग्रह से प्रेरित, आणवोपायमात्र के ज्ञाता गुरु से भावी शाम्भवोपाय के योग्य अनुग्रह को नहीं प्राप्त करता । इससे

'क्रिया काल में संसार के उद्धार के प्रति अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ।'

इत्यादि उक्ति के कारण और शिष्य की, उक्त युक्ति से दूसरी गति न होने से अवश्य ही उसका उद्धार करने की इच्छा से इसके लिये भिन्न उपायसमूह उपयुक्त

'सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥' (तं० २।४४)

इत्याद्युक्तम् । विचित्रमिति—अनुग्राह्यभेदात् । यदुक्तं प्राक्—

'अनुग्राह्यानुसारेण विचित्रः स च वक्ष्यते ।' (तं० २।४५)

इति ॥ २९२ ॥

ननवेवंविधस्यानुग्राह्यस्य शाम्भवोपायसमावेशभाजो गुरोः सकाशादाणवोपाय-प्रक्रियया चेदनुग्रहो वृत्तस्तर्हि 'शाणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरतन्तुवानवैचित्र्यलाभः' इत्यादिन्यायेन हेतुफलभावस्य नैयत्याद्भाव्यपि शांभवोपायसमुचितोऽनुग्रहः कथं नामास्य स्यात् ?

इत्याशङ्क्याह—

भाविन्योऽपि ह्युपासास्ता अत्रैवायान्ति निष्ठितिम् ।
एतन्मयत्वं परमं प्राप्यं निर्वर्ण्यते शिवम् ॥ २९३ ॥

भाविनि = आणवादौ वक्ष्यमाणाः । तासां हि द्वारद्वारिभावेनैतदतिरिक्तस्य मृग्यस्याभावात् शाम्भवोपाय एव प्ररोहः—इत्युक्तम्—'अत्रैवायान्ति निष्ठितिम्'

है—यह कहते हैं—तब विचित्र... इत्यादि । इसीलिए पहले—

'वह भी स्वातन्त्र्य के वैभव से अनिर्मल संविद् वालों के ऊपर भी अनुग्रह करने का इच्छुक भावी विधि का आश्रयण करे ।'

इत्यादि कहा गया है । विचित्र—अनुग्राह्य भेद के कारण । जैसा कि पहले कहा गया—

'अनुग्राह्य के अनुसार वह विचित्र कहा जाता है' ॥ २९२ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के अनुग्राह्य (शिष्य) को यदि शाम्भवोपाय समावेश वाले गुरु के पास से आणवोपाय प्रक्रिया के द्वारा अनुग्रह प्राप्त हो गया तो 'सन की रस्सी को बुनने का अभ्यास करने में टसर का धागा बुनने के वैचित्र्य का लाभ हो गया' इत्यादि न्याय से कारणकार्य सम्बन्ध की निश्चितता के कारण इसको भावी भी शाम्भवोपाय के योग्य अनुग्रह कैसे प्राप्त होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वे भाविनी उपासनायें भी इसी में निष्ठा को प्राप्त करती हैं और वह परम एतन्मयत्व (= शाम्भवोपाय पूर्ण होना) की प्राप्ति ही शिव (प्राप्ति) की जाती है ॥ २९३ ॥

भावी = आणव आदि (वर्णन वाले अध्याय) में वक्ष्यमाण क्योंकि गौण मुख्य भाव से इनके अतिरिक्त उनका कोई अन्वेष्य नहीं है इस कारण शाम्भवोपाय में ही

इति। अत एवैतन्मयत्वमेव नामासां श्रेयोरूपं परमुपेयं सर्वत्रैवोद्घोष्यते । न हि एतद्विश्रान्तिमन्तरेण किञ्चिदपि भवेत्—इति भावः ।

अत एवोपायनानात्वेऽपि नोपेयनानात्वम् । यदभिप्रायेणैव—

'द्वावप्येतौ समावेशौ निर्विकल्पार्णवं प्रति ।
प्रयात एव तद्रूढिं विना नैव हि किञ्चन ॥
संवित्तिफलभिच्चात्र न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत् ।' (तं० १।२२७)

इत्यादि प्रागुक्तम् ॥ २९३ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति—

इति कथितमिदं सुविस्तरं परमं शाम्भवमात्मवेदनम् ॥

शैवावेशवशोल्लसदसमरसास्वादसामरस्यमयः ।
कश्चिज्जयरथनामा तृतीयमिदमाह्निकं व्यवृणीत् ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके शाम्भवोप्रकाशनं नाम तृतीयमाह्निकम् ॥ ३ ॥

उत्कर्ष है—इसलिए कहा गया—इसी में परिनिष्ठता को प्राप्त होती है । इसलिए एतन्मय होना ही इनका श्रेयोरूप परम उपेय सर्वत्र घोषित होता है । इसमें विश्रान्ति के बिना कुछ भी नहीं होता—यह भाव है ।

इसीलिए उपाय के अनेक होने पर भी उपेय अनेक नहीं हैं । जिस अभिप्राय से ही—

'ये दोनों ही समावेश निर्विकल्प सागर की ओर जाते ही हैं । क्योंकि उसकी प्राप्ति के बिना कुछ नहीं है । इसलिए कहा कि यहाँ संविद् के फलभेद की कल्पना नहीं करनी चाहिये ।'

इत्यादि पहले कहा गया है ।

इसी का श्लोक के पूर्वार्द्ध से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह परम शाम्भव आत्मवेदन विस्तार के साथ कहा गया ॥ २९३ ॥

इस प्रकार ये विस्तृत परम शाम्भवोपाय कहा गया ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के तृतीय आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

उपाय एवौपयिकम्—इति शिवम् ॥

तत्तद्ग्रन्थाधिगमोपायशतान्वेषणप्रसक्तेन ।
अनुपायाह्निकमेतद् व्याख्यातं जयरथेनाशु ॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते शाम्भवोपाय-प्रकाशनं नाम तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३ ॥

उपाय ही औपयिक है ।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के अध्ययनरूप सैकड़ों उपायों के अन्वेषण में तल्लीन जयरथ के द्वारा शाम्भवोपाय नामक तृतीय आह्निक की व्याख्या की गई ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के तृतीय आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ३ ॥